जैन धर्म के प्रभावक आचार्य

जैन विश्व भारती प्रकाशन

जैन धर्म के प्रभावक आचार्य

साध्वी संघमित्रा

☐ प्रकाशक :
श्रीचन्द बैंगानी
मंत्री
जैन विश्व भारती
लाडनूं (राजस्थान)

☐ प्रथम संस्करण : १९७९

☐ मूल्य : पचीस रुपये

☐ मुद्रक :
रूपाभ प्रिंटर्स,
शाहदरा, दिल्ली-११००३२

वंदना

वंदामि महाभागं,
महामुणि महायसं महावीरं।
अमर-णर-रायमहितं,
तित्थकरमिमस्स तित्थस्स ॥१॥

एक्कारस वि गणधरे,
पवायए पवयणस्स वंदामि।
सव्वं गणधरवंसं
वायगवंसं पवयणं च ॥२॥

(विशेषावश्यकभाष्य, १०५४, १०५६)

समर्पण

इतिहास स्रष्टा आचार्यश्री तुलसी
और युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ को

१. प्रशस्याः पुण्यार्हाः परहितरताः प्राप्तयशसः,
प्रवीणाः प्राचार्याः प्रतिनिधिपदे ये भगवताम् ।
प्रणम्याः प्रत्यहं प्रणिहितधियः प्राज्ञपुरुषाः,
प्रसीदेयुः पूज्याः प्रशमरसपीताः प्रमुदिताः ॥

२. महाभागा मान्या मथितमदना मानरहिता,
विवेकज्ञा विज्ञा विशदमतयो वाचकमुखाः ।
समोदं स्वल्पार्घ्यं लघुकृतिमयं संघतिलका,
महान्तः स्वीकुर्युर्गुणगणयुता विश्वमहिताः ॥

आशीर्वचन

जैन धर्म अपनी मौलिकता और वैज्ञानिकता के कारण अपने अस्तित्व को एक शाश्वत धर्म के रूप में अभिव्यक्ति दे रहा है। भगवान महावीर इस युग के अन्तिम तीर्थंकर थे। उनके बाद आचार्यों की एक बहुत लम्बी शृंखला कड़ी से कड़ी जोड़ती रही है। सब आचार्य एक समान वर्चस्व वाले नहीं हो सकते। नदी की धारा में जैसे क्षीणता और व्यापकता आती है वैसे ही आचार्य-परंपरा में उतार-चढ़ाव आता रहा है। फिर भी उस शृंखला की अविच्छिन्नता अपने आप में एक ऐतिहासिक मूल्य है।

पचीस सौ वर्षों के इतिहास का एक सर्वांगीण विवेचन महत्वपूर्ण कार्य अवश्य है, पर है असंभव। फिर भी कुछ दूरदर्शी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में मूल्यवान ऐतिहासिक सामग्री को संरक्षित कर रखा है, अन्यथा जैन धर्म के इतिहास को कोई ठोस आधार नहीं मिल पाता।

पिछले कुछ वर्षों में कई स्थानों से आचार्य-परंपरा के सम्बन्ध में ग्रन्थ लिखे गए। किन्तु उनमें कहीं पर साम्प्रदायिकता का रंग आ गया, कहीं पर ऐतिहासिकता अक्षुण्ण नहीं रही और कहीं तथ्यों का संकलन व्यवस्थित रूप से नहीं हो सका।

मैं बहुत बार सोचता था कि जैन धर्म के प्रभावक आचार्यों का सिलसिलेवार अध्ययन प्रस्तुत किया जाए तो इतिहास-पाठकों को अच्छी सामग्री उपलब्ध हो सकती है। भगवान् महावीर की पचीसवीं निर्वाण शताब्दी के प्रसंग पर मैंने अपने धर्म-संघ को साहित्य-सृजन की विशेष प्रेरणा दी। उसी क्रम में साध्वी संघमित्रा ने यह काम अपने हाथ में लिया।

हमारे धर्मसंघ की यह स्पष्ट नीति है कि हमें साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर व्यापक दृष्टिकोण से काम करना है। प्रस्तुत लेखन में भी इस दृष्टिकोण को बराबर ध्यान में रखा गया है। इसके लिए साध्वी संघमित्रा ने अनेक ग्रन्थों का अवलोकन किया और निष्ठा एवं एकाग्रता के साथ अपने काम को आगे बढ़ाया।

दशाब्दियों पूर्व तक इतिहास में साहित्य-सृजन के क्षेत्र में मुनिजन अग्रणी रहे हैं। साध्वियों द्वारा लिखित साहित्य की कोई उल्लेखनीय धारा नहीं है। इन

वर्षों में हमारे धर्म-संघ में साधुओं की भांति साध्वियां भी इस क्षेत्र में गतिशील हैं ।

साध्वी संघमित्रा द्वारा लिखित प्रस्तुत ग्रन्थ 'जैन धर्म के प्रभावक आचार्य' इतिहास के जिज्ञासुओं की जानकारी के धरातल को ठोस बनाए तथा सुधी पाठकों की आलोचनात्मक समीक्षा-कषोपल पर चढ़कर पूर्णता की दिशा में अग्रसर बने, यह अपेक्षा है ।

सत्संग भवन,
चण्डीगढ़
५ मई, १९७९

आचार्य तुलसी

प्रस्तावना

जैन-शासन सामुदायिक साधना की दृष्टि से अपूर्व है। भारतीय साधना की परंपरा में उसकी परंपरा को चिरजीवी परंपरा कहा जा सकता है। यद्यपि व्यक्तिगत साधना की व्यवस्था भी सुरक्षित है, फिर भी सामुदायिक साधना की पद्धति ही मुख्य रही है। उस समूची पद्धति का प्रतिनिधित्व करने वाले दो शब्द हैं—गण और गणी। भगवान् महावीर के अस्तित्व-काल में नौ गण और ग्यारह गणधर थे। यह विभाग केवल व्यवस्था की दृष्टि से था। उत्तरवर्ती काल में गण अनेक हो गए। उनमें मौलिक एकता भी नहीं रही। सम्प्रदाय भेद बढ़ते गए। बड़े गण छोटे गणों में विभक्त होते गए। फिर भी गण की परंपरा को सुरक्षित रखने का प्रयत्न निरंतर चलता रहा। फलतः आज भी जैन शासन परंपरा के रूप में सुरक्षित हैं। गणों के आपसी भेद चलते थे। बौद्ध और वैदिक विद्वानों के आघात भी चलते थे। इस परिस्थिति में प्रभावक आचार्य ही जैन-शासन के अस्तित्व को सुरक्षित रख सकते थे। इस पचीस सौ वर्ष की लंबी अवधि में अनेक प्रभावक आचार्य हुए हैं। उन्होंने अपनी श्रुत-शक्ति, चारित्र-शक्ति तथा मंत्र-शक्ति के द्वारा अपने प्रभाव की प्रतिष्ठा की और जैन-शासन की भी प्रभावना बढ़ाई। हजारों वर्षों की लंबी अवधि में अनेक गणों के अनेक प्रभावी आचार्य हुए। उन सबका आकलन करना एक दुर्गम कार्य है। साध्वी संघमित्रा ने उस दुर्गम कार्य को सुगम करने का प्रयत्न किया है।

आचार्य-परंपरा को जानने के मुख्य स्रोत हैं—स्थविरावलियां, पट्टावलियां, प्रभावक-चरित्र, प्रबंधकोश आदि-आदि ग्रन्थ। आगम के व्याख्या ग्रंथों—निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णियों, और टीकाओं में यत्र-तत्र कुछ सामग्री उपलब्ध होती है। साध्वी संघमित्रा ने श्वेताम्बर और दिगंबर परंपरा के उपलब्ध उन सभी स्रोतों का इस प्रस्तुत कृति में उपयोग किया है।

प्रस्तुत ग्रंथ में सभी परंपरा के आचार्यों का जीवन-वृत्त वर्णित है। उनके आधारभूत प्रामाणिक स्रोत भी सन्दर्भ रूप में संकलित हैं। लेखिका ने बड़ी लगन और परिश्रम के साथ प्रस्तुत ग्रंथ की रचना की है। श्रम और सूझ-बूझ के साथ लिखा गया यह ग्रन्थ पाठकों के लिए रुचिवर्धक, ज्ञानवर्धक और शक्तिवर्धक

सिद्ध होगा।

आचार्यश्री तुलसी के नेतृत्व में सतत प्रवाहित साहित्य सरिता में अवगाहन कर कोई भी व्यक्ति धन्यता का अनुभव कर सकता है। साध्वी संघमित्रा जी को भी अपनी धन्यता के अनुभव का अवसर उपलब्ध होगा। भिक्षु-शासन की साहित्यिक गरिमा को बढ़ाने में जिनकी अंगुलियों का योग है, वे सब साधुवाद के योग्य हैं। उस अर्हता में साध्वी संघमित्रा ने भी अपना योग दिया है, इसका मैं अनुभव करता हूं।

युवाचार्य महाप्रज्ञ

अणुव्रत बिहार,
नई दिल्ली,
१५ मई, १९७९

प्रस्तुति

निर्ग्रन्थ शासन

निर्ग्रन्थ संघ संयम, त्याग और अहिंसा की भूमिका पर अधिष्ठित है। अनन्त आलोक पुञ्ज महाबली तीर्थंकर उसके संस्थापक और संचालक होते हैं। तीर्थंकर की अनुपस्थिति में इस महत्त्वपूर्ण दायित्व का निर्वहण आचार्य करते हैं।

आचार्य विशुद्धतम आचार सम्पदा के स्वामी होते हैं। वे छत्तीस गुणों से अलंकृत होते हैं। दीपक की तरह स्वयं प्रकाशमान बनकर जन-जन के पथ को आलोकित करते हैं और तीर्थंकरों की गिरा-पतवार को लेकर सहस्रों-सहस्रों जीवन नौकाओं को भवाब्धि के पार पहुंचाते हैं।

जैन शासन और भगवान महावीर

वर्तमान जैन शासन भगवान महावीर की अनुपम देन है। सर्वज्ञोपलब्धि के बाद अध्यात्म प्रहरी, मुक्तिदूत, तपःपूत तीर्थंकर महावीर ने तीर्थ की स्थापना की। अहिंसा, अभय, मैत्री का स्नेह प्रदान कर समता का दीप जलाया। अध्यात्म के आयाम उद्‌घाटित किए। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र पुरुष और नारी···सभी के लिए धर्म की समान भूमिका प्रस्तुत की। अपनी अनन्त महासम्पदा से जन-जन को लाभान्वित कर एवं समुचित व्यवस्था क्रम से जैन संघ को मार्ग-दर्शन देकर भगवान महावीर निर्वाण को प्राप्त हुए।

आचार्यों की गौरवमयी परम्परा का प्रारम्भ

भगवान महावीर की विशाल संघ सम्पदा को जैनाचार्यों ने सम्भाला। जैनाचार्य विराट् व्यक्तित्व एवं उदात्त कृतित्व के धनी थे। वे सूक्ष्म चिन्तक एवं सत्यद्रष्टा थे। धैर्य, औदार्य और गाम्भीर्य उनके जीवन के विशेष गुण थे। सहस्रों-सहस्रों श्रुत-सम्पन्न मुनियों को लील लेने वाला विकराल काल का कोई भी क्रूर आघात एवं किसी भी वात्याचक्र का तीव्र प्रहार उनके मनोबल की जलती मशाल को न मिटा सका, न बुझा सका और न उनकी विराट् ज्योति को मंद कर सका।

प्रसन्नचेता जैनाचार्यों की धृति मंदराचल की तरह अचल थी।

उदार-चेता

जैनाचार्य उदात्त विचारों के धनी थे। उन्होंने अपने संघ व सम्प्रदाय की ही सीमा को सब कुछ न मानकर अत्यन्त व्यापक दृष्टिकोण से ही चिन्तन किया। जन-जन के हित की बात कही। शास्त्रार्थ प्रधान युग में भी समन्वयात्मक भाव-भूमि को परिपुष्ट किया। समग्र धर्मों के प्रति उनका सद्भाव, स्याद्वाद-सिद्धान्त से अनुस्यूत माध्यस्थ दृष्टिकोण एवं अनाग्रहपूर्ण प्रतिपादन जैनाचार्यों की सफलता का मूल मंत्र था।

दायित्व का निर्वाह

श्रमण परम्परा में अनेक जैनाचार्य लघुवय में दीक्षित होकर संघ के शास्ता बने। पर उन्होंने आचार्य पद से अलंकृत हो जाने में ही जीवन और कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं मान ली थी। अपने दायित्व का वहन उन्होंने प्रतिक्षण जागरूक रहकर किया। "सुत्ता अमुणिणो मुणिणो सया जागरन्ति" भगवान महावीर का यह आगम वाक्य उनका अभिन्न सहचर था।

जैनाचार्यों की ज्ञानाराधना

सद्धर्म धुरीण जैनाचार्यों की ज्ञानाराधना विलक्षण थी। मंदिर और उपाश्रय ही उनके (ज्ञानकेन्द्र) विद्यापीठ थे। श्रुतदेवी के वे स्वयं कर्मनिष्ठ उपासक बने। "सज्झाय-सज्झाण रयस्स तायिणो" इस आगम वाणी को उन्होंने जीवन-सूत्र बनाकर ज्ञान-विज्ञान का गम्भीर अध्ययन किया। दर्शन के महासागर में उन्होंने गहरी डुबकियां लगाईं। फलतः जैनाचार्य दिग्गज विद्वान् बने। संसार का विरल विषय ही होगा जो उनकी प्रतिभा से अछूता रहा। ज्ञान, विज्ञान, धर्म, दर्शन, साहित्य, संगीत, इतिहास, गणित, रसायन शास्त्र, आयुर्वेद शास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र आदि विभिन्न विषयों के ज्ञाता, अन्वेष्टा एवं अनुसंधाता जैनाचार्य थे।

भारतीय ग्रन्थ राशि के जैनाचार्य पाठक ही नहीं स्वयं निर्माता थे। उनकी लेखनी अविरल गति से चली। विशाल साहित्य का निर्माण कर उन्होंने सरस्वती के भंडार को भरा। उनका साहित्य स्तवन प्रधान एवं गीत प्रधान ही नहीं था। काव्य एवं महाकाव्य का निर्माण, विशाल काय पुराणों की संरचना, व्याकरण एवं कोश की सृष्टि भी उन्होंने की।

दर्शन क्षेत्र में जैनाचार्यों ने गंभीर दार्शनिक दृष्टियां प्रदान कीं एवं योग के सम्बन्ध में नवीन व्याख्याएं भी प्रस्तुत कीं, न्यायशास्त्र के स्वयं प्रस्थापक बने। जैन शासन का महान् साहित्य जैनाचार्यों की मौलिक सूझ-बूझ एवं उनके अनवरत

परिश्रम का परिणाम है।

विवेक दीप

परागम प्रवीण, बुद्धि उजागर, भवाब्धि पतवार, कर्मनिष्ठ, करुणा कुबेर एवं जन-जन हितैषी जैनाचार्यों की असाधारण योग्यता से एवं उनकी दूरगामी पद यात्राओं से उत्तर, दक्षिण के अनेक राजवंश प्रभावित हुए। शासन शक्तियों ने उनका भारी सम्मान किया। विविध मानद उपाधियों से जैनाचार्य विभूषित किये गए पर किसी प्रकार की पद-प्रतिष्ठा उन्हें दिग्भ्रान्त न कर सकी। पूर्व विवेक के साथ उन्होंने महावीर संघ को संरक्षण दिया एवं विस्तार भी। आज भी जैनाचार्यों के समुज्ज्वल एवं समुन्नत इतिहास के सामने प्रबुद्धचेता व्यक्ति नतमस्तक हो जाते हैं। मेरे मानस पर भी जैनाचार्यों की विरल विशेषताओं का प्रभाव लम्बे समय से अंकित था।

संयोगतः भगवान् महावीर की पच्चीसवीं निर्वाण शताब्दी के अवसर पर उनकी अर्चना में साहित्य समर्पित करने का शुभ्र चिन्तन तेरापंथ के अधिनायक युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी के तत्वावधान में चला। जैन दर्शन से सम्बन्धित पच्चीस विषय चुने गए थे उनमें किसी एक विषय पर सौ पृष्ठों जितनी सामग्री लेखन का निर्देश मुझे प्राप्त हुआ। मैंने अपनी सहज रुचि के अनुसार "जैन धर्म के प्रभावक आचार्य" इस विषय को चुना और हार्दिक निष्ठा से लिखना प्रारंभ किया। मेरी लेखनी जैसे ही आगे बढ़ी, मुझे अनुभव हुआ कि प्रारंभ में यह विषय जितना सरल लग रहा है उतना ही दुरूह है। इस प्रसंग पर कवि माघ का भावपूर्ण पद्य स्मृति-पटल पर उभर आया—

तुंगत्वमितिरा नाद्रौ नेदं सिन्धावगाहता।
अलंघनीयताहेतुरुभयं तन्मनस्विनि॥

सागर गहरा होता है ऊंचा नहीं, शैल उन्नत होता है गहरा नहीं, अतः इन्हें मापा जा सकता है। पर उभय विशेषताओं से समन्वित होने के कारण महापुरुषों का जीवन अमाप्य होता है।

अभिव्यक्ति की इस विशेषता को अनुभूत कर लेने पर भी प्रभावक आचार्यों के जीवनवृत्त को शब्द-पटल पर चित्रित करने का मैंने प्रयास किया है। मैं जानती हूं, सौ पृष्ठों की मर्यादा का अतिक्रमण करके भी मनस्वी आचार्यों के जीवन महासागर से बिन्दु मात्र ही ले पाई हूं, पर देवार्चना की शुभ वेला में दो-चार अक्षत उपहार से जैसी तृप्ति भक्ति-भावित मानस को होती है, वैसी ही तृप्ति इस स्वल्प सामग्री के प्रस्तुतीकरण में मुझे हुई है।

साधना जीवन की मर्यादा के अनुरूप जितना इतिहास एवं साहित्य मैं बटोर पाई हूं, उसी के आधार पर यह लेखन है। जिसमें सम्भवतः बहुत कुछ अनदेखा,

अनजाना रहने के कारण अनकहा भी रह गया है। सुविज्ञ पाठक एवं इतिहास-प्रेमी इस पुस्तक के सम्बन्ध में मुझे अपनी प्रतिक्रियाओं से अवगत कराएंगे तो यथासम्भव द्वितीय संस्करण में उनका उपयोग कर सकूं इस बात की ओर पूरा प्रयत्न रहेगा।

युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी ने मुझे जैन परंपरा में दीक्षित कर मेरा अनल्प उपकार किया है। उन्होंने मेरी ज्ञान की आराधना, दर्शन की आराधना और चरित्र की आराधना को संवर्द्धित करने का सदा प्रयत्न किया है। मैं उनकी प्रभुता और कर्त्तव्य परायणता के प्रति समर्पित रही हूं। मैंने उनकी दृष्टि की आराधना की है और उससे बहुत कुछ पाया है। उनके द्वारा प्राप्त के प्रति मैं कृतज्ञ हूं और प्राप्य के प्रति आशान्वित हूं। उन्होंने आशीर्वचन लिखकर मुझे अनुगृहीत किया है। मैं उनके इस अनुग्रह के प्रति प्रणत हूं।

युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ की प्रज्ञा ने मुझे सदा सचेत रखा है और दर्शन चेतना को जागृत रखने का सदुपाय बताया है। कृपाकांक्षी नहीं आत्माकांक्षी बनो—इस सूत्र ने मुझे सदा उबारा है। मैं महाप्रज्ञ की ज्ञानाराधना से और चारित्रिक निष्ठा से बहुत लाभान्वित हुई हूं। उनके अध्यात्म से ओत-प्रोत संरक्षण में तेरापंथ का साध्वी समाज त्रिरत्न की आराधना में प्रगति करेगा—यह आशा-दीप सदा प्रज्वलित रहे। प्रस्तुत ग्रंथ के लेखन में उनका मार्ग-दर्शन मेरे लिए प्रकाश-स्तंभ रहा है। उन्होंने भूमिका लिखकर मेरे उत्साह को बढ़ाया है। शत-शत वन्दन।

महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभा से प्राप्त स्नेह और सद्भाव के प्रति भी मैं प्रणत हूं और आशा करती हूं कि उनकी देखरेख में साध्वी-समाज विशेष प्रगति करेगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन में पार्श्ववर्तिनी साध्वियों (स्वयंप्रभा जी, ललितप्रभा जी, शीलप्रभा जी, सोमलता जी) का सहयोग अत्यन्त मूल्यवान रहा है। विशेष संस्मरणीय बने हैं जवेरचंद जी डागल्या जो व्यापार कार्य में व्यस्त रहते हुए भी इस कृति की सम्पूर्ण प्रतिलिपि में उत्साह पूर्वक श्रम और समय का यथेप्सित अनुदान कर सके हैं।

यह सम्पूर्ण कृति पाठकों के हाथ में है। उनके द्वारा इस कृति का समीक्षात्मक एवं समालोचनात्मक अध्ययन मेरी प्रसन्नता में सहयोगी बनेगा।

उदयपुर, राजस्थान
१ मई, १९७९

साध्वी संघमित्रा

अनुक्रम

खण्ड-२

अध्याय दो : उत्कर्ष युग

अध्याय तीन : नवीन युग

खण्ड १

आचार्यों के काल का संक्षिप्त सिंहावलोकन

अध्यात्म-प्रधान भारत

भारत अध्यात्म की उर्वर भूमि है। यहां के कण-कण में आत्मनिर्झर का मधुर संगीत है, तत्त्वदर्शन का रस है और धर्म का अंकुरण है। यहां की मिट्टी ने ऐसे नररत्नों को प्रसव दिया है जो अध्यात्म के मूर्त रूप थे। उनके हृदय की हर धड़कन अध्यात्म की धड़कन थी। उनके ऊर्ध्वमुखी चिंतन ने जीवन को समझने का विशद दृष्टिकोण दिया। भोग में त्याग की बात कही और कमलदल की भांति निर्लेप जीवन जीने की कला सिखाई।[१]

चौबीस अवतार ने इस अध्यात्म-प्रधान धरा पर जन्म लिया। गौतम बुद्ध को बोधिसत्त्वों के माध्यम से पुनः-पुनः यहीं आना रुचिकर लगा और जैन तीर्थंकरों का सुविस्तृत इतिहास इसी आर्यावर्त के साथ जुड़ा।

जैन परम्परा और तीर्थंकर

जैन परम्परा में तीर्थंकरों का स्थान सर्वोपरि होता है। नमस्कार महामन्त्र में सिद्धों से पहले तीर्थंकरों का स्मरण किया जाता है। तीर्थंकर सूर्य की भांति ज्ञानरश्मियों से प्रकाशमान् और अपने युग के अनन्य प्रतिनिधि होते हैं। चौबीस तीर्थंकरों की क्रमव्यवस्था के अनुस्यूत होते हुए भी उनका विराट् व्यक्तित्व किसी तीर्थंकर-विशेष की परम्परा के साथ आबद्ध नहीं होता। मानवता के सद्यः उपकारी तीर्थंकर होते हैं।

परम्परा प्रवहमान सरिता का प्रवाह है। उसमें हर वर्तमान क्षण अतीत का आभारी होता है। वह ज्ञान, विज्ञान, कला, सभ्यता, संस्कृति, जीवन-पद्धति आदि गुणों को अतीत से प्राप्त करता है और स्व स्वीकृत एवं सहजात गुण सत्त्व को भविष्य के चरणों में समर्पण कर अतीत में समाहित हो जाता है।

तीर्थंकर साक्षात् द्रष्टा, ज्ञाता एवं स्वनिर्भर होते हैं। अतः वे उपदेशविधि और व्यवस्थाक्रम में किसी परम्परा के वाहक नहीं, अनुभूत सत्य के उद्घाटक होते हैं।[२]

भारत भूमि पर वर्तमान अवसर्पिणी काल में प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ थे।

.........तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वप्रभु और चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर थे।[3] परम्परा के रूप में पार्श्वप्रभु ने ऋषभनाथ से लेकर मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों की ज्ञाननिधि एवं संघ-व्यवस्था से न कुछ पाया और न कुछ भगवान् महावीर को दिया। सबकी अपनी भिन्न परम्परा थी और सबका भिन्न शासन था। पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमणों को महावीर के संघ में प्रवेश करते समय चतुर्याम साधना पद्धति को छोड़कर पंचमहाव्रत साधना प्रणाली को स्वीकार करना पड़ा था।[4] यह प्रसंग भिन्न परम्परा का स्फुट संकेतक है।

वर्तमान जैन परम्परा और भगवान् महावीर

वर्तमान जैन शासन की परम्परा भगवान् महावीर से संबन्धित है। महावीर का निर्वाण वि० पूर्व ४७० वर्ष में हुआ था। भगवान् महावीर के शासन में इन्द्रभूति गौतम प्रमुख १४ हजार साधु, चन्दनबाला प्रमुख ३६ हज़ार साध्वियां थीं।[5] आनंद प्रमुख १ लाख ५९ हज़ार उपासक और जयन्ती प्रमुख ३ लाख १८ हज़ार उपासिकाएं थीं। यह व्रतधारी श्रावकश्राविकाओं की संख्या थी। श्रेणिक, उदयन, चंडप्रद्योत, चेटक प्रमुख उस युग का महान् शासक वर्ग भगवान् महावीर का अनुयायी था।

संघ-व्यवस्था

भगवान् महावीर के संघ की संचालन विधि सुनियोजित थी। उनके संघ में ग्यारह गणधर, नौ गण और सात पद थे।[6] गण की शिक्षा-दीक्षा में सातों पदाधिकारियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता। आचार्य गण संचालन का कार्य करते। उपाध्याय प्रशिक्षण की व्यवस्था करते और सूत्रार्थ की वाचना देते। स्थविर श्रमणों को संयम में स्थिर करते। प्रवर्तक आचार्य द्वारा निर्दिष्ट धार्मिक प्रवृत्तियों का संघ में प्रवर्तन करते। गणी श्रमणों के छोटे समूहों का नेतृत्व करते। गणधर दिनचर्या का ध्यान रखते और गणावच्छेदक संघ की अन्तरंग व्यवस्था करते तथा धर्म शासन की प्रभावना में लगे रहते।

महावीर संघ और उत्तरवर्ती आचार्य

भगवान् महावीर के समकालीन श्रमण परम्परा के अन्य पांच विशाल सम्प्रदाय विद्यमान थे।[7] उनमें कुछ सम्प्रदाय महावीर के संघ से भी अधिक विस्तृत थे। उन पांचों सम्प्रदायों का नेतृत्व क्रमशः (१) पूरणकाश्यप (२) मंखलिगोशालक (३) अजितकेश कंबलि (४) पकुधकात्यायन (५) संजयवेलट्ठिपुत्र कर रहे थे। परिस्थितियों के वात्याचक्र से वे पांचों सम्प्रदाय काल के गर्भ में विलीन हो गए। वर्तमान में उनका साहित्यिक रूप ही उपलब्ध है।

बौद्धधारा विदेश की ओर अधिक प्रवाहित हुई और भारत से विच्छिन्न-प्राय: हो गयी। वर्तमान में भारत भूमि पर महावीर (निर्ग्रंथ ज्ञातपुत्र) का सम्प्रदाय ही गौरव के साथ मस्तक ऊंचा किए है। यह श्रेय कुछ विशिष्ट क्षमताओं और प्रतिभाओं को है। भगवान महावीर की उत्तरवर्ती आचार्य परम्परा में प्रखर प्रतिभासम्पन्न तेजस्वी, वर्चस्वी, मनस्वी, यशस्वी, अनेक आचार्य हुए।

जैन शासन की श्रीवृद्धि में उनका अनुदान अनुपम है। वे त्याग-तपस्या के उत्कृष्ट उदाहरण, नव-नवोन्मेष प्रज्ञा के धारक एवं महान् यायावर श्रमण थे। तप, नियम, ज्ञानवृक्षारूढ़ अमितज्ञानी तीर्थंकरों ने भव्यजनों के उद्बोधनार्थ अर्थागम प्रदान किया। गणधरों ने गूंथा, सूत्रागम का निर्माण किया। आचार्यों ने उनको संरक्षण दिया। प्राणोत्सर्ग करके भी श्रुत-संपदा को काल के क्रूर दुष्काल में विनष्ट होने से बचाया। उन्होंने दूरगामिनी पदयात्रा से अध्यात्म को विस्तार दिया और भगवान महावीर के भव संतापहारी संदेश को जन-जन तक पहुंचाया।

काल-विभाजन

भगवान् महावीर से अब तक के आचार्यों का युग महान् गरिमामय है। मैंने इसको तीन भागों में विभक्त किया है—आगम युग, उत्कर्ष युग, नवीन युग।

(१) आगम युग—वीर निर्वाण १००० वर्ष तक
(विक्रम पूर्व ४७० से वि० सं० ५३० तक)

(२) उत्कर्ष युग—वीर निर्वाण १००० वर्ष से २००० वर्ष तक
(वि० सं० ५३० से १५३० तक)

(३) नवीन युग—वीर निर्वाण २००० से २५०० तक
(वि० सं० १५३० से २०३० तक)

यह विभाजन तत्कालीन प्रवृत्तियों के प्रमुख आधारों को सामने रखकर किया गया है।

आगम युग

आगम युग वीरनिर्वाण से प्रारंभ होकर देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के समय तक संपन्न होता है। एक सहस्र वर्ष की अवधि का यह काल विविध घटना-प्रसंगों को अपने में संजोए हुए है। इस काल की मुख्य प्रवृत्ति 'आगमिक' थी। वीरवाणी को स्थायित्व प्रदान करने के लिए इस युग में कई क्रम चले। गणधर रचित अंगागम निधि का आलंबन लेकर उपांगों की रचना हुई और पाठ्यक्रम की सुविधा हेतु अनुयोग व्यवस्था के माध्यम से आगम-पठन की नवीन पद्धति स्थापित हुई। इन प्रवृत्तियों का प्रमुख संबंध आगम से था। आचार्य सुधर्मा आगम-निधि के प्रदाता थे। आगमधर आचार्यों में वे ही एक ऐसे आचार्य थे जिन्होंने भगवान महावीर

की सन्निधि में बैठकर आगमबोध प्राप्त किया था। वर्तमान में प्राप्त द्वादशाङ्गी के रचनाकार वे स्वयं ही थे। आगमपुरुष आचार्य सुधर्मा से बहुमुखी व्यक्तित्व का प्रभाव इस कालसीमा में व्यापक रूप से विद्यमान रहा, अतः मैंने इस सहस्र वर्ष के काल को आगम युग के नाम से संबोधित किया है।

आचार्य सुधर्मा और जम्बू

भगवान महावीर की परंपरा आचार्य सुधर्मा से प्रारंभ होती है। दिगम्बर परंपरा में यह श्रेय गणधर गौतम को है। सुधर्मा की जैन संघ को सबसे महत्त्वपूर्ण देन द्वादशांगी की है। द्वादशांगी का दूसरा नाम गणिपिटक भी है।[९] बौद्ध दर्शन में जो स्थान त्रिपिटक का है और वैदिक दर्शन में जो स्थान वेदत्रयी का है, वही स्थान जैन दर्शन में गणिपिटक का है।

सुधर्मा के इस आगम वैभव को उनके बाद आचार्य जम्बू ने सुरक्षित रखा था। इन दोनों आचार्यों का जैन संघ में अत्यंत गौरवमय स्थान है। महावीर के बाद ये दो ही आचार्य ऐसे थे जिन्होंने सर्वज्ञत्वश्री का वरण किया था। इनके बाद यह श्री किसी को उपलब्ध नहीं हो सकी थी।[१०]

श्रुतकेवली परम्परा

जैन परंपरा में छह श्रुतकेवली हुए हैं :[११]

(१) प्रभव (२) शय्यंभव (३) यशोभद्र (४) संभूतिविजय (५) भद्रबाहु (६) स्थूलभद्र।

इन छह श्रुतकेवलियों में आचार्य भद्रबाहु का स्थान बहुत ऊंचा है। आचार्य जम्बू के बाद वीर नि० ६४ (वि०पू० ४०६) से श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्यों की नाम परंपरा विभक्त हो गयी थी। वह परंपरा भद्रबाहु के समय में एक बिंदु पर आ टिकी थी। दिगम्बर परम्परा में जम्बूस्वामी के बाद श्रुतकेवली विष्णु नन्दीमित्र, अपराजित, गोवर्धन और तदनन्तर भद्रबाहु का नाम आता है।[१२] इन आचार्यों का कालमान १६२ वर्ष का है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार जम्बू के बाद प्रभव से भद्रबाहु तक का कालमान १७० वर्ष का है। इन दोनों में ८ वर्ष का अन्तर है। भद्रबाहु के पास सम्पूर्ण द्वादशांगी सुरक्षित थी, इसे दोनों सम्प्रदाय एकस्वर से स्वीकार करते हैं।

द्वादशवर्षीय दुष्काल और आगमवाचना

आचार्य जम्बू के बाद दस बातों का विच्छेद हो गया था।[१३] श्रुत की धारा आचार्य भद्रबाहु के बाद क्षीण हो गई। इसका प्रमुख कारण उस युग का द्वादशवर्षीय अकाल था। इस समय काल की काली छाया से विक्षुब्ध अनेक श्रुतधर श्रमण

स्वर्गवासी बन गए थे। इससे श्रुत की धारा भी छिन्न-भिन्न हो गयी।

दुष्काल की परिसमाप्ति पर विच्छिन्न श्रुत को संकलित करने के लिए वी० नि० १६० (वि० पू० ३१०) के लगभग श्रमण संघ पाटलिपुत्र (मगध) में एकत्रित हुआ था। आचार्य स्थूलभद्र इस महा सम्मेलन के व्यवस्थापक थे। सभी श्रमणों ने मिलकर तथा एक दूसरे से पूछकर प्रामाणिक रूप से ग्यारह अंगों का पूर्णतः संकलन इस समय कर लिया था। सुधर्मा युग की यह सर्वप्रथम वाचना थी। कुछ श्रमणों ने इसे मान्य नहीं किया। यहीं से जैन संघ में श्रुतभेद की धुंधली-सी रेखा भी उभर गयी थी।

टूटती श्रुत-शृंखला और आर्य स्थूलभद्र

इस समय भद्रबाहु के अतिरिक्त बारहवां अंग किसी के पास सुरक्षित नहीं था। यह श्रुत-व्युच्छित्ति का सबसे पहला धक्का जैन संघ को लगा था। इस क्षति-पूर्ति के लिए प्रतिभा-सम्पन्न आर्य स्थूलभद्र प्रमुख विशाल श्रमण संघ नेपाल पहुंचा और आचार्य भद्रबाहु से बारहवें अंग की वाचना ग्रहण कर टूटती हुई श्रुत-शृंखला में आर्य स्थूलभद्र संयोजक कड़ी बने। श्रुतकेवली की परम्परा में आचार्य स्थूलभद्र अन्तिम थे। उनके बाद कोई श्रुतकेवली भी नहीं हुआ। आचार्य भद्रबाहु ने स्थूल-भद्र को अन्तिम चार पूर्वों की अर्थ-वाचना नहीं दी थी। अतः अर्थदृष्टि से अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु थे। अतः उनके स्वर्गवास के साथ वी० नि० १७० (वि० पू० ३००) के लगभग अर्थतः चौदह पूर्वों का विच्छेद हुआ।[१४]

दशपूर्वधर परम्परा और उल्लेखनीय प्रसंग

दशपूर्वधर दस आचार्य हुए हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) महागिरि (२) सुहस्ती (३) गुणसुन्दर (४) कालकाचार्य (५) स्कन्दिलाचार्य (६) रेवतिमित्र (७) मंगू (८) धर्म (९) चन्द्रगुप्त (१०) आर्यवज्र।[१५]

दशपूर्वधर दस आचार्यों में आचार्य महागिरि एवं सुहस्ती के जीवन-प्रसंग विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आर्य महागिरि प्रथम दशपूर्वधर आचार्य थे एवं जिनकल्प तुल्य साधना करने वाले विशिष्ट साधक थे। आर्य सुहस्ती द्वितीय दश-पूर्वधर आचार्य थे। आर्य महागिरि व आर्य सुहस्ती दोनों गुरुभाई आचार्य थे तथा आर्य स्थूलभद्र के प्रधान शिष्य थे।

आगम में तीन प्रकार के स्थविर माने गए हैं—(१) जाति-स्थविर (२) श्रुत-स्थविर (३) पर्याय-स्थविर। साठ वर्ष की अवस्था प्राप्त व्यक्ति 'जाति स्थविर'; ठाणं और समवायांग का धारक निर्ग्रन्थ 'श्रुत स्थविर' एवं बीस वर्ष साधुत्व पालने वाला 'पर्याय स्थविर' होता है।[१६]

आर्य स्थूलभद्र के सन्ध्या काल में आर्य महागिरि जाति-स्थविर, श्रुत-स्थविर एवं पर्याय-स्थविर भी बन चुके थे। आर्य सुहस्ती उस समय न जाति-स्थविर थे, न श्रुत-स्थविर थे, न पर्याय-स्थविर ही।

आर्य स्थूलभद्र ने भावी आचार्य पद के लिए गम्भीरता से अध्ययन किया और उन्होंने इस पद पर दोनों की नियुक्ति एकसाथ की। निशीथ चूर्णि के अनुसार आर्य स्थूलभद्र ने आचार्य पद का दायित्व आर्य महागिरि को न देकर आर्य सुहस्ती को प्रदान किया था।[१७]

दशाश्रुतस्कन्ध स्थविरावली की परम्परा में आचार्य सम्भूतविजय के उत्तराधिकारी आचार्य स्थूलभद्र एवं स्थूलभद्र के उत्तराधिकारी आचार्य सुहस्ती थे।

आर्य महागिरि के बहुल आदि आठ प्रमुख शिष्य थे। उनमें से आर्य महागिरि के उत्तराधिकारी गणाचार्य बलिस्सह थे। आर्य महागिरि के अन्य शिष्य भी जैन धर्म के महान् प्रभावक थे।

कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार आर्य महागिरि के आठवें शिष्य कौशिक गोत्रीय रोहगुप्त (षडुलूक) से त्रैराशिक मत की स्थापना हुई। षडुलूक वैशेषिक सूत्रों के कर्त्ता भी माने गए हैं। त्रैराशिक मत की स्थापना का इतिहास सम्मत समय वी० नि० ५४४ (वि० सं० ७४) है। इस आधार पर त्रैराशिक मत के संस्थापक आर्य महागिरि के शिष्य रोहगुप्त प्रमाणित नहीं होते। समवायांग टीका के अनुसार श्रीगुप्त के शिष्य रोहगुप्त (षडुलूक) से अन्तरंजिका नगर में त्रैराशिक मत का जन्म हुआ था।

आर्य महागिरि के प्रशिष्य परिवार से निह्नववाद के प्रसव का इतिहास निर्विवाद है।

कौडिन्य के शिष्य मुनि अश्वमित्र के द्वारा वी० नि० २२० (वि० पू० २५०) के पश्चात् सामुच्छेदिकवाद की स्थापना हुई।

धनाढ्य के शिष्य गंग मुनि के द्वारा उल्लुका नदी के तीर पर वी०नि० २२८ (वि० पू० २४२) के पश्चात् द्वैक्रियवाद की स्थापना हुई।

कौडिन्य और धनाढ्य दोनों आर्य महागिरि के शिष्य एवं अश्वमित्र व गंग दोनों शिष्य के शिष्य होने के कारण आर्य महागिरि के प्रशिष्य थे।

धनाढ्य का दूसरा नाम धनगुप्त भी था।

सामुच्छेदिकवाद के अभिमत से प्रत्येक क्षण नारक आदि सभी जीव उच्छिन्न भाव को प्राप्त होते रहते हैं। यह एकान्तिक पर्यायवाद का समर्थक है, एवं बौद्ध दर्शन के निकट है।

द्वैक्रियवाद के अभिमत से शीत-उष्ण आदि दो विरोधी धर्मों का एकसाथ अनुभव किया जा सकता है।

त्रैराशिकवाद के अभिमत से जीव, अजीव और नो अजीव रूप तीन राशि की सिद्धि मानी गई है।

आर्य महागिरि और सुहस्ती के गण भिन्न-भिन्न होते हुए भी प्रीतिवश दोनों आचार्य एकसाथ विचरण करते थे।[१८]

आर्य सुहस्ती के स्थविर आर्य रोहण आदि बारह प्रमुख शिष्य थे। इनसे उद्देहगण, उडुपाटित गण आदि गणों का और प्रत्येक गण से कई शाखाओं और कुलों का जन्म हुआ। इन शाखाओं-प्रशाखाओं में मानव गण से पनपी एक शाखा का नाम सौराष्ट्रिका है। यह सौराष्ट्रिका शब्द आचार्य सुहस्ती के शिष्य गण का सौराष्ट्र क्षेत्र से सम्बद्ध होने का संकेतक है। विद्वानों का अनुमान है श्रमणों द्वारा धर्म प्रचार का कार्य सौराष्ट्र तक विस्तृत हो चुका था।

कई महत्त्वपूर्ण घटनाएं आचार्य सुहस्ती के जीवन से सम्बद्ध हैं।

आचार्य सुहस्ती के शिष्य वर्ग में आहार-गवेषणा-सम्बन्धी शिथिलाचार को पनपते देखकर आचारनिष्ठ आर्य महागिरि द्वारा साम्भोगिक विच्छेद की घटना सर्वप्रथम इस समय घटित हुई थी।[१९]

अवन्ती के श्रीसम्पन्न वसुभूति श्रेष्ठी को अध्यात्मबोध देने का श्रेय भी आचार्य सुहस्ती को है।

गणाचार्य, वाचनाचार्य एवं युगप्रधानाचार्य की परम्परा भी आचार्य सुहस्ती के समय से प्रारम्भ हुई।

आचार्य सुहस्ती और सम्राट् संप्रति

जैन शासन की प्रभावना में भी आचार्य सुहस्ती और सम्राट् सम्प्रति का महान् योगदान है। मौर्यवंशी कुणाल पुत्र सम्राट् सम्प्रति आचार्य सुहस्ती से सम्यक्त्व रत्न प्राप्त कर जैन दर्शन का व्रतधारी श्रावक बना और उसने जैन दर्शन प्रभावी जो यशस्वी कार्य किए वे इतिहास के पृष्ठों में अंकित रहेंगे। जैन सम्राट् सम्प्रति जैन राजाओं में प्रथम सम्राट् था जिसने अपने राजपुरुषों को जैन धर्म का प्रशिक्षण देकर श्रमण परिधान सहित उन्हें अनार्य क्षेत्रों में प्रेषित किया एवं उनसे अधार्मिक लोगों में जैन संस्कारों के बीज वपन करवाकर अनार्य भूमि को आगमधर चरित्रनिष्ठ श्रमणों के लिए विहरण योग्य बना दिया था।[२०]

जैन धर्म और सम्राट् खारवेल

उड़ीसा प्रान्त का महाप्रतापी शासक खारवेल सुदृढ़ जैन उपासक था। वह महाराज चेटक के पुत्र शोभनराय के उत्तराधिकारियों में से था। उनका दूसरा नाम महामेघवाहन भी था। जैनाचार्यों की शृंखला में आचार्य भद्रबाहु और

आचार्य स्थूलभद्र के साथ सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य था। आचार्य सुहस्ती के साथ सम्राट् सम्प्रति का, आचार्य सिद्धसेन के साथ विक्रमादित्य द्वितीय का, आचार्य समन्तभद्र के साथ शिवकोटि महाराज का, आचार्य पूज्यपाद के साथ सम्राट् अमोघवर्ष का, आचार्य बप्पभट्टि के साथ आमराजा का, आचार्य हेमचन्द्र के साथ जयसिंह सिद्धराज तथा चौलुक्य कुमारपाल का और आचार्य हीरविजयजी व जिनचन्द्र सूरि के साथ बादशाह अकबर का इतिहास गौरवमय शब्दों में लिखा हुआ है पर महाराज खारवेल का उल्लेख इस लम्बी शृंखला में कहीं और किसी आचार्य के साथ नहीं हुआ। इससे इतिहासकारों ने सम्राट् खारवेल को पार्श्वापत्यिक संघ का अनुयायी माना है।

जैन प्रचार-प्रसार का व्यापक रूप में जो कार्य कलिंगाधिपति खारवेल ने किया वह वास्तव में अद्वितीय था। अपने समय में उन्होंने एक बृहद् जैन सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें आस-पास के अनेक जैन भिक्षु, आचार्य, विद्वान् तथा विशिष्ट उपासक सम्मिलित हुए।

सम्राट् खारवेल को उसके कार्यों की प्रशस्ति के रूप में धम्मराज, भिक्खुराज, खेमराज जैसे शब्दों से सम्बोधित किया गया। हाथीगुंफा (उड़ीसा) के शिलालेख में इसका विशद वर्णन है।

हिमवन्त स्थविरावली के अनुसार महामेघवाहन भिक्षुराज खारवेल सम्राट् ने कुमारी पर्वत पर यह श्रमण सम्मेलन आयोजित किया था। इस सम्मेलन में महागिरि परंपरा के बलिस्सह, बौद्धिलिंग, देवाचार्य, धर्मसेनाचार्य, नक्षत्राचार्य आदि २०० जिनकल्प तुल्य साधना करने वाले श्रमण एवं आर्य सुस्थित, आर्य सुप्रतिबुद्ध, उमास्वाति, श्यामाचार्य आदि ३०० स्थविरकल्पी श्रमण थे। आर्या पोइणी आदि ३०० साध्वियां, भिखुराय, चूर्णक, सेलक आदि ७०० श्रमणोपासक और पूर्णमित्रा आदि ७०० उपासिकाएं विद्यमान थीं।

श्यामाचार्य ने इस अवसर पर पन्नवणा सूत्र की, उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र की और स्थविर आर्य बलिस्सह ने अंगविद्या प्रभृति शास्त्रों की रचना की थी।

बलिस्सह, उमास्वाति, श्यामाचार्य आदि स्थविर श्रमणों ने खारवेल सम्राट् की प्रार्थना से सुधर्मा रचित द्वादशांगी का संकलन किया एवं भोजपत्र, ताड़पत्र और वल्कल पर उसे लिपिबद्ध कर आगम वाचना के ऐतिहासिक पृष्ठों में महत्त्वपूर्ण अध्याय जोड़ा।

श्रमण वर्ग ने धर्मोन्नति हेतु मगध, मथुरा, बंग आदि सुदूर प्रदेशों में विहरण करने की प्रेरणा सम्राट् खारवेल से इसी सम्मेलन में प्राप्त की थी। प्रस्तुत सम्मेलन की मुख्य प्रवृत्ति आगम वाचना के रूप में निष्पन्न हुई।

सम्राट् खारवेल वी० नि० ३०० (वि० पू० १७०) के आसपास सिंहासन

पर आरुढ़ हुए और वी० नि० ३३० (वि० पू० १४०) के बाद उनका स्वर्गवास हुआ था। अतः वी० नि० ३०० से ३३० के बीच में इस आगम वाचना का काल संभव है।

जैन शासन को प्रभावना में विशिष्ट विद्यासम्पन्न आचार्यों का योग

आचार्य कालक इस युग के विशिष्ट प्रभावोत्पादक विद्वान् थे और प्रबल धर्म प्रचारक भी।

जैन इतिहास ग्रन्थों में प्रमुखतः कालक नामक चार आचार्यों का उल्लेख है। प्रथम कालक श्यामाचार्य के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। वे निगोद-व्याख्याता, शक्र-संस्तुत एवं पन्नवणा सूत्र के रचनाकार थे। उनका कालमान वी० नि० ३३५ (वि० पू० १३५) है।

द्वितीय कालक गर्दभिल्लोच्छेदक विशेषण से विशेषित हैं। वे सरस्वती के बंधु थे। उनका समय वी० नि० ४५३ (वि० पू० १७) है।[२१]

तृतीय कालक वी० नि० ७२० (वि० २५०) में हुए हैं। उनके जीवन-संबंधी घटना-विशेष उपलब्ध नहीं है।

चतुर्थ कालक वी० नि० ९९३ (वि० ५२३) में हुए हैं। वालभी युगप्रधान पट्टावली के अनुसार वीर निर्वाण की पट्ट परंपरा में वे सत्ताईसवें पुरुष थे। संभवतः देवर्धिगणी क्षमाश्रमण की आगम वाचना के समय नागार्जुनीय वाचना के प्रतिनिधि रूप में आचार्य कालक (चतुर्थ) उपस्थित थे।

विदेश जाकर विद्याबल से शकों को प्रभावित करने वाले द्वितीय कालक थे। प्रतिष्ठानपुर का राजा शातवाहन उनका परम भक्त था। यह वही शातवाहन था जिसने भृगुकच्छ नरेश नभसेन से कई युद्ध किए और बार-बार उनसे वह पराभूत होता रहा। शातवाहन ने अंत में षड्यंत्र रचकर भृगुकच्छ नरेश पर विजय पायी।

बलमित्र और भानुमित्र के द्वारा पावस काल में निष्कासित किए जाने पर अवन्ति से आचार्य कालक प्रतिष्ठानपुर में आए और राजा शातवाहन की प्रार्थना पर उन्होंने वहां चतुर्थी को सम्वत्सरी पर्व मनाया। श्रमणों ने सम्वत्सरी पर्व के प्रवर्तित दिन को एक रूप में मान्य किया—यह आचार्य कालक के श्रुतसम्पन्न व्यक्तित्व का ही प्रभाव था। चतुर्थी को सम्वत्सरी मनाने का यह समय वी० नि० ४५७ से ४६५ (वि० पू० १५ से ७) तक अनुमानित किया गया है। पावस काल में आचार्य कालक को निष्कासित करने वाले बलमित्र भानुमित्र के अवन्ति शासन का लगभग यही समय है।

श्रुताध्ययन में प्रमत्त शिष्यों को छोड़कर आचार्य कालक एकाकी अवन्ति से स्वर्णभूमि की ओर प्रस्थित हो गये थे। अपने प्रशिष्य सागर को बोध देते हुए

उन्होंने कहा—"शिष्य ! श्रुत का कभी गर्व मत करना। तीर्थंकरों के पास जितना ज्ञान था उतना गणधरों के पास नहीं था। गणधरों का सम्पूर्ण ज्ञान आचार्य नहीं ले सके। हमारे पूर्वाचार्यों के पास जो था वह पूर्णत: हमारे पास नहीं है। धूलि को मुट्ठी में भरकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रक्षेप करते रहने पर वह हमेशा कम-कम होती जाती है।" आचार्य कालक की ये प्रवृत्तियां श्रुतज्ञान को परिपुष्ट करने वाली हैं। शिष्य-प्रशिष्यों को अनुयोग प्रदान करने का महत्त्व-पूर्ण कार्य आचार्य कालक ने किया है।[२२]

आचार्य पादलिप्त और आचार्य खपुट भी आचार्य कालक की भांति इस युग के विशिष्ट प्रभावोत्पादक विद्या के धनी थे। आचार्य पादलिप्त ने प्रतिष्ठानपुर के राजा मुरुण्ड को, मानखेटपुर के राजा भीम को, ओंकारपुर के राजा कृष्ण को प्रभावित कर उन्हें जैन शासन के प्रति दृढ़ आस्थाशील बना दिया। आचार्य खपुट ने भी गुड़शस्त्रपुर नरेश को विद्याबल से झुका लिया।

अतिशय विद्या के धनी आचार्य कालक, खपुट और पादलिप्त का जीवन-इतिहास प्रस्तुत श्रुतकाल में समाहित है। इन आचार्यों की मुख्य प्रवृत्ति आगमिक नहीं थी पर विद्याबल से जैन धर्म के प्रसार में अनुकूल वातावरण का निर्माण कर प्रकारान्तर से इन्होंने आगम प्रवृत्ति का निर्बाध पथ प्रशस्त किया था।

पूर्वों की परम्परा का विच्छेद-क्रम

दशपूर्वधारी दश आचार्य हुए हैं। उनमें प्रथम दशपूर्वधर आचार्य महागिरि एवं द्वितीय दशपूर्वधर आचार्य सुहस्ती थे। विलक्षण वाग्मी आर्य वज्रस्वामी अन्तिम दशपूर्वधर थे। उनका स्वर्गवास वी०नि० ५८४ (वि० सं० ११४) में हुआ। उन्हीं के साथ दशपूर्वधर की धारा विलुप्त हो गई थी। दिगम्बर परम्परा के अनुसार दशपूर्व की ज्ञान सम्पदा वी० नि० १८३ (वि० पू० २८७) वर्ष तक सुरक्षित रही। धर्मसेन अन्तिम दशपूर्वधर थे।

श्रुतधर आचार्य वज्रस्वामी के पास आर्यरक्षित ने नौ पूर्व पूर्ण एवं दशमपूर्व का अर्धभाग ग्रहण किया था। दृष्टिवाद को पढ़ने की प्रेरणा आर्यरक्षित को माता रुद्रसोमा से प्राप्त हुई थी। क्षीण होती हुई पूर्वज्ञान की धारा को सुरक्षित रख लेने के प्रयत्नों में नारी द्वारा पुरुष को दिशाबोध आगम युग की महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है। साहित्य लेखन की निष्पक्ष धारा में कभी यह पहलू विस्मृत नहीं किया जा सकता। आर्यरक्षित का स्वर्गवास वी० नि० ५९२ (वि० १२२) के आसपास हुआ था। आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र नौ पूर्वधर थे। दुर्बलिकापुष्यमित्र का स्वर्गवास वी० नि० ६१७ (वि० १४७) है। उनके बाद नौ पूर्व के ज्ञाता भी नहीं रहे, पर पूर्वज्ञान की परम्परा वी० नि० १००० वर्ष तक सुरक्षित रही है।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार अंग आगम के ज्ञाता एवं अष्टांग महानिमित्त शास्त्र के विद्वान् आचार्य धरसेन थे। उनके पास विशाल पूर्वों का आंशिक ज्ञान सुरक्षित था। उन्होंने पूर्वांश को सुरक्षित रखने के लिए मेधावी शिष्य पुष्पदन्त एवं भूतबलि को वाचना प्रदान की।

आगम विच्छेद-क्रम

भगवान् महावीर की वाणी का प्रत्यक्ष श्रवण कर त्रिपदी के आधार पर गण-धरों ने आगम-वाचना का कार्य किया। वीर निर्वाण के बाद उस आगम सम्पदा का उत्तरोत्तर ह्रास हुआ है।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी तक अंगागम का ज्ञान प्राप्त रहा। एकादशांगी के अन्तिम ज्ञाता आचार्य ध्रुवसेन थे। सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु, लोहार्य—ये चार आचार्य एक आचारांग सूत्र के ज्ञाता थे। आचार्य लोहार्य के बाद आचारांग सूत्र का कोई ज्ञाता नहीं हुआ। लोहार्य का समय वी० नि० ६८३ (वि० २१३) तक का है। अतः दिगम्बर मत से वी० नि० ६८३ (वि० २१३) तक आगम की उपलब्धि मानी जाती है। उसके बाद आगम का सर्वथा विच्छेद हो गया।

श्वेताम्बर परम्परा सर्वथा आगम-विच्छेद की परम्परा को स्वीकार नहीं करती। इस परम्परा के अनुसार आगम वाचनाकार आचार्यों के सत्प्रयत्नों से आगम-संकलना का महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ और इससे आगमों की सुरक्षा होती रही है। आज भी जैन समाज के पास एकादशांगी आगम निधि के रूप में भगवान महावीर की वाणी का प्रसाद उपलब्ध है। दुष्काल की घड़ियों में आगम-निधि क्षत-विक्षत हुई, पर उसका पूर्ण लोप नहीं हुआ था।

आगमपरक साहित्य

आगम युग में जैनाचार्यों द्वारा महत्त्वपूर्ण आगमपरक साहित्य का निर्माण भी हुआ। द्वादशांगी की देन आचार्य सुधर्मा की है जिसका उल्लेख पहले ही कर दिया गया है। दशवैकालिक के निर्यूहक आचार्य शय्यम्भव, छेद सूत्रों के रचयिता आचार्य भद्रबाहु, ओर प्रज्ञापना के रचयिता श्यामाचार्य थे। दशवैकालिक, छेद सूत्र एवं प्रज्ञापना को अंग बाह्य आगम माना गया है। तत्त्वार्थ सूत्र के रचयिता आचार्य उमास्वाति, षट्खण्डागम के रचयिता आचार्य पुष्पदन्त, भूतबलि, कषाय प्राभृत के रचयिता आचार्य गुणधर, समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचा-स्तिकाय, अष्ट प्राभृत साहित्य आदि ग्रन्थों के रचयिता आचार्य कुन्दकुन्द इस युग के महान् साहित्यकार थे।

आचार्य उमास्वाति का तत्त्वार्थ सूत्र जैन तत्त्वों का संग्राहक सूत्र है। जैन तत्त्वों के विवेचन में यह आधारभूत ग्रन्थ माना गया है।

षट्खण्डागम, कषाय प्राभृत और समयसार आदि ग्रन्थों को दिगम्बर परम्परा में आगमवत् उच्चतम स्थान प्राप्त है।

आगमयुग का यह साहित्य आगमपरक होने के कारण आगम प्रवृत्ति को ही परिपुष्ट करता है।

अनुयोग व्यवस्था

अनुयोग व्यवस्था आगम के पठन-पाठन का एक सुव्यस्थित और सुनियोजित क्रम (सूत्र और अर्थ का समुचित सम्बन्ध) है। अनुयोग चार हैं— (१) द्रव्यानुयोग (२) चरणकरणानुयोग (३) धर्मकथानुयोग (४) गणितानुयोग। पहले इन चारों अनुयोगों की भूमिका पर प्रत्येक आगम सूत्र का पठन-पाठन होता था। यह अत्यन्त दुरूह पठन प्रणाली थी। आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र जैसे प्रतिभासम्पन्न शिष्य भी इस अध्ययन क्रम में असफल होते प्रतीत हुए। आर्यरक्षित ने इस कठिनता का अनुभव किया और शिक्षार्थी श्रमणों की सुविधा के लिए आगम पठन पद्धति को चार भागों में विभक्त कर दिया।[२३] आगम वाचना की दिशा में यह एक शैक्षणिक क्रान्ति थी। उनके व्यक्तित्व का प्रभाव ही था कि इस अनुयोग व्यवस्था को संघ ने निर्विरोध स्वीकार कर लिया।[२४]

परम्परा-भेद का जन्म

वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अविभक्त जैन श्रमण-संघ श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दो विशाल शाखाओं में विभक्त हो गया था। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार वी०नि० ६०९ (वि० सं० १३९) में दिगम्बर मत की स्थापना हुई। दिगम्बर मत के अनुसार वी० नि० ६०६ (वि० १३६) में श्वेताम्बर मत का अभ्युदय हुआ।

भेद का प्रमुख कारण वस्त्र था। दोनों परम्पराओं का नामकरण भी वस्त्र-सापेक्ष है। एक परम्परा मुनियों के द्वारा वस्त्र ग्रहण को परिग्रह नहीं मानती। दूसरी परम्परा सर्वथा इसके विरोध में है। आचार्य जम्बू के बाद जिनकल्पी अवस्था का विच्छेद और 'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो'—संयम धारणार्थ वस्त्र ग्रहण परिग्रह नहीं है इस आगम-वाक्य से आचार्य शय्यंभव द्वारा वस्त्र का प्रबल समर्थन अन्तर्विरोध की प्रतिक्रिया प्रतीत होती है। दोनों परम्पराओं में प्रथम जन्म किसका हुआ यह अनुसन्धान का विषय है।

जैन संघ में नाना गणों, कुलों, गच्छों और शाखाओं के निर्माण का सुविस्तृत

इतिसास है। महावीर के शासनकाल में नौ गण थे। आचार्य भद्रबाहु, महागिरि एवं सुहस्ती के शिष्यों से नौ गणों का जन्म हुआ। उनके नाम इस प्रकार हैं[२५]—

(१) गोदास गण (२) उत्तर बलिस्सइ गण (३) उद्देह गण (४) चारण गण (५) उडुपाटित गण (६) वेश पाटिक गण (७) कामर्द्धि गण (८) मानव गण (९) कोटिक गण।

इन गणों से कई शाखाओं और कुलों का उदभव हुआ। कल्पसूत्र स्थाविरावली में उनका उल्लेख इस प्रकार है—(१) तामलिप्तिका, (२) कोटिवर्षिका, (३) पाण्डुवर्धनिका, (४) दासीखर्वटिका—ये चार शाखाएं गोदास गण की थी।

(१) कोशम्बिका (२) शुक्तिमतिका (३) कोंडवाणी (४) चन्द्रनागरी —ये चार शाखाएं उत्तर बलिस्सह गण थीं।

(१) उदुंबरिज्जिका (२) मासपूरिका (३) मतिपत्तिका और सुवर्णपत्तिका—ये चार शाखाएं, (१) नागभूतिक (२) सोमभूतिक (३) उल्लगच्छ (४) हत्थिलिज्ज (५) नन्दिज्ज (६) पारिहासिक—ये ६ कुल उद्देह गण के थे।

(१) हारितमालागारी (२) संकासिका (३) गवेधुका (४) वज्रनागरी —ये चार शाखाएं, तथा (१) वत्थलिज्ज (२) वीचिधम्मक (३) हालिज्ज (४) पुसमित्तेज्ज (५) मालिज्ज (६) अज्जवेडय (७) कण्णसह—ये सात कुल चारण गण के थे।

(१) चंपिज्जिया (२) भद्दिज्जिया (३) काकंदिया (४) मेहलिज्जिया ये चार शाखाएं तथा (१) भद्दजस्स (२) भद्दगुत्त (३) जस्सभद्द—ये तीन कुल उडुपाटित गण के थे।

(१) सावत्थिया (२) रज्जपालिया (३) अन्तरज्जिया (४) खेमलिज्जिया —ये चार शाखाएं तथा (१) गणिक (२) मेहिक (३) कामर्द्धिक (४) इन्द्रपूरक —ये चार कुल वेशपाटिक गण के थे।

कामार्द्धिक गण की कोई शाखा नहीं थी। वेशपाटिक गण का एक कुल था।

(१) कासमिज्जिया (२) गोयमिज्जिया (३) वासिट्ठिया (४) सोरिट्ठिया —ये चार शाखाएं तथा (१) इसिगुत्तिय (२) इसिदत्तिय (३) अभिजसंत— ये तीन कुल माणव गण के थे।

(१) उच्चानागरी (२) विज्जाहरी (३) वइरी (४) मज्जिमिल्ला—ये चार शाखाएं तथा (१) बंभलिज्ज (२) वच्छलिज्ज (३) वाणिज्ज (४) पण्णवाहणय—ये चार कुल कोटिक गण के थे।

आर्य सांतिसोणिक के शिष्य परिवार से अज्जसेणिया. अज्जातावसा, अज्जकुबेरा, अज्जइसिपालिया, आर्य समित से ब्रह्मदेविया, आर्यवज्र से वज्रशाखा,

आर्यवज्र के शिष्य परिवार से अज्जानाइली, अज्जपडमाव अज्ज जयंति शाखा का जन्म हुआ था।

आचार्य वज्रसेन के चार शिष्यों से उन्हीं के नाम पर निवृति, नागेन्द्र, विद्याधर और चन्द्रकुल का विकास हुआ। आगमयुग में इन शाखाओं और कुलों का अभ्युदय व्यवस्था मात्र था।

सिद्धान्त-भेद और क्रिया-भेद के आधार पर श्वेताम्बर और दिगम्बर—इन दो शाखाओं में जैन संघ प्रथम बार विभक्त हुआ था। यापनीय संघ की समन्वयात्मक नीति ने इन दोनों के बीच समझौता करने का प्रयत्न भी किया पर जो खाई बन गई थी वह मिट न सकी।

श्वेताम्बर परम्परा का मुनि समुदाय वी० नि० ८८२ (वि० ४१२) में दो भागों में स्पष्ट रूप से विभक्त हो गया था। एक पक्ष चैत्यवासी सम्प्रदाय के नाम से तथा दूसरा पक्ष सुविहितमार्गी नाम से प्रसिद्ध हुआ। चैत्यवासी मुनि मुक्त भाव से शिथिलाचार को समर्थन देने लगे थे। शिथिलाचार की धारा सर्वज्ञत्व उच्छिन्न होने के बाद श्रमण वर्ग में प्रविष्ट हुई। आचार्य महागिरि के द्वारा सांभोगिक विच्छेद की घटना का प्रमुख कारण श्रमणों द्वारा शिथिलाचार का सेवन था। दस पूर्वधर आचार्य सुहस्ती की विनम्र प्रार्थना पर आर्य महागिरि ने सांभोगिक विच्छिन्नता के प्रतिबन्ध को हटा दिया था पर भविष्य में मनुष्य की माया-बहुल प्रवृत्ति का चिन्तन कर उन्होंने सांभोगिक व्यवहार सम्मिलित नहीं किया था। उसके बाद सुदृढ़ अनुशासन के अभाव में श्रमणों द्वारा सुविधावाद को प्रश्रय मिलता गया। सम्प्रदाय के रूप में इस वर्ग की स्थापना वी० नि० की नवीं (वि० की ५वीं) सदी के उत्तरार्द्ध में हुई। श्वेताम्बर परम्परा के भेद बीज का आगम युग की सहस्राब्दी में प्रथम बार अंकुरण हुआ था।

स्कन्दिल और नागार्जुन

जैन परम्परा में आचार्य स्कन्दिल और नागार्जुन आगम वाचनाकार के रूप में प्रसिद्ध है। नन्दी स्थविरावली के अनुसार आचार्य स्कन्दिल ब्रह्मद्वीपसिंह के शिष्य थे एवं प्रभावक चरित्र में इनको विद्याधर वंश के और श्री पादलिप्त सूरि के कुल में माना है।

आचार्य स्कन्दिल और नागार्जुन के समय में पुनः दुष्काल की काली घटाएं घिर आई थीं। इसमें श्रुतधरों की और श्रुत की महान् क्षति हुई। दुष्काल-सम्पन्नता के बाद आचार्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में द्वितीय आगम वाचना हुई।[३१] इसमें उत्तर भारत विहारी श्रमण भी सम्मिलित थे। यह वाचना मथुरा में होने के कारण माथुरी कहलाई। इस समय आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में भी आगम वाचना हुई। यह वाचना वल्लभी में होने के कारण 'वल्लभी वाचना' के

नाम से प्रसिद्ध हुई।[२७]

नन्दीचूर्णि के अनुसार आचार्य स्कन्दिल की वाचना के समय श्रुत का विनाश नहीं हुआ था। आचार्य स्कन्दिल ने मथुरा में आगमों का अनुयोग प्रवर्तन किया, अतः यह माथुरी आगम वाचना के नाम से विश्रुत हुई। प्रस्तुत आगम वाचना का यह समय वी० नि० ८२७ से ८४० (वि० ३५७ से ३६०)तक स्वीकृत हुआ है।

देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण और आगम वाचना

देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण एक पूर्वधर आचार्य थे। उनके समय पुनः दुष्काल का क्रूर आघात जैन संघ को लगा। दुष्काल समाप्त होने पर आचार्य देवर्द्धिगणी की अध्यक्षता में संघ एकत्रित हुआ। इस समय नागार्जुनीय वाचना के प्रतिनिधि आचार्य कालक भी सम्भवतः उपस्थित थे। यह समय वी० नि० ९८० (वि० ५१०) माना गया है।

आचार्य देवर्द्धिगणी संघ के विशिष्ट आचार्य थे। वे क्षमा-धृति आदि गुणों से सम्पन्न थे। उनके निर्देशन में आगम वाचना का कार्य प्रारम्भ हुआ। उन्होंने माथुरी वाचना को प्रमुखता प्रदान कर और वल्लभी वाचना को पाठान्तर से स्वीकार कर क्षत-विक्षत आगम राशि को सुरक्षित किया।

नन्दी स्थविरावली के अनुसार प्रभावक आचार्यों की परम्परा में आचार्य देवर्द्धिगणी बत्तीसवें या सत्ताईसवें पुरुष थे। दशाश्रुतस्कन्ध स्थविरावली के अनुसार वे चौतीसवें पुरुष थे। प्रस्तुत स्थविरावली में आचार्य देवर्द्धिगणी को सांडिल्य का शिष्य माना है। एवं स्थविरावली के अंतिम पद्य में उनकी भावपूर्ण शब्दों में प्रशंसा है। वह पद्य इस प्रकार है :

> "सुतत्थरयणभरिए, खमदममद्दवगुणेहिं सम्पन्ने ।
> देविड्ढिखमासमणे, कासवगुत्ते पणिवयाभि ॥१४॥"

काश्यप गोत्रीय आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण सूत्रार्थ रत्नों के धारक थे। वे क्षान्त, दान्त, और मार्दव आदि गुणों से संपन्न थे। दुष्षमकाल श्री श्रमण संघ स्तोत्र के उल्लेखानुसार आचार्य देवर्द्धिगणी ने पुत्र-मृत्यु से शोकसंतप्त राजा ध्रुवसेन के मन को समाधिस्थ करने के लिए आनन्दपुर में सभा के मध्य कल्पसूत्र का वाचन किया था।[२८]

आगमों को पुस्तकारूढ़ कर देने का श्रेय भी प्रमुख रूप से आचार्य देवर्द्धिगणी को दिया जाता है।[२९]

राजनयिक भूमिका पर अनेक उतार-चढ़ाव इस काल में आए। वीर निर्वाण के बाद ६० वर्ष तक पालक का राज्य और १५० वर्ष अथवा १५५ वर्ष तक नन्दों का राज्य रहा। नन्द राज्य में नौ नन्द नरेश हुए।। इस काल में आचार्य प्रभव, शय्यंभव, यशोभद्र, सम्भूत विजय, भद्रबाहु एवं स्थूलभद्र जैसे श्रुतसम्पन्न प्रभावी

आचार्य हुए।[10] नवें नन्द के महामेधावी मंत्री शकटाल की रोमांचकारी मृत्यु, नन्द राज्य का पतन, तदनन्तर मौर्य साम्राज्य की स्थापना हुई। मौर्य साम्राज्य के वाहक चन्द्रगुप्तादि सात नरेश हुए। जैन ग्रन्थों के उल्लेखानुसार उनके नाम इस प्रकार हैं—चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार, अशोक, कुणाल, सम्प्रति, पुण्यरथ एवं वृहद्रथ। इन सात पीढ़ियों के एक सौ साठ वर्ष के राज्यकाल में सम्राट् सम्प्रति के राज्य को सर्वोन्नत माना गया।[11] इस युग में आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती युग-प्रभावी आचार्य हुए एवं जैन शासन की महान् श्रीवृद्धि हुई।

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति इस युग की आगम वाचना का कार्य है। वीर निर्वाण के सहस्राब्दी काल में चार आगम वाचना हुई उसमें सर्वतो विशिष्ट आगम वाचना आचार्य देवर्द्धिगणी की है। आचार्य स्कन्दिल और नागार्जुन की वाचना आचार्य देवर्द्धिगिणी की आगम वाचना से लगभग एक सौ पचास वर्ष पूर्व हो गई थी। वीर निर्वाण की दसवीं शताब्दी में होने वाली यह आगम वाचना सबसे अन्तिम वाचना थी। इसके बाद जैन शासन में सर्वमान्य वाचना नहीं हो पाई। अतः आगम वाचना युग के विशिष्ट वाचनाकार आचार्य देवर्द्धिगणी की जैन शासन को युग-युग तक प्रकाश प्रदान करने वाली आगम वाचना के साथ एक हजार वर्ष का आगम युग समाप्त हो जाता है।

उत्कर्ष युग

उत्कर्ष युग वीर निर्वाण की ग्यारहवीं (वि० ५३०) सदी से प्रारम्भ होकर वीर निर्वाण २००० (वि० १५३०) वर्ष तक का काल जैन शासन के उत्कृष्ट उत्कर्ष का काल था। इस युग में महान् तेजस्वी एवं वर्चस्वी आचार्य उदित हुए जो महान् दार्शनिक थे। विविध भाषाओं के अध्येता और विविध विषयों के वे निष्णात विद्वान् थे। उनकी स्वच्छ-सुतीक्ष्ण प्रतिभा के दिव्य प्रकाश में उस युग का सम्पूर्ण वातावरण अग्निस्नात स्वर्ण की भांति चमक उठा और जैन शासन की अभूतपूर्व प्रगति हुई, अतः इस काल को उत्कर्ष युग की संज्ञा प्रदान की गई है।

न्याय युग का उद्भव

श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य सिद्धसेन, दिगम्बर परम्परा के प्रभावी आचार्य समन्तभद्र एवं आचार्य अकलंक भट्ट इस युग के उज्ज्वल नक्षत्र थे। इन आचार्यों का अभ्युदय जैन दर्शन का अभ्युदय था। इनका जन्म न्याय का जन्म था।

आचार्य सिद्धसेन

जैन साहित्य में आज न्याय शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त है उसे प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य सिद्धसेन को है। न्यायावतार की रचना से उन्होंने न्यायशास्त्र की नींव डाली। नयवाद का विशद विश्लेषण सर्वप्रथम आचार्य सिद्धसेन के ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

प्रमाण शास्त्र के विषय में भी आचार्य सिद्धसेन ने गम्भीर चर्चा की है। अनुमान-प्रमाण की परिभाषा और स्वार्थ-परार्थ के रूप में भेद-विभाजन का सर्वथा मौलिक चिन्तन सिद्धसेन का है। पक्ष, हेतु, दृष्टांत, दूषण आदि विभिन्न पक्षों पर चिन्तन प्रस्तुत कर आचार्य सिद्धसेन ने स्वतन्त्र रूप से न्याय पद्धति की रचना की। अतः आचार्य सिद्धसेन के साहित्य से न्याययुग के नवीन प्रभात का उदय हुआ था।

आचार्य समन्तभद्र

आचार्य समन्तभद्र का न्याययुग में अनुपम योग है। आगम में निहित अनेकान्त सामग्री को दर्शन की भूमिका पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय उन्हें है। आचार्य समन्तभद्र महान् स्तुतिकार और अगाध आस्थाशील थे। उनके ग्रन्थ स्तुति-प्रधान हैं। उन्होंने वीतराग प्रभु की स्तुति के साथ एकान्तवाद का निरसन, अनेकान्तवाद की स्थापना कर अनेकान्त दर्शन को व्यापक रूप प्रदान किया। आप्त मीमांसा में उन्होंने आप्त पुरुषों की परीक्षा तर्क के निकष पर की है।

सुनय और दुर्नय की व्यवस्था, स्याद्वाद की परिभाषा का स्थिरीकरण और सप्तभंगी की व्यवस्था आचार्य समन्तभद्र की देन है।

आचार्य अकलंक भट्ट

आचार्य अकलंक भी न्याययुग के महान् उजागर थे। न्याय विनिश्चय, लघीयस्त्रय और प्रभाव संग्रह के द्वारा उन्होंने न्याय की समुचित व्यवस्था की है। आज भी उनके साहित्य में प्रतिष्ठित न्याय अकलंक के नाम से प्रसिद्ध है। उत्तरवर्ती अनेक आचार्यों ने आचार्य अकलंक की न्याय पद्धति का अनुसरण किया है। एवं आचार्य माणिक्यनन्दी ने अपने ग्रन्थों में अकलंक न्याय को व्यापक विस्तार दिया है।

आचार्य अकलंक की अष्टशती टीका जैन दर्शन के गूढ़तम अनेकान्त दर्शन की प्रकाशिका है।

न्याय युग की प्रतिष्ठा

न्याय युग की प्रतिष्ठा में मल्लवादी, पात्र केशरी, विद्यानन्द, अभयदेव, माणिक्यनन्दी, वादिराज, प्रभाचन्द्र, वादिदेव, रत्नप्रभ, मल्लिषेन आदि आचार्यों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन आचार्यों ने द्वादशार नयचक्र, त्रिलक्षण कदर्थन, प्रमाण-परीक्षा, वाद महार्णव, परीक्षामुख, न्यायविनिश्चय विवरण, न्याय कुमुदचन्द्र, प्रमेय कमल मार्तण्ड, प्रमाण नयतत्त्वालोक, प्रमाण मीमांसा, रत्नाकरावतारिका और स्याद्वादमञ्जरी जैसे ग्रन्थ निर्माण कर न्याय-व्यवस्था को पूर्ण उत्कर्ष पर चढ़ा दिया था। जैन ग्रन्थों में नव्यन्यायशैली के प्रतिष्ठापक उपाध्याय यशोविजय जी थे।

योग और ध्यान के संदर्भ में

योग और ध्यान के विषय में भी जैनाचार्यों ने मौलिक दृष्टियां प्रस्तुत कीं। आचार्य हरिभद्र, आचार्य शुभचन्द्र और कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र योग के महान् प्रतिष्ठापक थे। आचार्य शुभचन्द्र का 'ज्ञानार्णव' और आचार्य हेमचन्द्र का 'योगशास्त्र' योग विषय की प्रसिद्ध कृतियां हैं। आचार्य हरिभद्र के 'योग बिन्दु', 'योगदृष्टि समुच्चय', 'योगविंशिका', 'योगशतक' और 'षोडशक' इन पांचों ग्रन्थों में पातंजल योगदर्शन के साथ समन्वय तथा जैन दर्शन से सम्बन्धित नवीन यौगिक दृष्टियों की अवतारणा भी है। मित्रा, तारा, बला, दीप्रा आदि आठ दृष्टियों का प्रतिपादन जैनाचार्यों के मौलिक चिन्तन का परिणाम है।

प्राकृत व्याख्या ग्रन्थों का निर्माण

भगवान् महावीर की वाणी गणधरों द्वारा प्राकृत भाषा में निबद्ध हुई, यह आगम साहित्य के रूप में जैन समाज के पास उपलब्ध थी। आगम ग्रन्थों की शैली अत्यन्त संक्षिप्त एवं गूढ़ थी। उसमें सुगमता से प्रवेश पाने के लिए जैनाचार्यों ने प्राकृत व्याख्या साहित्य का निर्माण किया। निर्युक्ति रचना के साहित्यकार आचार्य भद्रबाहु, भाष्य साहित्य के रचनाकार आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, चूर्णि साहित्य के रचनाकार आचार्य जिनदास महत्तर इस युग के महान आगम व्याख्याकार आचार्य थे। चूर्णियाँ संस्कृत-मिश्रित प्राकृत में हैं।

निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि साहित्य के रूप में रचित विशाल व्याख्या साहित्य जैन इतिहास का गौरवमय पृष्ठ है।

जैनाचार्यों का यह साहित्य सुप्राचीन भारत की सभ्यता एवं संस्कृति की झांकी प्रस्तुत करने वाला निर्मल दर्पण है।

जैन साहित्य और संस्कृत भाषा

यह युग संस्कृत भाषा के आरोहण का काल था। जैनेतर विद्वानों द्वारा संस्कृत भाषा में विशाल ग्रन्थराशि का निर्माण हो रहा था। यह विद्वानों की भाषा समझी जाने लगी थी। धर्म-प्रभावना के कार्य में इस भाषा का आलम्बन अनिवार्य हो गया था।

संस्कृत भाषा-प्रधान इस युग में संस्कृतविज्ञ सक्षम जैनाचार्यों का आविर्भाव हुआ। महान् टीकाकार आचार्य शीलांक, सोलह वर्ष की अवस्था में आचार्य पद पर आरूढ़ होने वाले नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव, समर्थ टीकाकार आचार्य मलयगिरि, सरस टीकाकार आचार्य नेमिचन्द्र आदि संस्कृत भाषा में आगम के व्याख्या ग्रन्थों को प्रस्तुत करने वाले दिग्गज विद्वान् थे। उन्होंने विशाल टीका ग्रन्थों का निर्माण कर संस्कृत साहित्य को समृद्ध किया है।

सर्वार्थसिद्धि के कर्त्ता आचार्य पूज्यपाद, भक्तामर स्तोत्र के कर्त्ता आचार्य मानतुंग, १४४४ ग्रन्थों के रचयिता आचार्य हरिभद्र, धवला तथा जयधवला के कर्त्ता आचार्य जिनसेन और विजयसेन, उत्तरपुराण के रचयिता आचार्य गुणभद्र, अष्टसहस्री और तत्त्वार्थवार्तिक आदि नौ ग्रन्थों के रचयिता आचार्य विद्यानन्द, कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के व्याख्याकार आचार्य अमृतचन्द्र, रूपक ग्रन्थ—उपमितिभव-प्रपञ्चकथा के रचनाकार आचार्य सिद्धर्षि, अमितगति श्रावकाचार के रचयिता आचार्य अमितगति, गोम्मटसार जैसी अमूल्य कृति के रचनाकार आचार्य नेमिचन्द्र, यशस्तिलक तथा नीतिवाक्यामृत ग्रन्थ के रचनाकार आचार्य सोमदेव, कविमूर्धन्य आचार्य रामचन्द्र, कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र आदि विद्वान् जैनाचार्य इस युग के अनुपम रत्न थे। इन आचार्यों की प्रखर प्रतिभा और समर्थ लेखनी ने संस्कृत साहित्य को ज्ञानालोकमय बना दिया था।

जैन साहित्य और लोकभाषा

जैनाचार्य लोकरुचि के भी ज्ञाता थे। उन्होंने एक ओर संस्कृत भाषा में उच्च-तम साहित्य का निर्माण कर उसे विद्वद्भोग्य बनाया दूसरी ओर लोकभाषा को भी प्रश्रय दिया। वे जनभाषा में बोले और जनभाषा में साहित्य की रचना कर विभिन्न देशों की भाषा को समृद्ध किया। इससे उनके प्रति लोकप्रीति बढ़ी और वह धर्म-प्रभावना में अधिक सहायक सिद्ध हुई। आज पूर्वाचार्यों के प्रयत्न परि-

णामस्वरूप प्राकृत, संस्कृत, संस्कृत के अतिरिक्त तमिल, आसामी, बिहारी, राजस्थानी आदि भाषाओं में जैन साहित्य उपलब्ध है।

जैनाचार्यों का शास्त्रार्थ-कौशल

भगवान महावीर के निर्वाण की द्वितीय सहस्राब्दि में भारत भू-मण्डल पर विभिन्न धर्मों व सम्प्रदायों के बाद कुशल आचार्यों द्वारा शास्त्रार्थों का जाल-सा बिछ गया था। जैनाचार्यों ने इस समय अपनी चिन्तन शक्ति को उस ओर मोड़ा। उनकी स्फुरणशील मनीषा ने अनेक सभाओं में दिग्गज विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ कर विजय प्राप्त की और जैन धर्म की प्रभावना में उन्होंने चार चांद लगा दिए।

जैनाचार्य और जैन धर्म का विस्तार

जैनाचार्यों ने जैन धर्म को व्यापक विस्तार दिया। उनके द्वारा प्रदत्त धर्म का सन्देश सामान्य जनों से लेकर राजप्रासाद तक पहुंचा। दक्षिणाञ्चल के राजवंश—चोलवंश, होयसलवंश, राष्ट्रकूटवंश, पाण्ड्यवंश, कदम्बवंश और गंगवंश के राज-परिवार जैन थे। दक्षिण नरेश शिवकोटि ने आचार्य समन्तभद्र से, शिलादित्य ने आचार्य मल्लवादी से, दुर्विनीत कोंगुणी ने आचार्य पूज्यपाद (देवनन्दी) से, आचार्य अमोघवर्ष ने आचार्य वीरसेन और जिनसेन से अध्यात्म का बोध प्राप्त किया था। युद्ध-विजेता दण्डनायक सेनापति चामुण्डराय, गंगधर और हुल्ल ने जैनाचार्यों से प्रभावित होकर जैन शासन की अनुपम प्रभावना की थी।

भारत के उत्तराञ्चल में भी राजशक्तियों पर जैनाचार्यों का अप्रतिहत प्रभाव था। आचार्य सिद्धसेन ने सात राजाओं को प्रतिबोध दिया था। कूर्मार के राजा देवपाल और अवन्ति के विक्रमादित्य उनके परम भक्त बन गए थे। ग्वालियर के राजा वत्सराज का पुत्र 'आम' आचार्य बप्पभट्टि के साथ गाढ़ मैत्री सम्बन्ध रखता था। बंगाल के अधिपति धर्मराज और राजा 'आम' का परस्पर पुरातन वैर आचार्य बप्पभट्टी की उपदेशधारा से सदा-सदा के लिए उपशान्त हो गया था।

आचार्य हेमचन्द्र की प्रतिभा पर मुग्ध होकर जयसिंह और कुमारपाल ने अपना सम्पूर्ण राज्य ही उनके चरणों में समर्पित कर दिया था। राजा हर्षदेव की सभा में आचार्य मानतुंग का, परमार नरेश भोज एवं जयसिंह की सभा में आचार्य माणिक्यनन्दी एवं आचार्य प्रभाचन्द्र का, सोलंकी नरेश जयसिंह प्रथम की सभा में आचार्य वादिराज का, चालुक्य वंशी कृष्णराज तृतीय की सभा में आचार्य सोमदेव का विशेष स्थान था।

मुगल सम्राटों को प्रतिबोध देनेवाले आचार्यों में आचार्य जिनप्रभ सर्वप्रथम थे। उन्होंने मुगल नरेश तुगलक को बोध देकर जैन शासन के गौरव को बढ़ाया।

जैनाचार्यों के शास्त्रार्थों, प्रवचनों एवं दूरगामी यात्राओं से उत्तर-दक्षिण का भारत भूमण्डल जैन संस्कारों से प्रभावित हो गया था। इस युग में जैनाचार्यों ने जो कुछ किया वह अनुपम एवं असाधारण था। साहित्य की महान् समृद्धि और राजनीति पर धर्मनीति की विजय जैनाचार्यों की सूझ-बूझ का परिणाम था। एक सहस्र वर्ष के इस काल का अंकुश एक प्रकार से जैनाचार्यों के हाथ में ही था। शासक वर्ग अनन्य परामर्शदाता थे। जैन धर्म विकास के लिए यह युग महान् उत्कर्ष का युग था।

नवीन युग

उत्कर्ष का चरम बिन्दु क्रान्ति का आमन्त्रण है। क्रान्ति की निष्पत्ति नवीन प्रभात का उदय है। आचार्य देवर्द्धिगणी के बाद वीर निर्वाण की द्वितीय सहस्राब्दि के पूर्वार्ध में चैत्यवासी सम्प्रदाय को निर्बाध गति से पनपने का अवसर मिला। कठोर चर्या पालन करने वाले सुविहितमार्गी श्रमण चैत्यवासी श्रमणों के बढ़ते हुए वर्चस्व के सामने पराभूत हो गए। श्रमण वर्ग, यति वर्ग एवं भट्टारक वर्ग में सुविधावाद पनपने लगा। उग्र विहार चर्या को छोड़कर वे मठाधीश बन गए। जंत्र, मंत्र, तंत्रों के प्रयोग से वे राजसम्मान पाकर राजगुरु कहलाने लगे। छत्र-चामर आदि को निःसंकोच भाव से धारण कर वे राजशाही ठाट में रहने लगे। जनमानस में इन सारी प्रवृत्तियों के प्रति भारी असन्तोष था। असन्तोष का ज्वार वीर निर्वाण की इक्कीसवीं शताब्दी में प्रथम चरण में विस्तार के साथ प्रकट हुआ। साध्वाचार की विशृंखलित मर्यादाओं ने क्रान्ति को जन्म दिया।

क्रान्ति का प्रथम चरण

उस समय जैन सम्प्रदायों में सर्वत्र क्रान्ति की आंधी उठ रही थी। दिगम्बर परंपरा में वी०नि० १९७५ से २०४२ (वि० १५०५ से १५७२) के बीच क्रान्तिकारी तारण स्वामी हुए। उन्होंने मूर्तिपूजा के विरोध में एक क्रान्ति की। इस क्रान्ति की निष्पत्ति तारण-तरण समाज के रूप में हुई। इस समाज के अनुयायी मन्दिरों के स्थान पर सरस्वती भवन बनाने और मूर्तियों के स्थान पर शास्त्रों की प्रतिष्ठा करने लगे थे। उस समय भट्टारक शक्ति बलवान थी। उसके सामने यह नवोदित संघ अधिक पनप नहीं सका है।

भट्टारक सम्प्रदाय के शिथिलाचार पर कइयों के मन में आग भभक रही थी। कुछ लोग आचार्य कुन्दकुन्द और अमृतचन्द के ग्रन्थों का अध्ययन कर अध्यात्म की ओर झुके और वे अध्यात्मी कहलाने लगे। पंडित बनारसीदास जी का समर्थन पाकर इस अध्यात्मी परम्परा से दिगम्बर तेरापन्थी का जन्म हुआ। तेरापन्थ के

अभ्युदय के साथ ही इतर पक्ष दिगम्बर 'बीसपंथी' कहलाया। दिगम्बर परम्परा की यह क्रान्ति 'क्रान्ति युग' का प्रथम चरण था।

क्रान्ति का द्वितीय चरण

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी इस समय महान् क्रान्तिकारी लोंकाशाह पैदा हुए। लोंकाशाह का युग एक ऐसा युग था जिसमें श्वेताम्बर धर्मगच्छों के संचालन का दायित्व यतिवर्ग के हाथ में था। यति चैत्यों में निवास करते थे। उनके सामने साधुत्व का भाव गौण और लोकरञ्जन का भाव प्रमुख था। परिग्रह को पापमूलक बताने वाले स्वयं धन-सम्पदा का निरंकुश भोग करने लगे। नाना प्रकार की सुविधाएं उनके जीवन में प्रवेश पा चुकी थीं। इन सबके विरुद्ध में लोंकाशाह की धर्म क्रान्ति का स्वर गुजरात की धरा से गूंज उठा।

लोंकाशाह गुजरात के थे। उनके पिता का नाम हेमाभाई था। मूलतः वे सिरोही राज्य के अन्तर्गत अरहटबाड़ा ग्राम के निवासी थे और अहमदाबाद में आकर रहने लगे थे। यति वर्ग का अहमदाबाद में प्रबल प्रभुत्व था।

लोंकाशाह में बचपन से ही सहज धार्मिक रुचि थी एवं उनकी लिपि कलापूर्ण थी। वे मोती-से गोल व सुन्दर.अक्षर लिखते थे। यतियों ने आगम लिखने का कार्य उन्हें सौंपा। लोंकाशाह लिपिकार ही नहीं थे वे गंभीर चिन्तक, सूक्ष्म अध्येता एवं समुचित समीक्षक भी थे। आगम लेखन में रत लोंकाशाह ने एक दिन अनुभव किया—आगम-प्रतिपादित सिद्धान्त और साध्वाचार के मध्य भेदरेखा उत्पन्न हो गई है।

लोंकाशाह ने कई दिनों तक चिन्तन-मनन किया और एक दिन उन्होंने निर्भीकतापूर्वक क्रान्ति का उदघोष कर दिया। सैकड़ों लोगों को लोंकाशाह की नीति ने आकृष्ट किया। कोट्याधीश लक्खमसी भाई ने गहराई से समझा और वे लोंकाशाह के मत का प्रबल समर्थन करने लगे।

लक्खमसी भाई द्वारा शिष्यत्व स्वीकार कर लेना लोंकाशाह की सफलता में एक महत्त्वपूर्ण घटना थी।

एक बार कई संघ तीर्थयात्रार्थ जा रहे थे। अधिक वर्षा के कारण उन्हे वहां रुकना पड़ा जहां लोंकाशाह थे। लोंकाशाह का प्रवचन सुनकर सैकड़ों व्यक्ति सुलभबोधि बने। पैंतालीस व्यक्तियों ने लोंकाशाह की श्रद्धा के अनुरूप वी० नि० २००१ (वि० सं० १५३१) में श्रमण दीक्षा ली और उन्होंने चैत्यों में रहना छोड़ा।

इनका नवोदित गच्छ लोंकागच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। लोंकाशाह द्वारा श्रमण दीक्षा ग्रहण करने का कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होता।

लोंकागच्छ का विकास शीघ्र गति से प्रारम्भ हुआ। इस गच्छ की एक शती पूर्ण होने से पूर्व ही सैकड़ों व्यक्तियों ने लोंकाशाह की नीति के अनुरूप निर्ग्रन्थ

दीक्षा स्वीकार कर मुनि-जीवन में प्रवेश पाया। सर्वत्र लोंकागच्छ की चर्चा प्रारंभ हो गई। लोंकाशाह का लोंकागच्छ के शिशुकाल में ही वी० नि० २०११ (वि० सं० १५४१) में स्वर्गवास हो गया था। अत: इनके गच्छ का संगठन सुदृढ़ नहीं हो पाया। स्वस्थ नेतृत्व के अभाव में संघ व्यवस्थाएं छिन्न-भिन्न होनी प्रारम्भ हो गईं।

कई विद्वानों के अभिमत से लोंकागच्छ के आठ पट्टधर लोंकाशाह की नीति का सम्यक् अनुगमन करते रहे। तदनंतर परस्पर सौहार्द और एकसूत्रता की कमी के कारण संगठन की जड़ें खोखली हो गईं। लोंकागच्छ के सामने एक विकट परिस्थिति पैदा हो गई। धर्मसंकट की इस घड़ी में ऋषिलवजी, धर्मसिंह जी एवं धर्मदास जी जैसे क्रियोद्धारक आचार्यों का अभ्युदय हुआ। उन्होंने साधु-जीवन की मर्यादाओं का दृढ़ता से अनुगमन किया। लोंकाशाह की धर्मक्रान्ति को प्रबल वेग दिया एवं स्थानकवासी सम्प्रदाय की व्यवस्थित नींव डाली।

पांच सौ वर्षों के इतिहास को अपने में समाहित किए हुए यह स्थानकवासी परम्परा विभिन्न शाखाओं और उपशाखाओं में विभक्त है। इस परम्परा का स्थानकवासी नाम अर्वाचीन है, इसका पूर्व नाम साधुमार्गी था।

आचार्य धर्मदास जी के निन्यानबे शिष्य थे। आचार्य धर्मदास जी का स्वर्गवास होते ही उनका शिष्य समुदाय बाईस भागों में विभक्त हो गया। इससे आचार्य धर्मदास जी की परम्परा से बाईस शाखाओं का जन्म हुआ। और उनकी प्रसिद्धि 'बाईस टोला' नाम से हुई। आज यह सम्प्रदाय 'स्थानकवासी' नाम से अधिक विश्रुत है।

समय के लम्बे अन्तराल में इनमें से अधिकांश शाखाओं का आज लोप हो गया है। नयी शाखाओं का उद्भव भी हुआ है। विभिन्न शाखाओं को संगठित करने के उद्देश्य से विक्रम की इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक में स्थानकवासी मुनियों का बृहद् श्रमण सम्मेलन हुआ। यह सम्मेलन 'सादड़ी सम्मेलन' के नाम से प्रसिद्ध है। इस अवसर पर सौहार्दपूर्ण विचार विनिमय के वातावरण में भिन्न-भिन्न शाखाओं के आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक मुनिजनों ने आचार्य आत्माराम को प्रमुख पद पर चुना और उनके नेतृत्व में अधिकांश स्थानकवासी सम्प्रदायों ने अपना सहज समर्पण कर दिया। इस संगठित संघ का नाम श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ हुआ।

स्थानकवासी परम्परा की दूसरी शाखा 'साधुमार्गी' के नाम से प्रसिद्ध है। वह श्रमण संघ के साथ नहीं है।

गोंडल सम्प्रदाय, लींबडी सम्प्रदाय और आठकोटि सम्प्रदाय ये तीनों ही स्थानकवासी परम्परा की शाखाएं हैं। गोंडल और लींबड़ी सम्प्रदाय सौराष्ट्र में है तथा आठकोटि सम्प्रदाय कच्छ में है।

क्रान्ति का तृतीय चरण

तीन सौ वर्षों के बाद राजस्थान (मेवाड़) से क्रांति की एक और आंधी उठी। यह क्रांति आगमिक आधार पर स्थानक तथा दान-दया-सम्बन्धी आचारमूलक वैचारिक क्रांति थी। इस क्रांति के जन्मदाता राजस्थान (मारवाड़) के सपूत आचार्य भिक्षु थे। हर क्रांतिकारी मानव के जीवन में संघर्ष और तूफान आते हैं। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। क्रांतिकारी आचार्य भिक्षु के पथ में भी नाना प्रकार की बाधाएं उपस्थित हुईं। स्थान न मिलने के कारण वे श्मशान भूमि में रहे। पांच वर्ष तक उन्हें पर्याप्त भोजन भी नहीं मिला, पर किसी प्रकार के अभाव की एवं सुख-सुविधा की चिन्ता किए बिना वे अविरल गति से अपने निर्धारित पथ पर बढ़ते रहे एवं निर्भीक वृत्ति से सत्य का प्रतिपादन करते रहे।

आचार्य भिक्षु में किसी नये सम्प्रदाय के निर्माण का व्यामोह नहीं था। पर वे जिस पथ का अनुसरण कर रहे थे उस पर अन्य चरणों को बढ़ते हुए देखा तब उन्होंने मर्यादाएं बांधीं, संघ बना। इस संघ का नाम श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थ है। तेरापन्थ का स्थापना दिवस वी० नि० २२८७ (वि० सं० १८१७) है। क्रांति युग के तृतीय चरण की निष्पत्ति तेरापन्थ के रूप में उपलब्ध हुई।

वर्तमान में तेरापन्थ का इतिहास लगभग २१५ वर्षों की अवधि में समाहित है। इस स्वल्प समय में भी तेरापन्थ धर्म संघ ने जैन धर्म की विभिन्न शाखाओं के समक्ष अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है और अपनी संगठनात्मक नीति से विश्व का ध्यान विशेष आकृष्ट किया है।

तेरापन्थ परम्परा में नौ आचार्य हुए हैं। उनमें सर्वप्रथम अध्यात्म के सजग प्रहरी आचार्य भिक्षु थे। उन्होंने इस तेरापन्थ महावृक्ष का बीज-वपन किया। पूज्य श्री भारमल्ल जी और रायचन्द जी ने उसे अंकुरित किया। ज्योतिर्धर जयाचार्य के समुचित संरक्षण में उसका पल्लवन हुआ। महाभाग मघवागणी और माणकगणी की शीतल छाया तथा डालगणी के तेजोमय व्यक्तित्व का समुचित ताप पाकर वह खिला और कमनीय कलाकार कालूगणी के श्रम-सिंचन से वह फला।

वर्तमान में युग-प्रधान आचार्य श्री तुलसी के स्वस्थ और सुखद नेतृत्व में यह संघ बहुमुखी विकास पा रहा है।

नवीन युग और जैनाचार्य

नवीन युग में आचार्य हीरविजय जी, आचार्य वज्रसेन, चतुर्थ दादा संज्ञक आचार्य जिनचन्द्र, आचार्य जिनवल्लभ आदि जैनाचार्यों का उल्लेख है जो नई क्रांति के जन्मदाता नहीं थे पर मुगल सम्राटों को प्रतिबोध देने का तथा उन्हें जैन धर्म के अनुकूल बनाने का प्रभावी कार्य उन्होंने अवश्य किया था। इस युग में

अध्यात्म योगियों की धारा भी गतिशील बनी। यह धारा आनन्दघन जी से प्रारंभ हुई। आचार्य बुद्धिसागर इसी यौगिक धारा के सन्त थे।

दिगम्बर परम्परा के प्रभावी आचार्य शान्तिसागर जी, देशभूषण जी; मन्दिर मार्गी परम्परा के आचार्य विजयानन्द सूरिजी, विजय राजेन्द्र जी, कृपाचन्द्र सूरि जी, विजय वल्लभ सूरि जी, सागरानन्द जी; स्थानकवासी परम्परा के आचार्य रघुनाथ जी, जयमल्ल जी, अमोलक ऋषिजी, आत्माराम जी, जवाहरलाल जी, आनन्द ऋषि जी; तेरापन्थ परम्परा के आचार्य भिक्षु, जयाचार्य, मघवागणी, करुणानिधान कालूगणी जी आदि इस युग के विशेष उल्लेखनीय आचार्य हैं। इन की धर्म-प्रचार प्रवृत्ति, साहित्य-साधना, महान यात्राएं तथा विविध प्रकार की अन्य कार्यपद्धतियां जैन धर्म की प्रभावना में विशेष सहायक सिद्ध हुई हैं। विदेशों तक धर्मसंदेश पहुंचाने का श्रेय भी नवीन युग के आचार्यों को है।

नवीन युग की विशाल कड़ी तेरापन्थ के वर्तमान अनुशास्ता अणुव्रत प्रवर्तक युग-प्रधान आचार्य श्री 'तुलसी' हैं। उन्होंने अणुव्रत के द्वारा जैन धर्म को व्यापक भूमिका पर युग के सामने प्रस्तुत किया है एवं धर्म के सार्वजनीन, सार्वकालिक, शाश्वत सिद्धांतों को व्यावहारिक रूप प्रदान किया है। नैतिक आचार संहिता को एवं विश्वबन्धुता के सिद्धान्त को प्रस्तुत करता हुआ यह आन्दोलन अभूतपूर्व लोकप्रियता प्राप्त कर रहा है।

शिक्षा, शोध, सेवा, साधना की संगमस्थली जैन विश्व भारती के अध्यात्म पक्ष को उजागर कर आचार्य श्री तुलसी ने जनमानस में जैन संस्कारों को दृढ़ता प्रदान की है।

जैन एकता की दिशा में उनके द्वारा प्रदत्त पंचसूत्री कार्यक्रम तेरापन्थ धर्म संघ की उदारता का परिपोषक है।

धर्म सम्प्रदायों के आधारभूत धर्मग्रन्थों में संशोधन की बात प्रायःमान्य नहीं रही है। जैनागमों के लिए भी यही स्थिति थी। आगमवाणी के एक भी वाक्य में और वाक्य के एक भी वर्ण, मात्रा में परिवर्तन करना दोषपूर्ण माना गया है। जैन दर्शन की इस दृढ़ मान्यता के आधार पर आगमों में लिपिदोष के कारण हुई भूलों का सुधार पूर्वाग्रहग्रसित धार्मिकों द्वारा स्वीकृत नहीं था। इससे आगम ग्रन्थों में परस्पर पाठभेद और अर्थभेद भी उत्पन्न हो गए थे। आगमिक पद्यों के सम्यक् अर्थबोध हेतु आगम-संपादन का कार्य आवश्यक प्रतीत होने लगा था।

आगम-संपादन का यह महनीय कार्य वाचना-प्रमुख आचार्य श्री तुलसी के निर्देशन में आरम्भ हुआ। उद्भट विद्वान्, गम्भीर दार्शनिक मुनि श्री नथमल जी (वर्तमान में युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ जी) इस कार्य का सम्यक् संचालन कर रहे हैं। बीसों साधु-साध्वियां इस कार्य में सलग्न हैं। ऊर्जास्रोत, युग-प्रधान आचार्य

श्री तुलसी के सतत श्रमदान से यह कार्य दिन-प्रतिदिन गतिशील है।

धार्मिक जगत् में यह एक महान क्रांतिकारी कार्य है। इतिहास के पृष्ठों पर इस युग की यह विशेष संस्मरणीय घटना होगी।

वीर निर्वाण के दो सहस्राब्दी के बाद पांच सौ वर्षों के धार्मिक इतिहास की मुख्य प्रवृत्ति धर्मक्रांति रही है।

जैनाचार्यों के विशेष प्रयत्नों से पांच सौ वर्षों के इस काल में अनेक प्रकार की नवीन प्रवृत्तियों का अभ्युदय हुआ। अतः मैंने इस युग का नाम नवीन युग दिया है।

आचार्यों के काल-निर्णय में एकमात्र आधारभूत प्राचीनतम महावीर-निर्वाण सम्वत् का उपयोग किया गया हैं और इसके साथ विक्रम सम्वत् का उल्लेख भी है। दो सम्वत् का उपयोग कर लेने के बाद ईस्वी सन्, शक सम्वत् आदि का उल्लेख आवश्यक प्रतीत नहीं हुआ। अतः इनका उपयोग कहीं-कहीं हुआ है।

वीर निर्वाण के बाद आचार्य सुधर्मा से लेकर आचार्य देवर्द्धिगणी तक आचार्यों की परम्परा पट्टावलियों के अनुसार कई रूपों में उपलब्ध है। उनमें से दशाश्रुतस्कन्ध स्थविरावली गुरु-शिष्य क्रम की परम्परा मानी गई है। शेष पट्टावलियां प्रायः युग-प्रधानाचार्यों की और वाचक वंश या विद्याधर वंश की परम्पराएं हैं। विभिन्न पट्टावलियों में तीन पट्टावलियां नीचे दी जा रही हैं :

दशाश्रुतस्कन्ध स्थविरावली

१. आचार्य सुधर्मा	१३. आचार्य वज्र	२५. आचार्य कालक
२. ,, जम्बू	१४. ,, रथ	२६. ,, संपलितभद्र
३. ,, प्रभव	१५. ,, पुष्यगिरि	२७. ,, वृद्ध
४. ,, शय्यंभव	१६. ,, फल्गुमित्र	२८. ,, संघपालित
५. ,, यशोभद्र	१७. ,, धनगिरि	२९. ,, हस्ती
६. ,, संभूतविजय-भद्रबाहु	१८. ,, शिवभूति	३०. ,, धर्म
७. ,, स्थूलभद्र	१९. ,, भद्र	३१. ,, सिंह
८. ,, सुहस्ती	२०. ,, नक्षत्र	३२. ,, धर्म
९. ,, सुस्थित-सुप्रतिबद्ध	२१. ,, रक्ष	३३. ,, सांडिल्य
१०. ,, इंद्रदिन्न	२२. ,, नाग	३४. ,, देवर्द्धिगणी
११. ,, दिन्न	२३. ,, जेहिल	
१२. ,, सिंहगिरि	२४. ,, विष्णु	

वल्लभी युग-प्रधान पट्टावली

आचार्य		काल
१.	आचार्य सुधर्मा	२० वर्ष
२.	" जम्बू	४४ ,,
३.	" प्रभव	११ ,,
४.	" शय्यंभव	२३ ,,
५.	" यशोभद्र	५० ,,
६.	" सम्भूतिविजय	८ ,,
७.	" भद्रबाहु	१४ ,,
८.	" स्थूलभद्र	४६ ,,
९.	" महागिरि	३० ,,
१०.	" सुहस्ती	४५ ,,
११.	" गुणसुन्दर	४४ ,,
१२.	" कालक	४१ ,,
१३.	" स्कंदिल	३८ ,,
१४.	" रेवतिमित्र	३६ ,,
१५.	" मंगू	२० ,,
१६.	" धर्म	२४ ,,
१७.	" भद्रगुप्त	४१ ,,
१८.	" आर्यवज्र	३६ ,,
१९.	" रक्षित	१३ ,,
२०.	" पुष्यमित्र	२० ,,
२१.	" वज्रसेन	३ ,,
२२.	" नागहस्ती	६९ ,,
२३.	" रेवतिमित्र	५९ ,,
२४.	" सिंहसूरि	७८ ,,
२५.	" नागार्जुन	७८ ,,
२६.	" भूतदिन्न	७९ ,,
२७.	" कालक	११ ,,
	कुल	९८१ वर्ष

दुस्सम-काल-समण-संघत्थव 'युग प्रधान' पट्टावली

नाम	वीर निर्माण	विक्रम संवत्
१. आचार्य सुधर्मा	१ से २०	वि० पू० ४६६ से ४५०
२. ,, जम्बू	२० से ६४	,, ४५० से ४०६
३. ,, प्रभव	६४ से ७५	,, ४०६ से ३९५
४. ,, शय्यंभव	७५ से ९८	,, ३९५ से ३७२
५. ,, यशोभद्र	९८ से १४८	,, ३७२ से ३२२
६. ,, संभूतविजय	१४८ से १५६	,, ३२२ से ३१४
७. ,, भद्रबाहु	१५६ से १७०	,, ३१४ से ३००
८. ,, स्थूलभद्र	१७० से २१५	,, ३०० से २५५
९. ,, महागिरि	२१५ से २४५	,, २५५ से २२५
१०. ,, सुहस्ती	२४५ से २९१	,, २२५ से १७९
११. ,, गुणसुन्दर	२९१ से ३३५	,, १७९ से १३५
१२. ,, श्याम	३३५ से ३७६	,, १३५ से ९४
१३. ,, स्कंदिल	३७६ से ४१४	,, ९४ से ५६
१४. ,, रेवतिमित्र	४१४ से ४५०	,, ५६ से २०
१५. ,, धर्म सूरि	४५० से ४९५	,, २० से वि०२५
१६. ,, भद्रगुप्त सूरि	४९५ से ५३३	वि० २५ से ६३
१७. ,, श्रीगुप्त सूरि	५३३ से ५४८	,, ६३ से ७८
१८. ,, वज्रस्वामी	५४८ से ५८४	,, ७८ से ११४
१९. ,, आर्यरक्षित	५८४ से ५९७	,, ११४ से १२७
२०. ,, दुर्बलिका पुष्यमित्र	५९७ से ६१७	,, १२७ से १४७
२१. ,, वज्रसेन सूरि	६१७ से ६२०	,, १४७ से १५०
२२. ,, नागहस्ती	६२० से ६८९	,, १५० से २१९
२३. ,, रेवतिमित्र	६८९ से ७४८	,, २१९ से २७८
२४. ,, सिंह सूरि	७४८ से ८२६	,, २७८ से ३५६
२५. ,, नागार्जुन सूरि	८२६ से ९०४	,, ३५६ से ४३४
२६. ,, भूतदिन्न सूरि	९०४ से ९८३	,, ४३४ से ५१३
२७. ,, कालक सूरि (चतुर्थ)	९८३ से ९९४	,, ५१३ से ५२४
२८. ,, सत्यमित्र	९९४ से १०००	,, ५२४ से ५३०
२९. ,, हारिल्ल	१००० से १०५५	,, ५३० से ५८५
३०. ,, जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण	१०५५ से १११५	,, ५८५ से ६४५

३१.	"	(उमा) स्वाति सूरि	११११५ से ११९७	"	६४५ से ७२७
३२.	"	पुष्यमित्र	११९७ से १२५०	"	७२७ से ७८०
३३.	"	संभूति	१२५० से १३००	"	७८० से ८३०
३४.	"	माठरसंभूति	१३०० से १३६०	"	८३० से ८९०
३५.	"	धर्मऋषि	१३६० से १४००	"	८९० से ९३०
३६.	"	जेष्ठांगगणी	१४०० से १४७१	"	९३० से १००१
३७.	"	फल्गुमित्र	१४७१ से १५२०	"	१००१ से १०५०
३८.	"	धर्मघोष	१५२० से १५९८	"	१०५० से ११२८

आधार-स्थल

१. जहा पोमं जले जायं नोवलिप्पइ वारिणा ।।

(उत्तरज्झयणाणि अ० २५।२६)

२. धम्मतित्थयरेजिणे

(समवाओ १।२)

३. उसभं अजियं संभवमभिनंदण सुमइं सुप्पभ सुपास
ससि पुप्फदंतसीयल सिज्जंसं वासुपुज्जं च ।।
विमलमणंत य धम्मं, सन्ति कुथुं अरं च मल्लि च
मुनिसुव्वयनमि नेमिं, पास तह वद्धमाणं च ।।

(नन्दीसूत्र-पट्टावली १।१८,१९)

४. चाउज्जामो य जो धम्मो जो धम्मो पंचसिक्खिओ
देसिओ बद्धमाणेण पासेण य महामुणी ।।

(उत्तरज्झयणाणि २३।२३)

५. चतुर्दश सहस्राणि, षट्त्रिशत्सहस्राणि

(आवश्यक निर्युक्ति)

६. (क) भगवतो महावीरस्स नवगणा होत्था ।

(ठाणं ९।३ सूत्र ६८०)

(ख) आयरितेति वा, उवज्झातेति वा, पावतीति वा, थेरेति वा, गणीति वा, गणधरेति वा, गणावच्छेदेति वा ।

(ठाणं ३।३ सूत्र १७७)

७. तेन खलु समयेन राजगृहे नगरे षट्पूर्णाद्याः शास्तारोऽसर्वज्ञाः सर्वज्ञमानिनः प्रतिवसंतिस्म। तद्यथा—पूरणकाश्यपो, मश्करीगोशालिपुत्रः, संजयी वैरट्टीपुत्रोऽजितः केशकम्वलः, ककुदः कत्यायनो, निग्रंथो ज्ञातपुत्रः।''

(दिव्यावदान १२-१४३-१४४)

८. (क) अत्थंभासइ अरहा सुतं गंथंति गणहरा निउणं ।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तई ।।१८२।।

(आवश्यक, नि० पृ० ७९)

(ख) भगवता अत्थो भणितो, गणहरेहिं गंथो कओ वाइयो य इति।

(आव० चूर्णि, पृ० ३३४

९. इमे दुवालसंगे गणिपिडगे पण्णत्ते

(समवायो १।२)

१०. अपच्छिम केवली जंबूनामी सिद्धि गमिही

(विविध तीर्थ कल्प, पृ० ३८)

११. केवली चरमो जम्बूस्वाम्यथ प्रभवः प्रभुः ।
शय्यम्भवो यशोभद्रः सम्भूतविजयस्ततः ॥३३॥
भद्रबाहुः स्थूलभद्रः श्रुतकेवलिनो हि षट् ॥३४॥

(अभि० चिन्तामणि, खण्ड प्रथम)

१२. महाबन्ध प्रस्तावना

१३. गण-परमोहि-पुलाए, आहारग-खवग-उवसमे कप्पे ।
सजय-तिय केवलि-सिज्झणाय जंबुम्मि वुच्छिन्न ॥२५९३॥

(विशेषावश्यक भाष्य)

१४. चौदस पुव्वच्छेदो, वरिससते सत्तरे विणिद्दिट्ठो ।
साहूम्मि थूलभद्दे, अन्ने य इमे भवे भावा ॥७०१॥

(तित्थोगाली पइन्ना)

१५. महागिरिः सुहस्ती च सूरिः श्रीगुणसुन्दरः
श्यामार्यः स्कन्दिलाचार्यो रेवतीमित्रसूरिराट् ।।
श्रीधर्मो भद्रगुप्तश्च श्रीगुप्तो वज्रसूरिराट्
युगप्रधानप्रवरा दशैते दशपूर्विणः ॥

(संबोधिका स्थविरावली विवरण पत्र ११९)

१६. तओ थेरभूमीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—जाति थेरे, सुयथेरे, परियायथेरे। सट्ठिवासजाए समणे णिग्गंथे जातिथेरे, ठाणसमवायधरेणं समणे णिग्गंथे सुयथेरे, वीसवास परियाएणं समणे णिग्गंथे परियायथेरे ।

(ठाणं ३।१८७)

१७ थूलभद्दसामिणा अज्ज सुहत्थिस्स नियओ गणो दिण्णो ।

(निशीथ सभाष्य चूर्णि, भाग, २ पृ० ३६१)

१८. तहावि अज्जमहागिरि सुहत्थिय पीतिवसेण एक्कओ विहरंति ॥

(निशीथ सभाष्य चूर्णि, भाग २, पृ० ३६१)

१९. वद्धमाणसामिस्स सीसो सोहम्मो…थूलभद्दे जाव सव्वेसिं एक्क संभोगो आसिरे ।

(निशीथ सभाष्य चूर्णि, भाग २, पृ० ३६०)

२०. तद्वंशे (मौर्य)तु बिन्दुसारोऽशोकश्रीः कुणालस्तत्सुनुस्त्रिखण्डभरताधिपः परमार्हतोऽनार्यदेशेष्वपि प्रवर्तित-श्रमणविहारः सम्प्रति महाराजा चाभवत् ।

(विविधतीर्थ कल्प, पृ० ६९)

२१. (क) चउसयतिपन्न (४५३) वरिसे, कालगगुरुणा सरस्सरी गहिआ ।
चउसयसत्तरिवरिसे, वीराओ विक्कमो जाओ ॥५६॥

(रत्न संचय प्रकरण पत्र ३२)

(ख) तह गद्दभिल्लरज्जस्स, छेयगो कालगारिओ होही ।
छत्तीस गुणोवेओ गुणसयकलिओ यहाजुत्तो ॥१॥

(दुष्षमाकाल श्री समण संघ स्तोत्र अवचूरि)

२२. सागारियमप्पाहूण, सुवन्न सुयसिस्स खंत लक्खेण
कहणाएसिस्सा गमणं धूली पुञ्जोवमाणं च ॥२३९॥
आयरिया भणंति सुंदरं, मा पुण गव्वं करिज्जासि । ताहे धूली पुञ्ज पिछंते करेंति-धूली हत्थेण घेत्तुं तिसु ठाणेसु ओयारंति—जहा एस धूली ठविज्जमाणी अक्खिप्पमाणी य सव्वत्थ परिसडई एवं अत्थो वितित्थगरेहिंतो गणहराण, गणहरेहिंतो जाव अम्हं आयरिअुवज्झायाणं पर एणं आगयं, को जाणइ कस्स केइ पज्जाया गलिया ता मा गव्वं काहिसि, ···अज्ज कालिया सीसय सीसाण अणुयोगं कहेउ ।

(बृहत्कल्प भाष्य, भाग १, पत्र ७३, ७४)

२३. कालियमुयंच इसिभासिआइं तइओ अ सूरपन्नत्ती ।
सव्वोअ दिट्ठिवाओ चउत्थओ होइ अणुओगो ॥१२४॥

(आवश्यक नियुंक्ति)

२४. वंदामि अज्जरक्खिय, खमणे रक्खिअचरित्त सव्वस्से ।
रयणंकरडगभूओ, अणुओगो रक्खिओ जेहिं ॥३२॥

(नन्दी थेरावली २)

२५. गोदासगणे, उत्तरबलिस्सहगणे, उद्देहगणे, चारणगणे, उद्‌वाइयगणे, विस्सवाइयगणे, कामट्ठियगणे, माणवगणे, कोडियगणे ।

(ठाणं ९।२९)

२६. "इत्थ दूमह दुब्भिक्खे दुवालसवारिसिए नियत्ते सयलसंघं मेलिअ आगमाणुओगो पवत्तिओ खंदिलायरियेण ।"

(विविध तीर्थ कल्प, पृ० १९)

२७. अत्थि मुहराउरीए सुयसमिद्धो खंदिलो नाम सूरी तहा वलहि नयरीए नागज्जुणो नाम सूरी । तेहि य जाए वरिसिए दुक्काले निव्वउ भावओवि फुट्टि (१) काऊण पेसिया दिसोदिसं साहवो गमिउं च कहविदुत्थं ते पुणो मिलिया सुगाले, जाव सज्झायंति ताव खंडुखरुडीहूयं पुव्वाहियं ।

(कहावली)

२८. श्रीकल्पसूत्रं श्रीमहागिरिसंतानीयश्रीदेवर्धिगणिक्षमाश्रमणैर्लिखितं तस्मिन्वर्षे आनंदपुरे ध्रुवसेननृपस्य पुत्रमरणे शोकार्त्तस्य समाध्यर्थं सभासमक्षं श्रीकल्पवाचना जाता इति बहुश्रुताः ॥

(दुष्षमाकाल श्री श्रमण संघ स्तोत्र)

२९. "श्रीदेवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणेन श्रीवीरादशीत्यधिकनवशत (९८०) वर्षे जातेन द्वादशवर्षीय-दुर्भिक्षवशाद् बहुतरसाधुव्यापत्तौ बहुश्रुतविच्छित्तौ च जातायां, भविष्यद् भव्यलोकोपकराय श्रुतभक्तये च श्रीसङ्घाग्रहाद् मृतावशिष्टतदाकालीन सर्वसाधून् बलभ्यामाकार्य तन्मुखाद् विच्छिन्नावशिष्टान् न्यूनाधिकान् त्रुटितानुत्रुटितानागमालापकाननुक्रमेण स्वमत्या सङ्कलय्य पुस्तकारूढ़ः कृताः । ततो मूलतो गणधरभाषितानामपि तत्सङ्कलनानन्तरं सर्वेषामपि आगमानां कर्त्ता श्रीदेवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण एव जातः ।

(समाचारीशतक)

३०. (क) सिरि जिणनिव्वाणगमणरयणिए उज्जोणीए चंडपज्जोअमरणे पालओराया अहिसित्तो। तेण य अपुत्त उदाइमरणे कोणिअरज्जं पाडलिपुरं पि अहिट्ठिअं ॥
तस्स य वरिस ६० रज्जे—गोयम १२ सुहम्म ८ जम्बू ४४ जुगप्पहाण पुणो पाडलीपुरे ११, १०, १३, २५, २५, ६,६, ४, ५५ नवनंद एवं वर्षं १५५ रज्जे जंबू शेष वर्षाणि ४, प्रभव ११, शय्यंभव २३, यशोभद्र ५०, सम्भूतविजय ८, भद्रबाहु १४, स्थूलभद्र ४५, एवं निर्वाणात् ॥२१५॥

(दुष्षमाकाल श्री श्रमण संघ अवचूरि)

(ख) जं रयणि सिद्धिगओ, अरहा तित्थंकरो महावीरो।
तं रयणिमवंतीए, अभिसित्तो पालओ राया ॥६२०॥
पालग रण्णो सट्ठी, पुण पण्णसयं वियाणिणंदाणम्।
मुरियाणं सट्ठिसयं, पणतीसा पूसमित्ताणम् (त्तस्वां) ॥६२१॥

(तित्थोगाली पइन्ना)

३१. जवमज्झमुरियवंसे दाणे वणि निव्वाणदार संलोए।
तस जीव पडिक्कमओ पभावओ समण संघस्स ॥३२७८॥
यथा यवो मध्य भागे पृथुल आदावन्ते च हीनः एवं मौर्यवंशोऽपि। तथाहि—चन्द्रगुप्तस्तावद् बलवाहनादि हीन आसीत्, ततो बिन्दुसारो बृहत्तरः ततोऽप्यशोकश्रीर्बृहत्तमः ततः सम्प्रतिः सर्वोत्कृष्टः ततोभूयोऽपि तथैव हानिरवसातव्याः एवं भवमध्यकल्पः सम्प्रति नृपतिरासीत्।

(बृहत्कल्पभाष्य, भाग ३, पत्र १७-१८)

खण्ड २

आगम युग के प्रभावक आचार्य

अध्याय १

१. श्रमण-सहस्रांशु आचार्य सुधर्मा

श्रमण सहस्रांशु आचार्य सुधर्मा का स्थान प्रभावक जैनाचार्यों की परम्परा में अतीव आदरास्पद है। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी भगवान् महावीर के प्रत्यक्ष दर्शन से लाभान्वित एवं उनकी सन्निधि में साधनानन्द के मकरन्द कणों का पाथेय प्राप्त, पुण्य-श्लोक आचार्य सुधर्मा वीर निर्वाण से अब तक ढाई हजार वर्ष के अन्तराल काल में एक है।

उनका जन्म कोल्लाग सन्निवेश निवासी ब्राह्मण परिवार में वी० नि० ८० (वि० पू० ५५०) वर्ष पूर्व हुआ। अग्निवेश्यायन गोत्रीय धम्मिल के वे पुत्र थे। माता का नाम भद्दिला था। वैदिक दर्शन का उन्हें अगाध ज्ञान था। समस्त ब्राह्मण समाज पर उनके पाण्डित्य का प्रभाव था। पांच सौ विद्यार्थी उनसे पढ़ा करते थे।

श्रमण धर्म की भूमिका में प्रवेश पाने का उनका जीवन-प्रसंग अत्यन्त रोचक है। सर्वज्ञोपलब्धि के बाद श्रमण भगवान् महावीर एक बार जंभियग्राम से मध्यम पावापुरी में आए। उसी नगर में सोमिल ब्राह्मण महायज्ञ कर रहा था। उन्नत विशाल कुलोत्पन्न, वेदविज्ञ ग्यारह विद्वान (गणधर) गोब्बर ग्रामवासी गौतम गोत्रीय, इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, कोल्लाक सन्निवेशवासी भारद्वाज गोत्रीय व्यक्त, अग्नि वैश्यायन गोत्रीय सुधर्मा, मोरिय सन्निवेशबासी वाशिष्ठ गोत्रीय मंडित, काश्यप गोत्रीय मौर्यपुत्र, मिथिलावासी गौतम गोत्रीय अकंपित, कोशलवासी हारित गोत्रीय अचलभ्राता, तुंगिय सन्निवेशवासी कौंडिन्य गोत्रीय मेतार्य तथा राजगृहवासी कौंडिन्यगोत्रीय प्रभास सभी सोमिल के यज्ञानुष्ठान की सफलता के लिए वहां आ रहे थे।[1] उनके साथ चौआलीस सौ शिष्यों का परिवार था। ग्यारह ही विद्वानों का गर्व आकाश को छू रहा था। समग्र ज्ञानसिन्धु पर वे अपना एकाधिपत्य मानने लगे थे। समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र, न्याय, ज्योतिष, दर्शन, अध्यात्म, धर्म, विज्ञान, कला और साहित्य किसी भी विषय पर उनसे लोहा लेने वाला कोई भी व्यक्ति उनकी दृष्टि में नहीं था।

उन्होंने अपार जनसमूह को महावीर की ओर बढ़ते देखा। उनका अहं-नाग फुफकार उठा। सोचा—'कोई ऐन्द्रजालिक दम्भी-मायावी आया है। वह किसी

मंत्र-तंत्र से सबको अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है, पर हमारे सामने उसकी क्या हस्ती है ?समग्र कान्तार को कंपा देने वाली पञ्चानन की दहाड़ के सामने क्या कोई टिक सका है ? पलक झपकते ही हम उसके प्रभाव को मिट्टी में मिला देंगे।' कुछ समय तक ऊहापोह कर लेने के बाद अपने-अपने शिष्य परिवार सहित वे ग्यारह विद्वान् अपनी अजेय शक्ति की घोषणा करते हुए क्रमशः भगवान् महावीर के समवसरण में पहुंचे। वे अपनी ज्ञानराशि से सर्वज्ञ भगवान् महावीर को अभिभूत कर देना चाहते थे। उनका यह प्रयास मुष्टि-प्रहार से भीमकाय चट्टान को चूर्ण कर देने जैसा व्यर्थ सिद्ध हुआ।

विशाल जनसमूह के बीच भगवान् महावीर उच्चासन पर सुशोभित थे। उनके तेजोद्दीप्त मुखमण्डल की प्रभा को देखते ही ब्राह्मण पण्डितों के चरण ठिठक गए, नयन चुंधिया गए। हिमालय के पास खड़े होने पर उन्हें अपने में बौनापन की अनुभूति हुई। सहस्रांशु के महाप्रकाश में उन्हें अपना ज्ञान जुगनू की तरह फुदकता-सा लगा।

अगाध ज्ञानसिन्धु के स्वामी ग्यारह ही पण्डित आत्मा, कर्मवाद, शरीर और चैतन्य का भिन्नाभिन्नत्व, पृथ्वी आदि में भौतिकत्व-अभौतिकत्व स्वरूप विवेक, परलोक में तद्रूप प्राप्ति का भावाभाव, बन्ध-मोक्ष, स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप, पुनर्जन्म, निर्वाण-सम्बन्धी एक-एक शंका में वैसे ही उलझे हुए थे जैसे हाथियों के मद को चूर्ण कर देने वाला शक्तिशाली शेर पेचदार लोहे की छोटी-सी जंजीर में उलझ जाता है। प्रथम सम्पर्क में भगवान् द्वारा उच्चरित अपने नाम पुरस्सर सम्बोधन ने इन्द्रभूति गौतम को एक बार चौंका अवश्य दिया था, पर तत्काल भीतर का दर्प बोल उठा, 'मुझे कौन नहीं जानता ?'[२] सूर्य को अपने विज्ञापन की आवश्यकता नहीं होती। तदनन्तर भगवान् महावीर से अपनी गुप्त शंकाओं का रहस्योद्घाटन एवं उनका सन्तोषप्रद समाधान पा इन्द्रभूति सहित क्रमशः सभी पण्डितों का अभिमान हिम-खण्ड के पास रखे तापमापक यन्त्र के पारे की तरह नीचे उतर आया। वे भगवान् महावीर के चरणों में फलों से लदी हुई शाखा की भांति झुक गये। पण्डितों ने जो कुछ पहले सोचा था, ठीक उसके विपरीत घटित हुआ। वे समझाने आए थे स्वयं समझ गये। सिन्धु से बिन्दु की तरह विराट् व्यक्तित्व में उनका 'स्व' समाहित हो गया। सर्वतोभावेन भगवान् महावीर के चरणों में समर्पित होकर उन्होंने श्रमण धर्म की भूमिका में प्रवेश पाया। भगवान् महावीर द्वारा यह पहला दीक्षा संस्कार वीर निर्वाण ३० (वि० पू० ५००) वर्ष पूर्व हुआ। चतुर्विध संघ स्थापना का यह प्रारम्भिक चरण था।

संयम साधना स्वीकार करने के बाद इन पण्डितों को गणधर लब्धि की प्राप्ति हुई। वे गणधर कहलाए और भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यमयी त्रिपदी के आधार पर उन्होंने भवाब्धि में तरी तुल्य द्वादशांगी

की रचना की।[३] युग्म वाचना के समान होने के कारण ग्यारह गणधरों के नौ गण बने।[४] उन्होंने अपने गण का सम्यक् संचालन किया। गणधर मंडली में सुधर्मा का स्थान पांचवां था। भगवान् महावीर की उपस्थिति में नौ गणधर राजगृह की पावन धरा पर निर्वाण को प्राप्त हो गए थे।[५]

भगवान् महावीर का निर्वाण वि० पू० ४७० में हुआ। उस समय गणधर इन्द्रभूति गौतम अन्यत्र प्रबोध देने गए हुए थे। निर्वाण की सूचना प्राप्त होते ही छद्मस्थता के कारण उनका हृदय शोकविह्वल हो गया। चिन्तन की धारा अन्तर्मुखी बनी। चेतना के ऊर्ध्वारोहण की अवस्था में मोह का दुर्भेद्य आवरण टूटा। तदनंतर ज्ञान-दर्शन वारक कर्माणुओं के क्षीण होते ही अखण्ड ज्ञान (केवल ज्ञान) की लौ उद्दीप्त हो गयी। ज्येष्ठ गणधर इन्द्रभूति गौतम सर्वज्ञ बन गए। सर्वज्ञ कभी परम्परा का वाहक नहीं होता। अतः वीर निर्वाण के बाद संघ के दायित्व को गणधर सुधर्मा ने सम्भाला।[६] इस समय उनकी अवस्था अस्सी वर्ष की थी। सर्वज्ञ प्रभु की सुखद सन्निधि में तीस वर्ष रहने के कारण विविध अनुभूतियों का संबल उनके पास था। भगवान् महावीर जैसे सबल आधार के हिल जाने से एक बार संघ की नौका का डगमगा जाना स्वाभाविक था, पर सुधर्मा जैसे महान् आचार्य का सुदृढ़ आलम्बन संघ के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ।

उस युग में आजीवक प्रभृति इतर धर्म संघ भी अपना वर्चस्व बढ़ा रहे थे और अपनी कठोर चर्या से जनमानस को प्रभावित कर रहे थे। इन सबके बीच भगवान् महावीर की सत्यसंधित्सु दृष्टि एवं स्याद्वादमयी नीति को प्रमुखता प्रदान कर आचार्य सुधर्मा ने जो नेतृत्व श्रमण संघ को दिया वह अद्भुत था, सुखद था।

शैलमालाओं के उत्तुंग शिखर से छलकते निर्झर कणों का स्पर्श पा ग्रीष्मकाल के तापतप्त व्यक्ति को जैसा सन्तोष होता है वैसा ही संतोष उनकी वाक्धारा को पीकर श्रमण-संघ को मिला था। दिगम्बर परम्परा इस उत्तरदायित्व को निभाने का श्रेय गणधर गौतम को देती है।

जैन शासन आज आचार्य सुधर्मा का महान् आभारी है। आत्मविजेता भगवान् महावीर के उपपात में बैठकर उनकी भवसंतापहारिणी, जनकल्याणकारिणी वाणी-सुधा से अपने मनीषा घट को भरा और हमारे लिए अगाध आगम-ज्ञानराशि को सुरक्षित रखा। वर्तमान में एकादशांग की आगम सम्पदा आचार्य सुधर्मा की देन है।[७]

आचार्य सुधर्मा उम्र में भगवान महावीर से आठ वर्ष ज्येष्ठ थे। तीर्थ का सम्यक् प्रवर्तन करते हुए उन्हें बानवे वर्ष की वृद्ध अवस्था में 'सर्वज्ञश्री' की उपलब्धि हुई। अविकल ज्ञान से मंडित होकर प्रखर भास्वान् के समान वे भारत वसुधा पर चमके। सहस्रों सहस्रों व्यक्तियों को उनसे दिव्य प्रकाश प्राप्त हुआ।

आचार्य सुधर्मा पचास वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहे। उन्हें तीस वर्ष तक भगवान की सन्निधि प्राप्त हुई। वीर निर्वाण के बाद बारह वर्ष का उनका छद्मस्थ काल और आठ वर्ष का केवली काल है। उनके जीवन का पूरा एक शतक प्रभावक जैनाचार्यों की प्रलम्बमान शृंखला में प्रथम कड़ी है।

वैभारगिरि पर मासिक अनशन के साथ श्रमण सहस्रांशु सुधर्मा वीर नि० २० (विक्रम पूर्व ४५०) में देहबन्धन को तोड़कर आत्मसाम्राज्य के अधिकारी बने।[८]

आधार-स्थल

१. इक्कारसवि गणहरा सव्वे उन्नयविसालकुलवंसा।
पावाइ मज्झिमाए समोसढ़ा जन्नवाडम्मि ॥५९२॥
(आवश्यक निर्युक्ति, मलयवृत्ति, भाग २, पत्रांक ३११)

२. हे इंदभूई ! गोअम ! सागये मुत्ते जिणेण चिंतेइ।
नामंपि मे विणाअइ अहवा को मं न याणेइ ॥ ११२५॥
(आवश्यक निर्युक्ति, मलयवृत्ति, भाग २, पत्रांक ३१३)

३. जग्रन्थ द्वादशाङ्गी भवजलधितरी ते निषद्यात्रयेण ॥२॥
(अपापाकल्प विविध तीर्थकल्प, पृ० २५)

४. मम णव गणा एकारस गणधरा।
(ठाणं ९। २२)

५. परिणिव्वुया गणहरा जीवंते नाय ए नव जणाऊ ॥६५८॥
(आवश्यक निर्युक्ति, मलयवृत्ति, भाग २, पत्रांक ३३९)

६. आसीत्सुधर्मा गणभृत्सु तेषु श्री वर्धमानप्रभुपट्टधुर्यः ॥११॥
(पट्टावली समुच्चय, श्री महावीर पट्ट परम्परा, पृ० १२१)

७. अधुनैकादशांग्यस्ति सुधर्मास्वामिभाषिता ॥११४॥
(प्रभावक चरित, पत्रांक ५८)

८. तत्पट्टे श्री सुधर्मा स्वामी पञ्चमगणधरः प्रथमोदयस्य प्रथमाचार्यो बभूव। स च पंचाशत् (५०) वर्षाणि गृहे त्रिंशद्वर्षाणि (३०) वीरसेवायां ततः श्रीवीरनिर्वाणात् द्वादशवर्षाणि छाद्मस्थ्ये अष्टौवर्षाणि केवलित्वे सर्वायुः शतमेकं प्रपाल्य श्रीवीरात् विंशतिवर्षे सिद्धः ॥
(पट्टावली समुच्चय, श्री गुरु पट्टावली, पत्रांक १६३)

२. ज्योतिर्धाम आचार्य जम्बू

सर्वज्ञ श्रीसम्पन्न ज्योतिर्धाम आचार्य जम्बू भगवान् महावीर के द्वितीय पट्टधर थे। उनके जीवन का हर प्रसंग साधना-शिलोच्चय के समुन्नत शिखर का जगमगाता दीप है। युग पर युग आए और बीत गए। अनन्त वैभव-भरे कलश रीत गए पर उस दीप की निर्धूमशिखा समय की परतों को चीरकर अकंप जलती रही।

आचार्य जम्बू श्रेष्ठी पुत्र थे। उनका गृहस्थ जीवन आनन्द से भरा था। वे राजकुमार नहीं थे पर सुख-सुविधाओं के भोग में राजकुमार से कम नहीं थे। उनका जन्म वी० नि० पू० १६ (वि० पू० ४८६) में राजगृह में हुआ। राजगृह मगध की राजधानी थी। सम्राट् श्रेणिक के शासन में उसकी शोभा स्वर्ग को भी अभिभूत कर रही थी।

जम्बू के पिता का नाम ऋषभदत्त और माता का नाम धारिणी था। ऋषभदत्त राजगृह के इभ्य श्रेष्ठी थे। लक्ष्मी की अपार कृपा उन पर थी। मणि, रत्नों से बतियाती छतें और स्वर्ण से चमकती पीताभ दीवारें उनके अत्यन्त समृद्ध जीवन की प्रतीक थीं।

धारिणी सद्धर्मचारिणी महिला थी। गजगामिनी गति, मरालमनीषा, प्रबुद्धविवेक, वाणी-माधुर्य आदि गुण उसके जीवन के अलंकार थे। सब तरह से सुखी होते हुए भी राजमहिषी धारिणी पुत्राभाव से चिन्तित रहती थी। एक दिन उसने श्वेतसिंह का स्वप्न देखा।[1] जसमित्र नामक निमित्तज्ञ ने उसे बताया था—"जिस दिन पुत्र का गर्भावतार होगा, तुम श्वेतसिंह का स्वप्न देखोगी।" निमित्तज्ञ के द्वारा की गई घोषणा के अनुसार धारिणी को विश्वास हो गया—एक दिन अवश्य ही सिंह शावक के समान पुत्र की उपलब्धि उसे होगी।

धारिणी शिष्ट, सुदक्ष और सुशिक्षित नारी थी। वह जानती थी, गर्भस्थ डिम्ब माता से भोजन ही ग्रहण नहीं करता, जननी के आचार-विचार-व्यवहार के सूक्ष्म संस्कारों का संक्रमण भी उसमें होता है। सदाचारिणी माता की सन्तान अस्सी प्रतिशत सदाचारिणी होती है। मनोविज्ञान की इस भूमिका से सुविज्ञ धारिणी सन्तान को सुसंस्कारी बनाने के लिए विशेष संयम से रहने लगी और

धर्माराधना जागरूक होकर करने लगी।

गर्भस्थिति पूर्ण होने पर स्वप्न के अनुसार ही धारिणी को तेजस्वी पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। जम्बू-द्वीपाधिपति देव की विशेष रूप से आराधना जम्बू की गर्भावस्था में धारिणी ने की थी अतः शुभ मुहूर्त एवं उल्लासमय वातावरण में बालक का नाम जम्बू रखा गया। कथान्तर के अनुसार माता धारिणी ने जम्बू की गर्भावस्था में जम्बू वृक्ष को देखा था। अतः पुत्र का नाम जम्बू रखा गया।[२]

जम्बू अत्यन्त सुकुमार, सुविनीत, सरल-स्वभावी बालक था। सोने के चम्मच से दुग्धपान करने वाला और मखमली गद्दों में पलने वाला शिशु संयमपथ का पथिक बनेगा, यह उस समय कौन सोचता था ?

सोलह वर्ष की अवस्था में काम को अभिभूत कर देने वाली आठ रूपवती कन्याओं के साथ जम्बू का सम्बन्ध कर दिया गया। कभी-कभी जीवन में ऐसे सुनहले क्षण उपस्थित होते हैं जो जीवन को सर्वथा नया मोड़ दे देते हैं।

एक दिन जम्बू ने मगध सम्राट् श्रेणिक के उद्यान में आचार्य सुधर्मा का भव-सन्तापहारी प्रवचन सुना।[१] उसके सरल हृदय पर अध्यात्म का गहरा रंग चढ़ गया था।

आचार्य सुधर्मा के पास जाकर जम्बू ने प्रार्थना की—"महामहिम मुनीश ! मुझे आपकी वाणी से भौतिक सुखों की विनश्वरता का बोध हो गया है। मैं शाश्वत सुख प्रदान करने वाले संयम मार्ग को ग्रहण करना चाहता हूं।"

आचार्य सुधर्मा भव-भ्रमण भेदक दृष्टि का बोध कराते हुए बोले—"श्रेष्ठी पुत्र ! संयमी जीवन का अमूल्य क्षण महान् दुर्लभ है। धीर पुरुषों के द्वारा यही पथ अनुकरणीय है। तू पल-भर भी प्रमाद मत कर।"

जम्बू का मन भी मुनि-जीवन में प्रविष्ट होने के लिए उतावला हो रहा था पर सद्यः दीक्षित हो जाना जम्बू के वश की बात नहीं थी। इस महापथ पर बढ़ने के लिए अभिभावकों की आज्ञा आवश्यक थी।

जम्बू के निर्देश पर सारथि ने रथ की धुरी को घर की ओर उन्मुख कर दिया। तीव्र गति से दौड़ते हुए अश्वचरण जनाकीर्ण नगर द्वार तक आकर रुक गए। मार्ग-प्राप्ति की प्रतीक्षा में अत्यधिक काल-विक्षेप की संभावना विरक्त जम्बू के लिए असह्य हो गई। स्वामी के संकेत की क्रियान्विति करते हुए सारथी ने रथांगों को नगर के द्वितीय प्रवेश-द्वार की ओर घुमा दिया।

निर्दिष्ट प्रवेश-द्वार के निकट पहुंचकर जम्बू ने देखा—लपलपाती तलवारों, सुतीक्ष्ण भालों, भारी-भरकम गोलकों, नरसंहारक तोपों, वपु विदारक कटारों, महाशिलाखण्ड की आकृति के भयानक शस्त्रों से द्वार का उपरितन भाग सुसज्जित था। यह सारा उपक्रम परचक्र के भय से सावधान रहने के लिए किया गया था। जम्बू ने सोचा—ये शस्त्र, ये भारी-भरकम लोहमय गोलक मौत का महा निमंत्रण

है। किसी समय जीवन-समाप्ति की प्रथम सूचना है, चेतना के जागरण का आह्वान है और श्रेयकार्य को कल पर न छोड़ने की तीव्र ललकार है। द्वार को पार करते समय किसी भी शस्त्र के पतन की दुर्घटना मेरे रथ पर भी घटित हो सकती है। उस समय मैं, मेरा रथ, सारथि कोई भी नहीं बच सकता।[४]

जम्बू के हृदय में ज्ञान की दिव्य किरण उदित हुई। रथ वापस मुड़ा। आचार्य सुधर्मा के पास पहुंचकर जम्बू ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत पालन की प्रतिज्ञा ले ली।

जम्बू का रथ त्वरित गति से चलता हुआ पुनः घर की ओर बढ़ा। माता-पिता के पास पहुंचकर जम्बू ने उन्हें प्रणाम किया और बोला—"आचार्य सुधर्मा से मैंने अध्यात्म प्रवचन सुना है। मैंने मुनि बनने का निर्णय ले लिया है। आपके द्वारा अब आदेश प्राप्त करने की प्रतीक्षा है।"[५]

पुत्र की बात सुनकर ऋषभदत्त का मुख म्लान हो गया। माता धारिणी की ममता रो पड़ी। नयन का सितारा, कुल का जगमगाता दीप, हृदय का हार, अपार सम्पत्ति को भोगने वाला जम्बू उनका इकलौता पुत्र था। अप्सरा-सी सुन्दर आठ कन्याओं के साथ उसका सम्बन्ध पहले ही निर्णीत हो चुका था। विवाहान्तर पुत्र के भोग-सम्पन्न सुखी जीवन को देखने की उनकी इच्छा अत्यन्त प्रबल हो रही थी।

मोह-विमूढ़ माता-पिता ने जम्बू के मस्तक पर हाथ रखकर कहा—"पुत्र ! तुम ही हमारे लिए आधार हो। वार्धक्य अवस्था में यष्टि की भांति आलम्बन हो। तुम्हारा विवाह रचकर उल्लासमय दिन देखने के हमने स्वप्न संजोए थे। वधुओं के आगमन की और पौत्र-दर्शन की भी आनन्ददायी कल्पना की थी। हमारी कामना को सफल करो और आठ वधुओं के साथ इस लक्ष्मी वधू का भी सानन्द भोग करो।" और भी नाना प्रकार के प्रलोभन दिए गए, पर कोई भी प्रलोभन जम्बू को मुग्ध न कर सका। उसके मानस में ज्ञान की अकंप लौ जल रही थी। जनक-जननी का आखिरी प्रस्ताव था—"पुत्र ! हम तुम्हारे इस कार्य में विघ्न बनना नहीं चाहते, पर आठ कन्याओं के साथ तुम्हारा सम्बन्ध हो चुका है। विवाह के लिए हम वचनबद्ध हैं। तुम्हारे इस कार्य से उनको धोखा होगा। हमारा वचन भी भंग होगा। वत्स ! तुम हमेशा हमारे आज्ञाकारी पुत्र रहे हो। अब भी हमारी बात को स्वीकार करो। आठों कन्याओं के साथ पाणिग्रहण की अनुमति प्रदान करो, विवाह के बाद हमारी ओर से तुम्हारे मार्ग में कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी प्रत्युत हम भी तुम्हारे साथ ही प्रव्रजित बनेंगे।"

जम्बू जानता था—पाणिग्रहण के बाद उन आठों पत्नियों की आज्ञा आवश्यक होगी। यह विघ्न निश्चित दिखाई दे रहा था, पर माता-पिता के युक्ति-संगत कथन को इस बार वह टाल न सका। अपने साथ अभिभावक भी दीक्षित बनेंगे, —यह दुगुने लाभ की बात वणिक् पुत्र को अधिक प्रभावित कर गई। जम्बू कुछ

झुका। उसने विवाह के लिए स्वीकृति दी। यह स्वीकृति रीति-निर्वहन मात्र थी। ब्रह्मचर्य व्रत की प्रतिज्ञा में वह अब भी मन्दराचल की तरह अचल था।

जम्बू के दृढ़ संकल्प की बात कन्याओं के अभिभावकों को भी बता दी गई। इस सूचना से वे चिन्तित हुए। उनमें परस्पर विचार-विमर्श प्रारम्भ हुआ। व्यामोह के कारण वे किसी एक निर्णय पर नहीं पहुंच पा रहे थे। यह चर्चा कन्याओं के कानों तक भी पहुंची। उन्होंने दृढ़ स्वर से अपने अभिभावकों से कहा—"हमें आप जम्बू को दे चुके हैं। अब हमारा वर दूसरा नहीं हो सकता। राजा और संत पुरुषों का दान भी एक बार ही किया जाता है।[१] हमारे प्राण अब श्रेष्ठीकुमार जम्बू के हाथ में हैं।"

कन्याओं का निश्चय सुनकर अभिभावकों के विचार भी स्थिर हुए। सबने यही सोचा—माता-पिता के स्नेहिल आग्रह ने पुत्र को विवाह हेतु प्रस्तुत कर लिया तो ललनाओं का आग्रह-भरा अनुनय भी जम्बू के संयमार्थ बढ़ते चरणों को अवश्य रोक लेगा। नैमित्तिक को पूछकर उस दिन से सातवें दिन विवाह लग्न निश्चित हुआ। ऋषभदत्त के मानस में हर्ष की लहर पुनः दौड़ गई। धारिणी के पैरों में घूंघरू बंध गए। स्वजन-स्नेही, कुटुम्बजन उत्सव की तैयारी में लगे। सारा वातावरण ही उल्लास से भर गया। आनन्द-प्रदायिनी मंगल वेला में धूम-धाम से जम्बू का विवाह संस्कार सम्पन्न हुआ। यथा नाम तथा गुण वाली समुद्रश्री, पद्मश्री, पद्मसेना, कनकसेना, नभसेना, कनकश्री, रूपश्री और जयश्री इन आठों रूपवती कन्याओं के साथ जम्बू ने घर में प्रवेश किया। ऋषभदत्त का आंगन जम्बू के दहेज से प्राप्त निन्यानवे करोड़ की धन-राशि से शीशमहल की तरह चमक उठा था।

अपने माता-पिता की प्रसन्नता हेतु जम्बू ने विवाह किया था। उत्सव के इस प्रसंग पर विविध वाद्यों की मनमोहक झंकार, कोकिल-कंठों से उठते संगीत एवं गुलाबी रंग में उछलती खुशियां विरक्त जम्बू को अपने लक्ष्य से विचलित न कर सकी।

रात्रि के नीरव वातावरण में संसार नींद की गोद में सोया था, पर ऋषभदत्त के घर भारी हलचल थी। धन का अपहरण करने के लिए समागत प्रभव आदि चोर अपने चौर्य कर्म में व्यस्त थे एवं तत्परता से ऋषभदत्त के प्रांगण में दीवारों और छतों पर इतस्ततः फलों से लदे वृक्ष पर मदोन्मत्त मर्कट की भांति छलांग भर रहे थे। ऋषभदत्त के उपरीतन प्रासाद में अप्सरा-सी आठों पत्नियों के बीच बैठा जम्बू राग-भरी रजनी में त्याग और विराग की चर्चा कर रहा था। समुद्रश्री आदि आठों कन्याओं ने कर्षक, नुपूर-पण्डिता, वानर-मिथुन, शंख-धमक, सिद्धि-बुद्धि, ग्रामकूट-सुत, मासाहस शकुनि, विप्र-दुहितृ नागश्री क्रमशः ये आठ कथाएं जम्बू को संसार में मुग्ध होने हेतु कहीं। जम्बू ने भी काक, विद्युन्माली,

अंगारकारक, शिलाजतु वानर, जात्यारव-किशोर सोल्लक, त्रिसुहृद्, ललितांग कुमार इन आठ कथाओं के माध्यम से क्रमशः पत्नियों के मन का समाधान किया। जम्बू के प्रत्येक स्वर में अन्तर्मुखता की लहर उठ रही थी। कामिनियों के काम-बाण जम्बू को पराभूत करने में निष्फल रहे। वनिताओं का विकार भाव उसके चित्त को तथा चतुर चोरों का दल उसके वित्त को हरण न कर सका।[७] प्रत्युत जम्बू द्वारा प्रस्तुत अध्यात्मचर्चा से मृगनयनी आठों पत्नियों के मानस का भी अन्धकार मिट गया। वासनाशक्ति क्षीण हो गई। वे जम्बू के साथ दीक्षित होने को तैयार हो गयीं। आगे से आगे बढ़ती हुई वैराग्य की सबल तरंगों ने सारे वातावरण को बदल दिया। ऋषभदत्त, धारिणी, आठों पत्नियों के माता-पिता और पांच सौ चोरों का एक सबल दल भी संयम-साधना के पथ पर बढ़ने के लिए उत्सुक बना।

श्रेष्ठी कुमार जम्बू ५२७ व्यक्तियों के साथ वी० नि० १ (वि० पू० ४६९) में आचार्य सुधर्मा के पास दीक्षित हुआ।[८] आचार्य पद पर आसीन होते ही आचार्य सुधर्मा को इतने विशाल परिवार के साथ जम्बू जैसे योग्य व्यक्ति का मिल जाना बहुत ही शुभ-सूचक रहा।

आगम की अधिकांश रचना जम्बू के प्रिय सम्बोधन से प्रारम्भ हुई। "जम्बू ! सर्वज्ञ श्री वीतराग भगवान् महावीर से मैंने ऐसा सुना है।"[९] आचार्य सुधर्मा का यह वाक्य आगम साहित्य में अत्यन्त विश्रुत है।

आचार्य जम्बू कुशाग्र बुद्धि के स्वामी थे। वे अपनी सर्वग्राही एवं सद्यःग्राही प्रतिभा के द्वारा आचार्य सुधर्मा के अगाध ज्ञानसिन्धु को अगस्त्य ऋषि की तरह पी गए।

समग्र सूत्रार्थज्ञाता, विश्रुतकीर्ति, छत्तीस मुनि-गुणों के धारक जम्बू को आचार्य सुधर्मा ने अपने पद पर आरूढ़ किया। छत्तीस वर्ष की अवस्था में उन्हें केवल ज्ञान की उपलब्धि हुई। आचार्य पदारोहण के समय जम्बू की अवस्था २८ वर्ष की थी।

पिता अपना वैभव पुत्रों को सौंपकर जाता है, आचार्य सुधर्मा इसी प्रकार अपनी सर्वज्ञत्व सम्पदा जम्बू को समर्पित कर गए। अपूर्व ज्ञानराशि आचार्य जम्बू का आश्रय पाकर मुस्करा उठी।

जम्बू महान् समर्थ आचार्य थे। इनके समय तक धर्म संघ में कोई भेदरेखा नहीं उभरी थी। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्परा सुधर्मा और जम्बू को समान सम्मान प्रदान करती है। इस समय तक विकास का कोई भी द्वार अवरुद्ध नहीं था।

पांच सौ सत्ताईस व्यक्तियों के साथ दीक्षित होने वाले आचार्य जम्बू चरम शरीरी थे एवं अन्तिम सर्वज्ञ थे।[१०] वे सोलह वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहे। साधु-

पर्याय के कुल ६४ वर्ष में ४४ वर्ष तक उन्होंने युगप्रधान पद को अलंकृत किया। उनकी सम्पूर्ण आयु ८० वर्ष की थी। ज्योतिर्धाम आचार्य जम्बू वी० नि० ६४ (वि० पू० ४०६) में निर्वाण पद को प्राप्त हुए।"

आधार-स्थल

१. अन्यदा धारिणीस्वप्ने श्वेतसिंहं न्यभालयत् ॥५७॥

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग २)

२. सुनोर्जम्बूतरोर्नाम्ना जम्बूरित्यभिधां व्यधात् ॥७१॥

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग २)

३. आराम समोसरियं, पणमित्तुं पहुं पुरो निसन्नो य।
हरिसियहियओ निसुणेइ, देसणं मउलियग्गकरो ॥१८३॥

(उपदेशमाला विशेषवृत्ति, जम्बूचरियं, पत्रांक १३६)

४. गच्छतो मेऽध्वनानेन शिलोपरि पतेद्यदि।
तदस्मि नाहं न रथो न रथ्या न च सारथिः ॥१०७॥

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग २)

५. ...स भणइ पव्वज्जाए, अणुजाणह ता ममम्मियाणि ॥१९६॥

(उपदेशमाला विशेषवृत्ति, जम्बूचरियं, पत्रांक १३६)

६. सकृज्जल्पन्ति राजानः सकृज्जल्पन्ति साधवः।
सकृत्कन्याः प्रदीयन्ते त्रीण्येतानि सकृत्सकृत् ॥१२८॥

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग २)

७. चित्तं न नीतं वनिता विकारैर्वित्तं न नीतं चतुरैश्च चौरैः ॥२॥

(पट्टावली समुच्चय, तपागच्छ पट्टावली, पृष्ठ ४२)

८. पंचमगणहारि सुहम्मसामिणा दिन्न पुन्न पव्वज्जो ॥८४७॥

(उपदेशमाला विशेषवृत्ति, जम्बूचरियं, पत्रांक १८५)

९. (क) सुयं मे आयुसं। तेणं भगवता एवमक्खायं

(ठाणं १।१)

(ख) अज्जसुहम्मो जम्बूस्वामिं पुच्छंतं भणति—यहासुतं वइस्सामि,

(श्री आचारांग चूर्णि, पत्रांक २६८)

१०. अपच्छिमकेवली जम्बू स्वामी

(विविध तीर्थकल्प, पृष्ठ ३८)

११. तत्पट्टे २ श्री जम्बूस्वामी...षोडश (१६) वर्षाणि गृहे, विंशति (२०) वर्षाणि व्रते चतुश्चत्वारिंशत् (४४) वर्षाणि युगप्रधान भावे। सर्वायुरशीति (८०) वर्षाणि प्रपाल्य श्री वीराच्चतुः षष्टि (६४) वर्षांते सिद्धः।

(पट्टावली समुच्चय, श्री गुरु पट्टावली, पृ० १६३)

३. परिव्राट्-पुंगव आचार्य प्रभव

स्तेन सम्राट् प्रभव उच्चकोटि का परिव्राट् बना, श्रमण सम्राट् बना, यह जैन इतिहास का अनुपम पृष्ठ है।

प्रभव कात्यायन गोत्रीय क्षत्रिय विन्ध्य राजा का पुत्र था। विन्ध्य पर्वत की घाटियों के आसपास वी० नि० ३० (वि० पू० ५००) वर्ष पूर्व वह जन्मा। राजमहलों में पला-पुसा और एक दिन पितृस्नेह से विहीन होकर चोरों की पल्ली में पहुंच गया। जनसमूह को लूटता, कूदता-फांदता विन्ध्याचल की घाटियों में शेर की तरह निर्भीक दहाड़ता प्रभव एक दिन पांच सौ चोरों का नेता बन बैठा। अवस्वापिनी और तालोद्घाटिनी नामक दो विद्याएं भी प्रभव के पास थीं। अवस्वापिनी विद्या के द्वारा वह सबको निद्राधीन कर सकता था और तालोद्घाटिनी विद्या के द्वारा तालों को खोल सकता था। अपनी इन दो विद्याओं से स्तेनाधिपति का बल बढ़ा हुआ था। महाराज श्रेणिक का सैन्य दल भी इस गिरोह से कांपता था!

एक दिन वह दल श्रेष्ठी पुत्र जम्बू के विवाह में आए हुए वैभव को लूटने ऋषभदत्त के मेरु-शिखरोपम गृह में प्रविष्ट हुआ। अवस्वापिनी विद्या के द्वारा सबको नींद की गोद में सुलाकर तालोद्घाटिनी विद्या का प्रयोग किया। ताले टूट गए।[1] मधुबिन्दु पर जैसे मक्खियां भनभनाती हुई लपकती हैं वैसे ही इस गिरोह के पञ्जे धन की पेटियों पर जा गिरे। गिद्ध की तरह उनकी दूरगामिनी दृष्टि पेटियों में छिपे हीरों और पन्नों को बटोरने में सहयोग कर रही थी।

जम्बू ने चोरों के द्वारा अपनी सम्पत्ति को अपहरण करते हुए देखा पर न वह कुपित हुआ, न क्षुब्ध हुआ। स्तेनदल के कई सदस्यों ने निद्राधीन अतिथिजनों के पहने हुए आभूषणों को शरीर पर से उतारने का प्रयत्न किया।[2] "दस्युजनो! विवाहोपलक्ष्य में आए हुए मेरे मित्रों के अलंकारों पर हाथ मत लगाओ।[3] मैं निशाप्रहरी की भांति खुली आंखों से तुम्हें देख रहा हूं…" अज्ञात दिशा से बढ़ती हुई ये शब्द-तरंगें स्तेनदल के कानों से टकराईं। तरंगों की टकराहट के साथ ही एक विचित्र घटना घट गई।

दस्युदल का नेता प्रभव पहरेदारी करता हुआ घूम रहा था। स्तेनदल ने

अत्यन्त त्वरा से अपना काम किया, धन की गांठें बांधीं। गांठों को उठाने में तत्पर उनके हाथ गांठों पर चिपक गए और पैर धरती से। सबके सब भित्तिचित्र की तरह स्तंभित रह गए।[४] प्रभव दूर खड़ा अपने साथियों को चलने का आदेश दे रहा था। पर वे सब प्रस्तर मूर्ति की तरह अविचल खड़े थे। अपनी शारीरिक शक्ति का पूरा उपयोग कर लेने पर भी किसीका पैर इञ्च-मात्र नहीं हिला। वे उर्ध्वकर्ण होकर अज्ञात दिशा से आती हुई शब्द-तरंगों को सुन रहे थे तथा विस्फारित नयनों से नेता की ओर झांक रहे थे।

पवन की लहरों पर आरूढ़ शब्द-तरंगें प्रभव के कानों तक भी पहुंचीं। प्रभव कुशाग्रबुद्धि का स्वामी था। स्थिति को समझते उसे देर न लगी। मेरे संकेत मात्र पर बलिदान होने वाला मेरा दल मेरी आज्ञा की अवहेलना नहीं कर सकता। यहां अवश्य कोई दूसरा रहस्य है। मेरे कानों से टकराने वाली शब्द-तरंगों का प्रयोक्ता इसी भवन में कहीं बैठा है। वह मेरे से भी अधिक शक्तिशाली है। मेरी अवस्वापिनी विद्या उसके सामने असफल हो गयी है। उसी ने अवश्य मेरे स्तेनदल पर स्तम्भिनी विद्या का प्रयोग किया है। प्रभव की दृष्टि क्षण-भर में चारों ओर घूम गई। उसने ऊपर की ओर झांका। ऋषभदत्त के सबसे उपरीतन प्रासाद में दीपमालाएं जल रही थीं। उसी प्रासाद के जालीदार गवाक्ष से छन-छनकर आती हुई प्रकाश-किरणें प्रभव को जम्बू के शयनकक्ष तक खींचकर ले गयीं। उसने द्वार पर लगे कपाटों की लम्बी सुराख में से चुगलखोर की तरह चुपके से झांका। मृगनयनियों की कुंतलालंकृत रूपछटा उसकी आंखों में घनी घटाओं में चमकी विद्युत् की तरह कौंध गई। जम्बू का कांतिमान् भाल उसे अत्यधिक प्रभावित कर गया। नवोढ़ाओं का मधुर संवाद सुनने के लिए स्तेन-सम्राट् ने अपने कान दीवार पर लगा दिए। सुहाग की इस प्रथम रात में पति-पत्नियों के मध्य अध्यात्म की चर्चा चल रही थी। विरक्ति के स्वर उसके कानों से टकराए। प्रभव ने सोचा—यह कोई असाधारण पुरुष है। वह जम्बू के सामने जाकर खड़ा हुआ और अपना परिचय देते हुए वह बोला, "मैं चोराधिपति प्रभव हूं। आपके सामने मैत्री स्थापित करने की उदग्र भावना के साथ प्रस्तुत हुआ हूं। अवस्वापिनी और तालोद्घाटिनी विद्याएं आपको अर्पित कर रहा हूं। मुझे अपना मित्र मानकर मेरी इन विद्याओं को ग्रहण करें और मुझे स्तम्भिनी और विमोचिनी विद्या प्रदान करें।"[५]

मेघघटा में चमकती दामिनी की भांति जम्बू मुस्कराया और बोला, "स्तेन सम्राट्! मेरे पास किसी प्रकार की भौतिक विद्या नहीं है और मैं तुम्हारी इन विद्याओं को लेकर क्या करूं? प्रभात होते ही मणि, रत्न, कनक-कुण्डल, किरीट-प्रमुख समग्र सम्पदा तथा रूप-सम्पदा की स्वामिनी इन कामनियों का परित्याग कर सुधर्मा स्वामी के पास संयम पर्याय को ग्रहण करूंगा। मेरी दृष्टि

में अध्यात्मविद्या से बढ़कर कोई विद्या नहीं है, कोई मंत्र नहीं है, कोई शक्ति नहीं है, कोई बल नहीं है।"

जम्बू की बात सुनकर प्रभव अवाक् रह गया। कुछ क्षणों तक तारिका परिकर परिवृत-शशि सौम्य जम्बू के मुख को अपलक नयन से निहारता रह गया। भीतर से झटका लगा, अरे प्रभव ! क्या देख रहे हो ? झटके के साथ ही प्रभव का मौन टूटा। वह जम्बू से निवेदन करने लगा, "मेरे परम मित्र ! पल्लव-पुष्पों से मुस्कराते मधुमास की भांति यह नव यौवन तुम्हें प्राप्त है। लक्ष्मी तुम्हारे चरणों की सेविका है। सब प्रकार की अनुकूल सामग्री तुम्हें सुलभ है। मुक्तभाव से विषय-सुख भोगने का यह समय है। इन नवविवाहित बालाओं पर अनुकम्पा करो, इनकी इच्छाओं को पूर्ण करो।

"जम्बू ! तुम जानते हो सन्तानहीन व्यक्ति नरक में जाता है अतः नरक से त्राण पाने के लिए पुत्र सन्तति का विस्तार कर पितृऋण से मुक्त बनो। सम्पूर्ण परिवार के लिए आलम्बन बनो। उसके बाद संयम मार्ग में प्रविष्ट होना शोभास्पद है।" मुदिर की भांति मंद स्वर में जम्बू ने उद्‌बोध दिया—"प्रभव, विषय-भोगों से उत्पन्न सुख अपाय-बहुल है। सर्षपकण तुल्य भोग भी मधुबिन्दु के समान प्रचुर दुःख के दाता होते हैं। महर्षिजनों की दृष्टि में विषय-सुख मधु-बिन्दु के समान क्षणिक आनन्ददायी होते हैं। जैसे धन-संग्रह का इच्छुक कोई व्यक्ति घोर विपिन में मदोन्मत्त हाथी के द्वारा पीछा किए जाने पर त्राण पाने का कोई अन्य उपाय न देखकर वृक्ष की शाखा का आलम्बन लिए गम्भीर कूप में लटक रहा है। उसके पदतल नीचे विकराल काल की भ्रूचाप के समान चार कृष्णकाय सर्प फुफकार रहे हैं। उनके मध्य में विशालकाय अजगर मुंह फैलाए पड़ा है। मत्त मतंगज वृक्ष के प्रकाण्ड को प्रकम्पित कर रहा है। आलम्बनभूत शाखा को सफेद और काला चूहा कुतर रहा है। वृक्ष की उपरितन शाखा पर मधुमक्खियों का छाता है। मधुमक्खियां देह को काट रही हैं। छाते से बूंद-बूंद मधु उसके मुंह में टपक रहा है। मौत उसे स्पष्ट सर पर नाचती हुई दिखाई दे रही है। भाग्य से विद्याधर का विमान ऊपर से निकला। शाखा से लटकते दुःखार्त व्यक्ति को देखकर करुणार्द्र हृदय विद्याधर ने आह्वान किया—'आओ मानव वंशज ! मैं तुम्हें नन्दन वन की भांति आनन्ददायक स्थान पर ले चलता हूं।' बार-बार विद्याधर के द्वारा इस प्रकार बुलाने पर भी मधु-बिन्दु में आसक्त बना वह सद्यः चलने को तैयार नहीं होता। एक बिंदु और……एक बिन्दु और……की प्रतीक्षा में प्राणों से हाथ धो लेता है।

"अटवी संसार है। विषयोन्मुख प्राणी रसलुब्ध मानव के समान है। कूप मानव-जन्म तथा चार नागराज चतुष्क कषाय हैं। अजगर की भांति नरकादि गतियों के द्वार खुले पड़े हैं। आयुष्य की शाखा पर मनुष्य लटक रहा है। चूहों के रूप में

शुक्लपक्ष एवं कृष्णपक्ष हैं, जो जीवन-शाखा को काट रहे हैं। मधुमक्षिका की भांति व्याधियां आक्रान्त कर रही हैं। इन्द्रियजन्य सुख मधुबिन्दु के समान क्षणिक आस्वाद देने वाले हैं। विद्याधर के समान संत पुरुष बोध प्रदान कर रहे हैं। उनकी वाणी से विवेक प्राप्त सुधी जन लक्ष्मी और ललना-लावण्य में लुब्ध होकर संयममय सुरक्षित स्थान की क्षण-भर के लिए भी उपेक्षा नहीं करते।

"प्रभव ! पुत्रोत्पत्ति से पितृ-कल्याण की भावना भी भ्रांति मात्र है। पिता-पुत्र के सम्बन्ध अनेक बार हो चुके हैं। जन्म-जन्मान्तर में पिता पुत्र का और पुत्र पिता का स्थान ग्रहण कर लेते हैं। परिवर्तनशील विश्व में जनक-जननी, सुत-सुता, कान्ता आदि के सम्बन्ध शाश्वत नहीं हैं। इस अनादि-अनन्त संसार में किसके साथ किसका सम्बन्ध नहीं हुआ है ! अतः स्व-पर की कल्पना ही व्यामोह है। माता, दुहिता, भगिनी, भार्या, पुत्र, पिता, बन्धु और दुर्जन ये सारे के सारे सम्बन्ध भव-भवान्तर में परिवर्तित होते रहने हैं अतः इन सम्बन्धों से आत्म-कल्याण का पथ प्रशस्त नहीं होता।"

महेश्वरदत्त, गोपयुवक, वणिक् आदि के उदाहरण सुनाकर एवं कुबेरदत्त, कुबेरदत्ता के दृष्टान्त से एक भव के अठारह सम्बन्धों का विचित्र लेखा-जोखा समझाकर श्रेष्ठी कुमार ने चोराधिपति के मोहानुबन्ध को शिथिल कर दिया। जम्बू के अमृतोपम उपदेश से प्रभव का हृदय पूर्णतः झंकृत हो उठा। युग-युग से तन्द्रिल नयन अध्यात्म के अंजन से खुल पड़े। भीतर का ज्ञानदीप जल गया। वह अपने द्वारा कृत पापों के प्रति अनुताप की अग्नि में जलने लगा। सोचा, 'हाय ! कहां यह श्रेष्ठी कुमार जम्बू जो प्राप्त भोगों को ठुकरा रहा है और कहां मैं जो मांस के टुकड़े पर कुत्ते की नाईं धन पर टूटता हूं।···

'इस महायोगी के नयनों में मैत्री का अजस्र स्रोत छलक रहा है और मैं पापी ······महापापी सहस्रों-सहस्रों ललनाओं की मांग का सिन्दूर पोंछने वाला, रक्षा बांधने को प्रतीक्षारत भगिनियों के भातृ-सुख का अपहरण करने वाला, प्रिय पुत्रों के प्राणों से खेलकर माताओं को बिलखाने वाला, अपने रक्त-रंजित हाथों पर अट्टहास करने वाला मैं······मैं काल सौकरिक से भी अधिक क्रूर निर्दयी हत्यारा हूं। संयम और घोर तप की अग्नि में स्नान किए बिना मेरे पाप का विशुद्धीकरण असम्भव है।······सर्वथा असम्भव !'

जम्बू की ज्ञानधारा में प्रभव के हृदय पर युग-युग से जमा कलमष धुल गया। वह अपने को धिक्कारता हुआ अध्यात्म सागर में गहराई तक बहता चला गया। जो ऋषभदत्त की धनराशि को लूटने आया था वह स्वयं पूर्णतः लुट गया। जम्बू के चरणों में जा गिरा, अपराध की क्षमा मांगी और अपने साथियों को मुक्त कर देने के लिए आग्रह-भरा निवेदन उनसे किया, पर वह आश्चर्य के महासागर में डूब गया। जब वह जम्बू के आदेशानुसार अपने दल के पास पहुंचा और उसने

देखा, कोई भी साथी बंधा हुआ नहीं है। किसी का पैर धरती पर चिपका नहीं है। अपने साथियों के हाथ-पैर पहले क्यों स्तम्भित हो गए थे ? इसका वैज्ञानिक समाधान भी उसे मिल गया था। वह और कुछ नहीं जम्बू की पावन अध्यात्म धारा की त्वरितगामी तरंगों का तीव्रतम प्रभाव था। अणुशक्ति के प्रयोग से आन्दोलित वातावरण की भांति जम्बू की सद्य:गामी एवं दूरगामी सबल ज्ञान-धारा के स्पर्श से स्तेनदल के अन्तर्तम में एक विचित्र क्रांति घट गई थी। प्रभव को अपने साथियों के हाथ-पैरों का स्तम्भन दिखाई दिया, पर यथार्थ में अध्यात्म-तरंगों से प्रभावित उनका मन इस पापकर्म को करने से पूर्णत: अस्वीकृत हो चुका था।

प्रभव संयम मार्ग पर बढ़ने को तत्पर हुआ। अपने अधिपति के इस महान् निर्णय को सुनकर समग्र स्तेनदल में एक दूसरी क्रांति और घट गई। दीप से दीप जल उठे। मन का पाप भस्म हो गया। समस्त साथियों ने नेता का अनुगमन किया। प्रभव ने अपने पूरे दल सहित वी० नि० १ (वि० पू० ४६९) में सुधर्मा के पास दीक्षा ग्रहण की।

परिशिष्ट पर्व के अनुसार प्रभव की दीक्षा आचार्य जम्बू की दीक्षा से एक दिन बाद हुई।[१] इस आधार पर दीक्षा-ज्येष्ठ आचार्य जम्बू थे एवं अवस्था-ज्येष्ठ आचार्य प्रभव थे। दीक्षाग्रहण काल में जम्बू की अवस्था १६ वर्ष की एवं प्रभव की अवस्था ३० वर्ष की थी।

आचार्य जम्बू के बाद वी० नि० ६४ (वि० पू० ४०६) में प्रभव ने आचार्य-पद का दायित्व सम्भाला।[२] भगवान् महावीर की परम्परा में प्रभव का क्रम तृतीय है।

स्तेन सम्राट् को महावीर संघ का उत्तराधिकार अवश्य मिला, पर सर्वज्ञत्व की सम्पदा उन्हें प्राप्त नहीं हो सकी।

महान् जैनाचार्यों में परिव्राट्-पुंगव आचार्य प्रभव का स्थान भी बहुत ऊंचा है। शय्यंभव जैसे महान् अहंकारी, निर्ग्रन्थ प्रवचन के घोर प्रतिद्वन्द्वी विद्वान् को भगवान् महावीर के संघ में दीक्षित कर देना उनकी प्रभावकता का सबल उदाहरण है।

श्रुतकेवली की परम्परा में आचार्य प्रभव प्रथम थे। आचार्य प्रभव को द्वादशांगी की उपलब्धि आचार्य सुधर्मा से प्राप्त हुई या जम्बू से···इस प्रसंग का कोई प्रामाणिक उल्लेख प्राप्त नहीं हो सका है।

परम प्रभावी आचार्य प्रभव ३० वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहे। संयमी जीवन के कुल ७५ वर्ष के काल में ११ वर्ष तक आचार्य पद का वहन किया। चारित्र्य-धर्म की सम्यक् आराधना करते हुए १०५ वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर वी० नि० ७५ (वि० पू० ३९५) में अनशन पूर्वक स्वर्गगामी बने।

आधार-स्थल

१. ओसोयणि विज्जाए, सोयाविऊण जणमसेसंपि ।
सो जाइ जंबुनामस्स, मंदिरे मेरुसिहरेव्व ।।१३।।
तालुग्घाडिणिविज्जाए तालयाइं विहाडिऊण लहुं ।
विवरियसव्वदुवारे पविसइ नियमंदिरव्व तहिं ।।१४।।

(उपदेशमाला विशेषवृत्ति, पत्रांक १३७)

२. घरहरघोरंत जणाहिं, जाव तेणा विभूसणाईयं ।
उल्लुंटणाय लग्गा, समग्गभंडारगाणंपि ।।१५।।

(उपदेशमाला विशेषवृत्ति, पत्रांक १३७)

३. नीसंकमाणओ तो, भणेइ सिंहासणे समासीणो ।
जंबूनामो भो मा, छिवेह पाहुणय जणमेयं ।।१६।।

(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति, पत्रांक १३७)

४. महापुण्यप्रभावस्य तस्याथ वचसेदृशा ।
ते चौराः स्तब्ध वपुषोऽभूवन् लेप्यमया इव ।।१७६।।

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग २)

५. वयस्य ! देहि मे विद्यां स्तम्भनीं मोक्षणीमपि ।
अवस्वापनिकातालोद्घाटिन्यौ ते ददाम्यहम् ।।१८२।।

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग २)

६. पितृणापृच्छ्य चान्येद्युः प्रभवोऽपि समागतः
जम्बूकुमारमनुयान्परिव्रज्यामुपाददे ।।२६०।।

(परिशिष्ट पर्व, तृतीय सर्ग, पत्रांक १४०)

७. श्रीवीरमोक्षदिवसादपि हायनानि,
चत्वारि षष्टिमपि च व्यतिगम्य जम्बूः ।
कात्यायनं प्रभवमात्मपदे निवेश्य,
कर्मक्षयेण पदमव्ययमाससाद ।।६१।।

(परिशिष्ट पर्व, चतुर्थ सर्ग, पत्रांक १४७)

४. श्रुत-शार्दूल आचार्य शय्यम्भव

श्रुतसम्पन्न आचार्य शय्यम्भव पहले अहंकारी विद्वान् थे। राजगृह-निवासी वत्सगोत्रीय ब्राह्मण परिवार में उनका जन्म वी० नि० ३६ (वि० पू० ४३४) में हुआ। वेद और वेदांग दर्शन के वे विशिष्ट ज्ञाता थे।

उद्भट विद्वान् शय्यम्भव जैन शासन के सबल विरोधी थे। जैन धर्म के नाम से उनकी आंखों में अंगार बरसते थे।

प्रभव के सम्पर्क में आकर शय्यम्भव वी० नि० ६४ (वि० पू० ४०६) में जैन मुनि बन गए थे।

निर्ग्रन्थ धर्म के प्रबल विरोधी, प्रचण्ड क्रोधी, प्रकाण्ड विद्वान् शय्यम्भव को आचार्य प्रभव के निकट लाने का कार्य श्रमण युगल ने किया था। यह इतिहास की विरल घटना है।

आचार्य का सबसे बड़ा दायित्व भावी आचार्य का निर्णय करना है। इस महत्त्वपूर्ण दायित्व की चिन्ता आचार्य सुधर्मा और जम्बू को नहीं करनी पड़ी थी। सुधर्मा के सामने जम्बू और जम्बू के सामने प्रभव जैसे योग्य व्यक्ति थे। आचार्य प्रभव का पदारोहण ६४ वर्ष की अवस्था में हुआ था। उनके जीवन का यह सन्ध्या काल था। पश्चिम यामिनी में एक बार आचार्य प्रभव ने सोचा—मेरे बाद गणभार वाहक कौन होगा ? उन्होंने श्रमण संघ, श्रावक संघ एवं जैन संघ का क्रमशः अवलोकन किया। गणभार वहन योग्य कोई भी व्यक्ति उनके दृष्टि-गत नहीं हुआ। उनका ध्यान यज्ञनिष्ठ ब्राह्मण विद्वान् शय्यम्भव पर केन्द्रित हुआ।[1] वे नेतृत्व कला में सर्वथा समर्थ प्रतीत हो रहे थे पर उनके सामने जैन दर्शन की बात करना संकट का संकेतक था।

प्रभव सक्षम आचार्य थे। वे चर्चा-प्रसंग से प्रतिद्वन्द्वी शय्यम्भव को जैन धर्म के प्रति प्रभावित कर सकते थे। पर उस पर्वत से कौन टकराये ? शय्यम्भव के नाम से ही हर व्यक्ति के पैर कांपते थे। धर्म-संघहित की भावना से प्रेरित होकर युगल श्रमण इस कार्य के लिए प्रस्तुत हुए। आचार्य प्रभव के आदेशा-नुसार विद्वान् शय्यम्भव के यक्षवाट में गए, उन्होंने द्वार पर उपस्थित होकर धर्म-लाभ कहा। वहां श्रमणों का घोर अपमान हुआ और उन्हें बाहर निकालने का

उपक्रम चला। श्रमण बोले—"अहो कष्टमहो कष्टं तत्त्वं विज्ञायते नहि"—अहो! खेद की बात है, तत्त्व नहीं जाना जा रहा है।

तत्त्व को नहीं जानने की बात महाभिमानी उद्भट विद्वान् शय्यम्भव के मस्तिष्क में टकराई। सोचा, ये उपशान्त तपस्वी झूठ नहीं बोलते।[२] हाथ में तलवार लेकर वे अध्यापक के पास गए और तत्त्व का स्वरूप पूछा। उपाध्याय ने कहा—"स्वर्ग और अपवर्ग को प्रदान करने वाले वेद ही परम तत्त्व हैं।" शय्यम्भव बोले—"वीतद्वेष, वीतराग, निर्मम, निष्परिग्रही, शान्त महर्षि अवितथ भाषण नहीं करते अतः यथावस्थित तत्त्व का प्रतिपादन करो। अन्यथा इस तलवार से शिरश्च्छेद कर दूंगा।" लपलपाती तलवार को देखकर अध्यापक कांप उठा और कहने लगा—"अर्हत धर्म ही यथार्थ तत्त्व है।"

विद्वान् शय्यम्भव महाभिमानी होते हुए भी सच्चे जिज्ञासु थे। यज्ञ सामग्री अध्यापक को संभलाकर श्रमणों की खोज में निकले और एक दिन आचार्य प्रभव के पास पहुंच गए। प्रभव ने उन्हें यज्ञ का यथार्थ स्वरूप समझाया। अध्यात्म की विशद भूमिका पर जीवन-दर्शन का चित्र प्रस्तुत किया। आचार्य प्रभव की पीयूष-स्रावी वाणी से बोध प्राप्त कर शय्यम्भव श्रमण संघ में प्रविष्ट हुए।

वे वैदिक दर्शन के धुरन्धर विद्वान् पहले से ही थे। आचार्य प्रभव के पास उन्होंने १४ पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया और श्रुतधर की परम्परा में वे द्वितीय श्रुतकेवली बने।

श्रुतसम्पन्न शय्यम्भव को अपना ही दूसरा प्रतिबिम्ब मानते हुए आचार्य प्रभव ने उन्हें वी० नि० ७५ (वि० पू० ३९५) में आचार्य पद से अलंकृत किया।

ब्राह्मण विद्वान् का श्रमण संघ में प्रविष्ट हो जाना उस युग की एक विशेष घटना थी। शय्यम्भव जब दीक्षित हुए तब उनकी नवयुवती पत्नी गर्भवती थी।[३] ब्राह्मण वर्ग में चर्चा प्रारम्भ हुई—

अहो शय्यम्भवो भट्टो निष्ठुरेभ्योऽपि निष्ठुरः।
स्वां प्रियां यौवनवतीं सुशीलामपि योऽत्यजत्॥ ५७॥

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५)

विद्वान् शय्यम्भव भट्ट निष्ठुरातिनिष्ठुर व्यक्ति हैं जिसने अपनी युवती पत्नी का परित्याग कर दिया है। साधु बन गया है। नारी के लिए पति के अभाव में पुत्र ही आलम्बन होता है। वह भी उसके नहीं हैं। अबला भट्ट-पत्नी कैसे अपने जीवन का निर्वाह करेगी? स्त्रियां उससे पूछतीं—"बहिन, गर्भ की संभावना है?" वह संकोच करती हुई कहती—'मणयं'—यह मणयं शब्द संस्कृत के मनाक् शब्द का परिवर्तित रूप है जो सत्त्व का बोध करा रहा था तथा कुछ होने का संकेत कर रहा था। भट्ट-पत्नी के इस छोटे-से उत्तर से परिवार वालों को संतोष मिला। एक दिन भट्ट-पत्नी ने पुत्र को जन्म दिया। पुत्र का नाम माता द्वारा उच्चरित मणयं

की ध्वनि के आधार पर मनक रखा गया।[४] भट्ट-पत्नी ने मनक का अत्यन्त स्नेह से पालन किया। बालक आठ वर्ष का हुआ। उसने अपनी मां से पूछा—"जननी ! मेरे पिता का नाम क्या है ?" भट्ट-पत्नी ने पुत्र के प्रश्न पर समग्र पूर्व वृत्तान्त कह सुनाया और उसे बताया—"तुम्हारे पिता जैन मुनि बन गये हैं। पितृ-दर्शन की भावना बालक में जगी। माता का आदेश ले वह स्वयं भट्ट की खोज में निकला। पिता-पुत्र का चम्पा में अचानक मिलन हुआ। अपनी मुखाकृति से मिलती मनक की मुखमुद्रा पर आचार्य शय्यम्भव की दृष्टि केन्द्रित हो गयी। अज्ञात स्नेह हृदय में उमड़ पड़ा। उन्होंने बालक से नाम-गांव आदि के विषय में पूछा। अपना परिचय देता हुआ मनक बोला—"मेरे पिता आचार्य शय्यम्भव मुनि कहां हैं ? आप उन्हें जानते हैं ?" बालक के मुंह से अपना नाम सुनकर शय्यम्भव ने पुत्र को पहचान लिया और अपने को आचार्य शय्यम्भव का अभिन्न मित्र बताते हुए उसे अध्यात्म-बोध दिया। बाल्यकाल के सरल मानस में संस्कारों का ग्रहण बहुत शीघ्र होता है। आचार्य शय्यम्भव का प्रेरणा-भरा उपदेश सुन मनक प्रभावित हुआ और आठ वर्ष की अवस्था में उनके पास मुनि बन गया।

आचार्य शय्यम्भव हस्तरेखा के जानकार थे। मनक का हाथ देखने से उन्हें लगा, बालक का आयुष्य बहुत कम रह गया है। समग्र शास्त्रों का अध्ययन करना इसके लिए संभव नहीं है।[५]

> अपश्चिमो दशपूर्वी श्रुतसारं समुद्धरेत्।
> चतुर्दश पूर्वधरः पुनः केनापि हेतुना।। ८३ ।।
>
> (परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५)

अपश्चिम दशपूर्वी एवं चतुर्दश पूर्वी विशेष परिस्थिति में ही पूर्वों से आगम-निर्यूहण का कार्य करते हैं।

आचार्य शय्यम्भव चतुर्दश पूर्वधर थे। उन्होंने अल्पायुष्क मुनि मनक के लिए आत्म-प्रवाद से दशवैकालिक सूत्र का निर्यूहण किया।[६] वीर निर्वाण के अस्सी वर्ष बाद इस महत्त्वपूर्ण सूत्र की रचना हुई। इस सूत्र के दश अध्ययन हैं। इसमें मुनि-जीवन की आचार संहिता का निरूपण है। यह सूत्र उत्तरवर्ती नवीन साधकों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है।

छह मास बीते। मुनि मनक का स्वर्गवास हो गया। शय्यम्भव श्रुतधर आचार्य थे, पर वीतराग नहीं बने थे। पुत्रस्नेह उभर आया। उनकी आंखें मनक के मोह से गीली हो गईं।

यशोभद्र आदि मुनियों ने उनसे खिन्नता का कारण पूछा।[७] आचार्य शय्यम्भव ने बताया—"यह मेरा संसार-पक्षीय पुत्र था। पुत्र-मोह ने मुझे विह्वल कर दिया है। यह बात पहले श्रमणों के द्वारा जान लिए जाने पर आचार्य-पुत्र समझकर कोई इससे परिचर्या नहीं करवाता और यह सेवा-धर्म के लाभ से वञ्चित रह

जाता, अतः इस भेद को आज तक मैंने श्रमणों के सामने उद्घाटित नहीं किया था।" आचार्य शय्यम्भव की गोपनीयता पर श्रमण आश्चर्यचकित रह गए।

जीवन के सन्ध्याकाल में आचार्य शय्यम्भव ने अपने पद पर श्रुतसागर-पारीण यशोभद्र को नियुक्त किया।[८]

श्रुतबल से आचार्य शय्यम्भव शार्दूल की भांति दुःप्रधर्ष थे। पूर्वज्ञान से निर्यूढ़ सूत्र रचना का प्रारम्भ उन्हीं से हुआ है। उनका जीवन ब्राह्मण संस्कृति और जैन संस्कृति का मिलन है तथा अध्यात्म का उर्ध्वारोहण है।

आचार्य शय्यम्भव अट्ठाईस वर्ष की अवस्था में श्रमण दीक्षा ग्रहण कर उनचालीस वर्ष की अवस्था में आचार्य पद पर आरूढ़ हुए थे। संयमी जीवन के कुल ३४ वर्षों में २३ वर्ष तक युगप्रधान पद के दायित्व को निपुणता से संचालन किया। वे बासठ वर्ष की अवस्था में वी० नि० ९८ (वि० पू० ३७२) में स्वर्ग-गामी बने।[९]

आधार-स्थल

१. सुहम्मो नाम गणधरो आसी, तस्सवि जंबूणामो, तस्सविय पभवोत्ति, तस्सऽन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तम्मि चिंता समुपन्ना को मे गणहरो होज्जत्ति अप्पणो गणे य संघे य सव्वओ उवओगो कओ, णं दीसइ कोइ अव्वोच्छित्तिकरो ताहे गारत्थेसु उवउत्तो, उवओगे कए रायगिहे सेज्जंभवं माहणं जन्नं जयमाणं पासइ।

(दशवै० हारि-वृत्ति, पत्रांक १०)

२. तेण य सेज्जंभवेण दारमूलेठिएणं तं वयणं सुअं, ताहे सो विचिंतेइ एए उवसंता तवस्सिणो असच्चं ण वयंति।

(दशवै०हारि-वृत्ति, पत्रांक १०-११)

३. जया य सो पव्वइओ तया य तस्स गुव्विणी महिला होत्था,

(दशवै० हारि-वृत्ति, पत्रांक ११(१))

४. मायाए से भणिअ 'भणग' त्ति तम्हा मणओ से णामं कयंति।

(दशवै० हारि-वृत्ति, पत्रांक ११(२))

५. एवं च चिन्तयामास शय्यम्भवमहामुनिः।
अत्यल्पायुरयं बालो भावी श्रुतधरः कथम् ॥८२॥

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५)

६. सिद्धान्तसारमुद्धृत्याचार्यः शय्यम्भवस्तदा।
दशवैकालिकं नाम श्रुतस्कन्धमुदाहरत् ॥८५॥

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५)

७. आणंद अंसुपायं कासी सिज्जंभवा तहिं थेरा।
जसभद्दस्स य पुच्छा कहणा अ विआलणा संघे ॥३७१॥

(दशवै० निर्युक्ति)

८. श्रीमाञ्शय्यम्भवः सूरिर्यशोभद्रमहामुनिम् ।
श्रुतसागरपारीणं पदे स्वस्मिन्नतिष्ठिपत् ।।१०६।।

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५)

९. तत्पट्टे ४ श्रीशय्यंभवस्वामी । स च स्वगृहे यज्ञं कुर्वाणः पंचशतद्विजैः 'अहोकष्टमहोकष्टं तत्त्वं न ज्ञायते क्वचिदिति" साधुवचः श्रुत्वा यज्ञस्तंभाधःस्थितश्रीशांतिजिन-बिंबदर्शनाद् बुद्धः । अष्टाविंशतिवर्षाणि गृहे स्थित्वा व्रतं लेभे । एकादश (११) वर्षाणि व्रते त्रयोविंशतिवर्षाणि युगप्रधानत्वेसर्वायुर्द्वाषष्टि ६२ वर्षाणि प्रपाल्य श्रीवीरात् ९८ वर्षातिक्रमे स्वर्ययौ ।

(पट्टावली समुच्चय, श्री गुरु पट्टावली, पत्रांक १६४)

५. युग-प्रहरी आचार्य यशोभद्र

आचार्य यशोभद्र जैन-संघ के परम यशस्वी आचार्य थे। गुणज्ञ, आगमज्ञ, समयज्ञ, श्रुत-शार्दूल आचार्य शय्यंभव के उत्तराधिकारी थे। उनका जन्म ब्राह्मण परिवार में वी० नि० ६२ (वि० पू० ४०८) में हुआ। तुंगीकायन उनका गोत्र था।

उम्र के लगभग दो दशक उनके गृहस्थ जीवन में बीते। तृतीय दशक का प्रारम्भिक चरण था। सांसारिक भोग उन्हें नीरस लगने लगे। मन संयम की की ओर झुका। विरक्ति की धारा प्रबल हो उठी।

अध्यात्म संस्कारों से प्रभावित होकर २२ वर्ष की युवावस्था में उन्होंने आचार्य शय्यंभव के पास दीक्षा ग्रहण की। श्रुतसम्पन्न आचार्य शय्यंभव का पावन सान्निध्य आचार्य यशोभद्र के लिए अत्यन्त लाभकारी सिद्ध हुआ। वे १४ वर्ष तक उनके पास रहे। संयम साधनोपयोगी विभिन्न योग्यताओं का अर्जन करने के साथ १४ पूर्वों की विशाल ज्ञान-राशि का ग्रहण भी आचार्य यशोभद्र ने उनसे किया।

श्रुतकेवली की परम्परा में आचार्य यशोभद्र का क्रम तृतीय है। आचार्य शय्यंभव के बाद वे वी० नि० ९८ (वि० पू० ३७२) में आचार्य पद पर आरूढ़ हुए। उन्होंने कुशलतापूर्वक वीर शासन का दायित्व सम्भाला। आचार्य पदारोहण के समय उनकी अवस्था ३६ वर्ष की थी।

चर्तुदश पूर्वों की सुविशाल ज्ञान-राशि से सम्पन्न यशस्वी आचार्य यशोभद्र यथार्थतः अध्यात्म युग के सजग प्रहरी थे।

जलधर की भांति अर्हतोपदिष्टि धर्मधारा के द्वारा तापतप्त विश्व को शांति प्रदान करते हुए आर्यधरा पर उन्होंने सिंह तुल्य निर्भीक वृत्ति से विहरण किया। उनकी कीर्तिलता चतुर्दिक् में विस्तृत हुई।

संयम शैल आचार्य सम्भूतविजय और जैन मुकुटमणि आचार्य भद्रबाहु दोनों मेधावी मुनि आचार्य यशोभद्र के शिष्य थे। दोनों ही श्रमण आचार्य यशोभद्र से १४ पूर्व की पूर्ण ज्ञान सम्पदा को ग्रहण करने में समर्थ सिद्ध हुए।[1]

आचार्य शय्यंभव तक एक आचार्य की परम्परा थी। युग-प्रहरी आचार्य

यशोभद्र ने अपने बाद सम्भूतविजय और भद्रबाहु—इन दोनों को आचार्य पद पर नियुक्ति कर जैन शासन में नई परम्परा को जन्म दिया।[1]

भगवान् महावीर के उत्तरवर्ती युग-प्रधान आचार्यों की परम्परा में आचार्य यशोभद्र का क्रम पांचवां है। संयम पर्याय के कुल ६४ वर्ष के काल में ५० वर्ष तक उन्होंने युग-प्रधान पद को अलंकृत किया। आचार्य यशोभद्र का लम्बा शासन-काल भी अत्यन्त सुखद और शान्तिमय बना रहा। उसमें विशेषतः उतार-चढ़ाव नहीं आए, यह उनके सक्षम व्यक्तित्व का परिणाम था। उनका स्वर्गवास वी० नि० १४८ (वि० पू० ३२२) में ८६ वर्ष की अवस्था में हुआ।[2]

आधार-स्थल

१. मेधाविनौ भद्रबाहुसम्भूतविजयौ मुनी।
चतुर्दशपूर्वधरौ तस्य शिष्यौ बभूवतु ॥३॥

परिशिष्ट पर्व, सर्ग ९

२. सूरिश्रीमान्यशोभद्रः श्रुतनिध्योस्तयोर्द्वयोः।
स्वमाचार्यकमारोप्य परलोकमसाधयत् ॥४॥

परिशिष्ट पर्व, सर्ग ९

३. तत्पट्टे ५श्री यशोभद्रस्वामी। स च २२ वर्षाणिगृहे १४ वर्षाणि व्रते ५० वर्षाणि युगप्रधानत्वे सर्वायुः षडशीति ८६ वर्षाणि प्रपाल्य श्रीवीरात् १४८ वर्षांते स्वर्ययौ।

पट्टावली समुच्चय, श्री गुरु पट्टावली, पृ० १६४

६. संयम-सूर्य आचार्य सम्भूतविजय

संयम श्रुतनिधि आचार्य सम्भूतविजय भगवान् महावीर के षष्ठ पट्टधर थे। श्रुतकेवली की परम्परा में वे चतुर्थ श्रुतकेवली थे। उनका जन्म माठर गोत्र में हुआ। उत्कट वैराग्य के साथ ४२ वर्ष की अवस्था में उन्होंने दीक्षा ग्रहण की। उनका जन्म वी० नि० ६६ (वि० पू० ४०४), दीक्षा वी० नि० १०८ (वि० पू० ३६२) है। आचार्य यशोभद्र के वे सफल उत्तराधिकारी थे।

श्रमणों की शोभा आचार्य से और आचार्य की शोभा श्रमणों से होती है। जिस संघ में तपस्वी श्रुतसम्पन्न श्रमण होते हैं वह संघ तेजस्वी होता है एवं संघ-नायक धर्म की प्रभावना के कार्य में अधिक सक्षम होते हैं। आचार्य सम्भूतविजय के संघ में श्रेष्ठ श्रमण सम्पदा थी। श्रुतसम्पन्न आचार्य भद्रबाहु उनके गुरुभ्राता श्रमण थे। घोर अभिग्रहधारी श्रमण भी उनके शिष्य परिवार में कई थे।

एक बार चार विशिष्ट साधक मुनि आचार्य सम्भूतविजय के पास आए। एक ने कुएं की पाल पर, दूसरे ने सर्प की बांबी पर, तीसरे ने सिंह की गुफा में तपःपूर्वक चातुर्मास करने का घोर अभिग्रह धारण किया[1] और अपने लक्ष्य की ओर वे प्रस्थित हुए। आर्य स्थूलभद्र ने वह चातुर्मास पूर्व परिचिता गणिका कोशा की चित्रशाला में किया। चातुर्मास की सम्पन्नता पर चारों मुनि लौटे। आचार्य सम्भूतविजय ने प्रथम तीन मुनियों का सम्मान 'दुष्क्रिया के साधक' का सम्बोधन देकर किया था। श्रमण स्थूलभद्र के आगमन पर स्वयं आचार्य सम्भूतविजय सात-आठ पैर सामने गए और 'महादुष्कर क्रिया के साधक' का सम्बोधन देकर उन्हें विशेष सम्मान प्रदान किया।[2]

स्वर्गोपम चित्रशाला में सुखपूर्वक चातुर्मास सम्पन्न करने वाले श्रमण स्थूलभद्र के प्रति 'महादुष्कर क्रिया के साधक' जैसा आदरसूचक सम्बोधन सुनकर तीनों घोर अभिग्रहधारी मुनियों के मानस में प्रतिस्पर्धा का प्रबल भाव जागृत हुआ। उन्होंने मन ही मन सोचा—अमात्य-पुत्र होने के कारण आचार्य सम्भूतविजय ने 'षट्रस भोजी' मुनि स्थूलभद्र को इतना सम्मान प्रदान किया है।[3] सरस भोजन करने से महादुष्कर साधना निष्पन्न हो सकती है तो कोई भी साधक इस साधना में सफल हो सकता है।

मात्सर्य भाव से आक्रान्त उन श्रमणों के लगभग आठ महीने व्यतीत हुए। सिंह-गुफावासी मुनि ने आचार्य सम्भूतविजय के पास आकर प्रार्थना की—"गुरुदेव ! मैं आगामी चातुर्मास गणिका 'कोशा' की चित्रशाला में करना चाहता हूं।"

आचार्य सम्भूतविजय के योग दर्पण में अवांछनीय घटना का भावी प्रतिबिम्ब झलक रहा था। उन्होंने कहा—"वत्स ! इस महान् दुष्कर अभिग्रह को ग्रहण मत करो। अद्रिराज की तरह स्थिर स्थूलभद्र जैसा व्यक्ति ही इस प्रकार के अभिग्रह को निभा सकता है।"

मुनि बोले—"मेरे लिए यह अभिग्रह दुष्कर नहीं है। आप जिसे दुष्कर-दुष्कर कह रहे हैं वह मार्ग मेरे लिए बहुत आसान है।"

आर्य सम्भूतविजय ने मधुर स्वरों में पुनः प्रशिक्षण देते हुए कहा—"इस अभिग्रह में तुम सफल नहीं बन सकोगे। तुम्हारा पूर्व तपोयोग भी भ्रष्ट हो जायेगा। दुर्बल कंधों पर आरोपित अतिभार गात्र-भंग का निमित्त बनता है।" आर्य सम्भूतविजय इतना कहकर मौन हो गए। दर्पदलित, ईर्ष्या नाग-दंशित सिंह-गुफावासी मुनि गुरु के वचनों को अवगणित कर गणिका कोशा की चित्रशाला की ओर बढ़ गए। अविरल गति से चलते चरण मंजिल के निकट पहुंचे और चित्रशाला में पावस बिताने के लिए कोशा गणिका से आदेश मांगा।

कोशा बुद्धिमती महिला थी। उसने समझ लिया, तपस्वी मुनि का आगमन मुनि स्थूलभद्र की स्पर्धा के कारण हुआ है। वह व्यवहारकुशल भी थी। उसने उठकर वंदन किया और अपनी चित्रशाला चातुर्मास के लिए उन्हे समर्पित कर दी।

सिंह-गुफावासी मुनि स्वयं को जितेन्द्रियता के जिस उच्चतम बिन्दु पर मान रहे थे उससे यथार्थ में बहुत दूर थे। आर्य स्थूलभद्र जैसा दृढ़ मनोबल उनके पास नहीं था। षट्रसपूर्ण भोजन की परिणति वासना का तीव्र ज्वार लेकर उभरी। कमलनयनी गणिका कोशा के अनूप रूप पर मुनि का मन एक ही दिन में विक्षिप्त हो गया। धर्मोपदेश के स्थान पर मुनि ने कोशा के समक्ष काम-प्रार्थना प्रस्तुत की। कवि ने ठीक ही कहा है—"अर्थातुराणां न गुरुर्न बन्धु, कामातुराणां न भयं न लज्जा।" अर्थातुर व्यक्ति के लिए न कोई गुरु है, न कोई बन्धु, कामार्त व्यक्ति के लिए न भय है, न लज्जा।

> वज्जियलज्जो अज्झोववन्नउ पत्थिउं तयं लग्गो।
> निउणमईए नीए, भणिओ किं देसि मे कहसु ॥७६॥

(उप० विशेष वृत्ति, पृ० २३८)

सिंह गुफावासी मुनि को काम-प्रार्थना करते समय न लज्जा की अनुभूति हुई न अपयश का भय ही लगा।

साधक स्थूलभद्र से सम्यक् संबोधि-प्राप्त गणिका कोशा स्वयं में पूर्ण सजग एवं सावधान थी। वह राजा के आदेश के अतिरिक्त किसी भी पुरुष से काम-सम्बन्ध जोड़ने का परित्याग कर चुकी थी। मुनि को प्रशिक्षण देने की दृष्टि से उसने कहा—"मुने ! मैं गणिका हूं। गणिका उसी की होती है जो प्रचुर मात्रा में द्रव्य दान कर सकता है। आपके पास मुझे समर्पित करने के लिए क्या है ?"

मुनि ने कातर नयनों से गणिका की ओर झांकते हुए कहा—"मृगलोचने ! बालुकणों से कभी तेल नहीं निकलता। हमारे जैसे अकिंचन व्यक्तियों से धन की आशा रखना व्यर्थ है। तुम प्रसन्न बनो और मेरी कामना पूर्ण करो।" विवेक-सम्पन्न कोशा बोली—"मुने ! नेपाल देश का राजा प्रथम समागत मुनिजनों को रत्नकम्बल प्रदान करता है। वह कम्बल मेरे सामने प्रस्तुत कर सको तो इस विषय में कुछ सोचा जा सकता है।"[५]

कामासक्त व्यक्ति हिताहित का सम्यक् समालोचन नहीं कर सकता। मुनि भी अपनी संयम मर्यादा को भूल चातुर्मासिक काल में ही वहां से चल पड़े। सैकड़ों कोश धरती पार कर नेपाल पहुंचे और अत्यन्त कठिनता से रत्नकम्बल को प्राप्त कर लौटे। रास्ते में भीषण आपत्तियों का सामना भी उन्हें करना पड़ा। कभी तीव्र ताप से तापित धरती की तपन पैरों को झुलसाती, कभी सर्दी की ठिठुरन शरीर को कंपकंपा देती थी। भूख-प्यास से आकुल मुनि के लड़खड़ाते चरण, विशालकाय पहाड़ों की कंकरीली दरारों, बरसाती हवाओं से सर्पिणी की भांति फुफकारती बिफरी नदियों एवं बीहड़ वनों को लांघते आगे बढ़ते रहे। मार्ग में चोरों का आवासस्थल था। उसके पास पहुंचते ही शकुनसूचक पक्षी बोला—"आयाति लक्षम्"—लक्ष मुद्राओं का द्रव्य आ रहा है। पक्षी की भाषा को समझकर चोर सेनापति ने द्रुमारूढ़ चोर से पूछा—"मार्ग पर कोई आता हुआ दिखाई दे रहा है ?"

"आगच्छन् भिक्षुरेकोऽस्ति न कश्चित्तादृशोऽपर:।"

चोर ने कहा—"एक भिक्षु के अतिरिक्त कोई दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है।"

चोर-सम्राट् ने आदेश दिया—"निकट आने पर आगन्तुक को लूट लिया जाए।" चोरों ने वैसा ही किया पर भिक्षु के पास कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ। स्तेनदल से मुक्ति पाकर ज्योंही मुनि के चरण आगे बढ़े पक्षी पुनः बोला—

"एतल्लक्षं प्रयाति"

पक्षी से संकेत पाकर स्तेनराट् सहित चोरों ने उसे घेर लिया और कहा—

"सत्यं ब्रूहि किमस्ति ते"

—भिक्षुक ! सत्य कहो, तुम्हारे पास क्या है ?

मुनि का हृदय कांप गया। वे बोले—"मेरी इस प्रलम्बमान वंश-यष्टि में रत्न कम्बल निहित है। मगध गणिका को प्रसन्न करने के लिए इसे नेपाल सम्राट्

से याचना करके लाया हूं।" चोरों ने मुनि की क्लीवता पर अट्टहास किया और दयापात्र समझकर रत्नकम्बल का अपहरण किए बिना ही उन्हें छोड़ दिया।

सिंह-गुफावासी मुनि अत्यन्त आह्लाद के साथ अवशिष्ट मार्ग को पार कर चित्रशाला के निकट पहुंचा। उसका मन प्रसन्नता से नाच रहा था।

गणिका कोशा के चरणों में रत्नकम्बल का मूल्यवान् उपहार प्रदान कर वे उसकी कृपादृष्टि पाने को आतुर हो उठे। रत्नकम्बल को देखकर गणिका कोशा की मुद्रा गम्भीर हो गई। अस्थियों से चिपकी चर्म एवं फटे-पुराने चिथड़ों में लिपटा मुनि का शरीर हड्डियों का ढांचा मात्र लग रहा था। विवेक-सम्पन्ना गणिका कोशा ने रत्नकम्बल से अपने पैरों को पोंछा और उसे गंदी नाली में गिरा दिया। मुनि चौंके और बोले—"कम्बुकंठे ! अति कठिन श्रम से प्राप्त महामूल्य की इस रत्नकम्बल को आप जैसी समझदार महिला के द्वारा यह उपयोग किया जा रहा है !"

मुनि को आश्चर्यचकित देखकर संयम जीवन की महत्ता उन्हें समझाती हुई गुणवती कोशा ने कहा—"महर्षे ! इस साधारण-सी कम्बल के लिए इतनी चिन्ता ? संयम रत्नमयी कम्बल को खोकर आप अपने जीवन में इससे भी बड़ी भूल नहीं कर रहे हैं ?"[६]

गणिका कोशा की सम्यक् वाणी के स्नेहदान से सिंह गुफावासी मुनि के मानस में संवेग-दीप जल गया। संयमी जीवन की स्मृति हो आई। हृदय अनुताप की अनल में जलने लगा। वे कृतज्ञ स्वरों में गणिका से बोले—

"बोधितोऽस्मि त्वया साधु संसारात्साधु रक्षितः"

—सुव्रते ! तुमने मुझे बोध दिया है। वासनाचक्र की उत्ताल वीचिसमूह में ऊब-डूब करती मेरी जीवन-नौका की तुमने सुरक्षा की है। मैं आर्य सम्भूतविजय के पास जाकर आत्मालोचनपूर्वक शुद्ध बनूंगा।

गणिका कोशा बोली—"ब्रह्मचर्य व्रत में स्थिर करने के लिए आपको महान् क्लेश प्रदान किया है। यह आपकी आशातना मेरे द्वारा बोध प्रदानार्थ हुई है। मेरे इस व्यवहार के लिए मुझे क्षमा करें और आप श्रेय मार्ग का अनुसरण करें।"[७]

सिंह-गुफावासी मुनि गणिका-गृह से विदा हो खिन्नमना आचार्य सम्भूत-विजय के पास पहुंचे। वे कृत-दोष की आलोचना कर संयम में पुनः स्थिर हुए एवं कठोर तपः साधना का आचरण करने लगे।[८]

उत्तम पुरुषों के साथ सत्त्वहीन मनुष्यों का प्रतिस्पर्धा-भाव उनके अपने लिए ही हानिकारक होता है। कवि ने ठीक ही कहा है—

"अहो ! का काकानामहमहमिका हंसविहगैः,
सहामर्षः सिंहैरिह हि कतमो[१] जम्बुकतुकाम्।

यतः[२] स्पर्द्धा कीदृक् कथय कमलैः शैवलततेः,
सहासूया सद्भिः खलु खलजनस्यादि कतमा ॥६४॥
(उपदेश माला, विशेष वृत्ति, पृष्ठ २३९)

हंसों के साथ काकों की अहं-अहमिका, सिंह के साथ शृगाल की ईर्ष्या, कमल के साथ शैवाल की स्पर्धा एवं सज्जन मनुष्यों के साथ खल मनुष्यों की असूया निभ नहीं पाती।

यह बात सिंह-गुफावासी मुनि की समझ में आ गई। उनका मानस श्रमण स्थूलभद्र के अनन्त मनोबल पर सहस्र-सहस्र साधुवाद दे रहा था।

मज्झवि संसग्गीए, अग्गीए जो तया सुवन्नं व।
उच्छलिय बहलतेओ, स थूलभद्दो मुणी जयउ (इ) ॥ १६ ॥
(उपदेशमाला विशेष वृत्ति, पृ० २४१)

स्त्री के संसर्ग में रहकर भी जिनकी साधना का तेज अग्नि के मध्य प्रक्षिप्त स्वर्ण की भांति अधिक प्रदीप्त हुआ, उन स्थूलभद्र की जय हो।

चारों ओर से इस प्रकार स्थूलभद्र की जय बोली जा रही थी। आचार्य सम्भूतविजय के शासन-काल से सम्बन्धित इतिहास की यह घटना अनेक दुर्बल आत्माओं के मार्ग-दर्शन में प्रकाश दीपिका होगी।

सिंह-गुफावासी मुनि के जीवन का यह प्रसंग विनय भाव को भी पुष्ट करता है :

जो कुणइ अप्पमाणं,
गुरुवयणं न य लहइ उवएसं।
सो पच्छा तह सोअइ,
उवकोसघरे जह तवस्सी ॥ ६१ ॥
(उपदेशमाला विशेष वृत्ति, पृ० २४३)

जो गुरु के वचनों को अप्रमाण करता है, विनयपूर्वक उन्हें स्वीकार नहीं करता है वह उपकोशा के घर समागत सिंह-गुफावासी तपस्वी की भांति अनुताप करता है।

उपदेशमाला का यह श्लोक कोशा के स्थान पर उपकोशा की सूचना देता है। उपकोशा कोशा गणिका की भगिनी थी।

आचार्य संभूतिविजय का शिष्य परिवार विशाल था। कल्पसूत्र स्थविरावली में उनके बारह शिष्यों का उल्लेख है। उनके नाम इस प्रकार है :

(१) नन्दनभद्र, (२) उपनंदनभद्र, (३) तीसभद्र, (४) यशोभद्र, (५) सुमणिभद्र, (६) मणिभद्र, (७) पुण्यभद्र, (८) स्थूलभद्र, (९) उज्जुमइ, (१०) जम्बू, (११) दीहभद्र, (१२) पंडुभद्र।

आचार्य संभूतविजय का श्रमणी वर्ग अत्यन्त प्रभावक था। यक्षा, यक्षदिन्ना

भूता, भूतदिन्ना, सेणा, वेणा, रेणा—सातों महामात्य शकटाल की प्रतिभासंपन्न पुत्रियां आचार्य संभूतविजय के पास दीक्षित हुई थीं।[१०] इनका दीक्षा-संस्कार आर्य स्थूलभद्र के बाद हुआ था।

महामात्य पद पर गौरवप्राप्त राजानन्द की अपार कृपा का केन्द्र, सुकोमल तनु, सरल स्वभावी बुद्धि वैभव से समृद्ध श्रीयक ने भी वी० नि० १५३ (वि०पू० ३१७) में आचार्य संभूतविजय के पास दीक्षा ग्रहण की थी। एक ही आचार्य के शासन-काल में दीक्षित होने वाले बन्धुद्वय (आर्य स्थूलभद्र एवं मुनि श्रीयक) मुनियों के मिलन का कोई भी प्रसंग ऐतिहासिक सामग्री में उपलब्ध नहीं हो सका है। मुनि श्रीयक से आर्य स्थूलभद्र लगभग ७ वर्ष पहले दीक्षित हो चुके थे।

यक्षादि भगिनियों के साथ भ्राता श्रीयक का घटना-प्रसंग अत्यन्त मार्मिक एवं हृदयद्रावक है। श्रीयक का शरीर अत्यन्त कोमल था। एक भक्त तप भी उसके लिए कठिन था। एक दिन ज्येष्ठ भगिनी साध्वी यक्षा से प्रेरणा पाकर मुनि श्रीयक ने पर्युषण पर्व के दिनों में एक बार प्रहर, अर्ध दिन एवं अपार्ध दिन तक भोजन ग्रहण करने का परित्याग कर लिया था। मुनि श्रीयक के लिए तपः साधना का यह प्रथम अवसर था। अन्न का एक कण न ग्रहण करने पर भी दिन का अधिकांश भाग सुखपूर्वक कट गया। भगिनी यक्षा ने कहा—"भ्रात! रात्रि निकट है। नींद में सोते-सोते ही समय कट जाएगा। तपः प्रधान पर्युषण चल रहा है। अब उपवास कर लो।" ज्येष्ठ भगिनी की शिक्षा को ग्रहण कर श्रीयक ने उपवास तप स्वीकार कर लिया।

निशा में भयंकर कष्ट हुआ। क्षुधा-वेदना-बढ़ती गयी। देव गुरु का स्मरण करता हुआ श्रीयक स्वर्गगामी बना।

भ्राता के स्वर्गवास की बात सुनकर साध्वी यक्षा को तीव्र आघात लगा। भाई की इस आकस्मिक मृत्यु का निमित्त स्वयं को मानती हुई वह उदास रहने लगी। ऋषिघात जैसे भयंकर पाप के प्रायश्चित्त के लिए उसने अपने को संघ के सामने प्रस्तुत किया। संघ ने साध्वी यक्षा को निर्दोष मानते हुए कोई दंड नहीं दिया पर इससे यक्षा के मन को संतोष नहीं था। उसने अन्न ग्रहण करना छोड़ दिया। संघ की सामूहिक साधना से शासन देवी प्रकट हुई। वह साध्वी यक्षा के मनस्ताप को उपशांत करने के लिए उसे महाविदेह क्षेत्र में श्री सीमंधर स्वामी के पास ले गयी। श्री सीमंधर स्वामी ने बताया—"मुनि श्रीयक की मृत्यु के लिए तुम दोषी नहीं हो।" वीतराग प्रभु के अमृतोपम वचन सुनकर साध्वी यक्षा को तोष मिला। उद्वेलित मन को समाधान मिला। जैन शासन में अत्यधिक प्रसिद्ध चार चूलिकाओं की उपलब्धि साध्वी यक्षा को श्री सीमंधर स्वामी के पास हुई। इन चार चूलिकाओं में से दो चूलिकाओं का संयोजन दशवैकालिक सूत्र के साथ एवं दो चूलिकाओं का संयोजन आचारांग सूत्र के साथ हुआ है। ये चूलिकाएं

आज आगम का अभिन्न अंग बनी हुई हैं। साधुचर्या की महत्ता इन चूलिकाओं के माध्यम से समझी जा सकती है।

आचार्य स्थूलभद्र के द्वारा दश पूर्व ग्रहण करने के बाद पाटलिपुत्र में आचार्य भद्रबाहु के आदेश से यक्षा आदि साध्वियां ज्येष्ठ भ्राता के दर्शनार्थ गयीं थीं। सिंह के रूप में उन्हें पाकर डर गयी थीं। अल्प समय के बाद ही उन्हें मुनि के रूप में प्राप्त कर प्रसन्न भी हुई थीं। इसी प्रसंग पर बहिनों ने आर्य स्थूलभद्र को श्रीयक से सम्बन्धित यह सारा वृत्तान्त सुनाया था। मुनि श्रीयक के स्वर्गवास-सम्बन्धी संवत् का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है। सम्भवतः संभूतविजय के शासन-काल में ही मुनि श्रीयक की जीवनयात्रा सुखपूर्वक सम्पन्न हो चुकी थी।

आचार्य संभूतविजय चतुर्थ श्रुतकेवली थे। वे ४२ वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहे। सामान्य स्थिति में ४० वर्ष तक उन्होंने साधुचर्या का पालन किया। उनका आचार्यत्व-काल आठ वर्ष का था। ज्ञानरश्मियों से भव्य जनों का पथ आलोकित करते हुए संयम-सूर्य आचार्य संभूतविजय वी० नि० १५६ (वि०पू० ३१४) में स्वर्गगामी बने।

आधार-स्थल

१. पत्ते वासरत्ते, तिण्णि मुणी तिव्वभवमउव्विग्गा।
गिण्हंति कमेणेए, अभिग्गहे दुग्गहसरूवे ॥६०॥
एगो सीहगुहाए, अन्नो दारुण विसाहिव सहीए।
कूवफलयंमि अन्नो, चाउम्मासं ठिओऽणसणो ॥६१॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पृ० २३७)

२. अब्भुट्ठिया मणागं, दुक्करकारीण सागयं तुब्भं।
आसासिया कमेणं, गुरुणा ता. थूलभद्दोवि ॥६६॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पृ० २३८)

३. इदमामन्त्रणं मन्त्रिपुत्रताहेतुकं खलु ॥१३७॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८)

४. उवउत्तेणं गुरुणा, नायं पारं न पाविही एसो।
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पृ० २३८)

५. नेबालजणवए जह, राया पुव्वस्स साहुणो देइ।
कंबलरयणं सयसहस्समोल्लमेसो तहिं जाइ ॥८१॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पृ० २३८)

६. ता तं एयं सोयसि, न, उणो गुणरयणठाणमप्पाणं।
ता इय गए वि भयवं, संभरसु पवित्तनियपयविं ॥९०॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पृ० २३९)

७. आशातनेयं युष्माकं बोधहेतोर्मया कृता ।
क्षन्तव्या सा गुरुवचः श्रयध्वं यात सत्वरम् ।।१६७।।

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८)

८. इच्छामीति वदन् गत्वा सम्भूतविजयान्तिके ।
गृहीत्वालोचनां तीक्ष्णमाचचार पुनस्तपः ।।१६८।।

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८)

९. थेरस्सणं अज्जसंभूयविजयस्स···इमे दुवालस थेरा अंतेवासी···होत्था, तं जहा—
नंदणभद्दे उवनंदभद्दं तह तीसभद्द जसभद्दे ।
थेरे य सुमिणभद्दे मणिभद्दे य पुन्नभद्दे य ।।१।।

(कल्पसूत्र २०८)

१०. थेरे य थूलभद्दे उज्जुमती जंबुनामधेज्जे य । थेरे य दीहभद्दे थेरे तह पंडुभद्दे य ।। थेरस्स णं अज्जसंभूइविजयस्स माढरसगोत्तस्स इमाओ सत्त अंतेवासिणीओ अहावच्चाओ अभिन्नाताओ होत्था, तं जहा—
जक्खाय जक्खदिन्ना भूया तेहेव होई भुईदिन्ना य ।
सेणा वेणा रेणा भगिणीओ थूल भद्दस्स ।।१।।

(कल्पसूत्र २०८)

७. जिनशासन-शिरोमणि आचार्य भद्रबाहु

जिनशासन-शिरोमणि श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु उस युग की डगमगाती आस्थाओं के सुदृढ़ आलम्बन बने। वे यशस्वी आचार्य यशोभद्र के शिष्य थे। चौदह पूर्वों के ज्ञाता थे। उनका जन्म वी० नि० ९४ (वि० पू० ३७९) में हुआ। पैंतालिस वर्ष की अवस्था में संयम लिया और आचार्य संभूतविजय के बाद वी० नि० १५६ (वि० पू० ३१४) में उन्होंने आचार्य पद को अलंकृत किया। इस समय उनकी अवस्था बासठ वर्ष की थी। भगवान महावीर के वे अष्टम पट्ट-धर थे। श्रुतकेवली की परंपरा में उनका क्रम पांचवां था। अर्थ की दृष्टि से वे अन्तिम श्रुतकेवली थे।

जैन शासन को वीर निर्वाण की द्वितीय शताब्दी के मध्य दुष्काल में भयंकर वात्याचक्र से जूझना पड़ा था। उचित भिक्षा के अभाव में अनेक श्रुतसम्पन्न मुनि काल-कवलित हो गए। भद्रबाहु के अतिरिक्त कोई भी चौदह पूर्व का ज्ञाता नहीं बचा था। वे उस समय नेपाल की पहाड़ियों में महाप्राण ध्यान की साधना कर रहे थे। संघ को इससे गंभीर चिन्ता हुई। आगमनिधि की सुरक्षा के लिए श्रमण संघाटक नेपाल पहुंचा। करबद्ध होकर श्रमणों ने भद्रबाहु से प्रार्थना की। "संघ का निवेदन है—आप वहां पधार कर मुनिजनों को दृष्टिवाद की ज्ञानराशि से लाभान्वित करें।" भद्रबाहु ने अपनी साधना में विक्षेप समझते हुए इसे अस्वीकार कर दिया।

तित्थोगालिय के अनुमार श्रुत प्रदान हेतु श्रमणों की प्रार्थना पर आचार्य होते हुए भी संघ के दायित्व से उदासीन होकर आचार्य भद्रबाहु निरपेक्ष स्वरों में बोलते हैं :

> सो भणति एव भणिए असिट्ठ किलिट्ठएण वयणेणं
> न हु ता अहं समत्थो इह्णि मे वायणं दाउं ॥ २८ ॥
> अप्पट्ठे आउत्तस्स मज्झ किं वायणाए कायव्वं
> एवं च भणिय मेत्ता रोसस्स वसं गया साहू ॥ २९ ॥

—श्रमणो! मेरा आयुष्य काल कम रह गया है। इतने कम समय में अतिक्लिष्ट दृष्टिवाद की वाचना देने में मैं असमर्थ हूं। आत्महितार्थ मैं समग्र भावेन अपने

को नियुक्त कर चुका हूं। अब मुझे संघ को वाचना देकर करना भी क्या है ?

भद्रबाहु के इस निराशाजनक उत्तर से श्रमण उत्तप्त हुए और उन्होंने संघीय विधि-विधानों की भूमिका पर आचार्य भद्रबाहु से प्रश्न किया :

एवं भणंतस्स तुहं को दंडो होई तं मुणसु।

—संघ की प्रार्थना अस्वीकृत करने पर आपको क्या प्रायश्चित्त होगा ?

आवश्यक चूर्णि के अनुसार समागत श्रमण संघाटक ने अपनी ओर से आचार्य भद्रबाहु के सामने कोई भी नया प्रश्न उपस्थित नहीं किया। आचार्य भद्रबाहु द्वारा वाचना प्रदान की अस्वीकृति पाकर वह संघ के पास लौटा और उसने सारा संवाद कहा। संघ को इससे क्षोभ हुआ पर दृष्टिवाद की वाचना आचार्य भद्रबाहु के अतिरिक्त और किसी से संभव भी नहीं थी। संघ के द्वारा विशेष प्रशिक्षण पाकर श्रमण संघाटक पुनः नेपाल में आचार्य भद्रबाहु के पास पहुंचा और उन्हें विनम्र स्वरों में पूछा—संघ का प्रश्न है कि जो संघ की आज्ञा को अस्वीकृत कर दे उसके लिए किस प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान है ?'

पूर्वश्रुतसम्पन्न श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु भी इस प्रश्न पर शास्त्रीय विधि-विधानों का चिन्तन करते हुए गम्भीर हो गए। श्रुतकेवली कभी मिथ्या भाषण नहीं करते। आचार्य भद्रबाहु के द्वारा यथार्थ निरूपण होगा, यह सबको दृढ़ विश्वास था। वैसा ही हुआ। आचार्य भद्रबाहु ने स्पष्ट घोषणा की—जो आगम वाचना प्रदान करने के लिए अस्वीकृत होता है, संघ शासन का अपमान करता है, वह श्रुत-निह्नव है, संघ से बहिष्कृत करने योग्य है।

भद्रबाहु द्वारा उत्तर सुनकर श्रमण संघाटक ने उच्चघोष से कहा—"आपने भी संघ की बात को अस्वीकृत किया है अतः आप भी उस दंड के योग्य हैं।" तित्थोगालिय में इस प्रसंग पर श्रमण संघद्वारा १२ प्रकार के सम्भोग विच्छेद का उल्लेख है।

महान् यशस्वी आचार्य भद्रबाहु इस अकीर्तिकर प्रवृत्ति से सम्भल गए। उन्होंने सबको संतोष देते हुए कहा—"मैं संघ की आज्ञा का सम्मान करता हूं। मैं महाप्राण ध्यान साधना में प्रवृत्त हूं। इस ध्यान साधना से १४ पूर्व की पूर्ण ज्ञान-राशि का मुहूर्त्त मात्र में परावर्तन कर लेने की क्षमता आ जाती है। अभी इसकी सम्पन्नता में कुछ समय अवशेष है। इससे मैं वहां आने में असमर्थ हूं। संघ मेधावी श्रमणों को यहां प्रेषित करे, मैं उन्हें साधना के साथ वाचना देने का प्रयत्न करूंगा।"[1]

तित्थोगालिय के अनुसार आचार्य भद्रबाहु का उत्तर था :

एक्केण कारणेणं, इच्छं भे वायणं दाउं।

—मैं एक अपवाद के साथ वाचना देने को प्रस्तुत होता हूं।

अप्पट्ठे आउत्तो, परमट्ठे सुट्ठु दाइं उज्जुत्तो ।
न वि हं वायरियव्वो, अहंपि नवि वायरिस्सामि ।। ३५ ।।

"आत्महितार्थ में आयुक्त, परमार्थ में प्रवृत्त मैं वाचना ग्रहणार्थ आने वाले श्रमण संघ के कार्य में बाधा उत्पन्न नहीं करूंगा, वे भी मेरे कार्य में विघ्न न बने ।

पारियकाउसग्गो, भत्तट्ठितो व अहव सेज्जाए ।
नितो व अइंतो वा, एवं भे वायणं दाहं ।। ३६ ।।

—कायोत्सर्ग सम्पन्न कर भिक्षार्थ आते-जाते समय और निशा में शयन-काल से पूर्व उन्हें वाचना प्रदान करता रहूंगा ।

श्रमणो ने 'बाढ़म्' कहकर आचार्य भद्रबाहु के निर्देश को स्वीकार किया और उन्हें वन्दन कर वे वहां से चले, संघ को संवाद सुनाया, इससे मुनिजनों को प्रसन्नता हुई ।

महामेधावी, उद्यमवन्त, स्थूलभद्र प्रमुख ५०० श्रमण संघ का आदेश प्राप्त कर आचार्य भद्रबाहु के पास दृष्टिवाद वाचना ग्रहण करने के लिए पहुंचे ।[2] आचार्य भद्रबाहु प्रतिदिन उन्हें सात वाचनाएं प्रदान करते थे । एक वाचना भिक्षाचर्या से आते समय, तीन वाचनाएं विकाल बेला में और तीन वाचनाएं प्रतिक्रमण के बाद रात्रिकाल में प्रदान करते थे ।

दृष्टिवाद का ग्रहण बहुत कठिन था । वाचना प्रदान का क्रम बहुत मंद गति से चल रहा था । मेधावी मुनियों का धैर्य भी डोल उठा । एक-एक कर ४६६ शिक्षार्थी मुनि वाचना क्रम को छोड़कर चले गए । स्थूलभद्र मुनि यथार्थ में ही उचित पात्र थे । उनकी धृति अगाध थी । स्थिर योग था । वे एक निष्ठा से अध्ययन में लगे रहे । उन्हें कभी एक पद कभी अर्ध पद सीखने को मिलता । पर वे निराश नहीं हुए । आठ वर्ष में उन्होंने आठ पूर्वों का अध्ययन कर लिया ।[3]

आठ वर्ष की लम्बी अवधि में आचार्य भद्रबाहु एवं स्थूलभद्र के बीच अध्ययन के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार के वार्त्तालाप का उल्लेख उपलब्ध नहीं है ।

आचार्य भद्रबाहु की साधना का काल सम्पन्नप्रायः था । उस समय एक दिन आचार्य भद्रबाहु ने स्थूलभद्र से कहा—"विनेय ! तुम्हें माधुकरी प्रवृत्ति एवं स्वाध्याय योग में किसी प्रकार का क्लेश तो नहीं होता ?"

आर्य स्थूलभद्र विनम्र होकर बोले—"भगवन् ! मुझे अपनी प्रवृत्ति में कोई कठिनाई नहीं है । मैं पूर्ण स्वस्थमना अध्ययन में रत हूं । आपसे मैं एक प्रश्न पूछता हूं—मैंने आठ वर्षों में कितना अध्ययन किया है और कितना अवशिष्ट रहा है?"

प्रश्न के समाधान में भद्रबाहु ने कहा—"मुने ! सर्षप मात्र ग्रहण किया है मेरु जितना ज्ञान अवशिष्ट है । दृष्टिवाद के अगाध ज्ञानसागर से अभी तक बिन्दु मात्र ले पाए हो ।"

आर्य स्थूलभद्र ने निवेदन किया—"प्रभो ! मैं अगाध ज्ञान की सूचना पाकर

हतोत्साहित नहीं हूं पर मुझे वाचना अल्प मात्र में मिल रही है। आपके जीवन का सन्ध्या काल है, इतने कम समय में मेरु जितना ज्ञान कैसे ग्रहण कर पाऊंगा ?"

बुद्धिमान आर्य स्थूलभद्र की चिन्ता का निमित्त जान आर्य भद्रबाहु ने आश्वासन दिया—"शिष्य ! चिन्ता मत करो, मेरा साधनाकाल सम्पन्नप्रायः है। उसके बाद मैं तुम्हें रात-दिन यथेष्ट समय वाचना के लिए दूंगा।"

श्रुतसम्पन्न आर्य भद्रबाहु एवं स्थूलभद्र के बीच हुए इस संवाद का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में प्रायः प्राप्त होता है।

आर्य स्थूलभद्र का अध्ययन-क्रम चलता रहा। उन्होंने दो वस्तु कम दशपूर्व की वाचना ग्रहण कर ली थी। तित्थोगालिय पइन्ना के अनुसार आर्य स्थूलभद्र ने दशपूर्व पूर्ण कर लिए थे। उनके ग्यारहवें पूर्व का अध्ययन चल रहा था। ध्यान साधना का काल सम्पन्न होने पर आर्य भद्रबाहु पाटलिपुत्र लौटे। यक्षा आदि साध्वियां आर्य भद्रबाहु के वन्दनार्थ आयीं।[४] आर्य स्थूलभद्र उस समय एकान्त में ध्यानरत थे। परम वन्दनीय महाभाग आचार्य भद्रबाहु के पास अपने ज्येष्ठ भ्राता आर्य स्थूलभद्र को न देख साध्वियों ने उनसे पूछा—"गुरुदेव ! हमारे ज्येष्ठ भ्राता मुनि आर्य स्थूलभद्र कहां हैं ?" भद्रबाहु ने स्थान-विशेष का निर्देश दिया। यक्षा आदि साध्वियां वहां पहुंचीं। बहनों का आगमन जान आर्य स्थूलभद्र को अपने ज्ञान का अहं आ गया था। वे अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए सिंह का रूप बनाकर बैठ गए। साध्वियां शेर को देखकर डर गयीं। वे आचार्य भद्रबाहु के पास तीव्र गति से चलकर पहुंचीं और प्रकम्पित स्वर में बोली—"गुरुदेव, आपने जिस स्थान का संकेत दिया था, वहां केसरीसिंह बैठा है। 'ज्येष्ठार्य जग्रसे सिंहः—लगता है, हमारे भाई का उसने भक्षण कर लिया है।" भद्रबाहु ने समग्र स्थिति को ज्ञानोपयोग से जाना और कहा—

"वन्दध्वं तत्र वः सोऽस्ति ज्येष्ठार्यो न तु केसरी।"

वह केसरीसिंह नहीं तुम्हारा भाई है। पुनः वहीं जाओ। तुम्हें तुम्हारा भाई मिलेगा। उसे वन्दन करो।"

आचार्य भद्रबाहु द्वारा निर्देश प्राप्त कर बहनें पुनः उसी स्थान पर गयीं। ज्येष्ठ बन्धु आर्य स्थूलभद्र को देखकर प्रसन्नता हुई। सबने मुकुलित पाणिमस्तक झुकाकर वन्दन किया और वे बोलीं—"भ्रात ! हम पहले भी यहां आयी थीं, पर आप नहीं थे। यहां पर केसरी बैठा था।" आर्य स्थूलभद्र ने उत्तर दिया—"साध्वियो ! श्रुतज्ञान की ऋद्धि का प्रदर्शन करने के लिए मैंने ही सिंह का रूप धारण किया था।"

आर्य स्थूलभद्र एवं यक्षादि साध्वियों का कुछ समय तक वार्त्तालाप चला। मुनि श्रीयक के रोमांचकारी समाधि-मरण की घटना उन्होंने आर्य स्थूलभद्र को बतायी। इस घटना-श्रवण से आर्य स्थूलभद्र को भी खिन्नता

हुई। यक्षादि साध्वियां अपने स्थान पर लौट आयीं। आर्य स्थूलभद्र वाचना ग्रहण करने के लिए आचार्य भद्रबाहु के चरणों में प्रस्तुत हुए। अपने सम्मुख आर्य स्थूलभद्र को देखकर आचार्य भद्रबाहु ने उनसे कहा—"वत्स ! ज्ञान का अहं विकास में बाधक है। तुमने शक्ति का प्रदर्शन कर अपने को ज्ञान के लिए अपात्र सिद्ध कर दिया है। अग्रिम वाचना के लिए अब तुम योग्य नहीं रहे हो।" आर्य भद्रबाहु द्वारा आगम वाचना न मिलने पर उन्हें अपनी भूल समझ में आयी। प्रमादवृत्ति पर गहरा अनुताप हुआ। भद्रबाहु के चरणों में गिरकर उन्होंने क्षमा याचना की और कहा—"यह मेरी पहली ही भूल है। इस प्रकार की भूल का पुनरावर्तन नहीं होगा। आप मुझे वाचना प्रदान करें।"

आचार्य भद्रबाहु ने किसी भी प्रकार से उनकी प्रार्थना स्वीकृत नहीं की।

आर्य स्थूलभद्र ने पुनः नम्र निवेदन किया—"प्रभो ! पूर्वज्ञान नाश होने को ही है, पर सोचता हूं—

न मत्त· शेषपूर्वाणामुच्छेदो भाव्यतस्तु सः ॥१०६॥ परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६

"श्रुत-विच्छिन्नता का निमित्त मैं न बनूं अतः पुनः-पुनः प्रणतिपूर्वक आपसे वाचना प्रदानार्थ आग्रह-भरी नम्र विनती कर रहा हूं। अन्यथा आने वाली पीढ़ी मेरा उपहास करेगी। मुझे उलाहना देगी। और कहेगी—'अहं के वशीभूत होकर आर्य स्थूलभद्र ने ज्ञान ऋद्धि का प्रदर्शन किया था। इस हेतु से श्रुत-सम्पदा विनष्ट हुई।"

आचार्य स्थूलभद्र को वाचना प्रदान की स्वीकृति प्राप्त कर लेने हेतु सकल संघ ने बार-बार विनती उनके सामने प्रस्तुत की।

सबकी भावना सुन लेने के बाद समाधान के स्वरों में दूरदर्शी आचार्य भद्रबाहु बोले—"गुणगण-मंडित, अखंडित आचारनिधिसम्पन्न मुनिजनो ! मैं आर्य स्थूलभद्र की भूल के कारण ही वाचना देना स्थगित नहीं कर रहा हूं। वाचना न देने का कारण और भी है, वह यह है—'मगध की रूपसी कोशा गणिका के बाहुपाश बन्धन को तोड़ देने वाला एवं अमात्य पद के आमन्त्रण को ठुकरा देने वाला आर्य स्थूलभद्र श्रमण समुदाय में अद्वितीय है। वह महान् योग्य है। इसकी शीघ्रग्राही प्रतिभा के समान कोई दूसरी प्रतिभा नहीं है। इसके प्रमाद को देखकर मुझे अनुभूत हुआ—समुद्र भी मर्यादा अतिक्रमण करने लगा है। उन्नत कुलोत्पन्न, पुरुषों में अनन्य, श्रमण समाज का भूषण, धीर, गम्भीर, दृढ़मनोबली, परम विरक्त आर्य स्थूलभद्र जैसे व्यक्ति को भी ज्ञान मद आक्रान्त करने में सफल हो गया है। आगे इससे भी मन्द सत्त्व साधक होंगे। अतः पात्रता के अभाव में ज्ञानदान ज्ञान की अशातना भी है। भविष्य में भी अवशिष्ट वाचना प्रदान करने से किसी प्रकार के लाभ की संभावना नहीं रह गयी है।

"अस्यास्तु दोषदण्डोऽयमन्यशिक्षाकृतेऽपि हि ॥१०८॥ परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६

"वाचना को स्थगित करने से आर्य स्थूलभद्र को भी अपने प्रमाद का दण्ड मिलेगा और भविष्य में श्रमणों के लिए उचित मार्ग दर्शन होगा।"

अह भणइ थूलभद्दो, अण्णं रूवं न किंचि काहामो।
इच्छामि जाणिउं जे, अहं चत्तारि पुव्वाइं ॥८००॥
(तित्थोगालिय पइन्ना)

आर्य स्थूलभद्र ने एक बार और अपनी भावना श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु के सामने प्रस्तुत करते हुए कहा—"मैं पररूप का निर्माण कभी नहीं करूंगा। अवशिष्ट चार पूर्वों का ज्ञान देकर मेरी इच्छा पूर्ण करें।"

आर्य स्थूलभद्र के अत्यन्त आग्रह पर भद्रबाहु ने उन्हें चार पूर्वों का ज्ञान इस अपवाद के साथ प्रदान किया। वह अवशिष्ट चार पूर्वों का ज्ञान आगे किसी को नहीं दे सकेगा। दश पूर्व तक आर्य स्थूलभद्र ने अर्थ ग्रहण किया। शेष चार पूर्वों का ज्ञान शब्दशः प्राप्त किया, अर्थ युक्त नहीं।

आगम वाचना के इस प्रसंग का उल्लेख उपदेशमाला विशेष वृत्ति, आवश्यक चूर्णि, तित्थोगाली, परिशिष्ट पर्व इन चार ग्रंथों में अत्यल्प भिन्नता के साथ विस्तार से प्रस्तुत है। परिशिष्ट पर्व के अनुसार दो श्रमण श्रुत वाचना के हेतु प्रार्थना करने के लिए नेपाल पहुंचे थे। तित्थोगाली तथा आवश्यक चूर्णि में श्रमण संघाटक का निर्देश है। श्रमणों की संख्या का निर्देश नहीं है। परिशिष्ट पर्व के अनुसार ५०० शिक्षार्थी श्रमण नेपाल पहुंचे थे। तित्थोगाली में यह संख्या १५०० की है। इसमें ५०० श्रमण शिक्षार्थी एवं १००० श्रमण परिचर्या करने वाले थे।

आचार्य भद्रबाहु के जीवन का यह घटनाचक्र जैन दर्शन से सम्बन्धित विविध आयामों को उद्घाटित करता है। संघहित को प्रमुख मानकर आचार्य प्रवर्तना करते हैं। जहां संघहित गौण हो जाता है वहां जैनसम्मत विधि-विधानों के आधार पर संघहितार्थ आचार्यों को भी संघ की बात पर झुकना पड़ता है।

आचार्य भद्रबाहु के द्वारा वाचना-प्रदान के लिए अस्वीकृति देने पर उन्हींसे पूछकर संघ ने आचार्य भद्रबाहु को बहिष्कृत घोषित कर दिया। इसी प्रसंग में आर्य स्थूलभद्र की भूल हो जाने पर आर्य भद्रबाहु के द्वारा वाचना प्रदान का कार्य स्थगित हो गया। संघ की प्रार्थना को भी उन्होंने मान्य नहीं किया। स्थूलभद्र के अति आग्रह पर भी उन्होंने शब्दशः दृष्टिवाद की वाचना प्रदान की अर्थतः नहीं। यहां पर भी संघ की बात आचार्य भद्रबाहु द्वारा अस्वीकृत होने पर संघ बहिष्कार का प्रायश्चित्त संघ ने उनके लिए घोषित क्यों नहीं किया ? जिस हथियार का प्रयोग उन्होंने पहले किया था उसे अब भी किया जा सकता था और अर्थतः अंतिम चार पूर्वों की ज्ञानराशि को विनष्ट होने से बचाया जा सकता था। अतः यह समग्र घटनाचक्र अपने-आपमें एक नया अनुसंधान मांगता है। लगता है संघ की शक्ति सबल होती है। संघ ने ही अपने संरक्षण के लिए आचार्य को नियुक्त

किया है। आचार्य के लिए संघ नहीं बना है पर संघ की शक्ति आचार्य में केन्द्रित होती है अतः अन्ततः निर्णायक आचार्य होते हैं। यही कारण है—समग्र संघ के द्वारा निवेदन करने पर आर्य भद्रबाहु ने चार पूर्वों की अर्थ-वाचना देना भविष्य में अलाभ समझकर स्वीकार नहीं किया।

दिगम्बर साहित्य में प्राप्त उल्लेखानुसार दुष्काल के समय बारह हजार श्रमणों से परिवृत भद्रबाहु उज्जयिनी होते हुए दक्षिण की ओर बढ़ गए। इस समय सम्राट् चन्द्रगुप्त को भद्रबाहु ने दीक्षा दी। यह जैन सम्राट् की अन्तिम दीक्षा थी। इसके बाद किसी राजा ने जैन मुनि-दीक्षा ग्रहण नहीं की।

यह घटना द्वितीय भद्रबाहु से सम्बन्धित है। इतिहास के लम्बे अन्तराल में दो भद्रबाहु हुए हैं। दोनों के जीवन-प्रसंगों से यह तथ्य स्पष्ट है। प्रथम भद्रबाहु का समय वी० नि० की द्वितीय शताब्दी है। द्वितीय भद्रबाहु का समय वीर निर्वाण की पांचवीं शताब्दी के बाद का है। प्रथम भद्रबाहु चतुर्दश पूर्वी तथा छेद सूत्र के रचनाकार हैं।[५] द्वितीय भद्रबाहु निर्युक्तिकार तथा वराहमिहिर के भाई हैं। राजा चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध प्रथम भद्रबाहु के साथ न होकर द्वितीय भद्रबाहु के साथ है।

चन्द्रगुप्त मौर्य जो पाटलिपुत्र का राजा था वह प्रथम भद्रबाहु के स्वर्गवास के बाद हुआ है। भद्रबाहु का स्वर्गवास वी० नि० १७० के लगभग है। एक सौ पच्चास वर्षीय नन्द साम्राज्य का उच्छेद एवं मौर्य शासन का प्रारम्भ वी० नि० २१० (वि० पू० २६०) के आसपास होता है। द्वितीय भद्रबाहु के साथ जो चन्द्रगुप्त गया था वह अवन्ति का राजा था; पाटलिपुत्र का नहीं। चन्द्रगुप्त को दीक्षा देने वाले भद्रबाहु भी श्रुतकेवली नहीं थे; उनके पीछे कहीं श्रुतधर विशेषण नहीं आया है। द्वितीय भद्रबाहु निमित्त ज्ञानी थे।[६] श्वेताम्बर परम्परा में उन्हें निमित्तवेत्ता और दिगम्बर परम्परा में उन्हें चरम निमित्तधर विशेषण से विशेषित किया गया है। अतः चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्नों के फलादेश की घोषणा भी द्वितीय भद्रबाहु के साथ अधिक संगत है। वराहमिहिर का समय भी अब से १६००-२००० वर्ष पूर्व का है। अतः वे प्रथम भद्रबाहु के अनुज न होकर द्वितीय भद्रबाहु के अनुज सिद्ध होते हैं।

मौर्य शासक चन्द्रगुप्त और अवन्ति के शासक चन्द्रगुप्त तथा दोनों भद्रबाहु की घटनाओं में नाम-सादृश्य के कारण संक्रमण हुआ प्रतीत होता है।

दिगम्बर परम्परा प्रथम भद्रबाहु के समय दो भद्रबाहु का होना स्वीकार करती है। उनके अनुसार एक भद्रबाहु ने नेपाल में महाप्राणायाम ध्यान की साधना की थी तथा एक भद्रबाहु के साथ राजा चन्द्रगुप्त दक्षिण में गया था। पर इतिहास उसका साक्षी नहीं है।

स्थानांग सूत्र में नौ गणों का उल्लेख है। उनमें एक गौदास गण भी है। यह

गण गौदास मुनि से सम्बन्धित था। गौदास मुनि आचार्य भद्रबाहु के प्रथम शिष्य थे। गौदास गण की प्रमुखतः चार शाखाएं थीं। उनमें ताम्रलिप्तिका, कोटिवर्षिका एवं पुंड्रवर्धिका—इन तीन शाखाओं की जन्मस्थली बंगाल थी। ताम्रलिप्ति, कोटिवर्ष एवं पुंड्रवर्धन—ये तीनों बंगाल की राजधानियां थीं। गौदासगण की तीनों शाखाओं से इन राजधानियों का नाम-साम्य भद्रबाहु के संघ का बंगाल भूमि से नैकट्य सूचित करता है। अतः विद्वानों का पुष्ट अनुमान है—भद्रबाहु विशाल श्रमण संघ के साथ दुष्काल की विकट वेला में कुछ समय तक बंगाल में रहे। आचार्य हेमचन्द्र का अभिमत भी इसी तथ्य को प्रमाणित करता है। परिशिष्ट पर्व में लिखा है :

> इतश्च तस्मिन् दुष्काले, कराले कालरात्रिवत् ।
> निर्वाहार्थं साधुसंघस्तीरं नीरनिधेर्ययौ ॥५५॥

इन पद्यों के अनुसार कराल काल दुष्काल की घड़ियों में श्रमण समुदाय जीवन-निर्वाहार्थ समुद्री किनारों पर पहुंच चुका था।

ससंघ भद्रबाहु उक्त कथन से दुष्काल के समय बंगाल में ही थे। संभवतः इसी प्रदेश में उन्होंने छेद सूत्रों की रचना की। उसके बाद वे महाप्राण ध्यान साधना के लिए नेपाल पहुंच गए। दुष्काल की परिसमाप्ति के समय भी वे नेपाल में ही थे।

डा० हर्मन जैकोबी ने भद्रबाहु के नेपाल जाने की घटना का समर्थन किया है। जिन शासन-शिरोमणि आचार्य भद्रबाहु के शासन-काल में दो भिन्न दिशाओं में बढ़ती हुई श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्परा के आचार्यों की नाम शृंखला एक बिन्दु पर आ पहुंची थी। भद्रबाहु को दोनों ही परम्परा समान महत्त्व प्रदान करती है।

कल्पसूत्र स्थविरावली में भद्रबाहु के चार शिष्यों का उल्लेख है : (१) स्थविर गौदास, (२) स्थविर अग्निदत्त, (३) भत्तदत्त, (४) सोमदत्त। ये चार आचार्य भद्रबाहु के प्रमुख शिष्य थे। दृढ़ आचार का सबल उदाहरण प्रस्तुत करने वाले चार शिष्य उनके और भी थे। गृहस्थ जीवन में वे राजगृह निवासी सम्पन्न श्रेष्ठी थे। बचपन के साथी थे। चारों ने ही आचार्य भद्रबाहु के पास राजगृह में दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा स्वीकृति के बाद चारों मुनियों ने श्रुत की आराधना की एवं विशेष साधना से अपना जीवन जोड़ा। निर्मम-निरहंकारी, प्रियभाषी, मितभाषी, धर्मप्रवचन-प्रवण, करुणा के सागर इन मुनियों ने आचार्य भद्रबाहु से आज्ञा प्राप्त कर एकल विहारी की कठिनचर्या विशेष अभिग्रहपूर्वक स्वीकार की। प्रतिमा तप की साधना में लगे। ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए एक बार चारों मुनि राजगृह के वैभारगिरि पर आए। गोचरी करने नगर में गए। लौटते समय दिन का तृतीय प्रहर सम्पन्न हो चुका था। दिन के तृतीय प्रहर के बाद भिक्षाटन एवं गमनागमन न करने की प्रतिज्ञा के अनुसार एक मुनि गिरि गुफा के द्वार पर, दूसरा

उद्यान में, तीसरा उद्यान के बाहर एवं चौथा मुनि नगर के बहिर्भूभाग में ही रुक गया था। हिम ऋतु का समय था। रात गहरी होती गई। जान लेवा शीत लहर चारों मुनियों की सुकोमल देह को कंपकंपा रही थी। महान् कष्टसहिष्णु चारों मुनि शांत स्थिर खड़े थे। अत्यधिक शैत्य के कारण गुफा द्वार स्थित मुनि का प्रथम प्रहर में, उद्यान स्थित मुनि का द्वितीय प्रहर में, उद्यान बहिर्स्थित मुनि का तृतीय प्रहर में एवं नगर के बहिर्भू भाग में खड़े मुनि का रात्रि के चतुर्थ प्रहर में देहान्त हो गया। क्रमश: चार प्रहर में चारों मुनियों के स्वर्गवास होने का कारण एक स्थान से दूसरे स्थान पर शैत्य का प्राबल्य ही था। गिरि गुफा का स्थान सबसे अधिक शीत-प्रधान था और सबसे कम शीत-प्रधान स्थान था नगर का बहिर्भू-भाग।

अपनी प्रतिज्ञा में दृढ़ रहकर चारों मुनियों ने (शीत) कष्ट-सहिष्णुता का अनन्य आदर्श उपस्थित किया।

संयम-सूर्य आचार्य संभूतविजय के सतीर्थ्य आचार्य भद्रबाहु सकलागम पारगामी, दशाश्रुतस्कंध आदि छेद सूत्रों के उद्धारक एवं महाप्राण ध्यान के विशिष्ट साधक थे। उनका ४५ वर्ष का गृहस्थ जीवन, १७ वर्ष तक सामान्य अवस्था में साधु पर्याय पालन एवं १४ वर्ष तक युग-प्रधान पद वहन का काल था। उनकी सर्वायु ७६ वर्ष की थी। बारह वर्ष तक उन्होंने महाप्राण ध्यान की साधना की थी।

जिनशासन को सफल नेतृत्व एवं श्रुत-सम्पदा का अमूल्य अनुदान देकर श्रुत-केवली आचार्य भद्रबाहु वीर निर्वाण १७० (वि० पू० ३००) में स्वर्ग को प्राप्त हुए।[७] उन्हीं के साथ अर्थ-वाचना की दृष्टि से श्रुतकेवली का विच्छेद हो गया।

आधार-स्थल

१. "तम्मि य काले बारसवरिसो दुक्कालो उवट्ठितो। संजता इतो इतो य समुद्दतीरे गच्छित्ता पुणरवि 'पाडिलपुत्ते' मिलिता। तेसिं अण्णस्स उद्देसो, अण्णस्स खंडं, एवं संघाडितेहिं एक्कारसअंगाणि संघातिताणि दिट्ठिवादो नत्थि। 'नेपाल' वत्तिणीए य भद्दबाहुसामी अच्छंति चोद्दस्सपुव्वी, तेसि संघेणं पत्थवितो संघाड़ओ 'दिट्ठिवादं' वाएहि त्ति। गतो, निवेदितं संघकज्जं। तं ते भणंति दुक्कालनिमित्तं महापाणं पविट्ठोमि तो न जाति वायणं दातुं। पडिनियत्तेहिं संघस्स अक्खातं। तेहिं अण्णोवि संघाडओ विसज्जितो, जो संघस्स आणं अतिक्कमति तस्स को दंडो:। तो अक्खाई उग्घाडिज्जइ। ते भणंति मा उग्घाडेइ पेसेह मेहावी, सत्त पडिपुच्छगाणि देमि।"

(आवश्यक चूर्णि, भाग २, पत्रांक १८७)

२. ताभ्यामेत्य तथाख्याते श्रीसङ्घोऽपि प्रसादभाक्।
प्राहिणोत्स्थूलभद्रादिसाधुपञ्चशतीं ततः ॥७०॥

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ९)

३. श्रीभद्रबाहूपादान्ते स्थूलभद्रो महामतिः ।
पूर्वाणामष्टकं वर्षैरपाठीदष्टभिर्भृशम् ।।१७२।।

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६)

४. संपत्ति (१) एक्कारसमं, पुव्वं य्रतिवयति वणदवो चेव ।
झंतितओ भगिणीतो, सुट्ठुमणां वंदणनिमित्तं ।।५३।।

(तित्थोगाली)

५. वंदामि भद्दबाहुं पाइणं चरियं सगलसुयनाणि।
सुत्तस्स कारगामिसिं दसासु कप्पे य ववहारे ।।१।।

(दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति)

६. आसि उज्जेणीणयरे, आयरियो भद्दबाहुणामेण ।
जाणियं सुणिमित्तधरो भणियो संघो णियो तेण ।।५३।।

(भावसंग्रह, आचार्य देवसेन कृत)

७. वीरमोक्षाद्वर्षशते सप्तत्यग्रे गते सति ।
भद्रबाहुरपि स्वामिर्ययौ स्वर्गं समाधिना ।।

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६)

८. तेजोमय नक्षत्र आचार्य स्थूलभद्र

काम-विजेता श्रमण-शिरोमणि साधक आचार्य स्थूलभद्र का नाम श्वेताम्बर परम्परा में अत्यन्त गौरव के साथ स्मरण किया जाता है। इस परम्परा का प्रसिद्ध श्लोक है :

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतम प्रभुः।
मंगलंस्थूल भद्राद्या जैनधर्मोस्तु मंगलं ।।

मंगलमय भगवान् वीर प्रभु एवं गणधर गौतम के बाद आचार्य स्थूलभद्र के नाम का स्मरण उनके विशिष्ट व्यक्तित्व एवं तेजोमय जीवन का सूचक है। आचार्य स्थूलभद्र का जन्म गौतम गोत्रीय ब्राह्मण परिवार में वी० नि० ११६ (वि० पू० ३५४) में हुआ। उनके पिता का नाम शकटाल और माता का नाम लक्ष्मी था।

धर्मपरायणा, सदाचारसम्पन्ना, शीलालंकारभूषिता लक्ष्मी लक्ष्मी ही थी। वह नारी-रत्न थी। शकटाल नवम नन्द साम्राज्य में उच्चतम अमात्य पद पर प्रतिष्ठित था।[1] उसकी मंत्रणा से सारे राज्य का संचालन होता था। प्रजा उसके कार्यकौशल पर प्रसन्न थी। नन्द साम्राज्य की कीर्तिलता मंत्री के बुद्धिबल पर दिग्दिगन्त में प्रसार पा रही थी एवं लक्ष्मी की अपार कृपा उस राज्य पर बरस रही थी।

महामंत्री शकटाल के नौ सन्तानें थीं। स्थूलभद्र एवं श्रीयक दो पुत्र थे—यक्षा, यक्षदत्ता, भूता, भूतदिन्ना, सेना, रेणा, वेणा—ये सात पुत्रियां थीं।[2] मेधावी पिता की सन्तान भी बुद्धिमती होती है। शकटाल की सब सन्तानें प्रतिभासम्पन्न थीं। सातों पुत्रियों की तीव्रतम स्मरणशक्ति आश्चर्यजनक थी। प्रथम पुत्री एक बार में, दूसरी पुत्री दो बार में, क्रमशः सातवीं पुत्री सात बार में अश्रुत श्लोक को सुनकर कण्ठस्थ कर लेती और ज्यों का त्यों तत्काल उसका परावर्त्तन कर देती।[3]

शकटाल का कनिष्ठ पुत्र श्रीयक भक्तिनिष्ठ था एवं सम्राट् नन्द के लिए गोशीर्ष चन्दन की तरह आनन्ददायी था।

स्थूलभद्र शकटाल का अत्यन्त मेधासम्पन्न पुत्र था। उसे कामकला का

प्रशिक्षण देने के लिए मंत्री शकटाल ने गणिका कोशा के पास प्रेषित किया था।

उर्वशी के समान रूपश्री से सम्पन्ना कोशा मगध की अनिन्द्य सुन्दरी थी। पाटलिपुत्र की वह अनन्य शोभा थी। मगध का युवा वर्ग, राजा, राजकुमार तक उसकी कृपा पाने को लालायित रहते थे।[४] कामकला से सर्वथा अनभिज्ञ षोडश वर्षीय नवयुवक स्थूलभद्र कोशा के द्वार तक पहुंचकर वापस नहीं लौटा। उसका भावुक मन कोशा गणिका के अनूप रूप पर पूर्णत: मुग्ध हो गया।

मंत्री शकटाल को स्थूलभद्र के जीवन से प्रशिक्षण मिला। उसने अपने छोटे पुत्र श्रीयक को वहां भेजने की भूल नहीं की। राजतन्त्र का बोध देने हेतु उसे अपने साथ रखता एवं राज्य-संचालन का प्रशिक्षण देता था।

बुद्धिकुशल श्रीयक राजा नन्द का अंगरक्षक बना। पृथ्वी की तरह विश्राम-भाजन श्रीयक विनय आदि गुणों के कारण राजा को द्वितीय हृदय की तरह प्रतीत होने लगा।

मगध का विद्वान् कवीश्वर, वैयाकरण-शिरोमणि, द्विजोत्तम, वररुचि नन्द राज्य में अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने का प्रयास कर रहा था। वह प्रतिदिन राजा की प्रशंसा में स्वरचित १०८ श्लोक राजसभा में सुनाया करता था। महा-मात्य शकटाल के द्वारा मात्र एक बार प्रशंसा किए जाने पर वररुचि को प्रति श्लोक के बदले एक दीनार (स्वर्ण मुद्रा) प्राप्त होने लगी। अमात्य द्वारा की गई प्रशस्ति में प्रमुख हेतु शकटाल की पत्नी लक्ष्मी थी। जिसको प्रसन्न करने में वर-रुचि को विशेष प्रयत्न करना पड़ा था।

प्रतिदिन १०८ दीनारों (स्वर्ण मुद्राओं) का राजा नन्द के द्वारा प्रदीयमान यह तुष्टिदान महामात्य शकटाल के लिए चिन्तनीय विषय बन गया।

राजतंत्र का संचालन अर्थतंत्र से होता है। अत: राजनीतिक धुरा के सफल संवाहक मंत्री को अर्थ की सुरक्षा का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। कोष को उपेक्षित कर कोई भी राज्य सशक्त नहीं बन सकता। मेधावी मंत्री शकटाल अपने विषय में पूर्ण सावधान एवं सजग था :

> अत्थक्खयं पलोइय, भणियममच्चेण देव ! किमिमस्स।
> दिज्जइ वज्जरइ निवो, सलाहिओ जं तए एसो ॥१३॥
> (उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पृष्ठ २३५)

अर्थ-व्यय पर विचार-विमर्श करते हुए एक दिन महामात्य ने राजा से निवे-दन किया—"पृथ्वी-नायक ! वररुचि को १०८ दीनारों का यह दान प्रतिदिन किस उद्देश्य से दिया जा रहा है ?" राजा नन्द का उत्तर था—"महामात्य ! तुम्हारे द्वारा प्रशंसित होने पर ही वररुचि को यह दान दिया गया है। हमारी ओर से ही देना होता तो हम पहले ही इसे प्रारम्भ कर देते।"

शकटाल नम्र होकर बोला—"भूपते ! यह आपकी कृपा है, मुझे इतना सम्मान प्रदान किया पर मैंने श्लोकों की प्रशंसा की थी वररुचि के वैदुष्य की नहीं। वररुचि जिन श्लोकों को बोल रहा है वह उसकी अपनी रचना नहीं है।"

नन्द ने कहा—"मन्त्रीश्वर ! यह कैसे हो सकता है ?"

अपने कथन की भूमिका को सुदृढ़ करते हुए मंत्री बोला—"वररुचि द्वारा उच्चारित श्लोकों को मेरी सातों पुत्रियों द्वारा तत्काल सुन सकते हैं।"

महामात्य के एक ही वाक्य से वररुचि का महत्त्व राजा नन्द की दृष्टि में क्षीण हो गया ।

दूसरे दिन राजसभा के मध्य अपनी सातों पुत्रियों के प्रतिभा-बल से वररुचि के द्वारा राजा नन्द के सम्मुख निवेदित श्लोकों का परावर्तन कराकर उसके प्रभाव को प्रतिहत करने में मंत्री शकटाल सफल हो गया। वररुचि पर राजा कुपित हुआ और उसी दिन से उसे दीनारों का दान मिलना बन्द हो गया।

वररुचि की यह पराजय नन्द साम्राज्य के पतन का बीजारोपण था।

महामात्य शकटाल के प्रति वररुचि के हृदय में प्रतिशोध की भावना अंकुरित हुई। जनसमूह पर पुनः प्रभाव स्थापित करने के लिए मायापूर्वक वररुचि गंगा से अर्थराशि को प्राप्त करने लगा। प्रातःकाल कटिपर्यंत जल में स्थित विद्वान् वररुचि के द्वारा गंगा का स्तुति-पाठ होता और उसी समय बड़ी भीड़ के सामने गंगा की धारा से एक हाथ ऊपर उठता और १०८ स्वर्ण मुद्राओं की थैली वररुचि को प्रदान कर देता था। यह सारा प्रपंच वररुचि के द्वारा रात्रि के समय सुनियोजित होता था।

निशा के समय वह गंगाजल में यन्त्र को स्थापित कर वस्त्र से बन्धी हुई एक सौ आठ दीनारों की गांठ उसमें रख देता था। प्रातः कटि पर्यन्त जल में स्थित होकर जनसमूह के सामने गंगास्तुति-पाठ करता। स्तुतिपाठ की सम्पन्नता कर वररुचि पैर से यन्त्र को दबाता। दबाव के साथ ही यन्त्र से एक हाथ दीनारों की गांठ के साथ ऊपर उठता एवं पैर का दबाव शिथिल कर देने पर नीचे की ओर जाता हुआ हाथ अदृश्य हो जाता। वररुचि पर गंगा की यह कृपा जनता की दृष्टि में विस्मयकारक थी। नगर-भर में इस अपूर्व दान की चर्चा प्रारम्भ हुई और एक दिन यह चर्चा कर्णानुकर्ण परम्परा से राजा नंद के कानों तक पहुंची। मंत्रणा के समय राजा नंद ने शकटाल से कहा—"अमात्य ! वररुचि को भागीरथी प्रसन्न होकर एक सौ आठ दीनारों का दान कर रही है। घटना की यथार्थता से अवगत होने के लिए मैं भी इसे कल प्रातः देखने की इच्छा रखता हूं।"

सचिव ने झुककर वसुधानाथ के आदेश को समादृत किया। नगर में गंगा तट पर नंद के पदार्पण की घोषणा हो गयी।

अमात्य शकटाल रहस्यमयी घटना की पृष्ठभूमि को भी सम्यक् प्रकार से

जान लेना चाहता था। रात्रि के समय मंत्री का निर्देश प्राप्त कर चतुर गुप्तचर गंगा तट पर पहुंचा। पेड़-पौधों के झुरमुट में पक्षी की भांति अंगों को संकुचित कर बैठ गया। उसने वररुचि के क्रियाकलाप को देखा। निशा के नीरव वातावरण में निःशब्द गति से चलता वररुचि गंगातट पर आया और जल के अन्तराल में कोई वस्तु रखकर चला गया। वररुचि के लौट जाने के बाद गुप्तचर ने जल में घुसकर पूर्व वृत्तान्त की पूर्ण अवगति प्राप्त की तथा यन्त्र के मध्य में स्वल्प समय पहले ही वररुचि द्वारा स्थापित एक सौ आठ दीनारों को लेकर अमात्य शकटाल के पास पहुंचा। उसने वररुचि की रहस्यमयी घटना का सारा भेद उद्घाटित कर दिया।

दूसरे ही दिन प्रातः राजपरिवार परिवृत राजा नंद गंगातट पर उपस्थित हुए। सहस्रों नागरिक जन उस विस्मयकारक दृश्य को देखने के लिए पहले से ही उत्सुक थे। वररुचि ने अत्यन्त उल्लास के साथ गंगा जलान्तराल में स्थित होकर मंदाकिनी की स्तवना की। क्रमद्वय से यन्त्र को दबाया। गंगा की धारा से एक हाथ ऊपर उठा और नीचे गिर गया। उससे एक भी दीनार वररुचि को नहीं मिली। इस घटना से वह अत्यन्त लज्जित हुआ और चरणों से धरती का खनन करने लगा।

शकटाल अमात्य आगे आकर बोला—"ब्राह्मण पुत्र, यह रही तुम्हारी एक सौ आठ दीनारों की धनराशि जिसे तुम विभावरी के समय स्वयं ही यन्त्र के साथ गंगान्तराल में स्थापित कर गए थे। दुनिया की आंखों में कुछ समय के लिए धूल झोंकी जा सकती है, सदा के लिए नहीं।"

गंगादान का प्रच्छन्न भेद खुलते ही नागरिक जनों में विद्वान् वररुचि का घोर अपवाद प्रारम्भ हो गया। जितना उसने इस घटनाचक्र में यश संचय किया था उससे अधिक अपयश उसके मस्तक पर चढ़कर बोल रहा था। उसे लगा, जैसे अकीर्ति का नाग उसे डसने को आ रहा है।

शकटाल अमात्य के द्वारा वररुचि दूसरी बार पुनः बुरी तरह से पराजय को प्राप्त हुआ। इससे वररुचि के हृदय में प्रतिशोध की आग शतगुणित होकर भभकी। नन्हा-सा छिद्र भी पूरी नौका को डुबा सकता है। छोटा-सा शत्रु भी कभी-कभी महाविनाश का हेतु बन जाता है। विद्वान् वररुचि भी शकटाल के विनाश का मार्ग खोजने लगा।

मंत्री शकटाल पुत्र श्रीयक के विवाहोपलक्ष्य पर राजकीय सामग्री से राजा नन्द का विशेष सम्मान अपने प्रांगण में करना चाहता था। अतः छत्र-चामर आदि राजसम्मानार्ह अलंकारों का निर्माण प्रच्छन्न रूप से मंत्री शकटाल द्वारा कराया जा रहा था। शुभ भावना से किया गया मंत्री शकटाल का यह प्रयत्न वररुचि की भावना को साकार करने में प्रबल निमित्त बना। शकटाल की दासी के योग

से विद्वान् वररुचि को अमात्य के गृह पर सम्मानार्ह निर्मित सामग्री के भेद का पता लग गया।

उसने सोचा, अमात्य शकटाल के यश पर कालिख पोतकर बदला लेने का यह अच्छा अवसर उपस्थित हो गया है। बालकों को मोदक देकर वररुचि ने उन्हें उत्साहित किया—वे चतुष्पथों, त्रिपथों तथा चच्चर मार्गों पर निम्नोक्त श्लोक का उच्चघोष से बार-बार उच्चारण करें।

एदु लोउ न वियाणाइ जं शयडालु करे सइ।
नंदु राउ मारेविणु, सिरिओ रज्जि ठवेसइ ॥३२॥

(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पृ० २३६)

—शकटाल जो काम कर रहा है उसे लोक नहीं जानते। राजानन्द को मारकर शकटाल श्रीयक को राजपद पर स्थापित करेगा।

वररुचि द्वारा सिखाया गया यह श्लोक बालकों ने कण्ठस्थ कर लिया। अन्न-दान किसीके मुख को बन्द कर सकता है और खोल भी सकता है। बालक दल बनाकर चौराहों, राजपथों, सार्वजनिक स्थलों एवं गलियों में घूमते एवं वररुचि द्वारा सिखाए गए श्लोक को बोलते चलते थे। पुनः-पुनः उच्चारण किए जाने पर उस श्लोक के पद्य महिलाओं के मुख से भी गूंजने लगे। घर-घर में यह एक ही चर्चा प्रारम्भ हो गई।

कई बार परावर्तित मिथ्या बात भी कभी-कभी सत्य प्रतीत होने लगती है। यही इस घटनाचक्र में हुआ। बालकों एवं महिलाओं के मुख से उठती ध्वनियां राजा नन्द के कानों तक पहुंचीं। विचारों में मन्थन चला। मगधेश्वर ने सोचा, राजभक्तिनिष्ठ अमात्य शकटाल कभी ऐसा नहीं कर सकता…नहीं कर सकता और नहीं कर सकता।

क्षणान्तर के बाद राजानन्द के चिन्तन ने मोड़ लिया—हर व्यक्ति के अव्यक्त मन रूपी महासागर की तह में दुर्बलताओं के कई रूप दबे रहते हैं। अहं और माया की मरीचिका किसी भी क्षण में अपना रूप दिखाकर मानव-मृग को भ्रान्त बना सकती है। अमात्य हो या राजकुमार किसीका अत्यधिक विश्वास राजनीति की प्रथम भूल है।

विचारों के आवर्तन और परावर्तन के इस क्रमान्तराल में कई प्रकार के उतार-चढ़ाव आए। मगध देश की अन्तश्चेतना के दर्पण में अमात्य का विश्वास-घाती रूप एक बार भी प्रतिबिम्बित नहीं हुआ। बुद्धि उन्हें बार-बार प्रेरित कर रही थी—वह एक बार इस विषय की विश्वस्त जानकारी अवश्य प्राप्त करे। स्वच्छ अन्तश्चेतना और जटिल तर्क पाशबद्ध मेधा के संघर्ष में बुद्धि की विजय हुई। राजा नन्द के द्वारा निर्देश पाकर गुप्तचर अमात्य के घर पहुंचा एवं अपने लक्षित भेद की पूर्ण अवगति प्राप्त कर राजा नन्द के सामने आंखों देखा विवरण प्रस्तुत

किया।

महामात्य के लिए मौत की घंटी बजने लगी थी। जिस मन्त्री का मार्ग-दर्शन पाने नागरिक जन प्रतीक्षारत रहते थे, आज उसी मन्त्री का रूप हर आंख में संदेहास्पद बन गया था। शकटाल सच्चाई पर होते हुए भी उसके लिए वातावरण का उल्टा चक्र घूमना प्रारम्भ हुआ। वर्षों से संचित यश-सूर्य को कालिमा का राहु ग्रसने का प्रयास कर रहा था। मन्त्री के घर पर प्राप्त राजसम्मनार्ह सामग्री ने नन्द के हृदय को पूर्णतः बदल दिया। कवि की यह अनुभूतिपूर्ण वाणी सत्य प्रमाणित हुई :

राजा योगी अगन-जल इनकी उलटी रीत।
डरते रहियो परशराम—ए थोड़ी पाले प्रीत॥

बलिदान हो जाने वाले अमात्य के प्रति भी राजा का विश्वास डोल गया। चिन्तन के हर बिन्दु पर अमात्य का कुटिल रूप उभर-उभर राजा नन्द के सामने आ रहा था।

प्रातःकालीन क्रियाकलाप से निवृत्त होकर शकटाल राजसभा में पहुंचा। नमस्कार करते समय राजा की मुखमुद्रा को देखकर महामात्य चिन्ता के महासागर में डूब गया। वह जानता था राजा के प्रकोप की परिणति कितनी भयंकर होती है। समग्रता से अपने परिवार के भावी विनाश का भीषण रूप उसकी आंखों में तैरने लगा। अपकीर्ति से बचने के लिए और परिवार को विनाशलीला से बचा लेने के लिए अपने प्राणोत्सर्ग के अतिरिक्त कोई मार्ग अमात्य की कल्पनाओं में नहीं था। उसने अपने घर आकर श्रीयक से कहा—"पुत्र ! अपने परिवार के लिए किसी पिशुन के प्रयत्न ने संकट की घड़ी उपस्थित कर दी है। हम सबको मौत के घाट उतार देने का राजकीय आदेश किसी क्षण प्राप्त हो सकता है। परिवार की सुरक्षा और यश को निष्कलंक रखने के लिए मेरे जीवन का बलिदान आवश्यक है। यह कार्य पुत्र, तुम्हें करना होगा। अतः मैं जिस समय राजा के चरणों में नमस्कार हेतु झुकूं उस समय निश्शंक होकर अंगज ! तीव्र असिधारा से मेरा प्राणान्त कर देना। इस समय प्राणों का व्यामोह अदूरदर्शिता का परिणाम होगा।"

पिता की बात सुनकर श्रीयक स्तब्ध रह गया। दो क्षण रुककर बोला—"तात ! पितृ-हत्या का यह जघन्य कार्य मेरे द्वारा कैसे सम्भव हो सकता है ?"

सयडालेणं भणियं, तालउडे भक्खियंमि मयि पुव्वं।
निवपायपडणकाले, मरिज्जसु तं गया संको॥३८॥

(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पृ० २३६)

पुत्र की दुर्बलता का समाधान करते हुए शकटाल ने कहा—"वत्स ! मैं नमन करते समय मुख में तालपुट विष स्थापित कर लूंगा अतः तुम पितृहत्या दोष के

भागीदार नहीं बनोगे !"

राजभय से आतंकित पिता के सामने श्रीयक को यह कठोर आदेश अन्य-मनस्क भाव से भी स्वीकार करना पड़ा।

पिता-पुत्र दोनों राजसभा में उपस्थित हुए। राजनीति-कुशल शकटाल नत-मस्तक मुद्रा में राजा नन्द को प्रणाम करने झुका। बुद्धिमान श्रीयक ने पिता के नमन करने योग्य शीर्ष को शस्त्र-प्रहार द्वारा धड़ से अलग कर दिया।

इस घटना ने एक ही क्षण में राजा नन्द के विचारों में उथल-पुथल मचा दी। श्रीयक की ओर रक्ताभ नयनों से झांकते हुए राजा नन्द ने कहा—"वत्स ! यह क्या किया ?" श्रीयक निर्भीक स्वरों में बोला :

जो तुम्हं पडिकूलो, तेणं पिउणा वि नत्थि मे कज्जं ।।४३।।

(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पृष्ठ २३६)

—राजन् ! आपकी दृष्टि में जो राजद्रोही सिद्ध हो जाता है वह भले पिता ही क्यों न हो नन्द का अमात्य परिवार उसे सहन नहीं कर सकता।

श्रीयक की राज परिवार के प्रति यह आस्था देखकर राजा नन्द के सामने महामात्य शकटाल की अटूट राजभक्ति का चित्र उभर आया। राज्य की सुरक्षा में की गई उसकी सेवाएं मस्तिष्क में सजीव होकर तैरने लगीं। अतीत को वर्तमान में परिवर्तित नहीं किया जा सकता। सुदक्ष अमात्य को खो दिया इससे राजा का मन भारी था। अमात्य ने प्राणों का उत्सर्ग कर अपने यश को शिखर पर चढ़ा दिया। महामात्य शकटाल का राजसम्मान के साथ दाहसंस्कार हुआ।

महामंत्री शकटाल की और्ध्व दैहिक क्रिया सम्पन्न करने के बाद नरेश्वर नन्द ने श्रीयक से कहा— 'वत्स ! सर्व व्यापार सहित मंत्री मुद्रा को ग्रहण करो।"

श्रीयक नम्र होकर बोला— "मगधेश ! मेरे पितृ तुल्य ज्येष्ठ भ्राता स्थूल-भद्र कोशा गणिका के यहां निर्विघ्न निवास कर रहे हैं। भोगों को भोगते हुए उन्हें वहां बारह वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।[५] वे वास्तव में ही इस पद के योग्य हैं।"

राजा नन्द का निमन्त्रण स्थूलभद्र के पास पहुंचा। राजाज्ञा प्राप्त स्थूलभद्र ने बारह वर्ष बाद पहली बार कोशा के प्रासाद से बाहर पैर रखा। वे मस्त चाल से चलते हुए राजानन्द के सामने उपस्थित हुए। उनका तेजोद्दीप्त भाल सूर्य के प्रकाश को भी प्रतिहत कर रहा था। उनकी मनोरम मुद्रा सबकी दृष्टि को अपनी ओर खींच रही थी। राजा नन्द के द्वारा महामात्य पद को अलंकृत करने का उन्हें निर्देश मिला। गौरवपूर्ण यह पद कांटों का मुकुट होता है। विवेकसंपन्न स्थूलभद्र ने साम्राज्य के व्यामोह में विमूढ़ होकर बिना सोचे-समझे इस पद के दायित्व को स्वीकृत कर लेने की, भूल नहीं की। वे राजा द्वारा प्राप्त निर्देश पर विचार-विमर्श करने के लिए अशोक वाटिका में चले गए। वृक्ष के नीचे बैठकर चिन्तन के महासागर में गहरी डुबकियां लेने लगे, सोचा—'उच्च से उच्च पद

पर प्रतिष्ठित एवं राज्य का स्वयं संचालन करता हुआ भी राजपुरुष राजा के द्वारा अनुशासित होता है। परानुशासित व्यक्ति को सुखानुभूति कहां है? सर्वतो भावेन राज्य में समर्पित होने पर भी छिद्रान्वेषी पिशुन लोग उसके मार्ग में उपद्रव प्रस्तुत करने को तत्पर रहते हैं।"[१]

आचार्य स्थूलभद्र की आंखों के सामने अतीत का चित्र घूमने लगा। श्रीयक के विवाहोत्सव-प्रसंग में राजा नन्द के सम्मान हेतु निर्मित राजमुकुट, छत्र, चामर, विविध शस्त्र आदि की सूचना पाकर दम्भी वररुचि के द्वारा रचा गया षड्यन्त्र नन्द के हृदय में महामन्त्री शकटाल पर राज्य को छीन लेने का संदेह, राजा के भ्रूविक्षेप में झांकता समग्र मंत्री परिवार को भी लील लेने वाला विनाशकारी रूप, लघु भ्राता श्रीयक द्वारा राजा नन्द के सामने उनके विश्वासी मंत्री की हत्या आदि विविध प्रसंगों की स्मृति मात्र से स्थूलभद्र कांप गए। वे परम विरक्ति को प्राप्त हुए। और संयम-पथ अंगीकार करने का निर्णय लेकर लुंचित मस्तक साधु-मुद्रा में स्थूलभद्र राजा नन्द की सभा में पहुंचे। स्थूलभद्र के विचारों को समझकर जनता अवाक् रह गयी। श्रीयक ने भी निर्णय को बदल लेने के लिए उनसे अनुरोध किया पर स्थूलभद्र अपने संकल्प में दृढ़ थे। वे धीर-गम्भीर मुद्रा में बन्धु परिजनों के मोह से विमुख बन अज्ञात दिशा की ओर बढ़ चले। कहीं हमें धोखा देकर गणिका कोशा के भवन में पुनः नहीं पहुंच रहा है, यह सोच मगध नरेश प्रासाद-गवाक्ष से आर्य स्थूलभद्र के बढ़ते चरणों पर दृष्टि टिकाए रहे। वृक्षों की कतारों के बीच से निर्जन वन की ओर आर्य स्थूलभद्र के गमन को देखकर उन्हें अपने अन्यथा चिन्तन के प्रति अनुताप हुआ। नागरिक जनों को कई दिनों तक स्थूलभद्र की स्मृति सताती रही।

अमात्य पद का दायित्व श्रीयक के कन्धों पर आया। मगध नरेश जो सम्मान महान् अनुभवी, राजनीतिकुशल, अनन्त विश्वासपात्र, राजभक्त, प्रजावत्सल अमात्य शकटाल को प्रदान करता था वही सम्मान श्रीयक को देने लगा।

महामात्य पद के लिए श्रीयक जैसे समर्थ व्यक्ति की उपलब्धि से राज्य में पुनः चार चांद लग गए थे पर महामात्य शकटाल के अभाव में राजा नन्द के हृदय में महान् दुःख था। शोकसंतप्त मुद्रा में एक दिन मगध नरेश ने श्रीयक के सामने सभा में मंत्री के गुणों का स्मरण करते हुए कहा :

> भक्तिमाञ्शक्तिमान्नित्यं शकटालो महामतिः
> अभवन्मे महामात्यः शक्रस्येव बृहस्पतिः ॥६८॥
> एवमेव विपन्नोऽसौ दैवादद्य करोमि किम्।
> मन्ये शून्यमिवास्थानमहं तेन विनात्मनः ॥६९॥
>
> (परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८)

—भक्तिमान, शक्तिमान,महामति,महामात्य शकटाल शक्र के सामने बृहस्पति

की भांति प्रतीत होता था। दैवयोग से वह चला गया, क्या करूं ? उसके बिना मुझे अपने में भारी रिक्तता का अनुभव हो रहा है।

राजा नन्द के इन शब्दों ने एक बार सभी सभासदों को मोह-विह्वल कर दिया था।

गुणसम्पन्न, नररत्न स्थूलभद्र की विरह-व्यथा से आर्त कोशा भी उदास रहने लगी। वह कभी-कभी फूट-फूटकर रोती एवं क्रन्दन करती थी।

अमात्य श्रीयक राजकार्य में व्यस्त होते हुए भी गणिका कोशा के पास धैर्य प्रदान करने के लिए जाया करता था। गणिका मंत्री श्रीयक से सात्त्विक बोध प्राप्त कर आश्वस्त हुई।

वररुचि की कपटपूर्ण नीति सबके सामने स्पष्ट बोल रही थी। शकटाल की मृत्यु के बाद वररुचि स्वच्छन्द विहारी होकर पुनः अपनी प्रतिष्ठा प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगा था। उपकोशा के भवन में उसका निर्विघ्न आवागमन प्रारम्भ हो गया था। बुरे कार्य की परिणति अन्ततः अकल्याणकर ही होती है। सुरापान के कारण वररुचि का दुःखद प्राणान्त हुआ।

अनुभवी मंत्री की भांति राज्यकार्य में व्यस्त अमात्य अपने कार्यकौशल से साक्षात् शकटाल की भांति प्रतीत होने लगा था।

संसार-विरक्त अमात्य-पुत्र स्थूलभद्र के गतिशील चरण बढ़ते गए। आचार्य सम्भूतविजय के पास पहुंचकर उन्होंने वी०नि०१४६ (वि०पू०३२४) को दीक्षा ग्रहण की। उस समय उनकी आयु तीस वर्ष की थी। आचार्य संभूतविजय की श्रमण मण्डली में स्थूलभद्र विनयवान्, गुणवान्, बुद्धिमान् श्रमण थे। उन्होंने संभूतविजय से आगम साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया और मुनिचर्या का विशेष प्रशिक्षण पाया। धैर्य-स्थैर्य, क्षमा, शान्ति, समतादि गुणों का विकास कर आचार्य संभूतविजय के अनन्त विश्वासपात्र वे बने।

एक दिन विनयवान्-गुणवान् मुनि स्थूलभद्र ने पूर्व परिचिता कोशा गणिका के भवन में पावस बिताने की इच्छा गुरु के समक्ष प्रकट की। आचार्य संभूत-विजय ने 'तथास्तु' कहकर स्वीकृति दी। मुनि अपने संकल्पित लक्ष्य की ओर चल पड़े। स्थूलभद्र कोशा की उसी चित्रशाला में पहुंचे, जहां वे पहले बारह वर्ष रह चुके थे।

स्थूलभद्र के आगमन से कोशा पुलक उठी। चित्रशाला का बुझा दीप जल गया। वीणातन्त्री पर कामोत्तेजक स्वर-लहरियां थिरकने लगीं। कोयल ने पंचम स्वर में गाया। उपवन महका। पक्षी चहके। नर्तिकाएं घुंघरू बांधकर नाचीं। उस मधुर ध्वनि के साथ सारी चित्रशाला गूंज उठी।

कोशा षट्रसयुक्त भोजन थाल में सजाकर लायी। स्थूलभद्र के सामने रखा पर स्थूलभद्र चित्रशाला में पद्मासन लगाकर ध्यान की स्थिति में बैठे अध्यात्म-

चिन्तन में लीन थे। कोशा ने स्थूलभद्र की ओर झांका। उनकी शान्त-सौम्य मुद्रा को देखते ही कोशा के वासना का ज्वर उतर गया। दैहिक आकर्षण मिट गया। मानसिक द्वन्द्व क्षीण हो गया।

स्थूलभद्र ने नयन खोले। उपदेश दिया। कोशा सुदृढ़ श्राविका बन गयी। पावस बीता। स्थूलभद्र कसौटी पर खरे उतरे। नवनीत आग पर चढ़कर भी नहीं पिघला। काजल की कोठरी में जाकर भी वे बेदाग रहे। वे आचार्य संभूतविजय के पास लौट आए।

आचार्य सात-आठ पैर स्थूलभद्र के सामने चलकर आये। 'दुष्कर-महादुष्कर क्रिया के साधक' का सम्बोधन देकर कामविजेता स्थूलभद्र का सम्मान किया।[*]

आचार्य सम्भूतविजय के बाद उस युग का महत्त्वपूर्ण कार्य आगम-वाचना का था। द्वादश-वर्षीय दुष्काल के कारण श्रुत की धारा छिन्न-भिन्न हो रही थी। उसे संकलित करने के लिए पाटलिपुत्र में महाश्रमण-सम्मेलन हुआ। इस आयोजन के व्यवस्थापक स्थूलभद्र स्वयं थे। ग्यारह अंगों का सम्यक् संकलन हुआ। दृष्टि-वाद की अनुपलब्धि ने सबको चिंतित कर दिया। आचार्य स्थूलभद्र में असाधारण क्षमता थी। ज्ञानसागर की इस महान् क्षतिपूर्ति के लिए संघ के निर्णयानुसार वे नेपाल में भद्रबाहु के पास विद्यार्थी बनकर रहे एवं उनसे समग्र चतुर्दश पूर्व की ज्ञानराशि को अत्यन्त धैर्य के साथ ग्रहण कर उन्होंने श्रुत सागर से टूटती दृष्टिवाद की सुविशाल धारा को संरक्षण दिया। अर्थ-वाचना दस पूर्व तक ही वे उनसे ले पाए थे। अन्तिम चार पूर्व की उन्हें पाठ-वाचना मिली। वीर निर्वाण के १६० वर्ष के आसपास सम्पन्न यह सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण वाचना थी।

भद्रबाहु के बाद वी०नि० १७० (वि०पू० ३००) में स्थूलभद्र ने आचार्य पद का नेतृत्व सम्भाला था। उनसे विविध रूपों में जैन शासन की प्रभावना हुई थी।

महाकरुणा के स्रोत, पतितोद्धारक, परोपकार-परायण आर्य स्थूलभद्र का पदार्पण एक बार श्रावस्ती नगरी में हुआ। इसी नगरी में उनका बालसखा घनिष्ठ मित्र धनदेव श्रेष्ठी सपरिवार निवास करता था। जन-जन हितैषी आर्य स्थूलभद्र का प्रवचन सुनने विशाल संख्या में मानव समुदाय उपस्थित था। इस भीड़ में बचपन के साथी श्रेष्ठी धनदेव की सौम्य आकृति कहीं दृष्टिगोचर नहीं हो रही थी। उसकी अन्यत्र गमन की अथवा रुग्ण हो जाने की परिकल्पना आर्य स्थूलभद्र के मस्तिष्क में उभरी, उन्होंने सोचा—संकट की स्थिति में श्रेष्ठी धन-देव अवश्य अनुग्रहणीय है। अध्यात्म उद्बोध देने के निमित्त से प्रेरित होकर प्रवचनोपरांत आर्य स्थूलभद्र विशाल जनसंघ के साथ श्रेष्ठी धनदेव के घर पहुंचे। महान आचार्य के पदार्पण से धनदेव की पत्नी परम प्रसन्न हुई। उसने भूतल पर मस्तक टिकाकर वंदन किया। महती कृपा कर अध्यात्मानुकंपी आर्य स्थूलभद्र मित्र के घर पर बैठे एवं मित्र की पत्नी से धनदेव के विषय में पूछा।

खिन्नमना होकर वह बोली—"आर्य ! दुर्भाग्य से घर की संपत्ति नष्टप्राय हो गयी है। अर्थहीन व्यक्ति संसार में तृण के समान लघु एवं मूल्यहीन होता है। शरीर नहीं पूजा जाता अर्थ पूजा जाता है।[१] 'विदेशो व्यवसायिनाम्' व्यवसाय के लिए विदेश ही आश्रय है। अर्थाभाव में अत्यन्त दयनीय स्थिति को प्राप्त पति-देव धनोपार्जन हेतु देशान्तर गए हैं।"

श्रेष्ठी धनदेव के आंगन में स्तम्भ के नीचे विपुलनिधि निहित थी। धनदेव सर्वथा इससे अनजान था। आर्य स्थूलभद्र ने ज्ञानबल से इसे जाना एवं मित्र की पत्नी से बात करते समय उनकी दृष्टि उसी स्तम्भ पर केन्द्रित हो गयी थी। हाथ के संकेत भी स्तम्भ की ओर थे। आर्य स्थूलभद्र ने कहा—"बहिन, संसार का स्वरूप विचित्र है। एक दिन धनदेव महान व्यापारी था। आज स्थिति सर्वथा बदल चुकी है। पर चिन्ता मत करना। भौतिक सुख-दुःख चिरस्थायी नहीं होते।" आर्य स्थूलभद्र के उपदेश-निर्झर के शीतल कणों से मित्रपत्नी के आधि-व्याधि-ताप-तप्त अधीर मानस को अनुपम शान्ति प्राप्त हुई।

कुछ दिनों के बाद श्रेष्ठी धनदेव पूर्व जैसी ही दयनीय स्थिति में घर आया। उसकी पत्नी ने आर्य स्थूलभद्र के पदार्पण से लेकर सारी घटना कह सुनाई। उसने यह भी बताया कि उपदेश देते समय आर्य स्थूलभद्र स्तम्भ के अभिमुख बैठे थे। उनका हस्ताभिनय भी इस स्तम्भ की ओर था।

बुद्धिमान श्रेष्ठी धनदेव ने सोचा—महान् पुरुषों की हर प्रवृत्ति रहस्यमयी होती है। उसने स्तम्भ के नीचे से धरा को खोदा। विपुल सम्पत्ति की प्राप्ति उसे हुई। आर्य स्थूलभद्र इस समय तक पाटलिपुत्र पधार चुके थे। उनके अमित उप-कार से उपकृत धनदेव श्रेष्ठी दर्शनार्थ वहां पहुंचा और पावन, पवित्र, अमृतोपम, महान् कल्याणकारी, शिवपथगामी उपदेश सुनकर व्रतधारी श्रावक बना। मित्र को अध्यात्म पथ का पथिक बनाकर आर्य स्थूलभद्र ने जगत् के सामने अनुपम मैत्री का आदर्श उपस्थित किया।

आर्य स्थूलभद्र के जीवन से अनेक प्रेरक घटना-प्रसंग जुड़े हैं। एक बार मगधाधिपति नन्द ने रथ-संचालन के कला-कौशल से प्रसन्न होकर सारथि को अनिंद्य सुन्दरी, कला की स्वामिनी, विविध गुणसम्पन्ना मगध गणिका कोशा को उपहार के रूप में घोषित कर दी थी।

कोशा चतुर महिला थी। वह आर्य स्थूलभद्र से श्राविका व्रत ग्रहण कर चुकी थी। अपने प्रण पर दृढ़ थी। उसकी वाक्पटुता एवं व्यवहार-कौशल ने संयम में अस्थिर कामाभिभूत सिंह-गुफावासी मुनि को भी पुनः संयम में स्थिर कर दिया था। अपने व्रत में सुस्थिर रहकर उत्तीर्ण होने का यह दूसरा अवसर कोशा के सामने प्रस्तुत हुआ था। कोशा ने राजाज्ञा का चातुर्य से पालन किया। वह रथिक के सामने सीधी-सादी वेश-भूषा में उपस्थित हुई। उसकी आंखों में न कोई

वासना का ज्वार था न शरीर पर साज-सज्जा एवं श्रृंगार। वह बार-बार आर्य स्थूलभद्र का नाम लेकर कह रही थी—"स्थूलभद्रं विना नान्यः पुमान् कोपीत्यहर्निशम्।" आज दुनिया में आर्य स्थूलभद्र जैसा उत्तम पुरुष कोई नहीं है।

विराग भाव में उपस्थित मगध गणिका को प्रसन्न करने के लिए रथिक ने बाण-कौशल से सुदूरवर्ती आम्रफलों के गुच्छ को तोड़कर उसे उपहृत किया। सारथि के इस बाण-कौशल में कोशा को कुछ भी आश्चर्य जैसा नहीं लगा। वह एक अत्यन्त प्रवीण नारी थी। नृत्यकला में उसका चातुर्य अनुपम था। उसने सरसों के ढेर पर सूई की नोक से अनुस्यूत गुलाब की पंखुड़ियों को फैलाकर उसपर नृत्य किया। अपनी लचीली देह को कोशा ने इस तरह साध लिया था कि उसके पादाक्रान्त के भार से सर्षप राशि का एक भी दाना इधर से उधर नहीं हुआ और न सूई की नोक की झपट ही उसके चरणों को घायल कर सकी। रथिक प्रसन्न होकर बोला—"सुभगे! तुम्हारे इस नृत्य-कौशल पर प्रसन्न होकर मैं तुम्हें कुछ उपहार देना चाहता हूं।" गणिका ने कहा—"रथिक! मेरी दृष्टि में तुम्हारा यह आम्रफल के गुच्छों का उच्छेदन दुष्कर नहीं है और न मेरा यह नृत्य-कौशल ही, पर स्थूलभद्र जैसा ब्रह्मचर्य का उदाहरण प्रस्तुत करना महादुष्कर है। मेरी कामोद्दीपक चित्रशाला में आर्य स्थूलभद्र ने पूरा पावस बिताया। षट्रस-पूर्ण भोजन किया पर कज्जल की कोठरी में रहकर भी आर्य स्थूलभद्र की सफेद चद्दर पर एक भी दाग न लगा। आग पर चढ़कर भी मक्खन न पिघला, ऐसे महापुरुष समग्र विश्व के द्वारा वंदनीय होते हैं।"

रथिक आर्य स्थूलभद्र की महिमा गणिका के द्वारा सुनकर परम प्रसन्नता को प्राप्त हुआ। हृदय में सात्त्विक भावों का उदय हुआ, विरक्ति की धारा बही एवं पाटलिपुत्र में आर्य स्थूलभद्र के पास पहुंचकर रथिक ने दीक्षा ग्रहण कर ली।

स्थूलभद्र के जीवन से पावन प्रेरणा पाकर न जाने कितने व्यक्ति अध्यात्म-मार्ग के पथिक बने थे।

नन्द राज्य के यशस्वी महामात्य शकटाल की नौ सन्तानें जैन शासन में दीक्षित हुई थीं—सात पुत्रियां एवं दो पुत्र। इनमें आर्य स्थूलभद्र ही सबसे ज्येष्ठ थे। शकटाल परिवार में सर्वप्रथम दीक्षा संस्कार भी उनका ही हुआ था। आचार्य पद के महिमामय दायित्व को भी आर्य स्थूलभद्र ने अत्यन्त दक्षता के साथ वहन किया। श्रमण संघ में आर्य महागिरि एवं सुहस्ती जैसे प्रभावी आचार्य उनके प्रमुख शिष्य थे।[10]

आर्य स्थूलभद्र बहुत दीर्घजीवी आचार्य थे। मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त का अभ्युदय, मौर्य साम्राज्य की स्थापना उनके शासनकाल में हुई। महामेधावी चाणक्य को 'आचार्य स्थूलभद्र के चरणों की उपासना का अवसर मिला। नन्द-साम्राज्य के पतन की दर्दनाक घटना भी इसी युग का मर्मान्तिक इतिहास है। तीसरे

अव्यक्तवादी निह्नव का समय भी यही है। स्थूलभद्र के जीवन का लगभग एक शतक आरोह और अवरोह से भरा ऐतिहासिक दृष्टि से शानदार पृष्ठ है। वैभारगिरि पर्वत पर पन्द्रह दिन के अनशन के साथ वी० नि० २१५ (वि० पू० २५५) में उनका स्वर्गवास हुआ।

आधार-स्थल

१. पाडलिपुत्तपुरम्मि रन्नो, नंदस्स विस्सुयजसस्स।
निवरज्जकज्जसज्जो, सयडालो आसि मंतिवरो ॥१॥

(उपदेशमाला, पत्रांक २३४)

२. पुत्तो य थूलभद्दो, पढ़मो से बीयओ तहा सिरियो।
रुववईओ धूयाओ, सत्त जक्खा पमुक्खाओ ॥२॥
जक्खा य जक्खदिन्ना, भूया तह भूयदिन्निया नाम।
सेणा वेणा रेणा, ताओ एयाओ अणुकमसो ॥३॥

(उपदेशमाला, पत्र २३४)

३. इगदुगतिगाइ परिवाडिपायडंताणमावडइ कमसो।
सक्कय सिलोगगाहा, सयाइ मेहापहाणाण ॥४॥

(उपदेशमाला पत्र, २३४)

४. पुरेऽभूत्तत्र कोशेति वेश्या रूपश्रियोर्वशी।
वशीकृतजगच्चेताश्चेतो भूजीवनौषधिः ॥८॥

(परि० पर्व, सर्ग ८)

५. तेणं भणियं भाया, जेट्ठो में थूलभद्दनामोत्ति।
बारसमं से वरिसं, वेसाए गिहे वसंतस्स ॥४॥

(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पत्रांक २३६)

६. त्यक्त्वा सर्वमपि स्वार्थं राजार्थं कुर्वतामपि।
उपद्रवन्ति पिशुना उद्धानामिव द्विकाः ॥७४॥

(परि० पर्व, सर्ग ८)

७. स्थूलभद्रमथायान्तमभ्युत्थायाब्रवीद् गुरुः।
दुष्करदुष्करकारिन्महात्मन् स्वागतं तव ॥१३६॥

(परि० पर्व, सर्ग ९)

८. अह बारसवारिसिओ, जाओ कूरो कयाइ दुक्कालो।
सव्वो साहुसमूहो, तओ गओ कत्थई कोई ॥२२॥
तदुवरमे सो पुण रवि, पाडिले पुत्ते समागओ विहिया।
संघेणं सुयविसया चिंता किं कस्स अत्थित्ति ॥२३॥

जं जस्स आसि पासे उद्देसज्झयणगाइ तं सव्वं ।
संघडियं एक्कारसंगाइं तहेव ठवियाइं ।।२४।।

(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पत्रांक २४१)

९. सोऽर्थहीनः पुरेऽत्राभूल्लघुरेव तृणादपि ।
अर्थाः सर्वत्र पूज्यन्ते न शरीराणि देहिनाम् ।।१७।।

(परि० पर्व, सर्ग १०)

१०. थूलभद्दस्स जुगप्पहाणा दो सीसा—अज्ज महागिरि य अज्ज सुहत्थी य ।।

(सभाष्य निशीथचूर्णि, पत्रांक ३६१)

६. सद्गुण-रत्न-महोदधि आचार्य आर्य महागिरि

आर्य महागिरि मेधावी आचार्य थे। वे जिनकल्प तुल्य साधना करने वाले विशिष्ट साधक थे। उनका जन्म एलापत्य गोत्र में वी० नि० १४५ (वि० पू० ३२५) में हुआ। तीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने भागवती दीक्षा ग्रहण की। उनके गृहस्थ जीवन-सम्बन्धी सामग्री नहीं के बराबर उपलब्ध है।

आर्य महागिरि एवं उनके उत्तराधिकारी आर्य सुहस्ती, दोनों का लालन-पालन आर्या यक्षा द्वारा होने के कारण उनके नाम के साथ आर्य विशेषण जुड़ा।[1] लोकश्रुति के अनुसार आर्य शब्द की परम्परा यहीं से प्रारम्भ हुई थी। दीक्षा-जीवन स्वीकार कर लेने के बाद अतुल मेधा के धनी आर्य महागिरि ने महामनीषी आचार्य स्थूलभद्र के उपपात में दशपूर्वों का ज्ञान अर्जन किया एवं अनेक योग्यताओं को संजोया।

आर्य महागिरि एवं सुहस्ती आचार्य स्थूलभद्र से दीक्षित शिष्य थे। जीवन के सन्ध्या काल में आचार्य स्थूलभद्र ने अपने स्थान पर शान्त, दान्त, लब्धिसम्पन्न, आगमविज्ञ, आयुष्मान्, भक्तिपरायण आर्य महागिरि एवं सुहस्ती इन दोनों शिष्यों की नियुक्ति की।[2] इसका कारण उभय शिष्यों का प्रभावशाली व्यक्तित्व ही हो सकता है।

उस समय एकतन्त्रीय शासन की परम्परा सबल थी। उभय शिष्यों की नियुक्ति एकसाथ होने पर भी कार्यभार संचालन की दृष्टि से एक-दूसरे का हस्तक्षेप नहीं था। दीक्षा क्रम में ज्येष्ठ शिष्य ही आचार्य पद के दायित्व को निभाते थे। आचार्य यशोभद्र एवं स्थूलभद्र के द्वारा आचार्य पद के लिए दो-दो शिष्यों की नियुक्ति एकसाथ होने पर भी यशस्वी आचार्य यशोभद्र के बाद उनके दायित्व को दीक्षा क्रम में ज्येष्ठ होने के कारण आचार्य संभूतविजय ने एवं आचार्य स्थूलभद्र के बाद उनका दायित्व आचार्य महागिरि ने संभाला था।

श्रुत सागर आचार्य भद्रबाहु अपने ज्येष्ठ गुरुभ्राता आचार्य संभूतविजय के अनुशासन को एवं आर्य सुहस्ती आर्य महागिरि के अनुशासन को सुविनीत शिष्य की भांति पालन करते रहे थे।

निशीथ चूर्णिकार के अभिमत से आचार्य स्थूलभद्र के बाद आचार्य पद का

गरिमामय दायित्व आचार्य सुहस्ती के कन्धों पर आया था, पर प्रीतिवश आर्य महागिरि एवं आर्य सुहस्ती दोनों एकसाथ विहरण करते थे।[३]

आर्य महागिरि महान् योग्य आचार्य थे। उन्होंने अनेक मुनियों को आगम-वाचना प्रदान की।[४] आचार्य सुहस्ती जैसे महान् प्रभावक आचार्य भी उनके विद्यार्थी शिष्य समूह में एक थे।

उग्र तपस्वी आर्य महागिरि के महान् उपकार के प्रति आर्य सुहस्ती आजीवन कृतज्ञ रहे एवं उनको गुरु तुल्य सम्मान प्रदान किया था।

गुरुगच्छ धुरा धारण धौरेय, धीर,गम्भीर आर्य महागिरि ने एक दिन सोचा, गुरुतर आत्म विशुद्धि कारक जिनकल्प तप वर्तमान में उच्छिन्न है, पर तत्सम तप भी पूर्व संचित कर्मों का विनाश कर सकता है।[५] मेरे स्थिरमति अनेक शिष्य सूत्रार्थ के ज्ञाता हो चुके हैं। मैं अपने इस दायित्व से कृतकृत्य हूं। गच्छ की प्रतिपालना करने में सुहस्ती सुदक्ष है। गण-चिन्ता से मुझे मुक्त करने में वह समर्थ है।[६] अतः इस गुरुतर दायित्व से निवृत्त एवं गण से सम्बन्धित रहते हुए आत्महितार्थ विशिष्ट तप में स्व को नियोजित कर मैं महान् फल का भागी बनूं यह मेरे लिए कल्याणकारक मार्ग है।

महा संकल्पी अन्तर्मुखी आचार्य महागिरि की चिन्तनधारा दृढ़ निश्चय में बदली। संघ-संचालन का भार आर्य सुहस्ती को संभलाकर वे जिनकल्प तुल्य साधना में प्रवृत्त हुए। भयावह उपसर्गों में निष्प्रकम्प, नगर, ग्राम, आराम आदि के प्रतिबन्ध से मुक्त बने एवं श्मशान भूमिकाओं में गण निश्रित विहरण करने लगे![७]

भिक्षाचरी में आर्य महागिरि विशेष अभिग्रही थे। वे प्रक्षेप योग्य भोजन ही ग्रहण करते थे।

पाटलिपुत्र की घटना है—आर्य महागिरि वसुभूति श्रेष्ठी के घर आहारार्थ गए। वहां आर्य सुहस्ती पहले से ही विद्यमान थे। श्रेष्ठी वसुभूति की विशेष प्रार्थना से वे उनके परिवार को जैन धर्म का बोध देने आए थे। सपरिवार वसु-भूति आचार्य सुहस्ती के पावन चरणों में बैठकर प्रवचन सुन रहा था। आर्य महागिरि के आगमन पर आर्य सुहस्ती ने उठकर वंदन किया। आर्य महागिरि के प्रति आर्य सुहस्ती का यह सम्मान-भाव देखकर श्रेष्ठी वसुभूति के हृदय में आश्चर्य मिश्रित जिज्ञासा जगी। आचार्य महागिरि के लौट जाने के बाद श्रमणो-पासक श्रेष्ठी वसुभूति ने आर्य सुहस्ती से पूछा—"भगवन्! आप श्रुतसम्पन्न महाप्रभावी आचार्य हैं। आपके भी कोई गुरु हैं?"[८] निगर्वी भाव से सुहस्ती ने उत्तर दिया—'ममैते गुरुवः" ये मेरे गुरु हैं। महान् साधक, विशिष्ट तपस्वी एवं दृढ़ अभिग्रही हैं। अन्त, प्रान्त, नीरस, प्रक्षेप योग्य भिक्षा को ग्रहण करते हैं। प्रतिज्ञानुसार भोजन न मिलने पर तपकर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं।"

आर्य सुहस्ती से महातपस्वी आर्य महागिरि का परिचय पाकर श्रेष्ठी वसुभूति अत्यन्त प्रभावित हुआ। आर्य सुहस्ती श्रेष्ठी परिवार को उद्बोधन देकर स्वस्थान पर लौट आए।

आर्य महागिरि को लक्षित कर अपने पारिवारिक जनों को निर्देश देते हुए श्रेष्ठी वसुभूति ने कहा—"अपने घर पर जब कभी ऐसा महा-अभिग्रही साधक, तपस्वी मुनि का पदार्पण हो, उन्हें भोजन को प्रक्षेप योग्य कहकर प्रदान करें। ऊर्वर धरा में समय पर उप्त स्वल्प बीजों की परिणति बहुत विस्तारक होती है। इसी भांति संयति दान महान फलदायक है।' इससे यश का संचय होता है एवं कल्मष भी दूर हो जाता है।

आर्य महागिरि दूसरे दिन भिक्षाचरी करते हुए संयोगवश श्रेष्ठी वसुभूति के घर पहुंचे। दान देने में उद्यत उन लोगों ने मोदक संभृत हाथों को पुरस्सर कर भक्ति भावित हृदय से प्रार्थना की—"मुने ! ये मोदक हमारे द्वारा परित्यक्त भोजन है। हम प्रतिदिन क्षीर के साथ इनको खाते हैं। अत्यधिक सरस घृत-शक्कर परिपूरित भोजन ग्रहण कर लेने के बाद आज इन मोदकों से हमें कोई प्रयोजन नहीं है।"[१०]

आर्य महागिरि अपनी प्रवृत्ति में पूर्ण सजग थे एवं अभिग्रह के प्रति सुदृढ़ थे। श्रेष्ठी वसुभूति के पारिवारिक सदस्यों की मर्यादातिक्रान्त भक्ति एवं अपूर्व चेष्टाएं देखकर उन्होंने विशेष उपयोग लगाया एवं प्रदीयमान भोजन-सामग्री को अशुद्ध, अकल्पनीय एवं अनेषणीय समझकर उसे ग्रहण नहीं किया। अनाचरणीय मार्ग का अनुगमन करने से निस्तार नहीं होगा—यह सोच आत्म-गवेषक मुनि महागिरि बिना भोजन ग्रहण किए वन की ओर चले गए।"[११]

आर्य सुहस्ती से आर्य महागिरि जब मिले तब उन्होंने वसुभूति के घर पर घटित घटना से उन्हें अवगत कराते हुए कहा—"सुहस्ती ! तुमने श्रेष्ठी वसुभूति के सम्मुख मेरा सम्मान कर मेरे लिए अनेषणीय स्थिति उत्पन्न कर दी है।"[१२]

क्षमाधर आर्य सुहस्ती ने आचार्य महागिरि के चरणों में नत होकर क्षमा-प्रार्थना की और बोले—"इस भूल का आगे के लिए पुनरावर्तन नहीं होगा।"

यह घटना आर्य महागिरि एवं सुहस्ती के गुरु-शिष्य-सम्बन्ध पर प्रकाश डालने के साथ अभिग्रहधारी श्रमणों की विशुद्धतम कठोर आचार-साधना, गुरु के कटु उपालम्भ के प्रति भी शिष्य का विनम्र भाव, श्रावक समाज की मुनि जनों के प्रति आस्था एवं उदग्र भक्ति तथा गृहस्थ समाज को बोध देने हेतु उनके घर पर बैठकर उपदेश देने की पद्धति आदि कई तथ्यों को अनावृत करती है।

कल्पसूत्र स्थविरावली में आर्य महागिरि के विशाल शिष्य परिवार में से आठ प्रमुख शिष्यों का उल्लेख हुआ है। उनके नाम इस प्रकार हैं :[13] (१) उत्तर, (२) बलिस्सह, (३) धनाक्ष्य, (४) श्री आढ्य, (५) कौण्डिन्य, (६) नाग, (७) नागमित्र, (८) रोहगुप्त। इन शिष्यों में उत्तर और बलिस्सह प्रभावक शिष्य थे। उनसे चार शाखाएं निकलीं। (१) कौशम्बिक, (२) शक्तिमतिका, (३) कोटामानी और (४) चन्द्रनागरी।

स्थानांगसूत्र में नौ गणों का उल्लेख है।[14] उनमें उत्तर बलिस्सह गण की स्थापना उत्तर बलिस्सह के नाम पर है। आर्य महागिरि के आठवें शिष्य रोहगुप्त से त्रैराशिक मत प्रकट हुआ।[15] षडुलूक रोहगुप्त का निह्नव परम्परा में छठा क्रम है।

तेजोद्दीप्त भाल आचार्य स्थूलभद्र की भांति मेधासम्पन्न आचार्य महागिरि भी दीर्घजीवी थे। तीस वर्ष तक वे गृहस्थ में रहे। सामान्य मुनि-पर्याय का उनका काल ४० वर्ष का एवं युगप्रधान आचार्य पद का काल ३० वर्ष का था।[16]

उन्होंने युग का एक पूरा शतक अपनी आंखों से देखा। मालव प्रदेश के गजेन्द्रपुर में वे वी० नि० २४५ (वि० पू० २२५) में स्वर्गगामी बने।

आधार-स्थल

१. तौ हि यक्षार्यया बाल्यादपि मात्रेव पालितौ।
इत्यार्योपपदौ जातौ महागिरिसुहस्तिनौ ॥३७॥

(परि० पर्व, सर्ग १०)

२. शान्तौ दान्तौ लब्धिमन्तावधीता-वायुष्मन्तौ वाग्मिनौ दृष्टभक्ती।
आचार्यत्वे न्यस्यतो स्थूलभद्रः कालं कृत्वा देवभूयं प्रपेदे ॥४०॥

(परि० पर्व, सर्ग १०)

३. थूलभद्दसामिणा अज्जसुहत्थिस्स नियओ गणो दिण्णो तहावि।
अज्जमहागिरी अज्ज सुहत्थिस्स पीतिवसेण एक्कओ विहरंति ॥

(निशीथसूत्र, सभाष्यचूर्णि, भाग २, पृ० ३६१)

४. कालक्रमेण भगवाञ्जगद्बन्धुर्महागिरिः।
शिष्यान्निष्पादयामास वाचनाभिरनेकशः ॥२॥

(परि० पर्व, सर्ग ११)

५. गुरुगच्छ धुराधारण धोरेया धरियलद्धिणो धीरा।
चिरकाले वोलीणे, महागिरी चिंतए ताण ॥२॥

गुरुतर निज्जरकारी, न संपयं जइवि अत्थि जिणकप्पो ।
मह तह वि तदब्भासो पणासए पुव्व पावाइं ॥३॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पत्रांक ३६६)

६. विहिया सुयत्थपरमत्थवित्थरे थिरमई मए सीसा ।
मह गच्छसारणाईविसारओ अत्थि य सुहत्थी ॥४॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पत्रांक ३६६)

७. इय चिंतिऊण परिवज्जिऊण, गणगच्छ पालणुच्छाहं ।
विहरेइ तस्स निस्साए, सायरं वण-मसाणेसु ॥६॥
पुरनगरगाम आराम-आसमाई सुमुक्क पडिबंधो ।
उवसग्गवग्गसंसग्ग—निप्पकंपो अपंको य ॥७॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पत्रांक ३६६)

८. अह एगया सुहत्थी, कहेइ सकुडुंबसेट्ठिणो धम्मं ।
गेहंगणंमि पत्तो, महागिरी विहरमाणो तो ॥१२॥
सहसा सुहत्थिणा सो, दट्ठुं अब्भुट्ठिओ सबहुमाणं ।
पणमिय पुच्छइ सेट्ठी, भंते ! तुम्हवि किमत्थि गुरु ॥१३॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पत्रांक ३७०)

९. घरजणमेवं जइ एइ, एरिसो महासाहू ।
तो पडिलाभेयव्वो, उज्झिय भिक्खाछलं काउं ॥१७॥
सुपवित्तपत्तखेत्तम्मि, खित्तमप्पंपि बीयमिव समए ।
अइबहुफारफलेहिं, फलेइ ता देयमेयस्स ॥१८॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पत्रांक ३७०)

१०. मह जे दिन्ना मइुाए, लड्डुआ छड्डिया मया तेऽमी ।
परिवज्जियाइं खज्जाइं, अज्ज कज्जं न एएहिं ॥२१॥
पइदिवसं खीरिए खज्जंतीए इमाए खद्धामि ।
अलमत्थु मज्झ घयखंडपुन्नघयपुन्नपत्तेण ॥२२॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पत्रांक ३७०)

११. इय पेक्खंतोऽपुव्वं, सव्वं चेट्ठं स चिंतइ किमेयं ।
उवओगं दव्वाइसु, दिंतो जाणेइ जमसुद्धं ॥२३॥
अहमिह नाओ नूणं, अनायचरिया तओ न नित्थरिया ।
इय स नियत्तो तत्तो, पत्तो य वणे अमत्तट्ठी ॥२४॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पत्रांक ३७०)

१२. अब्भुट्ठाणं बहुमाणमायरं तारिसं कुणंतेण ।
तइ तइया विहियाणेसणाहि तब्भत्तिजणणाओ ॥२६॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पत्रांक ३७०)

१३. थेरस्स णं अज्जमहागिरिस्स एलावच्छसगोत्तस्स इमे अट्ठ थेरा अंतेवासी···तंजहा-थेरे उत्तरे, थेरे बलिस्सहे, थेरे धणड्ढे, थेरे सिरिड्ढे, थेरे कोडिन्ने, थेरे नागे, थेरे नागमित्ते, थेरे छलूए रोहगुत्ते कोसिस गुत्तेणं ।
(कल्पसूत्र स्थविरावली, सूत्र २०९) सं० पुण्यविजयजी

१४. गोदासगणे, उत्तरबलिस्सहगणे, उद्देहगणे चारणगणे, उद्दवाइयगणे, विस्सवाइयगणे,

कामड्ढियगणे. माणवगणे, कोडियगणे ।

(ठाणं ९।२९)

१५. रोहगुत्तेहिंतो, कोसियगुत्तेहिंतो तत्थणं तेरासिया निग्गया ।

(कल्पसूत्र स्थवि०, सूत्र २०९)

१६. तत्पट्टे श्री आर्यमहागिरि-आर्य सुहस्तिनामानौ उभौ अष्टम पट्टधरौ जातौ । तत्र प्रथमस्य त्रिंशद्वर्षाणि गृहे चत्वारिंशद्व्रते त्रिंशत् युगप्रधानत्वे, सर्वायुः शतवर्षाणि ।

(पट्टावली-समुच्चय, श्री गुरुपट्टावली, पृ० १६५)

१०. सद्धर्म-धुरीण आचार्य सुहस्ती

सम्राट् सम्प्रति के प्रतिबोधक आचार्य सुहस्ती वासिष्ठ गोत्री थे। वे विविध अध्यात्म-आयामों के उद्‌घाटक थे। उनका जन्म वी० नि० १६१ (वि० पू० २७६) में हुआ। आचार्य महागिरि की भांति ३० वर्ष की अवस्था में उन्होंने दीक्षा ग्रहण की। उनके दीक्षागुरु तपोधन आचार्य स्थूलभद्र थे। आर्य सुहस्ती को आचार्य स्थूलभद्र के उपपात में रहकर अध्ययन करने का अधिक अवकाश न मिल सका था। आचार्य सुहस्ती की दीक्षा के स्वल्प समय के बाद ही आचार्य स्थूलभद्र का स्वर्गवास हो गया था।

आर्य सुहस्ती के शिक्षागुरु आर्य महागिरि थे। उनसे आगमों एवं पूर्वों का गम्भीर अध्ययन उन्होंने किया। दस पूर्वधारी आचार्यों की परम्परा में आर्य महागिरि प्रथम श्रुतकेवली एवं आर्य सुहस्ती द्वितीय श्रुतकेवली हैं। आचार्य पद का दायित्व उन्होंने वी० नि० २४५ (वि० पू० २२५) में सम्भाला था।

जैन धर्म को विस्तार देने में आर्य सुहस्ती का विशिष्ट अनुदान है। सम्राट् सम्प्रति उनके धर्मप्रचार के महान् सहयोगी थे। आचार्य सुहस्ती को सम्राट् सम्प्रति का योग मिला, उसके पीछे महत्त्वपूर्ण इतिहास है।

आचार्य महागिरि के साथ एक बार आचार्य सुहस्ती का पदार्पण कौसाम्बी में हुआ। स्थान की संकीर्णता के कारण दोनों आचार्यों का शिष्य परिवार भिन्न-भिन्न स्थानों पर रुका। कौसाम्बी में उस समय भयंकर दुष्काल चल रहा था। जनता भीषण काल के प्रकोप से पीड़ित थी। साधारण मनुष्य के लिए पेट-भर भोजन की बात कठिन हो गयी थी।

श्रमणों के प्रति अत्यधिक भक्ति के कारण भक्त लोग उन्हें पर्याप्त भोजन प्रदान करते थे। एक दिन आचार्य सुहस्ती के शिष्य आहारार्थ श्रेष्ठी-गृह में गए। उनके पीछे एक रंक भी चला गया। उसने श्रमणों के पात्र में श्रेष्ठी के द्वारा प्रदीयमान स्वादिष्ट भोजन सामग्री को देखा। पर्याप्त आहारोपलब्धि के बाद साधु उपाश्रय की ओर लौट रहे थे। वह रंक भी उनके साथ-साथ चल रहा था। उसने श्रमणों से भोजन मांगा। श्रमण बोले—"गुरु-आदेश के बिना हम कोई भी कार्य नहीं कर सकते।"

रंक धर्मस्थान तक श्रमणों के पीछे-पीछे चला आया। आचार्य सुहस्ती से श्रमणों ने रंक की ओर संकेत करते हुए कहा—"आर्य ! यह दीन मूर्ति रंक हमारे से भोजन की याचना कर रहा है।"

आर्य सुहस्ती ने गम्भीर दृष्टि से उसको देखा और ज्ञानोपयोग से जाना—

भावी प्रवचनाधारो यद् रंकोऽयं भवान्तरे ॥४८॥

—परि० पर्व, सर्ग ११

यह रंक भवान्तर में प्रवचनाधार बनेगा। इसके निमित्त से जैन शासन की अतिशय प्रभावना होगी।

अध्यात्म-स्रोत, अकारण कारुणिक आर्य सुहस्ती ने मधुर स्वर में सम्मुख उपस्थित दयापात्र रंक को सम्बोधित करते हुए कहा—"मुनि-जीवन स्वीकार करने पर तुम्हें हम भोजन दे सकते हैं। गृहस्थ को भोजन देना साध्वाचार की मर्यादा से संविहित नहीं है।"

रंक को अन्नाभाव के कारण मृत्यु का आलिंगन करने की अपेक्षा इस कठोर संयम-चर्चा का मार्ग सुगम लगा। वह मुनि बनने के लिए तत्काल सहमत हो गया।

परोपकार-परायण आर्य सुहस्ती ने महान् लाभ समझकर उसे दीक्षा प्रदान की। कई दिनों के बाद क्षुधाक्रांत रंक को प्रथम बार पर्याप्त भोजन मिल पाया था। आहार-मर्यादा का विवेक न रहा। मात्रातिक्रान्त भोजन उदर में पहुंच जाने से श्वासनलिका में श्वासवायु का संचार कठिन हो गया। दीक्षा दिन की प्रथम रात्रि में ही वह समता भाव की आराधना करता हुआ कालधर्म को प्राप्त हुआ और अवन्ति नरेश अशोक का प्रपौत्र व कुणालपुत्र सम्प्रति के रूप में जन्मा। अव्यक्त सामायिक की साधना के फलस्वरूप भवान्तर में उसे महान् साम्राज्य की प्राप्ति हुई।[1]

राजकुमार संप्रति एक दिन राजप्रासाद के वातायन में बैठा था। उसने श्रमणवृन्द से परिवृत आचार्य सुहस्ती को राजपथ पर चलते हुए देखा। पूर्व भव की स्मृति उभर आयी। आर्य सुहस्ती की आकृति उसे परिचित-सी लगी। ध्यान विशेषरूप से केन्द्रित होते ही जातिस्मरण ज्ञान प्रकट हुआ। सम्प्रति ने पूर्व भव को जाना एवं प्रासाद से नीचे उतरकर आर्य सुहस्ती को वन्दन किया और विनम्र मुद्रा में पूछा—"आप मुझे पहचानते हैं ?" परमज्ञानी आर्य सुहस्ती ने दत्तचित्त होकर चिन्तन किया एवं ज्ञानोपयोग से राजकुमार सम्प्रति के पूर्वभव का सम्पूर्ण वृत्तान्त जानकर उसे विस्तारपूर्वक राजकुमार के सामने प्रस्तुत किया।[2]

सम्प्रति ने प्रणत होकर निवेदन किया—"भगवन् ! उस द्रमुक के भव में आप मुझे प्रव्रजित नहीं करते तो जिनधर्म की प्राप्ति के अभाव में आज मेरी क्या

गति होती ? आप मेरे महा उपकारी हैं। पूर्व जन्म में आप मेरे गुरु थे। इस जन्म में भी मैं आपको गुरु रूप में स्वीकार करता हूं। मुझे अपना धर्मपुत्र मानकर कर्त्तव्य-शिक्षा से अनुगृहीत करें और प्रसन्नमना होकर किसी विशिष्ट कार्य का आदेश दें, जिसे सम्पादित कर मैं आपसे उऋण हो सकूं।" आर्य सुहस्ती के मुख से भवतापोपहारी अमृत बूंदें बरसीं—"राजन् ! उभय लोक कल्याणकारी जिन-धर्म का अनुसरण कर।"

आचार्य सुहस्ती से बोध प्राप्त कर सम्प्रति प्रवचन-भक्त, सम्यक्त्व गुणयुक्त अणुव्रतधारी श्रावक बना।

कल्पचूर्णि के अनुसार सम्प्रति ने अवन्ति में श्रमण परिवार परिवृत सुहस्ती को राज-प्रांगण में गवाक्ष से देखा। चिन्तन चला—जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ उसके बाद आचार्य सुहस्ती के स्थान पर जाकर उन्होंने जिज्ञासा की—"प्रभो ! 'धम्मस्स किं फलं'—धर्म का क्या फल है।" आर्य सुहस्ती बोले :

"अव्यक्त सामायिक का फल राज्यपदादि की प्राप्ति है।" सम्प्रति ने विस्मित मुद्रा में कहा—"आपने सत्य संभाषण किया है। क्या आप मुझे पहचानते हैं ?" सम्प्रति के इस प्रश्न पर आर्य सुहस्ती ने ज्ञानोपयोग लगाकर कहा—"तुमने पूर्व भव में मेरे पास दीक्षा ग्रहण की थी। तदनन्तर सम्प्रति ने आचार्य सुहस्ती से श्रावक धर्म स्वीकार किया।"

निशीथचूर्णि के एक स्थल पर प्रस्तुत घटना सन्दर्भ के साथ विदिशा का और दूसरे स्थल पर अवन्ति का उल्लेख है। विदिशा को अवन्ति के राज्याधिकार में मान लेने से इस प्रकार का उल्लेख सम्भव है।

आवश्यक चूर्णि के अनुसार आर्य महागिरि एवं सुहस्ती विदिशा में एकसाथ गए थे। उसके बाद आर्य महागिरि अनशन करने के लिए दशार्णवपुर की ओर चले गए तदनन्तर आर्य सुहस्ती का अवन्ति में पदार्पण हुआ, उस समय सम्प्रति आर्य सुहस्ती का श्रावक बना था।

श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाणोत्तर काल में सांभोगिक सम्बन्ध-विच्छेद की सर्वप्रथम घटना आर्य सुहस्ती और सम्राट् सम्प्रति के निमित्त से घटित हुई थी।

दुष्काल के विपन्न क्षणों में सम्राट् सम्प्रति ने श्रमणों के लिए भिक्षा-सम्बन्धी अनेकविध सुविधाएं प्रदान की थीं। सभी प्रकार के व्यापारी वर्ग को सम्राट् सम्प्रति का आदेश था—"वे मुक्त भाव से श्रमणों को यथेप्सित द्रव्यों का दान करें, उनका मूल्य मैं दूंगा। मेरे घर का भोजन राजपिंड होने के कारण मुनिजनों के लिए ग्रहणीय नहीं है।"[1] सम्राट् सम्प्रति की इस उदारता के कारण आर्य सुहस्ती के शासनकाल में शिथिलाचार की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गयी। साधुचर्या में अजागरूक श्रमण मुक्त भाव से सदोष दान ग्रहण करने लगे।

आर्य महागिरि जब आर्य सुहस्ती से मिले, घोर दुष्काल में भी साधुओं को पर्याप्त एवं विशिष्ट भोजन मिलता देख आर्य महागिरि को राजपिण्ड तथा सदोष-आहार की शंका हुई। उन्होंने आर्य सुहस्ती से समग्र स्थिति को जानना चाहा।

गवेषणा किए बिना ही आर्य सुहस्ती बोले—"यथा राजा तथा प्रजा।" प्रजा राजा की अनुगा होती है। यही कारण है—राजा की भक्ति के अनुसार प्रजा में भी धार्मिक अनुराग है। तेली तेल, घृत बेचने वाला घी, वस्त्र के व्यापारी वस्त्र अपने-अपने भण्डार से मुनि वर्ग को सभी यथेप्सित वस्तुओं को प्रदान कर रहे हैं।

आर्य महागिरि आर्य सुहस्ती के उपेक्षा-भरे उत्तर से विक्षुब्ध हुए। वे गम्भीर होकर बोले—"आर्य! आगमविज्ञ होकर भी शिष्यों के मोहवश जान-बूझकर इस शिथिलाचार को पोषण दे रहे हो?"

आर्य महागिरि चरित्रनिष्ठ, ऊर्ध्वचिन्तक, निर्दोष परम्परा के पक्षपाती आचार्य थे। संघ व शिष्यों का व्यामोह उनके निर्मल मानस में कभी अपना स्थान न पा सका।

गण में शिथिलाचार को पनपते देख उन्होंने तत्काल प्रतिभासम्पन्न प्रभावी शिष्य सुहस्ती से भी अपना साम्भोगिक (भोजन आदि का व्यवहार) सम्बन्ध विच्छेद कर लिया था।[४]

आर्य सुहस्ती आर्य महागिरि को गुरुतुल्य सम्मान देते थे। उनके कठिन उपालम्भ को सुनकर भी वे क्षमाशील बने रहे। उनके चरणों में गिरे। अपने दोष के लिए उन्होंने क्षमायाचना की तथा पुनः ऐसा न करने के लिए वे संकल्पबद्ध हुए। आर्य सुहस्ती की विनम्रता के सामने आर्य महागिरि झुके। उन्होंने अपना विचार एवं साम्भोगिक सम्बन्ध की विच्छिन्नता के प्रतिबन्ध को हटा दिया, पर भविष्य में मनुष्य की मायाप्रधान प्रवृत्ति का विचार कर अपना आहार-व्यवहार उनके साथ नहीं किया।

सरल, सुविनीत, मृदुस्वभावी, पूर्वज्ञान गुणसम्पन्न आर्य सुहस्ती ने महनीय महिमाशाली आर्य महागिरि के सुदृढ़ अनुशासनात्मक व्यवहार से प्रशिक्षण पाकर अपनी भूल का सुधार कर लिया था पर शिष्यगण में पनपते सुविधावाद के संस्कारों का प्रवाह सर्वथा न रुक सका।

आधुनिक अनुसन्धानों के आधार पर यह घटना सम्राट् बिन्दुसार के युग की मानी गयी है। आर्य महागिरि का स्वर्गवास वी० नि० २४५ में हुआ था। सम्राट् सम्प्रति के राज्याभिषेक का समय वी० नि० २९५ है। आर्य महागिरि के स्वर्ग-वास के समय सम्राट् सम्प्रति का जन्म भी सम्भव नहीं है। अतः यह घटना उस दुष्काल की परिकल्पना मानी गयी है जिस समय सम्प्रति का जीव द्रमुक के भव में था, क्षुधा से आक्रांत होकर आर्य सुहस्ती के पास उसने दीक्षा ग्रहण की थी।

दुष्काल के उस युग का शासक सम्राट् बिन्दुसार था। वह महादानी एवं

उदारचेता शासक था। उसने जनता को सहायता प्रदान करने के लिए अन्न के भण्डार खोल दिए थे। श्रमण वर्ग को भी सम्राट् की इस प्रवृत्ति से भिक्षाचरी सुलभ हो गयी थी। सम्राट् सम्प्रति के अत्यधिक प्रभाव के कारण बिन्दुसार के युग की यह घटना सम्प्रति युग के साथ संयुक्त हुई प्रतीत होती है।

सम्राट् अशोक की भांति सम्राट् सम्प्रति भी महान् धर्म-प्रचारक था। आन्ध्र आदि अनार्य देशों में जैन धर्म को प्रसारित करने का श्रेय उसे है। आर्य सुहस्ती से सम्यक्त्व-बोध एवं श्रावक व्रत दीक्षा स्वीकार करने के बाद सम्राट् सम्प्रति ने अपने सामन्त वर्ग को भी जैन संस्कार दिए तथा राजकर्मचारी वर्ग को मुनिवेश पहनाकर द्रविड़, महाराष्ट्र, आन्ध्र आदि देशों में उन्हें भेजा था।[५] जैन-विहित साधु-मुद्रा से विभूषित राज सुभट अपरिचित अनार्य देशों में घूमे तथा उन लोगों को साधुचर्या से अवगत कराने हेतु आधाकर्मादि दोष-विवर्जित आहार को ग्रहण कर जैन मुनियों की विहारचर्या योग्य भूमिका प्रशस्त की। प्रबल धर्म-प्रचारक आर्य सुहस्ती ने सम्राट् सम्प्रति की प्रार्थना पर अपने शिष्य वर्ग को अनार्य देशों में भेजा था।[६] मिथ्यात्वतिमिराछन्न उन क्षेत्रों में अध्यात्म का दीप प्रज्वलित कर श्रमण लौटे। उस समय आर्य सुहस्ती ने उनसे अनार्य लोगों के विभिन्न अनुभव सुने थे।[७]

एक बार आर्य सुहस्ती श्रेष्ठी पत्नी भद्रा के 'वाहन कुट्टी' स्थान में विराजे थे। रात्रि के प्रथम पहर में वे 'नलिनी गुल्म' नामक अध्ययन का परावर्तन (स्वाध्याय) कर रहे थे।[८] निशा का नीरव वातावरण था। भद्रापुत्र अवन्ति सुकुमाल अपनी बत्तीस पत्नियों के साथ उपरितन साप्त भौमिक प्रासाद में आमोद-प्रमोद कर रहे थे। स्वाध्यायलीन आचार्य सुहस्ती की मधुर शब्द-तरंगें अवन्ति सुकुमाल के कानोंसे टकरायीं। उसका ध्यान शास्त्रीय वाणी पर केन्द्रित हो गया।[९] नलिनी गुल्म अध्ययन में वर्णित नलिनी गुल्म विमान का स्वरूप उसे परिचित-सा लगा। ऊहा-पोह करते-करते भद्रापुत्र को जातिस्मरण-ज्ञान उत्पन्न हुआ। उसने अपना पूर्व भव देखा और एक नया रहस्य उद्घाटित हुआ। अवन्ति सुकुमाल अपने पूर्व भव में नलिनी गुल्म विमान का देव था।

नलिनी गुल्म विमान को पुनः प्राप्त कर लेने की उत्कट भावना ने उसे मुनि बनने के लिए प्रेरित किया। आर्य सुहस्ती के पास पहुंचकर अवन्ति सुकुमाल ने अपनी भावना प्रस्तुत की। साधु जीवन की कठोर चर्या का बोध देते हुए आर्य सुहस्ती ने कहा—"वत्स ! तुम सुकुमाल हो। मुनि-जीवन मोम के दांतों से लोहे के चने चबाने के समान दुष्कर है।"

अवन्ति सुकुमाल अपने निर्णय पर दृढ़ था। उसे न मुनि-जीवन की कठोरता का बोध अपने लक्ष्य से विचलित कर सका, न रूपवती बत्तीस पत्नियों का आकर्षण एवं भद्रा मां की ममता निर्णीत पथ से हटा सकी।

भद्रा के द्वारा अनुमति न मिलने पर भी मुनि-परिधान को पहनकर आर्य

सुहस्ती के सामने भद्रापुत्र उपस्थित हुआ। अपने ही द्वारा गृहीत साधुवेश की मुद्रा में अवन्ति सुकुमाल को आर्य सुहस्ती ने प्रस्तुत देखा और उसकी वैराग्यमयी तीव्र विचारधारा को परखा। साधना सोपान पर बढ़ने के लिए उत्तरोत्तर उत्कर्ष भाव को प्राप्त अवन्ति सुकुमाल को परम कारुणिक आर्य सुहस्ती ने श्रमण दीक्षा प्रदान की।

कमल-सी कोमल शय्या पर सोने वाले अवन्ति सुकुमाल दीर्घकालीन तपस्या के द्वारा कर्म निर्जरा करने में अपने-आपको अक्षम पा रहे थे। दीक्षा के प्रथम दिन ही गुरु से आदेश प्राप्त कर यावज्जीवन अनशनपूर्वक कठोर साधना करने के लिए वहां से प्रस्थित हुए और श्मशान भूमिका की ओर बढ़े। नंगे पांव चलने का उन्हें अभ्यास भी नहीं था। पथ में सुतीक्ष्ण कांटों और कंकरों के प्रहार द्वारा उनके कोमल पदतल से रक्तबिन्दु टपकने लगे। पथगत बाधाजनित क्लेश को समतापूर्वक सहन करते हुए अवन्ति सुकुमाल मुनि निर्णीत स्थान तक पहुंचे एवं श्मशान के शिलापट्ट पर अनशनपूर्वक ध्यानस्थ हो गए। मध्याह्न के तीव्र आतप ने उनकी कड़ी परीक्षा ली एवं पंच नमस्कार मंत्र का स्मरण करने लगे। दिन ढला, रजनी का आगमन हुआ।

सुकोमल मुनि के चरणों से टपकी रक्तबूंदों से मिश्रित पथ के धूलिकणों की दुर्गन्ध क्षुधार्त शिशुओं के साथ मांसभक्षिणी जम्बुकी को खींच लायी। उसने रक्ताप्लावित मुनि के तलवों को चाटा। कृतान्त सहोदरा की भांति वह मुनि के वपु का भक्षण करने लगी। चर्म का आवरण चट-चट करता टूटता गया। मांस, मेद और मज्जा के स्वाद में लुब्ध शृगालिनी रक्तसनी कशेरुका (पीठ की हड्डी), पर्शुका (पार्श्व की हड्डी), करोटि (मस्तक की हड्डी), कपालास्थियों का भी चर्वण करने लगी। उसके शिशु परिवार ने और उसने मिलकर प्रथम प्रहर में मुनि के पैरों को, द्वितीय प्रहर में जंघा को, तृतीय प्रहर में उदर को और चतुर्थ प्रहर में मुनि के शरीर को निगल लिया। तब अस्तित्व का बोध कराता हुआ कंकाल मात्र अवशिष्ट रह गया था।

उत्तरोत्तर चढ़ती हुई भावना की श्रेणी मुनि को अपने लक्ष्य तक पहुंचा गयी। धैर्य से भयंकर वेदना को सहते हुए भद्रापुत्र अवन्ति सुकुमाल नलिनी गुल्म विमान को प्राप्त हुए। देवताओं ने आकर उनका मृत्यु महोत्सव मनाया। महानुभाव! महासत्त्व! कहकर मुनि के गुणों की प्रशंसा की।

भद्रापुत्र की पत्नी ने आचार्य सुहस्ती की परिषद् में भद्रापुत्र को नहीं देखा। उसने वन्दन कर मुनीन्द्र से पूछा—"भगवन्, मेरे पति कहां हैं?" सुहस्ती ने ज्ञानोपयोग के बल पर अवन्ती सुकुमाल की पत्नी से समग्र वृत्तान्त कह सुनाया।

पुत्रवधू के द्वारा अपने पुत्र के स्वर्गवास की सूचना प्राप्त कर भद्रा पागल की भांति दौड़ती हुई श्मशान भूमि में पहुंची। वहां पुत्र के अस्थिपंजर को देखकर

फूट-फूटकर रोने लगी और विलपती हुई कहने लगी, "पुत्र, तुमने संसार को छोड़ा, मां की ममता और वधुओं का मोहपाश तोड़ा। पर प्रव्रजित होकर एक ही अहोरात्रि की साधना कर प्राणों का परित्याग क्यों कर दिया ? क्या यही रात्रि तुम्हारे लिए कल्याणकर थी ? परिवार से निर्मोही बने क्या धर्मगुरु से भी निर्मोही बन गए ? संत परिवेश में एक बार मेरे आंगन में आकर भवन को पवित्र कर देते।"

पुत्र के औध्र्व-दैहिक संस्कार के साथ भद्रा के मानस में ज्ञान की लौ जल उठी। भद्रा की पुत्रवधुओं को भी भोगप्रधान जीवन से विरक्ति हो गयी। एक गर्भिणी वधू को छोड़कर सारा का सारा परिवार आर्य सुहस्ती के पास दीक्षित हुआ।[१०]

अवन्ति सुकुमाल के पुत्र ने पिता की स्मृति में उनके देहावसान के स्थान पर जैन मन्दिर बनवाया था। वह आज अवन्ति में महाकाल के नाम से प्रख्याति प्राप्त है।[११]

आचार्य सुहस्ती के जीवन से सम्बन्धित श्रेष्ठीपुत्र अवन्ति सुकुमाल निर्ग्रंथ की यह घटना दुर्बल आत्माओं में धैर्य का सम्बल प्रदान करने वाली है।

आचार्य सुहस्ती के शासनकाल में गणधरवंश, वाचकवंश और युगप्रधान आचार्य की परम्परा प्रारम्भ हुई।

गण के दायित्व को सम्भालने वाले गणाचार्य, आगम वाचना प्रदान करने वाले वाचनाचार्य एवं प्रभावोत्पादक, सार्वजनीन अध्यात्म प्रवृत्तियों से युगचेतना को दिशाबोध देने वाले युगप्रधानाचार्य होते हैं।

तीनों दायित्व उत्तरोत्तर एक-दूसरे से व्यापक हैं। गणाचार्य का सम्बन्ध अपने-अपने गण से होता है। वाचनाचार्य भिन्न गण को भी वाचना प्रदान करते हैं। युगप्रधान का कार्यक्षेत्र सार्वभौम होता है। जैन-जैनेतर सभी प्रकार के लोग उनसे लाभान्वित होते हैं।

आर्य सुहस्ती का शिष्य परिवार विशाल था। उनसे कई नये गण निर्मित हुए। शिष्य स्थविर रोहण से उद्देहगण, स्थविर श्रीगुप्त से चारण गण, भद्र से उडुपाटित गण, स्थविर ऋषिगुप्त से मानव गण, स्थविर कामर्धि से वेशपाटिक गण का तथा गणिक, कामर्द्धिक आदि अनेक अवान्तर गणों का उल्लेख कल्पसूत्र स्थविरावली में मिलता है।

आर्य सुहस्ती से जैन धर्म अत्यधिक विस्तार को प्राप्त हुआ। मगध की भांति अवन्ति और सौराष्ट्र प्रदेश भी धर्म का प्रमुख केन्द्र उनके शासनकाल में बन गया था। तीस वर्ष की अवस्था में दीक्षित होकर सत्तर वर्ष तक संयम धर्म की सम्यक् आराधना करने वाले आर्य सुहस्ती वी० नि० २९२ (वि० पू० १७८) में अवन्ति में स्वर्गगामी बने।[१२]

आधार-स्थल

१. कोसंबाऽऽहारकते, अज्जसुहत्थीत दमग पव्वज्जा ।
अव्वत्तेणं सामाइएणं रण्णो घरे जातो ॥३२७५॥

(बृहत्कल्प भाष्य, विभाग ३)

२. अज्जसुहत्थाऽऽगमणं, दुट्ठुं सरणं च पुच्छणा कहणा ।
पावयणम्मि य भत्ती, तो जाता संपतीरण्णो ॥३२७७॥

(बृहत्कल्प भाष्य, विभाग ३)

३. साहूण देह पयं, अहं भे दाहामि तत्तियं मोल्लं ।
णेच्छंति घरे घेत्तुं, समणा मम रायपिंडो त्ति ॥३२८०॥

(बृहत्कल्प भाष्य, विभाग ३)

४. आर्य सुहस्ती जानानोऽप्यनेषणामात्मीयशिष्यममत्वेन भणति—क्षमाश्रमणा ! ··· राजधर्ममनुवर्तमान एष जन एवं यथेप्सितमहारादिकं प्रयच्छति । तत आर्य महागिरिणा भणितम्—आर्य ! त्वमपीदृशो बहुश्रुतो भूत्वा यद्येवमात्मीयशिष्यममत्वेनेत्थं ब्रवीषि, ततो मम तव चाद्य प्रभृत्ति विष्वक् सम्भोगः नैकत्र मण्डल्यांसमुद्देशनादिव्यवहाररतिः, एवं संभोगस्य विष्वक्करणमभवत् ।

(बृहत्कल्प, सभाष्य विभाग ३, पत्रांक २०)

५. ततः प्रेषीदनार्येषु साधुवेषधरान्नरान् ॥६१॥

(परि० पर्व, सर्ग ११)

६. एवं राज्ञोऽतिनिर्बन्धादाचार्यैः केऽपि साधवः ।
विहर्तुमादिदिशिरे ततोऽन्ध्रद्रमिलादिषु ॥६६॥

(परि० पर्व, सर्ग ११)

७. निरवद्यं श्रावकत्वमनार्येष्वपि साधवः ।
दृष्ट्वा गत्वा स्वगुरवे पुनराख्यन्सविस्मयाः ॥१०१॥

(परि० पर्व, सर्ग ११)

८. परावर्तितुमारेभे प्रदोष-समयेऽन्यदा ।
आचार्यैर्नलिनीगुल्माभिधमध्ययनं वरम् ॥१३३॥

(परि० पर्व, सर्ग ११)

९. भद्रायाश्च सुतोऽवन्तिसुकुमालः सुरोपमः ।
तदा च विलसन्नासीत्सप्तभूमिगृहोपरि ॥१३४॥
द्वात्रिंशता कलत्रैः स क्रीडन् स्वःस्त्रीनिभैरपि ।
तस्मिन्नध्ययने कर्णं ददौ कर्णरसायने ॥१३५॥

(परि० पर्व, सर्ग ११)

१०. भद्राथ सदने गत्वा मुक्त्वैकां गुर्विणीवधूम ।
वधूभिः सममन्याभिः परिव्रज्यामुपाददे ॥१७५॥

(परि० पर्व, सर्ग ११)

११. गुर्व्या जातेन पुत्रेण चक्रे देवकुलं महत् ।
अवन्ति सुकुमालस्य मरणस्थानभूतले ॥१७६॥
तद्देवकुलमद्यापि विद्यतेऽवन्तिभूषणम् ।
महाकालाभिधानेन लोके प्रथितमुच्चकैः ॥१७७॥

(परि० पर्व, सर्ग ११)

१२. श्रीआर्यसुहस्तिसूरिः···षट्चत्वारिंशद् ४६ वर्षाणि युगप्रधानत्वे सर्वायु: शतमेकं १०० परिपाल्य श्री वीरात् एकनवत्यधिकशतद्वये २९१ स्वर्गभाग् ।

(पट्टावली समुच्चय, श्री पट्टावली सारोद्धार, पत्रांक १४९)

११-१२. विश्वबन्धु आचार्य बलिस्सह और गुणसुन्दर

आचार्य बलिस्सह और गुणसुन्दर अपने युग के प्रभावशाली आचार्य थे। आचार्य सुहस्ती एवं वज्रस्वामी के अन्तराल काल में वालभी युगप्रधान पट्टावली के अनुसार आर्य रेवतीमित्र, आर्य मंगू, आर्य धर्म, आर्य भद्रगुप्त आदि कई प्रभावक युगप्रधान आचार्य हुए हैं। उनमें आर्य गुणसुन्दर एक थे। युगप्रधानाचार्यों में आचार्य सुहस्ती के बाद गुणसुन्दर का क्रम है।[१]

आचार्य बलिस्सह आचार्य महागिरि के आठ प्रमुख शिष्यों में से थे। वे काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे।[२] आचार्य महागिरि के स्वर्गवास के बाद उनके स्थान पर गणाचार्य के रूप में उनकी नियुक्ति हुई। श्रुतसम्पन्न होने के कारण गणाचार्य बलिस्सह ने वाचनाचार्य का दायित्व भी सम्भाला था।

आचार्य गुणसुन्दर का आचार्य पदारोहण काल वी० नि० २९१ (वि० पू० १७९) माना गया है। आचार्य सुहस्ती के गण संचालक आचार्य सुस्थित का पदारोहण-काल भी यही है। इससे प्रतीत होता है—आचार्य सुहस्ती के बाद स्पष्ट रूप से गणाचार्य, वाचनाचार्य एवं युगप्रधानाचार्य की भिन्न-भिन्न परम्परा प्रारम्भ हो गयी थी। आचार्य गुणसुन्दर का स्वर्गवास वी० नि० ३३५ (वि० पू० १३५) में मान्य हुआ है।

आचार्य बलिस्सह के गण की प्रसिद्धि उत्तर बलिस्सह के नाम से है।[१] आचार्य बलिस्सह के ज्येष्ठ गुरुबन्धु बहुल का एक नाम उत्तर था। अतः दोनों गुरु बन्धुओं के नाम का समन्वयात्मक रूप उत्तर बलिस्सह नाम में प्रतिबिम्बित है।

आचार्य सुहस्ती के आठ शिष्यों में प्रथम शिष्य एवं आर्य बलिस्सह के गुरु-बन्धु होने के कारण यह नाम उनके सम्मान का सूचक भी है। अथवा गुरुबन्धु बहुल से आर्य बलिस्सह उत्तर में होने के कारण उत्तर बलिस्सह नामकरण की सम्भव कल्पना भी है।

बलिस्सह के वन्दन-प्रसंग में नन्दी सूत्र का उल्लेख है :

'तत्तो कोसिअगोत्तं बहुलस्स सरिव्वयं वंदे' ॥२४॥

इस पद्य में काश्यपगोत्रीय बलिस्सह को बहुल के समान अवस्था प्राप्त बताया गया है।

हिमवन्त स्थविरावलि के अनुसार सम्राट् खारवेल के द्वारा आयोजित कुमार-गिरि पर्वत पर महाश्रमण सम्मेलन में आचार्य बलिस्सह उपस्थित थे। इसी प्रसंग पर उन्होंने विद्यानुप्रवाद पूर्व से अंगविद्या जैसे शास्त्र की रचना की थी।

कल्पसूत्र स्थविरावली में उत्तर बलिस्सह गण की चार शाखाओं का उल्लेख इस प्रकार है—

तंजहा—कोसंबिया, सोतित्तिया, (सोत्तिमूत्तिया) कोडंवाणी,
चंदनागरी ।।२०६।।

(१) कोसंबिका, (२) सूक्तिमती, (३) कोडंवाणी, (४) चंदनागरी। विश्व-बन्धु आचार्य बलिस्सह आर्य महागिरि के उत्तराधिकारी थे। आर्य महागिरि का स्वर्गवास वी०नि० २४५ (वि०पू० २२५) में हुआ था। इस आधार पर आचार्य बलिस्सह का काल वी० नि० २४५ (वि० पू० २२५) मानना उपयुक्त है।

आधार-स्थल

१. महागिरिं सुहत्थि गुणसुंदरं च सामज्ज खंदिलायरिजं।
रेवइमित्तं धम्मं च भद्दगुत्तं सिरिगुत्तं ।।११।।

(दुःषमाकाल श्रीश्रमणसंघस्तोत्रम्)

२. थेरस्स णं अज्जमहागिरिस्स एलावच्चसगुत्तस्स इमे अट्ठ थेरा अन्तेवासी अहावच्चा अभिण्णाया हुत्था, तंजहा—थेरे उत्तरे (१), थेरे बलिस्सहे (२), थेरे धणड्ढे (३), थेरे सिरिड्ढे (४), थेरे कोडिन्ने (५), थेरे नागे (६), थेरे नागमित्ते (७), थेरे छलूए रोहगुत्ते कोसियगुत्ते णं ८।।

(कल्पसूत्र स्थविरावली)

३. थेरेहिन्तो णं उत्तर बलिस्सहेहिन्तो तत्थ णं उत्तर बलिस्सहे नामं गणे निग्गये।

(कल्पसूत्र स्थविरावली)

१३-१४. स्वाध्याय-प्रिय आचार्य सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध

व्याघ्रापत्य गोत्रीय आचार्य सुस्थित काकंदी के राजकुमार थे। उनका जन्म वी० नि० २४३ (वि० पू० २२७) में हुआ। आर्य सुप्रतिबुद्ध उनके सहोदर एवं गुरु भाई थे। आचार्य सुस्थित ३१ वर्ष गृह-पर्याय में रहे। आर्य सुहस्ती के पास उन्होंने वी० नि० २७४ (वि० पू० १९६) में दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा लेने के बाद शास्त्रीय ज्ञान में उनकी गति उत्तरोत्तर विस्तार पाती रही।

आचार्य सुहस्ती के बाद वी० नि० २९१ (वि० पू० १७९) में आर्य सुस्थित ने आचार्य पद का दायित्व संभाला। उस समय उनकी अवस्था ४८ वर्ष की थी। आचार्य सुप्रतिबुद्ध वाचनाचार्य पद पर नियुक्त हुए।

आर्य सुस्थित एवं सुप्रतिबुद्ध के पांच शिष्य थे—(१) इन्द्रदिन्न, (२) प्रियग्रन्थ, (३) विद्याधर गोपाल, (४) ऋषिदत्त, (५) अर्हद्दत्त।[1]

भुवनेश्वर के निकट कुमारगिरि पर्वत पर दोनों सहोदर सुस्थित एवं सुप्रतिबुद्ध कठोर तपः साधना में लगे। यह कुमारगिरि पर्वत वर्तमान में खण्डगिरि उदयगिरि पर्वत ही है। जहां की अनेक जैन गुफाएं आज भी कलिंग नरेश खारवेल महामेघवाहन के धार्मिक जीवन की परिचायिकाएं हैं।

कलिंगपति महामेघवाहन खारवेल के नेतृत्व में इसी पर्वत पर महत्त्वपूर्ण आगम वाचना का कार्य और अनेक श्रमणों का सम्मेलन हुआ था। उसमें दोनों सहोदर आर्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध उपस्थित थे। कलिंगाधिप भिक्षुराज ने इन दोनों का विशेष सम्मान किया था।[2]

काकंदी नगरी में दोनों साधकों ने जिनेश्वरदेव का कोटि बार जप किया। इस उच्चतम साधना से संघ को अत्यधिक प्रसन्नता हुई। उक्त साधना के परिणामस्वरूप आचार्य सुस्थित के गच्छ का नाम कोटिक गच्छ हुआ।[3]

कोटिक गण की चार शाखाएं थीं—(१) उच्चनागरी, (२) विद्याधरी, (३) वाज्री, (४) मध्यमा।

कोटिक गण के चार कुल थे—(१) बंभलिज्ज, (२) वत्थलिज्ज, (३) वाणिय,

(४) पण्हवाहन ।

शिष्य प्रियग्रन्थ से मध्यम शाखा का, शिष्य विद्याधर गोपाल से विद्याधर शाखा का जन्म हुआ ।[५]

आर्य इन्द्रदिन्न के शिष्य आर्य दिन्न एवं आर्य दिन्न के शिष्य आर्य शान्ति श्रेणिक सिंहगिरि थे। आर्य शान्ति श्रेणिक से उच्चनागरी शाखा का विकास हुआ ।[६] उच्चनागरी शाखा का सम्बन्ध उच्चनगर से भी बताया जाता है ।

युगप्रधान आचार्य सुहस्ती के १२ प्रमुख शिष्यों में से आर्य सुस्थित एक थे। उन्होंने ६५ वर्ष की संयम पर्याय में ४८ वर्ष तक संघ का नेतृत्व किया। कुमारगिरि पर्वत पर ६६ वर्ष की आयु पूर्ण कर स्वाध्यायप्रिय आचार्य सुस्थित वी० नि० ३३९ (वि० पू० १३१) में स्वर्गगामी बने ।

आधार-स्थल

१. थेराणं सुट्ठियसुपडिबुद्धाण कोडियकाकंदाणं वग्घावच्चसगोत्ताणं इमे पंच थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था, तं जहा—थेरे अज्जइंददिन्ने, थेरे—पियगंथे, थेरे विज्जाहरगोवाले कासवगोत्तेणं, थेरे इसिदत्ते, थेरे अरहदत्ते ।

(कल्पसूत्र स्थविरावलि २१७, सं० पुण्यविजयजी)

२. सुट्ठिय सुपडिबुद्धे, अज्जे दुन्ने वि ते नमंसामि।
भिक्खुराय-कलिंगाहिवेण सम्माणिए जिट्ठे ॥१०॥

(हिमवंत स्थविरावली)

३. प्रीतिं सृजन्ती पुरुषोत्तमानां दुग्धाम्बुराशेरिव पद्मवासा ।
हृदा जिनं बिभ्रत आविरासीत्तत्सूरियुग्मादिह "कौटिकाख्या ॥४४॥

(पट्टावली समु०, श्रीमहावीर पट्ट परम्परा, पृ० १२४)

४. तंजहा-उच्चानागरी विज्जाहरी य वइरी य मज्झिमिल्ला य। कोडियगणस्स एया, हवंति चत्तारि साहाओ से किं तं कुलाइं ?…तंजहा—पढमेत्थ बंभलिज्जं बितियं नामेण वच्छलिज्जं तु। ततियं पुण वाणिज्जं चउत्थयं पन्नवाहणयं।

(कल्प सूत्र स्थविरावली. २१६)

५. थेरेहिंतो णं पियगंथेहिंतो एत्थ णं मज्झिमा साहा निग्गया, थेरेहिंतो णं विज्जाहरगोवालेहिंतो तत्थ णं विज्जाहरी साहा निग्गया ।

(कल्प सूत्र स्थविरावली २१७)

६. थेरस्स णं अज्जइंददिन्नस्स कासवगोत्तस्स अज्जदिन्नेथेरे…थेरेहिंतो णं अज्जसंतिसेणिएहिंतो णं माढरसगोत्तेहिंतो एत्थ णं उच्चानागरी साहा निग्गया।

(कल्प सूत्र स्थविरावली २१८)

१५-१६. सन्त-श्रेष्ठ आचार्य श्याम और षांडिल्य

जैन परम्परा में कालक नाम के कई आचार्य हुए हैं। उनमें प्रथम कालकाचार्य श्यामाचार्य के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त हैं। नन्दी स्थविरावली के उल्लेखानुसार हारित गोत्रीय आर्य बलिस्सह के शिष्य आर्य स्वाति थे। आचार्य स्वाति भी हारित गोत्रीय परिवार के थे। आचार्य श्याम आर्य स्वाति के शिष्य थे।[1]

श्यामाचार्य अपने युग के महा प्रभावक आचार्य थे। उनका जन्म वी० नि० २८० (वि० पू० १९०) में हुआ। संसार से विरक्त होकर वी०नि० ३०० (वि० पू० १७०) में उन्होंने श्रमण दीक्षा स्वीकार की। दीक्षा ग्रहण के समय उनकी अवस्था २० वर्ष की थी।

महती योग्यता के आधार पर वी० नि० ३३५ (वि० पू० १३५) में उन्हें युगप्रधानाचार्य के पद पर विभूषित किया गया था।[2]

आचार्य श्याम द्रव्यानुयोग के विशेष व्याख्याकार थे। प्रज्ञापना जैसे विशालकाय सूत्र की रचना उनके विशद वैदुष्य का परिणाम है।[3] जैनागम साहित्य में प्रज्ञापना उपांगागम है एवं चार अनुयोग में वह द्रव्यानुयोग है। इसके ३६ प्रकरण हैं। जीवादि विभिन्न तात्त्विक विषयों की सामग्री इस सूत्र में उपलब्ध है। इस ग्रन्थ को आगम रूप में स्वीकार कर लेना आचार्य श्याम की निर्मल नीति पर समग्र श्रमण संघ के हार्दिक विश्वास का द्योतक है। नाम उनका श्याम था, पर विशुद्धतम चरित्र की आराधना से वे अत्यन्त उज्ज्वल पर्याय के धनी थे।

आचार्य श्याम की अधिक प्रसिद्धि निगोद व्याख्याता के रूप में है। एक बार सीमन्धर स्वामी से महाविदेह में सूक्ष्म निगोद की विशिष्ट व्याख्या सौधर्मेन्द्र ने सुनी और प्रश्न किया—"भगवन् ! भरत क्षेत्र में भी निगोद-सम्बन्धी इस प्रकार की व्याख्या करने वाले कोई मुनि, श्रमण, उपाध्याय और आचार्य हैं ?"

सौधर्मेन्द्र के समाधान में सीमन्धर स्वामी ने आचार्य श्याम का नाम प्रस्तुत किया। सौधर्मेन्द्र वृद्ध ब्राह्मण के रूप में आचार्य श्याम के पास आया। उनके ज्ञानबल का परीक्षण करने के लिए उसने अपना हाथ उनके सामने किया। हस्त-

रेखा के आधार पर आचार्य श्याम ने जाना—'नवागन्तुक वृद्ध ब्राह्मण की आयु पल्योपम से भी ऊपर पहुंच रही है।' आचार्य श्याम ने उसकी ओर गम्भीर दृष्टि से देखा और कहा—"तुम मानव नहीं देव हो।" सौधर्मेन्द्र को आचार्य श्याम के इस उत्तर से सन्तोष मिला एवं निगोद के विषय में जानना चाहा। आचार्य श्याम ने निगोद का सांगोपांग विवेचन कर इन्द्र को आश्चर्याभिभूत कर दिया। अपनी यात्रा का रहस्य उद्घाटित करते हुए सौधर्मेन्द्र ने कहा—"मैंने सीमन्धर स्वामी से जैसा विवेचन निगोद के विषय में सुना था वैसा ही विवेचन आपसे सुनकर मैं अत्यन्त ही प्रभावित हुआ हूं।"[४]

देवों की रूप सम्पदा को देखकर कोई शिष्य श्रमण निदान न कर लें, इस हेतु से भिक्षाचर्या में प्रवृत मुनि-मण्डल के आगमन से पहले ही सौधर्मेन्द्र श्यामाचार्य की प्रशंसा करता हुआ जाने लगा।

ज्ञान के साथ अहं का अभ्युदय भी बहुत स्वाभाविक है। महा पराक्रमी विशिष्ट साधक बाहुबली में एवं कामविजयी आर्य स्थूलभद्र में भी अहंकार मूर्त्त रूप धारण कर प्रकट हो गया था। श्यामाचार्य के शब्दों में भी अहं सिर उठाकर बोला—"सौधर्मेन्द्र ! देवागमन की बात मेरे शिष्य बिना किसी सांकेतिक चिह्न के कैसे जान पाएंगे ?" आचार्य देव का निर्देश पा सौधर्मेन्द्र ने उपाश्रय का द्वार पूर्व से पश्चिमाभिमुख कर दिया। आचार्य श्याम के शिष्य गोचरी करके लौटे। वे द्वार के स्थानान्तरण से लेकर इन्द्रागमन की सारी घटना को सुनकर विस्मयाभिभूत हो गए।

इन्द्रागमन की यह घटना प्रभावक चरित के कालक सूरि प्रबन्ध में आचार्य कालक के साथ एवं विशेषावश्यक भाष्य, आवश्यक चूर्णि आदि ग्रन्थों में आर्य रक्षित के साथ भी प्रयुक्त है।

माथुरी युग-प्रधान पट्टावली के अनुसार आचार्य श्याम के बाद आर्य षांडिल्य हुए हैं। आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने उन्हें जीतधर विशेषण से विशेषित किया है। आर्य षांडिल्य काश्यप गोत्रीय थे।[५] जीत व्यवहार की प्रतिपालना में पूर्ण जागरूक थे। षांडिल्य गच्छ का प्रारम्भ इन्हीं से हुआ था।

निगोद व्याख्याता श्यामाचार्य का शासनकाल ४१ वर्ष तक रहा। जैन शासन की श्रीवृद्धि में विशेष ख्याति प्राप्त कर वीर निर्वाण ३७६ (वि० पू० ९४) में ९६ वर्ष की अवस्था में स्वर्गगामी बने।

आधार-स्थल

१. हारियगोत्तं साइं च, वंदिमो हारियं च सामज्जं ॥२६॥

(नन्दी स्थविरावली)

२. सिरिवीराओ गएसु पणतीसहिएसु तिसय (३३५) वरिसेसु।
पढ़मो कालगसूरी, जाओ सामज्जनामुत्ति ॥५५॥

(रत्न संचय प्रकरण, पत्रांक ३२)

३. निज्जूढ़ा जेण तया पन्नवणा सव्वभाव पन्नवणा।
तेवीसइमो पुरिसो पवरो सो जयइ सामज्जो ॥१८८॥

(परि० पर्व, ऋषि मंडल, पत्रांक ३५३)

४. सिरिवीर जिणिदाओ वरिससया तिन्निबीस (३२०) अहियाओ।
कालयसूरी जाओ सक्को पडिबोहिओ जेण।

(विचार श्रेणी परिशिष्टम्)

५. बन्दे कोसिय गोत्तं, संडिल्लं अज्जजीयधरं ॥१२६॥

(नन्दी स्थविरावली)

१७-१६. मोक्ष-वीथि-पथिक आचार्य समुद्र, मंगू, भद्रगुप्त

हिमवन्त स्थविरावली और नन्दी स्थविरावली के अनुसार आचार्य षांडिल्य के उत्तराधिकारी समुद्र और समुद्र के उत्तराधिकारी आचार्य मंगू थे। वालभी युग-प्रधान पट्टावली के अनुसार मंगू रेवती मित्र के उत्तराधिकारी थे।

नन्दी स्थविरावली में आचार्य समुद्र और मंगू की प्रशस्त शब्दों में प्रशंसा की गयी है। आचार्य समुद्र के गुणानुवाद का श्लोक इस प्रकार है :

तिसमुद्दरवायकित्ति दीवसमुद्देसु गहियपेयालं।
वंदे अज्जसमुद्दं अक्खुमियसमुद्दगंभीरं ॥२६॥

प्रस्तुत श्लोक के अनुसार आचार्य समुद्र की कीर्ति आसमुद्रान्त तक विस्तृत थी और वे प्रतिकूल परिस्थिति में भी अक्षुभित समुद्र की भांति गंभीर थे।

मंगू के लिए नन्दी स्थविरावली का श्लोक है—

भणगं करगं-झरगं पभावगं णाणदंसणगुणाणं।
वंदामि अज्जमंगु सुयुसागरपारगं धीरं ॥२७॥

प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या चूर्णिकार ने इस प्रकार से की है—"कालियपुव्व-सुत्तत्थं भणतीति भणको। चरण-करणक्रियां करोतीति कारक। सुत्तत्थे य मणसा झायंतो ज्झरको। परप्पवादिजयेण पवयणपभावको। नाणदंसणचरण गुणाणं च पभावको आधारो य।"

आचार्य मंगू आगम-अध्येता, आचार-कुशल, सूत्रार्थ का मानसिक चिन्तन करने वाले, परवादी विजेता, प्रवचन-प्रभावक, ज्ञान, दर्शन, गुणसम्पन्न, श्रुत-सागर-पारगामी, धृतिधर आचार्य थे।

आचार्य भद्रगुप्त दस पूर्वधर थे। ज्योतिष विद्या के वे प्रकाण्ड विद्वान् थे। आर्य रक्षित ने आचार्य भद्रगुप्त की अनशन की स्थिति में विशेष उपासना की थी। आचार्य वज्र स्वामी ने भी दस पूर्वों का ज्ञान आचार्य भद्रगुप्त से ग्रहण किया था।

आचार्य षांडिल्य के उत्तराधिकारी होने के कारण आचार्य समुद्र का आचार्य

पदारोहण काल वी० नि० ४१४ (वि० पू० ५६) है। उनका स्वर्गवास वी० नि० ४५४ (वि० पू० १६) में हुआ था। तदनन्तर आचार्य मंगू का आचार्य-काल प्रारम्भ होता है।

आचार्य भद्रगुप्त का काल आचार्य वज्र स्वामी से कुछ पूर्व है। कालक्रम के अनुसार आचार्य समुद्र और मंगू आचार्य कालक द्वितीय से पूर्व और आचार्य भद्रगुप्त कालक द्वितीय से बाद के हैं पर तीनों का जीवन-प्रसंग एकसाथ सम्बद्ध कर देने के कारण इन्हें श्यामाचार्य और षांडिल्य के पश्चात् प्रस्तुत किया है।

२०. क्रान्ति-चरण आचार्य कालक (द्वितीय)

द्वितीय कालकाचार्य महान् क्रान्तिकारी थे। वे धारा नगरी के वैरसिंह राजा के पुत्र थे। उनकी माता का नाम सुरसुन्दरी था और बहिन का नाम सरस्वती। सरस्वती अत्यन्त रूपवती कन्या थी। अश्वारूढ़ राजकुमार मंत्री के साथ एक दिन नगर के बहिर्भूभाग में इधर-उधर परिभ्रमण करता हुआ क्रीड़ारत था। वहां उसने गुणाकर मुनि को देखा, प्रवचन सुना। घनरव गम्भीर गिरा के श्रवण से परम प्रमोद को प्राप्त कालक कुमार संसार से विरक्त हो गया। दीक्षा लेने की भावना जागृत हुई। इस भावना का प्रभाव बहिन सरस्वती पर भी हुआ। दोनों भाई-बहिन मुनि गुणाकर के पास दीक्षित हो गए।

कालक कुमार कालक मुनि बन गए। कालक मुनि प्रतिभासम्पन्न युवक थे। अल्पसमय में शास्त्रों के पारगामी विद्वान् बने। उनके गुरु ने उन्हें योग्य समझकर आचार्य पद से विभूषित किया।[1]

एक बार ससंघ आचार्य कालक का पदार्पण उज्जयिनी में हुआ। उस समय उज्जयिनी का शासक गर्दभिल्ल था। वह आचार्य कालक की भगिनी साध्वी सरस्वती के अनुपम रूप-सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो गया। राजा का आदेश पा राजपुरुषों ने करुण स्वर से क्रन्दन करती 'हा ! रक्ष, हा ! रक्ष, भ्रात !' कहकर सहोदर आचार्य कालक को स्मरती, कलपती-विलपती साध्वी सरस्वती का अपहरण कर लिया।[2]

आचार्य कालक का प्रस्तुत घटना से उत्तेजित हो जाना संभव था। वे राजसभा में पहुंचे एवं राजा गर्दभिल्ल के सम्मुख उपस्थित होकर बोले—"फलों की रक्षा के लिए बाड़ का निर्माण होता है। बाड़ स्वयं ही फल को खाने लगे तो फलों की रक्षा कैसे हो सकती है ? संरक्षक ही सर्वस्व का अपरण करने लगे तो दु:ख-दर्द की बात किसके सामने कही जा सकती है ?"[3]

"राजन् ! आप समग्र वर्गों के एवं धार्मिक समाज के रक्षक हैं। आपके द्वारा एक साध्वी के व्रतभंग की बात उचित नहीं है।"

आचार्य कालक ने यह बात संयत स्वरों में एवं शालीन शब्दों में कही थी, किन्तु नृपाधम पर इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। मन्त्रीसहित पौर जनों ने भी

गर्दभिल्ल को दृढ़ स्वरों में निवेदन किया, पर मिथ्या मोहारूढ़, मूढ़मति राजा ने उनकी प्रार्थना पर कोई ध्यान नहीं दिया।[४]

आचार्य कालक में क्षात्र तेज उद्दीप्त हो उठा, "तम्हा सइ सामत्थे आणा भट्ठम्मि नो खलु उवेहा" सामर्थ्य होने पर आज्ञा भ्रष्ट की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। "जिन प्रवचन के अहित साधक, अवर्णवादी को पूर्ण शक्ति लगाकर रोक देना चाहिए।" यह एक ही बात आचार्य कालक के मस्तिष्क में चक्कर काटने लगी। उन्होंने गर्दभिल्ल को राजच्युत करने की घोर प्रतिज्ञा की।[५]

आचार्य कालक का स्पष्ट निर्णय था—"मर्यादाभ्रष्ट गर्दभिल्ल को राजच्युत न कर दूं तो संघ के प्रत्यनीक, प्रवचन-प्रघातक, संयम-विनाशक व्यक्तियों जैसी गति मुझे प्राप्त हो।[६]

गर्दभिल्ल शक्तिशाली शासक था। उससे लोहा लेना आसान बात नहीं थी। आचार्य कालक इस बात को बहुत अच्छी तरह जानते थे।

अपनी घोर प्रतिज्ञा का भेद कहीं खुल न जाए, इस बात को गम्भीरता से लेते हुए आचार्य कालक शहर में संज्ञाशून्य की भांति घूमने लगे। नगर की गलियों, चौराहों, राजपथों पर असंबद्ध अपलाप करते हुए वे कहते—"गर्दभिल्ल नरेन्द्र है तो क्या? देश समृद्ध है तो क्या? उसका अन्तःपुर रम्य है तो क्या? नगरी सुरक्षित है तो क्या? नागरिक जन सुन्दर परिधान पहने हुए हैं तो क्या? मैं भिक्षार्थ भटकता हूं तो क्या? शून्य देवल में निवास करता हू तो क्या?"[७]

आचार्य कालक के इस अपलाप ने सबको भ्रान्ति में डाल दिया। राजा गर्दभिल्ल को लगा—"आचार्य कालक भगिनी के व्यामोह में विक्षिप्त हो चुके हैं।" अपने करणीय हेतु निर्विघ्न भूमिका का निर्माण कर राजनीति-दक्ष आचार्य कालक कतिपय समय के बाद एकाकी वहां से निकल पड़े। पश्चिम दिशा की ओर बढ़ते हुए वे सिन्धु तट पर पहुंचे।[८] वहां पर ९६ शाहों (शक सामन्तों) को विद्याबल से प्रभावित कर उनके साथ आचार्य कालक ने घनिष्ठ मित्रता स्थापित कर ली। शक सामन्तों पर एक मुख्य शाह (राजा) भी था। एक दिन शक सामन्त राजभय से घिर गए। उस संकट से बचाने के लिए शक सामन्तों को नौका पर चढ़ाकर आचार्य कालक सिंधु नदी को पार करते हुए सौराष्ट्र पहुंचे।[९]

निशीथचूर्णि में शकों का 'पारस कुल' में होने का उल्लेख है। सम्भवतः पारस कुल फारस खाड़ी के निकट का कोई प्रदेश था। विद्वानों की दृष्टि से वर्तमान में यह ईरान का स्थान है। पारस कुल शकों का निवासस्थान होने से शक कुल के नाम से भी प्रसिद्ध रहा है। कई का अभिमत है—आचार्य कालक सिन्धु प्रान्त से शक सामन्तों को लेकर आए थे।

भारत से सुदूरवर्ती क्षेत्र ईरान से इतने विशाल दल को प्रभावित कर ले आना उस समय की कठिन परिस्थितियों में एवं यातायात के साधनों के उचित

अभाव में एक आचार्य के लिए असंभव था। शकों की पूर्ण निवासस्थली पारस की कुल होने से निशीथचूर्णि में उनके लिए पारस कुल का उल्लेख होना सम्भव है।

घनागम (वर्षा ऋतु का आगमन) के समागम होने के कारण शकों सहित आचार्य कालक को सौराष्ट्र में कई महीनों तक रुकना पड़ा। शरद्ऋतु का आगमन हुआ। विशालदल के साथ आचार्य कालक वहां से प्रस्थान कर पांचाल एवं लाटादि प्रदेश पर विजयध्वज फहराते हुए मालव की सीमा पर पहुंच गए।[१०]

नरेन्द्र गर्दभिल्ल अपनी विद्याशक्ति पर गर्वित था। आक्रमण की बात सुनकर भी गर्दभिल्ल ने कोई ध्यान नहीं दिया। उसने न नगर-दुर्ग को शस्त्रों से सज्जित किया और न सैन्य-दल को कोई आदेश दिया। नगर के द्वार भी शत्रु-भय से बन्द नहीं किए गए।

आचार्य कालक अपने में पूर्ण सावधान थे। उन्होंने अपने दल से कहा—"उज्जयिनी का शासक गर्दभिल्ल अष्टमी चतुर्दशी के दिन अष्टोत्तर-सहस्र जप-पूर्वक 'रासभी' विद्या की सिद्धि करता है। विद्या सिद्ध होने पर रासभी भौंकती है। उसके कर्कश स्वरों को सुनते ही प्रतिद्वन्द्वी के मुखद्वार से पीप झरता है और वह संज्ञाशून्य हो जाता है। रासभी के इन स्वरों का प्रभाव प्रतिद्वन्द्वी पक्ष पर सार्ध तीन गव्यूति पर्यन्त होता है। अतः विद्या से अप्रभावित क्षेत्र में तम्बू तैनात कर लेना ठीक है। शक सामन्तों ने वैसा ही किया। रासभी के प्रभाव को समाप्त कर देने के लिए शब्दबेधी बाण को चलाने में कुशल एक सौ आठ सुभट राज-प्रासाद की ओर निशाना साधकर उचित स्थान पर बैठ गए। विद्या साधन के समय रासभी का मुंह खुलते ही अपने कर्म में जागरूक सुभट्टों ने सुतीक्ष्ण बाणों से तत्काल उसका मुंह भर दिया। इससे रासभी कुपित हुई एवं अशुचि पदार्थों का राजा गर्दभिल्ल पर प्रक्षेप कर अदृश्य हो गयी। शत्रु को निर्बल जानकर शक सामन्तों ने सबल सैन्य-शक्ति के साथ अवन्ति पर एकसाथ धावा बोल दिया। लाट प्रदेश की सेना भी इसका पूरा साथ दे रही थी। पूर्व तैयारी के अभाव में शक्तिशाली गर्दभिल्ल भी विदेशी सत्ता के सामने पराजित हो गया। सुभट्टों ने राजा गर्दभिल्ल को बन्दी बनाकर आचार्य कालक के सम्मुख प्रस्तुत किया। बहिन सरस्वती को पाकर आचार्य कालक प्रसन्न हुए एवं उनके आदेश से अन्यायी शासक गर्दभिल्ल को पदच्युत कर सुभटों ने छोड़ दिया।

बृहत्कल्प भाष्य चूर्णि के अनुसार गर्दभ अवन्ति राजा 'अनिल सुत यव' का पुत्र था। वह अपनी बहिन अडोलिया के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध था। उसकी इच्छा-पूर्ति में दीर्घपृष्ठ नाम का मन्त्री पूर्ण सहयोगी था।

चूर्णि साहित्य में उल्लिखित यह गर्दभ संभवतः सरस्वती का अपहरणकर्ता गर्दभिल्ल ही था। जो विषयान्धता के कारण विदेशी शक्ति द्वारा पराजित होकर

खिन्न था एवं पंख कटे पक्षी की भांति सर्व साधन सामग्री-विहीन लेकर छटपटा रहा था।

मालव प्रदेश पर शकों का राज्य स्थापित हुआ। आचार्य कालक ने बहिन सरस्वती को पुनः दीक्षा दी और स्वयं ने प्रायश्चित्तपूर्वक मनोमालिन्य एवं पापमय प्रवृत्ति का शोधन किया।" प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण पूर्ववत् संघ का नेतृत्व आचार्य कालक संभालने लगे।

भृगुकक्ष (भरौच) लाट देश की राजधानी थी। वहां के महान् शासक बलमित्र और भानुमित्र थे। वे आचार्य कालक के भानजे थे। आचार्य कालक को विजयी बनाने में उनका पूरा सहयोग था।

अवन्नि पर चार वर्षों तक शकों ने शासन किया। भारत भूमि को विदेशी सत्ता से शासित देखकर बलमित्र एवं भानुमित्र का खून उबल उठा। उन्होंने मालव पर आक्रमण किया एवं शक सामन्तों को बुरी तरह से अभिभूत कर वहां से उनके शासन का मूलोच्छेद कर दिया। उज्जयिनी का पावन प्रांगण स्वातन्त्र्य की रम्य रश्मियों से चमक उठा। बलमित्र वहां का शासक बना। शकोच्छेदक एवं इतिहास-प्रसिद्ध तेजस्वी शासक वीर विक्रमादित्य यह बलमित्र ही था।

भानजे बलमित्र और भानुमित्र की विशेष प्रार्थना पर महान् प्रभावक आचार्य कालक ने भृगुकक्ष (भरौंच) में चातुर्मास किया। बलमित्र एवं भानुमित्र की बहिन का नाम भानुश्री था। बलभानु भानुश्री का पुत्र था। परमविरक्ति को प्राप्त बलभानु को आचार्य कालक ने दीक्षा प्रदान की थी। इससे बलमित्र और भानुमित्र प्रकुपित हुए और उन्होंने अनुकूल परिषह उत्पन्न कर आचार्य कालक को पावसकाल में ही विहार करने के लिए विवश कर दिया था। प्रभावक चरित के अनुसार विहार का निमित्त राजपुरोहित था। भागिनेय बलमित्र व भानुमित्र की अगाध श्रद्धा आचार्य कालक के प्रति थी। राजपुरोहित राजसम्मान प्राप्त आचार्य कालक से जलता था। एक दिन शास्त्रार्थ में आचार्य कालक से पराभव को प्राप्त राजपुरोहित ने उनके निष्कासन की योजना सोची। उसने बलमित्र और भानुमित्र से निवेदन किया—"राजन्! महापुण्योभाग आचार्य कालक के चरण हमारे लिए वंदनीय है। पथ पर अंकित उनके चरणचिह्नों पर नागरिकों के पैर टिकने से अथवा उनका अतिक्रमण होने से गुरुराज की आशातना होती है। यह आशातना राज्य के लिए विघ्नकारक है। इससे राष्ट्र में अमंगल हो सकता है। सरलहृदय भ्रातृद्वय के हृदय में निकटवर्ती रापुजरोहित की यह बात जंच गयी, पर पावस काल में आचार्य कालक का निष्कासन होने से महान् अपवाद का भय था। इस अपवाद से बचने के लिए राजा का आदेश प्राप्त कर राज पुरोहित ने घर-घर में आधाकर्मदोष निष्पन्न गरिष्ठ भोजन आचार्य कालक को प्रदान करने की घोषणा की। नागरिक जनों ने वैसा ही किया। एषणीय आहार-प्राप्ति के अभाव में शासन-व्यवस्था की

ओर से अनुकूल परीषह उत्पन्न हुआ जानकर आचार्य कालक ने पावस के मध्य ही विहार कर दिया। ग्रन्थान्तर के अनुसार आचार्य कालक का यह विहार 'अवन्ति' से हुआ था।

आचार्य कालक विहार कर प्रतिष्ठानपुर पधारे। प्रतिष्ठानपुर का शासक शातवाहन जैन धर्म के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु श्रावक था। पौरजनों सहित शासक शातवाहन ने आचार्य कालक का भारी सम्मान किया। भाद्रव शुक्ला पंचमी का दिन निकट था। संवत्सरी पर्व को अत्यन्त उत्साह के साथ मनाने की चर्चा चल रही थी। प्रतिष्ठानपुर में इसी दिन इन्द्रध्वज महोत्सव भी मनाया जाता था। शासक शातवाहन दोनों पर्वों के कार्यक्रम से लाभान्वित होना चाहता था। उसने प्रार्थना की—"आर्य ! संवत्सरी पर्व षष्ठी को मनाया जाए, जिससे मैं भी इस पर्व की सम्यक् आराधना कर सकूं।" आचार्य कालक मर्यादा के प्रति दृढ़ थे। राजभय से इस महान तिथि का अतिक्रमण करना उनकी दृष्टि में उचित नहीं था। उन्होंने निर्भय होकर कहा—"मेरु प्रकम्पित हो सकता है। पश्चिम दिशा में रवि उदय हो सकता है, पर इस पर्व की आराधना में पंचमी की रात्रि का अतिक्रमण नहीं हो सकता।"[१२] राजा ने पर्व को चतुर्थी के दिन मनाने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया आचार्य कालक की दृष्टि में इस पर्व को एक दिन पूर्व मनाने में कोई बाधा नहीं थी। उन्होंने शातवाहन के इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया। अतिशय उल्लास के साथ गर्दभिल्ल उच्छेदक आचार्य कालक के नेतृत्व में सर्वप्रथम चतुर्थी के दिन संवत्सरी पर्व मनाया गया।

देश-देशान्तर में विहरण करते हुए आचार्य कालक का पदार्पण एक बार अवन्ति में हुआ। इस समय आचार्य कालक वृद्धावस्था में थे। वार्धक्य की चिन्ता न कर वे अपने शिष्य वर्ग को अत्यन्त जागरूकता के साथ आगम वाचना देते थे। आचार्य कालक जैसा उत्साह उनके शिष्य वर्ग में न था। वे आगम वाचना ग्रहण करने में अत्यन्त उदासीन थे। अपने शिष्यों के इस प्रमत्तभाव से आचार्य कालक खिन्न हुए। उनको शिक्षा देने की नीयत से आचार्य कालक ने शिष्य-संघ से अलग हो जाने की बात सोची। शय्यातर के पास जाकर आचार्य कालक बोले—"मैं अपने अविनीत शिष्य संघ को यहां छोड़कर इन्हें बिना सूचित किए ही अपने प्रशिष्य सागर के पास स्वर्णभूमि की ओर जा रहा हूं। सोचता हूं—शिष्यों द्वारा अनुयोग न ग्रहण करने पर मेरा इनके बीच में रहने से कोई उपयोग नहीं है प्रत्युत इन शिष्यों की उच्छृंखलता कर्मबन्धन का हेतु है। हो सकता है मेरे पृथक्त्व से वे संभल जाएं और उन्हें अपनी भूल समझ में आ जाए। पर मेरे चले जाने की सूचना शिष्य वर्ग को अत्यन्त आग्रहपूर्वक पूछने पर उन्हें सरोष स्वरों में बताना।" शय्यातर को इस प्रकार अपना कथ्य पूरी तरह से समझा-कर शिष्यों के उठने से पहले ही गुप्त रूप से आचार्य कालक ने विहार कर दिया।

मार्गवर्ती बस्तियों को पार करते हुए वे सुदूर स्वर्णभूमि में सुशिष्य सागर के पास पहुंचे। आगम वाचनारत शिष्य सागर ने उन्हें सामान्य वृद्ध साधु समझकर अभ्युत्थानादिपूर्वक कोई स्वागत नहीं किया। अर्थ-पौरुषी (अर्थवाचना) के समय शिष्य सागर ने सम्मुखीन आचार्य कालक को संकेत करते हुए पूछा—"खंत ! मेरा कथन समझ में आ रहा है ?" आचार्य कालक ने 'आम्' कहकर स्वीकृति दी। सागर सगर्व बोले—"वृद्ध ! अवधानपूर्वक सुनो।" आचार्य कालक गम्भीर मुद्रा में बैठे थे। आर्य सागर अनुयोग प्रदान में प्रवृत्त हो गए।

अवन्ति में आचार्य कालक के शिष्यों ने देखा—उनके बीच में आचार्य कालक नहीं हैं। उन्होंने इधर-उधर ढूंढ़ा पर वे कहीं न मिले। शय्यातर से जाकर शिष्यों ने पूछा—"आचार्य देव कहां हैं ?" मुखमुद्रा को वक्र बना शय्यातर ने कहा—"आपके आचार्य ने आपको भी कुछ नहीं कहा, मुझे क्या कहते ?" शिष्यों ने पुनः आचार्य कालक को ढूंढ़ने का प्रयत्न किया पर वे असफल रहे। आग्रह-पूर्वक पूछने पर शय्यातर ने कठोर रुख बनाकर शिष्यों से कहा—"आप जैसे अविनीत शिष्यों की अनुयोग ग्रहण करने में अलसता के कारण खेद-खिन्न आचार्य कालक स्वर्णभूमि में प्रशिष्य सागर के पास चले गए हैं।" शय्यातर के कटु उपालम्भ से लज्जित, गुरु के बिना अनाश्रित, उदासीन शिष्यों ने तत्काल अवन्ति से स्वर्ण-भूमि की ओर प्रस्थान कर दिया। विशाल संघ को विहार करते देख लोग प्रश्न करते—"कौन आचार्य जा रहे हैं ?" शिष्य कहते—"आचार्य कालक।"

यह बात कानों-कान तैल-बिन्दु की तरस प्रसारित हो गयी। श्रावक वर्ग ने आर्य सागर से निवेदन किया—"विशाल परिवार सहित आचार्य कालक आ रहे हैं।" अपने दादा गुरु के आगमन की बात सुन उन्हें अत्यन्त प्रसन्नता हुई। पुलकितमना होकर आर्य सागर ने अपने शिष्य वर्ग से गुरु के आगमन की सूचना दी और कहा—"मैं उनसे कई गम्भीर प्रश्न पूछकर समाहित बनूंगा।"

शीघ्र गति से चलते हुए आचार्य कालक के शिष्य स्वर्णभूमि में पहुंचे और स्वागतार्थ सामने आए हुए श्रमण सागर के शिष्यों से पूछा—"आचार्य कालक यहां पधारे हुए हैं ?" उत्तर मिला—"एक वृद्ध श्रमण के अतिरिक्त कोई नहीं आया।" उपाश्रय में पहुंचकर आचार्य कालक को कालक के शिष्यों ने सभक्ति वन्दन किया। नवागन्तुक श्रमण संघ द्वारा अभिवन्दित होते देखकर आर्य सागर ने आचार्य कालक को पहचाना। अपने द्वारा कृत अविनय के कारण उन्हें लज्जा की अनु-भूति हुई।[11] हृदय अनुताप से भर गया। गुरुदेव के चरणों में गिरकर क्षमा मांगी। विनम्र स्वरों में पूछा—"गुरुदेव, मैं अनुयोग वाचना उचित प्रकार से दे रहा था ?" आचार्य कालक ने कहा—"तुम्हारा अनुयोग सम्यक् है, पर गर्व मत करना। ज्ञान अनंत है, मुष्टि-भर धूलिराशि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर एवं दूसरे स्थान से तृतीय स्थान पर रखते-उठाते समय वह न्यून-न्यूनतर होती

जाती है। तीर्थंकर प्रतिपादित ज्ञान गणधर, आचार्य, उपाध्याय के द्वारा हम तक पहुंचते-पहुंचते वह अल्प-अल्पतर हो गया है।" आचार्य कालक ने प्रशिष्य सागर को अनेक प्रकार का प्रशिक्षण दिया एवं वे अनुयोग-प्रवर्तन में भी लगे।

आचार्य कालक का जीवन विस्मयकारी प्रसंगों से संयुक्त है। अन्यायी राजा का प्रतिकार करने के लिए और उसे सबल सबक सिखाने के लिए भारत की सीमा को पार कर विदेश जाना, शाहों के साथ मैत्री स्थापित करना, शक सामन्तों के विशाल दल के साथ नौका से सिन्धु को पारकर भारत पहुंचना, युद्ध का सबल मोर्चा बनाकर अवन्ति पर आक्रमण करना, गर्दभिल्ल जैसे शक्ति-सामर्थ्य से युक्त शासक को पराभूत कर उसे देश से निष्कासित कर देना तथा शकों को राजसिंहासन पर स्थापित कर भारतीय राजनीति की एक नई तस्वीर गढ़ देना आचार्य कालक के सुदृढ़ मनोबल एवं सशक्त व्यक्तित्व का परिचायक है। आचार्य कालक गंभीर चिन्तक थे। उन्होंने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, राग-द्वेष का परिहार, धर्मध्यान व शुक्लध्यान इन आठ प्रकार के पुष्पों से आत्मा की अर्चा को कल्याण का मार्ग बताकर विशुद्ध अध्यात्म भाव का प्रतिपादन किया है।[१४]

आचार्य कालक का भूभ्रमण भी बहुत विस्तृत था। पश्चिम में ईरान एवं दक्षिण पूर्व में जावा, सुमात्रा तक की पदयात्रा करने का श्रेय उन्हें है। विदेश-यात्रा आचार्यों की परम्परा में सर्वप्रथम द्वार आचार्य कालक ने खोला।

आचार्य कालक का शिष्य संघ विशाल था। पर उनके साथ आचार्य कालक का दृढ़ अनुबंध नहीं था। अविनीत शिष्यों के साथ रहने से कर्म बंधन ही होगा, यह सोच वे एकाकी पदयात्रा पर चल पड़े थे। यह प्रसंग उनके निर्लेप साधना जीवन का प्रशस्त निदर्शन है।

आचार्य कालक का निमित्त एवं ज्योतिष-संबंधी ज्ञान अत्यन्त विशद था।[१५] यह विद्या उन्होंने प्रतिष्ठानपुर में आजीवकों के पास ग्रहण की थी।[१६]

चतुर्थी को संवत्सरी मनाने के उनके सर्वथा सद्यस्क निर्णय को संघ ने एक रूप में मान्य किया। इसमें प्रमुख हेतु आचार्य कालक का तेजस्वी व्यक्तित्व ही था। आचार्य कालक की परम्परा में षांडिल्य शाखा का निर्माण हुआ।

जैन समाज पर अतिशय प्रभाव छोड़कर आचार्य कालक ने स्वर्ग-गमन किया। गर्दभिल्ल की राजच्युति एवं शकों के अवन्ति राजसिंहासन पर आरोहण का समय वी० नि० ४५३ (वि० पू० १७) है। इस आधार पर आचार्य कालक वी० नि० की पांचवीं सदी के विद्वान् सिद्ध होते हैं।

आधार-स्थल

१. स्वपट्टे कालकं योग्यं प्रतिष्ठाप्य गुरुस्ततः ।
श्रीमान् गुणाकरः सूरिः प्रेत्यकार्याण्यसाधयत् ।।२५।।

(प्रभावक चरित, पत्रांक २२)

२. हा रक्ष रक्ष सोदर्य ! क्रन्दन्तीं करुणस्वरम् ।
अपाजीहरदत्युग्रकर्मभिः पुरुषैः स ताम् ।।३०।।

(प्रभावक चरित, पत्रांक २३)

३. वृत्तिर्विधीयते कच्छे रक्षायै फलसंपदः ।
फलानि भक्षयेत् सैवाख्येयं कस्याग्रतस्तदा ।।३२।।

(प्रभावक चरित, पत्रांक २३)

४. संघेन मन्त्रिभिः पौरैरपि विज्ञापितो दृढम् ।
अत्राजीगणदारूढो मिथ्यामोहे गलन्मतिः ।।३५।।

(प्रभावक चरित, पृ० २३)

५. प्राक्क्षात्रतेज आचार्य उन्निद्रमभजत् ततः ।
प्रतिज्ञां विदधे घोरां तदा कातरतापनीम् ।।३६।।

(प्रभावक चरित। पत्रांक २३)

६. जे संघपच्चणीया पवयणउवघायगा नरा जे य ।
संजमउवघायपरा तदुविक्खाकारिणो जे य ।।
तेसिं वच्चामि गइं, जइ एयं गद्दभिल्लरायाणं ।
उम्मूलेमि ण सहसा, रज्जाओ भट्ठमज्जायं ।।

(प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्रांक ४५७)

७. (क) गर्दभिल्लो नरेन्द्रश्चेत् ततस्तु किमतः परम् ।
यदि देशः समृद्धोऽस्ति ततस्तु किमतः परम् ।।४१।।

(प्रभावक चरित, पत्रांक २३)

(ख) जइ गद्दभिल्लो राया तो किमतः परं ।
जइ वा अंतेपुरं रम्मं तो किमतः परं ।
विसओ जइ वा रम्मो तो किमतः परं ।
सुणिवेट्ठा पुरी जइ तो किमतः परं ।
जइवा जणो सुवेसो तो किमतः परं ।
जइवा हिंडामि भिक्खं तो किमतः परं ।
जइ सुण्णे देउले वसामि तो किमतः परं ।।

(निशीथ चूर्णि उद्दे० १०, भाग ३, पत्रांक ५९-६०)

८. दिनैः कतिपयैस्तस्मान्निर्ययावेक एव सः ।
पश्चिमां दिशमाश्रित्य सिन्धुतीरमगाच्छनैः ।।४३।।

(प्रभावक चरित, पत्रांक २३)

९. तरीभिः सिन्धुमुत्तीर्य सुराष्ट्रां ते समाययुः ।।५९।।

(प्रभावक चरित, पत्रांक २३)

१०. पञ्चाल-लाटराष्ट्रेश भूपान् जित्वाऽथ सर्वतः ।
शका मालवसन्धि ते प्रापुराक्रान्तविद्विषः ॥६७॥

(प्रभावक चरित, पत्रांक २४)

११. आरोपिता व्रते साध्वी गुरुणाऽथ सरस्वती ।
आलोचितप्रतिक्रान्ता गुणश्रेणीमवाप च ॥८७॥

(प्रभावक चरित, पत्रांक २४)

कम्पते मेरुचूलापि रविर्वा पश्चिमोदयः ।
नातिक्रमति पर्वेदं पञ्चमीरजनीं ध्रुवम् ॥१२०॥

(प्रभावक चरित, पत्रांक २५)

१३ ताहे अज्जकालया चिंतेति—ए ए मम सिसा अणुओगं,
न सुणंति तओ किमेएसिं मज्झे चिट्ठामि १…
तओ सुवन्नभूमिए सागराणं लोगेण कहियं, जहा-
अज्जकालगा नाम आयरिया बहुस्सुया बहुपरिवारा
इहाऽऽगंतुकामा पंथे वट्टंति । ताहे सागरा सिस्साणं
पुरओ भणंति—मम अज्जया इंति, तेसिं सगाये पयत्थे
पुच्छीहामित्ति । अचिरेणं ते सीसा आगया । तत्थ अग्गिल्लेहिं
पुच्छीजंति किं इत्थ आयरिया आगया चिट्ठंति ॥१॥
नत्थि, नवरं अन्ने खंता आगया । केरिसा वंदिये नायं
"ए ए आयरिया" । ताहे सो सागरो लज्जिओ ।

१४. अष्टपुष्पीं च तत्पृष्टः प्रभुर्व्याख्यानयत् तदा ।
अहिंसानूनृतास्तेयब्रह्माकिंचनता तथा ॥१५०॥
रागद्वेषपरीहारो धर्मध्यानं च सप्तमम् ।
शुक्लध्यानमष्टमं च पुष्पैरात्मार्चनाच्छिवम् ॥१५१॥

(प्रभावक चरित, पृ० २६)

१५. "जोतिस-निमित्त-वलिया ।"

(निशीथ चूर्णि उद्दे० १०, भाग ३, पत्रांक ५६)

१६. लोगाणुओगे अज्जकालगा । सज्जेतवासिणा (१) एत्तिउं पढ़िउं सो न नाओ मुहुत्तो जत्थ पव्वाविओ थिरो होज्जा । तेण निव्वेएण आजीवगाण सगासे निमित्तं पठियं ।

(पञ्चकल्प चूर्णि, पृ० २४)

२१. महाविद्या-सिद्ध आचार्य खपुट

आर्य खपुट अपने युग के विशिष्ट प्रभावी आचार्य थे। वे प्रभावोत्पादक विद्याओं के स्वामी थे। भव-विभ्रान्त पथिक के लिए विश्रामस्थल थे। निशीथ चूर्णि में आठ व्यक्तियों का धर्म की प्रभावना में महान् योगदान माना गया है।[1] विद्याबल पर प्रभावना करने वालों में वहां आचार्य खपुट का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।[2] अतिशय विद्यासम्पन्नता के कारण प्रबंधकोशकार ने उन्हें 'आचार्य सम्राट्' संज्ञा से अभिहित किया है।[3]

आचार्य खपुट किस गच्छ के थे इस संबंध का कोई भी संकेत साहित्य में उपलब्ध नहीं है।

आचार्य खपुट के भुवन नाम का एक शिष्य था। वह उनका भागिनेय भी था। आर्य खपुट ने उसे अनेक प्रकार की विद्याएं प्रदान की थीं। शीघ्रग्राही बुद्धि के कारण कर्णश्रुति से भी कई विद्याएं उसने ग्रहण कर ली थी। भृगुकच्छ का राजा बलमित्र बौद्ध भक्त था। उसकी सभा में मुनि भुवन का बौद्धों के साथ महान् शास्त्रार्थ हुआ। राजकीय सम्मान प्राप्त, प्रमाणज्ञ, तर्कज्ञ, न्यायज्ञ बौद्ध भिक्षु जैनों से अपने को प्रकृष्ट मानते थे। मुनि भुवन की अकाट्य तर्कों के सामने इस शास्त्रार्थ में वे पूर्ण परास्त हो गए। जैन शासन के विजीगिषु 'वड्ढकर' नामक बौद्धाचार्य गुड़शस्त्रपुर से भृगुकच्छ आए। शास्त्रार्थ में स्याद्वादवादी मुनि भुवन ने उन्हें भी परास्त कर दिया। इससे जैन शासन की महान् प्रभावना हुई।

गुड़शस्त्रपुर में एक बार यक्ष का उपद्रव होने लगा था। जैन संघ विशेषतः इस उपद्रव से आक्रान्त था। गुड़शस्त्रपुर से समागत मुनि द्वय के द्वारा विस्तृत विवरण सहित दुःखद घटनाचक्र की सूचना आचार्य खपुट को मिली। इन मुनियों को जैन संघ ने ही प्रेषित किया था। आचार्य खपुट इस घटना से निर्वेद को प्राप्त हुए। भुवन शिष्य को उन्होंने अपनी कपर्दिका (विशिष्ट विद्या से सम्बन्धित पुस्तक) सौंपी और कहा—"एषा कपर्दिका वत्स नोन्मोच्या कौतुका-दपि"-वत्स ! यह कपर्दिका मैं तुम्हें दे रहा हूं। न किसीके हाथ में देना है, न कौतुक वश होकर भी कभी इसे खोलना है। समग्र प्रकार से उचित प्रशिक्षण देकर आचार्य खपुट भृगुपुर से चले और गुड़शस्त्रपुर पहुंचे। वहां संघ से मिलकर समग्र

स्थिति को जाना। वे यक्षायतन में गए एवं यक्ष के कानों में उपानह डालकर सो गए। पुजारी इस व्यवहार से प्रकुपित हुआ। यह बात राजा के कानों तक पहुंचाई। राजकीय पुरुषों द्वारा आचार्य खपुट की पिटाई होने लगी, पर सब विस्मयाभिभूत हो गए। यष्टि-प्रहार आचार्य खपुट की पीठ पर हो रहा था, करुण क्रन्दन अन्तपुर से सुनाई दे रहा था। राजा समझ गया यह चमत्कार उस विद्या-सिद्ध योगी का है।[४] वह खपुटाचार्य के पास पहुंचा एवं अपने कठोर आदेश के लिए क्षमा मांगी। इस विद्या बल से प्रभावित होकर राजा उनका परम भक्त बना[५] एवं यक्ष-प्रतिमा भी उन्हें द्वार तक पहुंचाने आयी। खपुटाचार्य का नाम मुख पर गूंज उठा। यक्ष का उपद्रव पूर्णतः शान्त हुआ।

आर्य खपुट जैन संघ को आश्वस्त करने हेतु उपद्रव शान्त हो जाने के बाद भी कुछ दिन तक वहीं रुके। इधर भृगुपुर में विचित्र घटना घट गयी। मुनि द्वय भृगुपुर से आर्य खपुट के पास पहुंचे। उन्होंने निवेदन किया—"आर्य ! आपके द्वारा निषेध करने पर भी आपकी कर्पादिका को भुवन शिष्य ने खोला। उससे उसे आकृष्टि महाविद्या प्राप्त हो गई है। वह इस विद्या का दुरुपयोग कर रहा है।

तत्प्रभावाद् वराहार मानीय स्वदतेतराम्।

प्रतिदिन गृहस्थों के घर से आकृष्टि महाविद्या के द्वारा सरस-सरस आहार को खींचकर उसने उसका उपभोग करना प्रारम्भ कर दिया था। रस-लोलुप भुवन को स्थविरों ने बार-बार रोका। वह उसे सहन नहीं कर सका। स्थिति विकट हो गयी। जैन संघ से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर विद्या के गर्व से गुर्राता हुआ भुवन बौद्धों के साथ जा मिला। वहां इसी विद्या के आधार पर आकाश-मार्ग से पात्रों को बौद्ध उपासकों के घर भेजता है और भोजन से परिपूर्ण होने के बाद उन्हें वापस खींच लेता है। इस चमत्कारिक विद्या के प्रभाव से अनेक जैन बौद्ध होने लगे। सारी स्थिति आपके ध्यान में ला दी है। 'यदुचितं तत्कुरुध्वम्'—अब जैसा उचित हो वैसा करें।" आर्य खपुट मुनियों द्वारा समग्र घटना-प्रसंग को सुनकर वहां से चले और भृगुपुर पहुंचे। प्रच्छन्न रूप से कहीं स्थित होकर आर्य खपुट ने विद्याबल के द्वारा आकाश मार्ग से समागत शिष्य भुवन के भोजनपूरित पात्रों को शिला प्रहार से खण्ड-खण्ड कर दिया।[६] भग्न पात्रों से मोदक आदि नाना प्रकार का स्वादिष्ट भोजन लोगों के मस्तक पर गिरने लगा।[७] शिष्य भुवन ने समझ लिया, उसके प्रभाव को प्रतिहत करने वाले आचार्य खपुट आ चुके हैं। वह नाना प्रकार के कल्पित भय से घबरा कर वहां से भाग गया। आर्य खपुट का मुख-मुख से जय-जयकार होने लगा।[८]

पाटलिपुत्र में जैन संघ के सामने भयंकर राजकीय संकट उपस्थित हुआ। वहां के राजा दाहड़ का जैन श्रमणों को आदेश मिला—वे ब्राह्मण वर्ग को नमन करें

अन्यथा उनका शिरच्छेद होगा। राजा की इस घोषणा से जैन संघ में चिन्ता हुई। यह जीवन-संकट का प्रश्न नहीं, धर्म-संकट का प्रश्न था।

देहत्यागान्न नो दुःखं शासनस्याप्रभावना

देहत्याग से उन्हें दुःख नहीं था पर शासन की अप्रभावना पीड़ित कर रही थी। अतिशय विद्यासम्पन्न आर्य खपुट और उनका शिष्य मंडल ही इस संकट से जैन संघ को बचा सकता है।

जैन संघ ने भृगुपुर में दो गीतार्थ स्थविर मुनियों को आचार्य खपुट के पास प्रेषित किया। आर्य खपुट ने समग्र स्थिति को समझा एवं प्रतिकारार्थ अपने विद्वान शिष्य महेन्द्र को वहां भेजा। राजा दाहड़ की सभा में ब्राह्मण पण्डितों के सम्मुख मुनि महेन्द्र द्वारा लाल एवं धवल कणेर के माध्यम से विद्या-प्रयोग का प्रदर्शन जैन संघ के हित में हुआ। राजा दाहड़ झुक गया एवं श्रमण वर्ग के लिए प्रदत्त कठोर आदेश हेतु मुनि महेन्द्र से क्षमा याचना की। बार-बार राजा दाहड़ यही कहता रहा :

क्षमस्वैकं व्यलीकं मे (२८) (प्रभा० चरित, पृ० ३५)

इस घटना-प्रसंग से जैन दर्शन की महती प्रभावना हुई। राजा दाहड़ जैन धर्म का भक्त बन गया।[९]

कुछ समय के बाद शिष्य भुवन ने भी अपने गुरु के पास आकर स्वकृत अविनय की क्षमा-याचना की और श्रमण संघ में मिल गया।[१०] गुरु ने भी उसे योग्य समझकर बहुमान दिया। गुणवान्, विनयवान्, चरित्रवान् एवं श्रुतवान् बनकर भुवन ने संघ को विश्वस्त किया। आचार्य खपुट ने शिष्य भुवन को सूरि पद पर स्थापित कर अनशनपूर्वक स्वर्ग प्राप्त किया।[११] आर्य कालक की भांति अनेक चामत्कारिक घटनाएं खपुटाचार्य के जीवनवृत्त के साथ जुड़ी हुई हैं।

उनके चामत्कारिक प्रसंगों के आधार पर प्रभावक चरित्र आदि साहित्य में वे सर्वत्र विद्यासिद्ध आचार्य के रूप में विशेषित हैं। टीकाकार मलयगिरि ने उन्हें विद्या चक्रवर्ती का सम्बोधन देकर अतिशय विद्याओं पर उनका प्रबल आधिपत्य सूचित किया है।[१२]

श्रीवीरमुक्तितः शतचतुष्टये चतुरशीतिसंयुक्ते।
वर्षाणां समजायत श्रीमानाचार्य खपुटगुरुः ॥७९॥
(प्रभा० चरित, पृ० ४३)

प्रभावक चरित के उक्त उल्लेखानुसार आचार्य खपुट का समय वी० नि० ४८४ (विं० स० १४) है।

आधार-स्थल

१. अइसेस इड्ढि-धम्मकहि-वादि-आयरिय-खमग-णेमित्ती ।
विज्जा-राया-गण-संमता य तित्थं पभावेंति ॥३३॥

(निशीथ भाष्य चूर्णि)

२. नेमित्ती अट्ठंग-णिमित्त-संपण्णो । विज्जासिद्धो जहा अज्जखउडो ।

(निशीथ चूर्णि)

३. कापि गच्छेऽनेकातिशयलब्धिसम्पन्नाः श्री आर्यखपटा नाम आचार्यसम्राजः ।

(प्रबन्धकोश,खपुटाचार्य, प्रबन्ध पृ० ९, पंक्ति १६)

४. तदाकर्ण्य नृपो दध्यौ विद्यासिद्धोऽसौ ध्रुवम् ॥१६२॥

(प्रभावक चरित, पृ० ३३)

५. राजा प्रबोध्य सद्यः श्रावकः कृतः ।

(प्रबन्धकोश, खपुटाचार्य, प्रबन्ध, पृ० १०, पंक्ति २५)

६. पूर्णानि तानि भोज्यानामायान्ति गगनाध्वना ।
गुरुभिः कृतयाऽदृश्यशिलया व्योम्नि पुस्फुटुः ॥१७७॥

(प्रभावक चरित, पृ० ३४)

७. पतन्ति पात्रेभ्यः शालि-मण्डक-मोदकाद्यंशाश्च लोकस्य मस्तकेषु ।

(प्रबन्धकोश, खपुटाचार्य, प्रबन्ध, पृ० ११, पंक्ति ३)

८. जय जय महर्षिकुलशेखर! —इत्यादि स्तुतीरतनिष्ट ।

(प्रबन्धकोश, खपुटाचार्य, प्रबन्ध, पृ० ११, पंक्ति ५)

९. प्रतिबोधितो राजा विप्रलोकश्च । एवं प्रभावनाऽभूत् ।

(प्रबन्धकोश, खपुटाचार्य, प्रबन्ध, पृ० ११, पंक्ति २०)

१०. भुवनोऽपि बौद्धान्परिहृत्य स्वगुरूणां मीलितः ।

(प्रबन्धकोश खपुटाचार्य प्रबन्ध पृ० ११ पंक्ति २१)

११. आर्यखपटाः सूरिपदं भुवनाय दत्वाऽनशनेन द्यामारुरुहुः ।

(प्रबन्धकोश, खपुटाचार्य, प्रबन्ध, पृ० ११, पंक्ति २३)

१२. विज्जाणचक्कवट्टी विज्जासिद्धो स जस्स वेगाऽवि ।
सिज्झेज्ज महाविज्जा, विज्जासिद्धोऽज्जखउडोव्व ॥

(आवश्यक मलय पृ० ५४१)

२२. पारस-पुरुष आचार्य पादलिप्त

आचार्य पादलिप्त गगन-गामिनी विद्या के स्वामी एवं शातवाहन वंशी राजा हाल की सभा में शोभाप्राप्त विद्वान् थे। आठ वर्ष की अवस्था में दीक्षित होकर दस वर्ष की अवस्था में आचार्य पद के दायित्व को पा लेना उनकी महती योग्यता का सूचक है।

न्यायनीति-कुशल, शक्तिशाली राजा विजय वर्मा के द्वारा शासित कौशल नगरी में आचार्य पादलिप्त का जन्म हुआ। कौशल नगरी के निवासी विपुल श्री-सम्पन्न श्रेष्ठी फुल्लचन्द्र उनके पिता थे। उनकी माता का नाम प्रतिमा था। प्रतिमा रूपवती एवं गुणवती महिला थी। उसकी वाक् माधुरी के सामने सुधा घूंट भी नीरस प्रतीत होती। विविध गुणों से सम्पन्न होने पर भी निःसन्तान होने के कारण प्रतिमा चिन्तित रहती। अनेकविध औषधियों का प्रयोग तथा नाना प्रकार के जंत्र-मंत्र आदि भी उसकी चिन्ता को मिटा न सके। एक बार उसने सन्तान-प्राप्ति हेतु वैरोट्या देवी की आराधना में अष्ट दिन का तप किया। तप के प्रभाव से देवी प्रकट हुई। उसने कहा—"ज्ञान-सागर, बुद्धि-उजागर, लब्धिसम्पन्न आचार्य-नागहस्ती के पाद प्रक्षालित उदक का पान करो, उससे तुम्हें पुत्र-रत्न की प्राप्ति होगी।"[1]

आचार्य नागहस्ती विद्याधर गच्छ के थे। विद्याधर गच्छ विद्याधर वंश के श्रुताम्भोनिधि युगप्रधान आचार्य कालक से सम्बन्धित था।[2]

देवी के मार्ग-दर्शन से प्रतिमा प्रसन्न हुई। वह भक्ति-भरित हृदय से उपाश्रय में पहुंची। आचार्य नागहस्ती के पाद-प्रक्षालित उदक की उपलब्धि अपने सम्मुख आते हुए एक मुनि के द्वारा उसे हुई।

आचार्य नागहस्ती से दस हाथ की दूरी पर चरणोदक पान करने के कारण उसे महाकान्तिमान्, द्युतिसम्पन्न दस सन्तानों की प्राप्ति बतलाई। प्रथम पुत्र के महाप्रभावी होने का संकेत भी उन्होंने दिया।

चम्पक, कुसुम आदि नाना सुमनों के मकरन्द पान से उन्मत्त मधुपों की ध्वनि के समान मधुर गिरा से संभाषण करती हुई प्रतिमा विनम्र होकर बोली—"गुरु-देव, मैं अपनी प्रथम सन्तान को आपके चरणों में समर्पित करूंगी।" कृतज्ञता-

ज्ञापन कर महान् आशा के साथ वह अपने गृह लौटी। श्रेष्ठी फुल्लचन्द्र भी पत्नी प्रतिमा से समग्र वृत्तान्त सुनकर प्रसन्न हुए और गुरुचरणों में प्रथम सन्तान को समर्पित कर देने की बात को भी उन्होंने पर्याप्त समर्थन दिया।

काल-मर्यादा सम्पन्न होने पर प्रतिमा ने कामदेव से भी अधिक रूपसम्पन्न, सूर्य से भी अधिक तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया। पुत्र के गर्भकाल में प्रतिमा ने नाग का स्वप्न देखा था। स्वप्न के आधार पर पुत्र का नाम नागेन्द्र रखा गया। माता की ममता और पिता के वात्सल्य से परम पुष्टता को प्राप्त बालक दिन-प्रतिदिन विकास को प्राप्त होता रहा एवं परिजनों के स्नेहसिक्त वातावरण में वह बढ़ता गया।

पुत्र जन्म से पूर्व ही उसे धर्म संघ को समर्पित कर देने हेतु प्रतिमा वचनबद्ध हो चुकी थी, अतः पूर्ण जागरूक रहकर अभिभावक वर्ग ने नागेन्द्र को संरक्षण दिया।

शुभ लग्न एवं शुभ मुहूर्त में अष्टवर्षीय नागेन्द्र को आचार्य नागहस्ती ने दीक्षा प्रदान की। मण्डन मुनि की अध्यक्षता में बालक मुनि का अध्ययन प्रारम्भ हुआ।[३]

मुनि नागेन्द्र की शीघ्रग्राही बुद्धि थी। स्वल्प समय में ही अनेकविध विषयों के साथ लक्षण, प्रमाण साहित्य पर उनका अच्छा अधिकार हो गया।[४]

एक दिन मुनि नागेन्द्र जल लाने के लिए गए। गोचरी से निवृत्त होकर उपाश्रय में लौटने के बाद ईर्या पथिकी आलोचना करने के बाद गुरु के समक्ष उन्होंने एक श्लोक बोला—

अंबं तंबच्छीए अपुप्फियं पुप्फदंतपंतीए।
नवसालिकंजियं नवबहूइ कुडएण मे दिन्नं ॥३८॥

(प्रभा० च०, पृ० २६)

ताम्र की भांति ईषत् रक्ताभ, पुष्पोपम दन्तपंक्ति की धारिणी नववधू ने मृण्मय पात्र से यह कांजी जल प्रदान किया है।

शिष्य के मुख से शृंगारमयी भाषा में काव्य को सुनकर गुरु कुपित हुए। रोषारुण स्वरों में वे बोले—"पलित्तओसि।" यह शब्द प्राकृत भाषा का रूप है एवं रागाग्नि से प्रदीप्त भावों का द्योतक है।

सद्योत्तर प्रतिभा मुनि नागेन्द्र के पास थी। गुरु द्वारा उच्चारित शब्द को अर्थान्तरित कर देने हेतु मुनि नागेन्द्र ने नम्र होकर कहा—"आर्य ! पलित्त में एक मात्रा बढ़ाकर उसको पालित्त बना देने का मुझे आप द्वारा प्रसाद प्राप्त हो। मात्रा वृद्धि से पलित्तओ का संस्कृत में पादलिप्त हो जाता है। पादलिप्त शब्द से मुनि नागेन्द्र का तात्पर्य था :

"गगनगमनोपायभूतां पादलेपविद्यां मे देहि येनाहं 'पादलिप्तक' इत्य-

भिधीये ।"—मुझे गगन गमन में उपायभूत पादलेप विद्या का दान करें जिससे मैं पादलिप्तक कहलाऊं।

एक मात्र की वृद्धि मात्रा से पलित शब्द को विलक्षण अर्थ प्रदायिनी मुनि नागेन्द्र की प्रज्ञा पर गुरु प्रसन्न हुए और उन्होंने पादलेप से प्राप्त गगनगामिनी विद्या शिष्य को प्रदान की। इस विद्या के आधार पर ही मुनि नागेन्द्र का नाम पादलिप्त प्रसिद्ध हो गया था।

प्रभावक चरित में पादलिप्तक के स्थान पर पादलिप्त शब्द है—"पादलिप्तो भवान् व्योमयानसिद्ध्या विभूषितः" ॥४१॥

प्रस्तुत संदर्भ में मैंने पादलिप्त एवं पादलिप्तक दोनों शब्दों का प्रयोग किया है।

दस वर्ष की अवस्था में गुरु ने उन्हें आचार्य पद पर नियुक्त किया।[5] आचार्य पादलिप्त के शिशुकाल में ही गुरु ने उनकी माता से बालक के संघ मुख्य होने का संकेत कर दिया था। गुरु की भविष्यवाणी सत्य प्रमाणित हुई।

एक बार आचार्य पादलिप्त का मथुरा से पाटलीपुत्र में पदार्पण हुआ। पाटलीपुत्र का राजा मुरुण्ड था।[6] छह महीनों से उसे मस्तिष्क-पीड़ा बाधित कर रही थी। अनेक प्रकार के उपचार किए गए पर किसी प्रकार की चिकित्सा वेदना को उपशान्त न कर सकी। राजपरिवार में निराशा छा गयी थी। तभी महाप्रभावी आचार्य पादलिप्त के आगमन की बात सुनी। राजा का आदेश प्राप्त कर मंत्री पादलिप्त के पास गया और निवेदन किया :

शिरोर्तिर्निर्वर्त्यताम्, कीर्तिधर्मौ संचीयेताम्"

(प्रबन्धकोश, पृ० १२, पंक्ति २५)

आर्य ! राजा के मस्तिष्क-पीड़ा को निवर्त्तन कर कीर्त्ति धर्म का उपार्जन करें। मंत्री की प्रार्थना पर आचार्य पादलिप्त वहां पहुंचे।

प्रदेशिनी अंगुली को अपने जानु पर घुमाकर क्षण-भर में उन्होंने राजा के सिरदर्द को ठीक कर दिया।[7] कला-कौशल से किसी भी व्यक्ति को अपना बनाया जा सकता है। पादलिप्त की मंत्र-विद्या से पूर्ण स्वस्थता को प्राप्त कर महाराज मुरुण्ड उनके परम भक्त बन गए। इस घटना के सम्बन्ध में प्रसिद्ध श्लोक है :

जह जह पएसिणि जाणुयंमि पालित्तउ भमाडेइ।
तह तह से सिरवियणा पणस्सई मुरण्डरायस्स ॥५६॥

(प्रभा० चरित, पृ० ३०)

महाराज मुरुण्ड एवं पादलिप्त से सम्बन्धित कई घटनाएं इतिहास-प्रसिद्ध एवं पादलिप्त के बुद्धि-कौशल की परिचायिकाएं हैं।

शत्रुञ्जय की यात्रा करते समय आचार्य पादलिप्त का मिलन निमित्त विद्या निष्णात श्रमण सिंह सूरि और रौद्रदेव सूरि से हुआ था। उनसे प्रभावक विद्याओं

की उपलब्धि आचार्य पादलिप्त को हुई।

एक बार पादलिप्त के वैदुष्य से प्रभावित लाट देश के पण्डितों ने उनसे प्रश्न किया :

पालित्तय ! कह सु फुडं सयलं महिमंडलं भमंतेण।
दिट्ठं सुयं च कत्थ वि चंदणरससीयलो अग्गी ।।१०६।।
(प्रभा० चरित, पृ० ३१)

महिमण्डल पर भ्रमण करते हुए आपने कहीं अग्नि को चन्दन रस के समान शीतल देखा या सुना है ?

पादलिप्त ने त्वरा से काव्यमयी भाषा में उत्तर दिया :

अयसाभियोग संदूमियस्स पुरिसस्स सुद्धहियस्स।
होइ वहं तस्स दुहं चंदणस्स सीयलो अग्गी ।।१११।।
(प्रभा० चरित, पृ० ३२)

—जो व्यक्ति पवित्र हृदय के हैं उन्हें अपनी अकीर्तिजन्य दुःख के सामने अग्नि भी शीतल चन्दन के समान प्रतीत होती है।

आचार्य पादलिप्त की प्रत्युत्पन्न प्रतिभा का प्रभाव विद्वानों के हृदय में गहरा अंकित हो गया।

यहीं पर खपुटाचार्य के शिष्य मुनि महेन्द्र से पादलिप्त का मिलन हुआ था। दक्षिण दिशा में परिभ्रमण करते हुए आचार्य पादलिप्त ने प्रतिष्ठानपुर की ओर प्रस्थान किया। उनके आगमन की चर्चा वहां के दानवीर शासक शातवाहन की विद्वन्मंडली में चली। पण्डितों ने शरद्कालीन सघन (जमा हुआ) घृत से भरा कटोरा एक व्यक्ति के साथ उनके सम्मुख भेजा। आचार्य पादलिप्त तीक्ष्ण प्रतिभा के धनी थे। वे विद्वानों की भावना को भांप गए। उन्होंने घृत में सूई डालकर कटोरे को लौटा दिया। विद्वानों का अभिमत था :

एवमेतन्नगरं बिदुषां पूर्ण मास्ते, यथा घृतस्य पात्रं तस्माद्विमृश्य प्रवेष्टव्यम्।
(प्रबन्धकोश, पृ० १४, पंक्ति १४)

—शातवाहन की नगरी घृत से भरे कटोरे की भांति विद्वानों से भरी है। इस बात का नगरी में प्रवेश करने से पूर्व भली भांति चिन्तन कर ले।

आचार्य पादलिप्त का उत्तर था :

"घृत से भरे कटोरे में जैसे सूई समा गयी है उसी प्रकार विद्वानों से मण्डित शासक शातवाहन की नगरी में मैं प्रवेश पा सकूंगा।" आचार्य पादलिप्त की विद्वत्ता का शातवाहन की विद्वन्मण्डली पर भारी प्रभाव हुआ। आचार्य पादलिप्त के नगर-प्रवेश के समय विद्वद् वर्ग सहित नृप ने सम्मुख जाकर स्वागत किया।

यात्रा के क्रम में एक बार आचार्य पादलिप्त सौराष्ट्र में विहरण करते हुए ढंकापुरी में पहुंचे। वहीं पर उनको नागार्जुन शिष्य की उपलब्धि हुई। क्षत्रिय

पुत्र नागार्जुन नाना प्रकार की औषधियों का परिज्ञाता था। स्वर्ण बनाने की रसायन विद्या भी वह जानता था।

एक दिन प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य पादलिप्त के आगमन की बात उसने सुनी। स्वागत में शिष्य के द्वारा स्वर्ण निर्मापक रसायन से भरा पात्र उनके पास भेजा। आचार्य पादलिप्त ने उसे पत्थर पर पटककर तोड़ डाला एवं कांच पात्र को स्व-प्रस्रवण से भरकर उसी शिष्य के साथ लौटा दिया। कटोरे की ढक्कन उठाकर विद्वान् नागार्जुन ने उसे सूंघा। भारी दुर्गन्ध उसमें फूट रही थी। आचार्य पादलिप्त के इस व्यवहार से नागार्जुन कुपित हुआ एवं पात्र को शिलाखण्ड पर पटका। प्रस्रवण का स्पर्श होते ही अग्नि प्रज्वलित हुई एवं शिलाखण्ड स्वर्ण बनकर चमक उठा। आचार्य पादलिप्त के प्रस्रवण स्पर्श से भी स्वर्णसिद्धि देख, अपनी रसायन विद्या पर गर्व करने वाले रसायनवेत्ता विद्वान् नागार्जुन का गर्व मिट्टी में मिल गया।

वह आचार्य पादलिप्त की सन्निधि में रहने लगा।[८] गगन-गामिनी विद्या प्राप्त करने का अभिलाषी विद्वान् नागार्जुन प्रशान्तभाव से उनकी देह-सुश्रूषा एवं चरण-प्रक्षालन का कार्य करता। आर्य पादलिप्त पैरों पर लेप लगाकर तीर्थ भूमिक गिरिशृंगों पर प्रतिदिन गगन-मार्ग से जाते और आते थे। उनके आवागमन का यह कार्य एक मुहूर्त में सम्पन्न हो जाता था। विद्याचरण लब्धि के धारक साधकों की-सी क्षमता आर्य पादलिप्त में थी। आर्य नागार्जुन उनके पाद-प्रक्षालित उदक के वर्ण-गन्ध-स्वाद आदि को समझकर, सूंघकर, चखकर १०७ द्रव्यों का ज्ञाता हो गया।[९] आचार्य पादलिप्त की भांति विद्वान् नागार्जुन भी पैरों पर लेप लगाकर आकाश में उड़ता पर पूर्ण ज्ञान के अभाव में वह ताम्रचूड़ पक्षी की तरह थोड़ी ऊंचाई पर जाकर नीचे गिर पड़ता एवं घायल हो जाता था। पैरों के घाव को देखकर आचार्य पादलिप्त विद्वान् नागार्जुन की असफलता का कारण समझ गए और उनसे बोले, "कुशल मनीषी! तुम्हारी इस अपूर्णता का कारण गुरुगम्य ज्ञान का अभाव है।[१०] ज्ञान-प्राप्ति की दिशा में अहं का साथ नहीं निभता।" आचार्य पादलिप्त से दिशा-दर्शन पाकर विद्वान् नागार्जुन उनके चरणों में गिरा एवं गगनगामिनी विद्या की मांग की। आचार्य पादलिप्त ने पुनः कहा—"मेरे से प्रशिक्षण पाने हेतु शिष्य बनना आवश्यक है।" विद्वान् नागार्जुन ने उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। उदारवृत्तिक आचार्य पादलिप्त ने पादलेप विद्या का समग्रता से बोध देते हुए कहा—"शिष्य! तुम्हें एक सौ सात औषधियों का ज्ञान उपलब्ध है। इनके साथ कांजीजल-मिश्रित साठी तण्डुल का लेप करो।[११] तुम निर्बाध गति से गगन यात्रा कर सकोगे।" गुरु के मार्ग-दर्शन से नागार्जुन को अपने कार्य में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

आचार्य पादलिप्त को धर्म प्रचार में विद्वान् शिष्य नागार्जुन का अत्यधिक

सहयोग मिला। आचार्य नागार्जुन ने आर्य पादलिप्त का अपने पर महान् उपकार माना है। उनकी पावन स्मृति में आर्य नागार्जुन की प्रेरणा से शत्रुञ्जय पर्वत की तलहटी में बसे एक नगर का नाम पालितायण हुआ था।

मानखेटपुर के राजा कृष्ण एवं ओंकार पुर के राजा भीम भी आचार्य पादलिप्त की प्रतिभा पर मुग्ध थे।

आर्य पादलिप्त महान् साहित्यकार थे। उन्होंने 'प्रश्न प्रकाश', 'निर्वाण कलिका' आदि उत्तम ग्रन्थों की रचना की। 'तरंग लोला' नामक एक चम्पू काव्य का निर्माण कर राजा शातवाहन की सभा में उसका व्याख्यान किया। काव्य सुनकर राजा तुष्ट हुआ। कवीन्द्र के नाम से आर्य पादलिप्त की ख्याति हुई। कवियों ने भी मुक्त कंठ से प्रशंसा की। राजसम्मानिता-गुणज्ञा गणिका ने उनकी स्तवना में एक शब्द भी न कहा। राजा शातवाहन पादलिप्त से बोले—"तत्क्रियतां येन स्तुते।" आर्य ऐसा उपक्रम करें जिससे यह गणिका भी आपके इस काव्य की स्तुति में हमारे साथ हो। प्रभावक चरित्र के अनुसार गणिका के स्थान पर पांचाल कवि का उल्लेख है। आचार्य पादलिप्त के काव्य श्रवण से सब सन्तुष्ट थे पर असूयाक्रांत पांचाल कवि काव्य में दोषों को आरोपित कर रहा था।

आचार्य पादलिप्त कवि ही नहीं थे, चामत्कारिक विद्याओं पर भी उनका अधिकार था। वे उपाश्रय में गए एवं पवन-जय सामर्थ्य से श्वास की गति का अवरोध कर पूर्ण निश्चेष्ट हो गए। उनकी कपट पूर्ण मृत्यु भी यथार्थ मृत्यु की प्रतीति करा रही थी। सर्वत्र हाहाकार फूट पड़ा। आर्य पादलिप्त का शवयान नगर के प्रमुख मार्गों से ले जाया जा रहा था। वाद्यों की ध्वनि उठ रही थी। शव-यात्रा पांचाल कवि के द्वार तक पहुंची। आचार्य पादलिप्त को शवयान में देखते ही शोक-पूरित कवि पांचाल रो पड़ा और बोला :

> आकरः सर्वशास्त्राणां रत्नानामिव सागरः।
> गुणैर्न परितुष्यामो यस्य मत्सरिणो वयम् ॥३४०॥
>
> (प्रभा० च० पृ० ३९)

—रत्नाकर की भांति समग्र शास्त्रों के आकर महासिद्धिपात्र आचार्य पादलिप्त थे। इर्ष्यावश मैं उनके गुणों से भी परितुष्ट नहीं हुआ। मेरे जैसे असूयी व्यक्ति को कभी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी। आचार्य पादलिप्त उच्च कोटि के कवि थे।

> सीसं कहवि न फुट्टं जमस्स पालित्तयं हरंतस्स।
> जस्स मुहनिज्झराओ तरंगलोला नई वूढ़ा ॥३४१॥
>
> (प्रभा० चरित, पृ० ३९)

—जिनके मुख निर्झर से 'तरंग लोला' नदी प्रवाहित हुई उन पादलिप्त के प्राणों को हरण करने वाले यमराज का सिर फूटकर दो टूक क्यों न हो गया।

कवि पांचाल के मुख से अपनी प्रशंसा सुनकर आचार्य पादलिप्त उठ बैठे और बोले—"मैं कवि जी के सत्य वचन के प्रयोग से जीवित हो गया हूं।" आचार्य पादलिप्त में प्राण-शक्ति का संचार देख सभीके मुख कमल-दल की भांति मुस्करा उठे।

प्रबन्धकोष के अनुसार इस विस्मयकारक घटना को देखकर गणिका बोली—"मुने ! आप मरकर भी हमारे मुख से स्तुति पाठ करवाते हैं।"

पादलिप्त ने कहा, "पञ्चम वेद का संगान मृत्यु के बाद ही होता है।" आचार्य पादलिप्त के उत्तर से शोकपूरित वातावरण खिलखिला उठा।

आचार्य पादलिप्त अपने युग के प्रकृष्ट विद्वान् थे। वह युग प्राकृत का उत्कर्ष काल था। 'तरंगवती कथा' आचार्य पादलिप्त की सरस प्राकृत रचना है। यह प्राकृत कथासाहित्य का आदिस्रोत भी है। आचार्य पादलिप्त ने एक दिन में राजा शातवाहन विद्वद् भोग्य कथा का निर्माण कर राजा शातवाहन की सभा में इसका वाचन किया था। आचार्य उद्योतन की कुवलयमाला में पादलिप्त एवं तरंगवती कथा का उल्लेख है। नेमिचन्द द्वारा निर्मित १६४२ गाथाओं का 'तरंग लोला' नामक ग्रन्थ आचार्य पादलिप्त की कथा का ही संक्षिप्त रूप माना गया है।

राजा शातवाहन स्वयं भी कवि था। उसकी कृति 'गाथा सप्तति' अनेक कवियों की रचना का संकलन है। उनमें पादलिप्त का काव्य श्लोक भी है।

आचार्य पादलिप्त के जीवन के मुख्य प्रसंग—बाल्यकाल में ही श्रमण दीक्षा ग्रहण, धर्म प्रचारार्थ मथुरा, पाटलिपुत्र, लाट, सौराष्ट्र शत्रुञ्जय आदि अनेक स्थानों पर भ्रमण, मुरुण्ड आदि कई राजाओं को प्रतिबोध देकर उन्हें सुलभ बोधि बनाने के सफल प्रयत्न और तरंगवती जैसे उच्चकोटि के प्राकृत काव्य का निर्माण है।

प्रभावी आचार्य पादलिप्त शत्रुञ्जय पर्वत पर ३२ दिवसीय अनशन के साथ स्वर्गगामी हुए।[१२] प्रोफेसर लॉयमन ने आचार्य पादलिप्त का समय ई० स० दूसरी-तीसरी शताब्दी माना है। इस आधार पर आचार्य पादलिप्त वी० नि० की ७वीं (वि० २) शताब्दी के विद्वान् प्रतीत होते हैं।

आधार-स्थल

१. श्री कालिकाचार्यसन्ताने विद्याधरगच्छे श्रुतसमुद्रपारग श्री आचार्य नागहस्ति गुरुणा-मनेकलब्धिवतां पुत्रेच्छया पादप्रक्षालनजलं पिब।

(पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृ० ९२, पंक्ति १५)

२. अथो फणीन्द्रकान्ताऽसावादिदेश सुते ! शृणु ।
पुरा नमि-विनम्याख्लविद्याधरवराग्ये ॥१४॥
आसीत् कालिकसूरिः श्रीश्रुताम्भोनिधिपारगः ।
गच्छे विद्याधराख्यस्यार्यनागहस्तिसूरयः ॥१५॥

(प्रभावक चरित, पृ०,२८ पं १४-१५)

३. गुरुभिरागत्याष्टमे वर्षे दीक्षितः । मण्डनाभिधस्य मुनेः पार्श्वे पाठितः

(प्रबन्ध कोश, पृ० सं० १२)

४. लसल्लक्षण-साहित्य-प्रमाण-समयादिभिः ।
शास्त्रैरनुपमो जज्ञे विज्ञेशो वर्षमध्यतः ॥३४॥

(प्रभावक चरित, पृ० सं० २९)

५. इत्यसौ दशमे वर्षे गुरुभिर्गुरुगौरवात् ।
प्रत्यष्ठाप्यत पट्टे स्वे कषपट्टे प्रभावताम् ॥४२॥

(प्रभावक चरित पृ० सं० २९)

६. दिनानि कतिचित् तत्र स्थित्वाऽसौ पाटलीपुरे ।
जगाम तत्र राजास्ति मुरण्डो नाम विश्रुतः ॥४४॥

(प्रभावक चरित, पृ० सं० २९)

७. ततः सूरीन्द्रो राजकुलं गत्वा मन्त्रशक्त्या क्षणमात्रेणशिरोर्तिमपहृरतिस्म ।

(प्रबन्धकोश पृ० सं० १२ पंक्ति २९)

८. स च विद्याध्ययनार्थं पादलिप्तक पुरे-पादलिप्ताचार्यं विद्यार्थी सेवते ।

(पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृ० सं० ९१ पंक्ति ११)

९. आगतानां नागार्जुनश्चरणक्षालनं कृत्वा स्वाद-वर्ण गन्धादिभिः सप्तोत्तरं शतमौषधाना-ममीलयत् ।

(पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृ० सं० ९१, पंक्ति १३)

१०. गुरुभिरुक्तम्—गुरुन् विना कलाः कथं फलदाः स्युः ।

(पुरातन प्रबन्धक संग्रहपृ० स० ९१, पंक्ति १५)

११. आरनालमिश्रतन्दुलेनैकेनौषधानिपिष्ट्वा पादलेपे खगमनसिद्धिः ।

(पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृ० सं० ९४, पंक्ति ३, ४)

१२. अथ प्रभुः शत्रुञ्जये रदनसख्योपवासानशनेन ईशानेन्द्रसामानिकत्वेनोदपद्यतेति ।

(प्रबन्धकोश, पृ० १४, पंक्ति २९)

२३. विलक्षण वाग्मी आचार्य वज्र स्वामी

सौभाग्यनिधि प्रकृष्ट वाग्मी आचार्य वज्र स्वामी का जीवन विलक्षण विशेषताओं से मंडित था। शैशव काल में भी उनका मानस विरक्ति के झूले में झूलता रहा। दुग्धपान के साथ एकादशांगी का अमृत पान कर वे अध्यात्म पोष को प्राप्त हुए। गृहस्थ जीवन में भी दीक्षागुरु द्वारा उनका नामकरण हुआ। तीन वर्ष की अवस्था में भी मातृवात्सल्य को ठुकराकर साधु-संगति से प्यार किया। आठ वर्ष की अवस्था में वे त्याग के पथ पर बढ़ चले। रूपश्री एवं वाग्माधुर्य पर मुग्ध श्रेष्ठी पुत्री रुक्मिणी को संयम मार्ग की पथिका बनाने का श्रेय भी उन्हें है। वे आचार्यों की परम्परा में अन्तिम दश पूर्वधर थे एवं गगन-गामिनी विद्या के उद्धारक थे।[1]

अवन्ति देश के अन्तर्गत स्वर्गीय नगर तुम्बवन में आर्य वज्र का जन्म हुआ। उनका परिवार सब प्रकार से सम्पन्न था, सुखी था। उनके पितामह श्रेष्ठी धन उस नगर के समृद्ध व्यक्ति थे। अपने सौम्य, औदार्य, गाम्भीर्य आदि गुणों से समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त थे।

आर्य वज्र स्वामी के पिता का नाम धनगिरि था। आर्य वज्र जब गर्भ में थे तभी उनके पिता श्री धनगिरि ने आर्य सिंहगिरि के पास दीक्षा ग्रहण कर ली थी। उनके दीक्षा ग्रहण करने की घटना विचित्र है।

धनगिरि विवेकसम्पन्न बालक थे। सांसारिक विषयों के प्रति कमल की भांति निर्लेप थे। उसी नगर में महालक्ष्मी का स्वामी धनपाल रहता था। वह प्रसिद्ध व्यापारी था। धनपाल के पुत्र का नाम समित था एवं पुत्री का नाम सुनंदा था। धनगिरि की भांति समित भी भोगों के प्रति अनासक्त था। श्रुत मलयाचल आर्य सिंहगिरि के आगमन पर परम वैराग्य को प्राप्त समित ने उनसे दीक्षा ग्रहण की। गुणवती सुनंदा तब तक अवस्था प्राप्त हो चुकी थी। धनपाल को पुत्री के विवाह की चिन्ता का भार अधिक समय तक वहन नहीं करना पड़ा। सुनंदा धनगिरि के रूप और गुणों पर मुग्ध थी। उसने एक दिन अपने विचार पिता के सम्मुख प्रस्तुत किए।[2] सम्भवतः उस युग में भी लड़कियां वर-चुनाव में स्वतंत्र थी। धनपाल ने भी पुत्री के विचारों को ठीक समझा। धनगिरि से इस संबंध की बातचीत की

और अपनी रूपवती कन्या सुनंदा से पाणि ग्रहण करने के लिए उन्होंने आग्रह किया। विरक्त धनगिरि के मानस में भोग-कामना की कोई रेखा अंकित नहीं थी। उन्होंने निस्पृह भाव से अपने विचारों को प्रस्तुत करते हुए दामाद बनाने को उत्सुक श्रेष्ठी धनपाल से कहा :

सुहृदां सुहृदां किं स्याद् बन्धनं कर्तुमौचिती।

—३८ श्लोक

—अपने ही मित्रजनों को भव भ्रामक बंधन में डालना स्वजनों के लिए कहां तक समीचीन है? धनगिरि की प्रश्नात्मक शैली में उपदेशमयी भाषा सुनकर श्रेष्ठी धनपाल गंभीर हुए एवं अध्यात्मभावभूमि पर भावों को अभिव्यक्ति देते हुए बोले; "भवार्णव पारगामी ऋषभ प्रभु ने भी संसार के कर्त्तव्य को निभाने हेतु इस बंधन को स्वीकार किया था। अतः मेरी बात किसी प्रकार से अनुचित नहीं है।" नारी को बंधन मानते हुए भी धनगिरि श्रेष्ठी धनपाल के आग्रह को टाल न सके। उन्होंने अन्यमनस्क भाव से उनके निवेदन की मौन स्वीकृति प्रदान की।

शुभ मुहूर्त्त एवं शुभ घड़ी में सुनंदा एवं धनगिरि का विवाह उल्लासमय वातावरण में सम्पन्न हुआ। सांसारिक भोगों को भोगते हुए उनका जीवन सानंद बीतता गया। एक दिन सुनंदा गर्भवती हुई। स्वप्न के आधार पर पुत्ररत्न का आगमन जान पति-पत्नी दोनों को प्रसन्नता हुई।

धनगिरि ने अपने को धन्य माना। उन्हें लगा अपनी मनोकामना पूर्ण करने का अब उचित अवसर उपस्थित हो गया है। अपनी भावना को पत्नी के सामने प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा, "आर्ये! नारी का बाल्यकाल में पिता के द्वारा, यौवन में पति के द्वारा एवं वार्धक्य अवस्था में पुत्र के द्वारा संरक्षण प्राप्त होता है।[३] तुम्हारे स्वप्न के आधार पर तुम निःसंदेह पुत्र के सौभाग्य को प्राप्त करोगी। तुम्हारे मार्ग में अब किसी प्रकार की चिन्ता अवशिष्ट नहीं रही है। मैं भी अपने कर्त्तव्य-ऋण को उतार चुका हूं। अब तुम मुझे प्रसन्नतापूर्वक संयम-मार्ग पर बढ़ने के लिए आज्ञा प्रदान करो।" नारी का मानस सदा भावुक होता है। मधुर बातों से उसे किसी बात के लिए उकसाया जा सकता है, मनाया जा सकता है एवं भरमाया जा सकता है। सौम्य हृदया सुनंदा एक ही बार में पति के प्रस्ताव पर सहमत हुई एवं उसने व्रत ग्रहण करने के लिए सहर्ष आज्ञा प्रदान कर दी।

उत्तम पुरुष श्रेय कार्य में क्षणमात्र भी किसी की प्रतीक्षा नहीं करते। पत्नी के द्वारा आदेश-स्वीकृति मिलते ही श्रेष्ठीपुत्र धनगिरि जीर्ण धागे की तरह प्रेम-बन्धन को तोड़कर महा त्याग के कठिन पथ पर चल पड़े। उनके दीक्षा-प्रदाता गुरु आर्य सिंहगिरि थे।

आर्य समित एवं धनगिरि परस्पर साला-बहनोई थे। दोनों का संबंध सुनंदा के निमित्त से जुड़ा हुआ था। जैन शासन में दोनों प्रभावी मुनि थे। पैरों पर लेप

लगाकर नदी तैरने वाले ५०० तापसों के विस्मयाभिकारक मायावी आवरण को हटाकर भ्रान्त जनता के सामने सत्य धर्म का यथार्थ रूप प्रस्तुत करने वाले आर्य समित एवं प्रचार में अनन्य सहयोगी मुनि धनगिरि आर्य सिंहगिरि के दो सुदृढ़ भुजा स्वरूप थे। इन मुनियों के सहयोग से आर्य सिंहगिरि का धर्म-प्रचार दिन प्रतिदिन उत्कर्ष पर था।

इधर गर्भकाल की स्थिति सम्पन्न होने पर सुनंदा ने महातेजस्वी पुत्ररत्न को वी० नि० ४९६ (वि० २६) में जन्म दिया। पुत्र-जन्मोत्सव मनाने की तैयारियां प्रारम्भ हुईं। कई सखियां सुनंदा को घेरकर खड़ी थीं। जन्मोत्सव की आनन्दमय घड़ी में धनगिरि का स्मरण करती हुई वे बोलीं—"बालक के पिता धनगिरि प्रव्रज्या ग्रहण नहीं करते और इस समय उपस्थित होते तो आज जन्मोत्सव के हर्षोल्लास का रूप कुछ दूसरा होता। स्वामी के बिना घर की शोभा नहीं होती। चन्द्र के बिना नभ की शोभा नहीं होती।"

नारी जन के आलाप-संलाप को नवजात शिशु ने सुना। उसका ध्यान प्रस्तुत वार्तालाप पर विशेष रूप से केन्द्रित हुआ। भीतर ही भीतर ऊहापोह चला। तदावरण क्षीण होता गया। ज्ञानावरोधक कर्म के प्रबल क्षयोपशम भाव का जागरण होते ही बालक को जाति-स्मरण ज्ञान की प्राप्ति हुई।[४] चिन्तन की धारा आगे बढ़ी। सोचा, महापुण्यभाग पिता ने संयम ग्रहण कर लिया है। मेरे लिए भी अब वही मार्ग श्रेष्ठ है। इस उत्तम पथ की स्वीकृति में मां की ममता बाधक बन सकती है। ममत्व के गाढ़ बन्धन को शिथिल कर देने हेतु बालक ने रुदन करना प्रारम्भ कर दिया। वह निरन्तर रोता रहता है। सुनंदा सुखपूर्वक न सो सकती थी, न बैठ सकती थी, न भोजन कर सकती थी। घर का कोई भी कार्य वह व्यवस्थित रूप से नहीं कर पाती थी। उसने बालक को प्रसन्न करने के नाना प्रयत्न किए। किसी प्रकार की राग-रागिनी उसके क्रंदन को बन्द न कर सकी और न अन्य प्रकार के साधन भी उसे लुभा सके। सुनंदा बहुत अधिक स्नेह देती, प्यार करती, मधुर लोरियां गा-गाकर उसे सुलाने का प्रयत्न करती पर, बालक का रुदन कम न हुआ। छह महीने पूर्ण हो गए, किसी भी जन्त्र, मन्त्र, औषध-चिकित्सा का उस पर प्रभाव न हुआ। सुनंदा बालक-रुदन से खिन्न हो गई।

एवं जग्मुश्च षण्मासा षड् वर्षशतसन्निभा ।।५५।। प्रभा० च०, पृ० ३

—उसे छह मास भी छह सौ वर्ष जैसे लगने लगे।

एक दिन आर्य सिंहगिरि का तुम्बवन नगर में पदार्पण हुआ। आर्य समित एवं मुनि धनगिरि भी उनके साथ थे। प्रवचनोपरांत गोचरी के लिए धनगिरि ने गुरु से आदेश मांगा। उसी समय पक्षीरव सुनाई दिया। निमित्त ज्ञान के विशेषज्ञ आचार्य सिंहगिरि ने कहा—"मुने! यह पक्षी का शब्द शुभ कार्य का संकेतक है। आज तुम्हें भिक्षा में सचित्त-अचित्त जो कुछ भी प्राप्त हो उसे बिना विचार किए

ले आना। अतुच्छधी प्रसन्नमना धनगिरि ने गुरु के निर्देश को 'तथेति' कह स्वीकृत किया और अपने निर्धारित लक्ष्य की ओर बढ़ चले। दोनों ने सर्वप्रथम सुनंदा के गृह की पूर्व परिचित राह पकड़ी। आर्य समित एवं धनगिरि को आते देख सखी जनों ने सुनंदा को उनके आगमन की सूचना दी और कहा—"सुनन्दे ! चिन्ता-मुक्त होने के लिए सुन्दर अवसर उपस्थित हुआ है। बालक के पिता मुनि धनगिरि स्वयं तुम्हारे प्रांगण को शीघ्र पवित्र करने वाले हैं। उन्हें अपने पुत्र का दान कर सुखी बनो।"

बालक के अनवरत रुदन से सुनंदा को सखियों की बात पसन्द आयी। वह आगमन से पूर्व ही पुत्र को गोद में लेकर खड़ी हो गयी। आर्य समित एवं मुनि धनगिरि सुनंदा के घर पहुंचे। सुनंदा ने उनको वन्दन किया और बोली—"मुने ! पुत्र के अनवरत रुदन से मैं खिन्न हूं। माता-पिता दोनों पर सन्तान के संरक्षण का दायित्व होता है। इतने दिन बालक का पालन मैंने किया है। अब आप इस दायित्व को संभालें। इसे अपने पास रखें। बालक मेरे पास रहें या आपके पास इसकी कोई चिन्ता नहीं। यह सुखी रहेगा इसमें मुझे प्रमोद है।"

दूरदर्शी मुनि धनगिरि ने कहा—"मैं इस पुत्र को दान में स्वीकार कर सकता हूं पर भविष्य में इस घटना से कोई जटिल समस्या पैदा न हो जाए, अतः विग्रह-विवाद से बचने के लिए साक्षीपूर्वक यह कार्य करो। अभी से सोच लेना, भविष्य में तुम किसी प्रकार की मांग पुत्र के लिए नहीं रख सकोगी।"

निर्वेद प्राप्त सुनंदा बोली—"इस समय आर्य समित और ये मेरी सखियां भी साक्षी हैं। मैं अपने पुत्र के लिए भविष्य में किसी प्रकार का प्रश्न खड़ा नहीं करूंगी।"[५]

सम्यक् प्रकार से कार्य की भूमिका को सुदृढ़ बनाकर मुनि धनगिरि ने बालक को पात्र में ग्रहण कर लिया। मुनि धनगिरि के पास आते ही बालक चुप हो गया मानो उसे अपना लक्ष्य मिल गया हो।

मुनि धनगिरि बालकसहित पात्र को उठाकर चले। गुरु के समीप पहुंचे। भारी पात्र से मुनि धनगिरि का हाथ लचक रहा था, कंधा झुक गया था। चलने में भी कठिनाई का अनुभव हो रहा था। आर्य सिंहगिरि मुनि धनगिरि को अधिक भार सहित आते देख उनका सहयोग करने के लिए उठे और धनगिरि के हाथ से पात्र को अपने हाथ में लिया। आर्य सिंहगिरि को भी पात्र अपने हाथ से छूटता-सा लग रहा था। उनके मुंह से शब्द निकला—"यह वज्रोपम क्या उठा लाए हो ?" सहज भाव से उच्चारित वज्र शब्द बालक का स्थायी नाम बन गया। आज भी उनकी प्रसिद्धि वज्र स्वामी के रूप में है।

'होनहार बिरवान के होत चिकने पात' यह लोकोक्ति बालक वज्र के जीवन में सत्य प्रतीत हो रही थी। उसका सौम्य वदन, तेजस्वी भाल एवं चमकते नेत्र

शुभ भविष्य की सूचना दे रहे थे। निमित्त ज्ञानी आर्य सिंहगिरि को लगा, यह बालक प्रवचनाधार एवं धर्म संघ का विशेष प्रभावक होगा। दीर्घ प्रतीक्षा के बाद प्राप्त पुत्र का जितना हर्ष एक पिता को होता है उससे शतगुणाधिक आनन्द आर्य सिंहगिरि को बालक वज्र की उपलब्धि से हुआ। वे साध्वियों के उपाश्रय में शय्यातर महिला को शिशु संरक्षण का दायित्व संभलाकर लोक कल्याणार्थ वहां से प्रस्थित हुए।

शय्यातर श्राविका बालक के पालन-पोषण का पूरा ध्यान रखती, माता जैसा प्रगाढ़ स्नेह देती। स्नान, दुग्ध-पान, शयन आदि की सम्यक् व्यवस्था करती। बालक का अधिकांश समय साध्वियों के परिपार्श्व में बीतता। झूले में झूलता हुआ बालक वज्र अतन्द्र रहकर साध्वियों के स्वाध्याय को सुनता एवं शास्त्रीय पद्यों की स्पष्टोच्चारण विधि तथा प्रत्येक शब्द के व्यंजन, स्वर, मात्रा, बिन्दु, घोष पर विशेष ध्यान रखता। श्रवण मात्र से बालक को एकादशांगी का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया था।[६] शिशु के इस ज्ञान ग्रहण-कौशल को कोई नहीं जान सका।

सुनंदा साध्वियों के दर्शनार्थ आया करती थी। उसने सम्यक् संरक्षण में प्रफुल्ल बदन अपने पुत्र को देखा। मां का ममत्व जाग गया। उसे लेने की स्पृहा जगी। साध्वियों से भी पुत्र को लौटा देने के लिए उसने बहुत बार अनुनय-विनय भी किया। साध्वियों ने उसे समझाया। बहिन! वस्त्र, पात्र की भांति भक्ति भाव से प्रदत्त इस बालक को भी लौटाया कैसे जा सकता है। तुम्हारा पुत्र में मोह है। तुम यहां आकर इसका लालन-पालन कर सकती हो। गुरुदेव के आदेश बिना इसे घर नहीं ले जा सकती। कुछ समय तक सुनंदा वहीं पुत्र को स्नेह प्रदान कर अपनी मनोकामना पूर्ण करती रही। "आम्र का स्वाद इमली में नहीं आता।" यही स्थिति सुनंदा की थी।

आर्य सिंहगिरि का पुनः तुम्बवन में पदार्पण हुआ। सुनंदा ने मुनि धनगिरि से पुत्र की मांग की। उसकी प्रार्थना स्वीकृत नहीं हुई। मुनि ने कहा—"कन्यादान की भांति उत्तम पुरुषों के वचन भी बार-बार बदले नहीं जाते।"

एवं विमृश धर्मज्ञे ! नो वा सन्त्यत्र साक्षिणः।

—धर्मज्ञे ! जिनको साक्षी बनाकर तुमने दान दिया था वे भी उपस्थित हैं। तू अपने वचन की सम्यक् प्रतिपालना कर। पुत्र गुरु की निधि हो चुकी है। उसपर अब तुम्हारा कोई अधिकार नहीं है।

निरुपाय सुनंदा राजा के पास पहुंची और न्याय मांगा। उस युग में न्याय निष्पक्ष था। नारी हो या पुरुष, धनी हो या निर्धन, न्याय सबके लिए समान व सुलभ था। एक नारी को न्याय देने के लिए राजा ने ससंघ मुनिजनों को आमंत्रित किया।

"धर्माधिकरणा युक्तैः पृष्ठौ पक्षावुभावपि ॥८२॥ प्रभा० च०, पृ० ४

—न्यायाधिकारी वर्ग ने उभय पक्ष की बात सुनी। एक ओर पुत्र की याचना

करती हुई माता दुष्प्रतिकार्य थी, दूसरी ओर धर्म संघ का प्रश्न था। मुनिजनों की दृष्टि में माता द्वारा स्वेच्छा एवं साक्षीपूर्वक प्रदत्त दान धर्म संघ की संपदा हो चुकी थी। इस जटिल गुत्थी को सुलझाने के लिए राजा ने गंभीर चिंतन किया और उभय पक्ष के सामने उन्होंने घोषणा सुना दी······"यह बालक स्वरुचि से जिसके पास जाना चाहता है वह उसी का है।" उस समय पुरुष ज्येष्ठ की मान्यता प्रबल होते हुए भी न्यायी राजा ने मातृ-ममता पर विचार कर बालक को प्रभावित करने के लिए प्रथम अवसर सुनंदा को दिया। वह बालक के निकट आयी एवं मधुर भोजन तथा क्रीड़नार्थ खिलौने देकर उसे अपनी ओर बुलाने लगी। बालक मां की ममता से निरपेक्ष एवं उदास बैठा था। सुनंदा अपने प्रयत्न में पूर्ण असफल रही।

द्वितीय अवसर पिताश्री मुनि धनगिरि को प्राप्त हुआ। मुनि ने बालक के सामने धर्मध्वज रखा और सरल सहज भाषा में बोले—"वत्स! तू तत्त्वज्ञ है। कर्म रजों को हरण करने वाला यह रजोहरण तुम्हारे सामने है। प्रसन्नमना तू इसे ग्रहण कर।

उत्प्लुत्य मृगवत् सोऽथ तदीयोत्सङ्गमागतः।
जग्राह चमराभं तच्चारित्रधरणीभृतः ॥८८॥

प्रभा० चरित, पृ० ५

—बालक वज्र मृगशावक की भांति ऊपर उछला एवं मुनिजनों के चामराकृति रजोहरण को लेकर उनके उत्संग में बैठ गया। न्याय मुनि धनगिरि की तुला पर चढ़ गया। मंगल ध्वनिपूर्वक जय-जय रव से दिग्-दिगंत गूंज उठा। राजा ने संघ को सम्मान दिया। इस समय बालक तीन वर्ष का था।

सरल स्वभावी सुनंदा ने चिन्तन किया—मेरे सहोदर समित एवं प्राणाधार पति दीक्षित हो चुके हैं एवं पुत्र भी श्रमण बनने के लिए दृढ़ संकल्प कर चुका है। मेरे लिए भी अब यही पथ श्रेष्ठ है। परम विरक्त भाव को प्राप्त सुनंदा आर्य सिंहगिरि के पास दीक्षित हुई और श्रमणी समूह में मिल गयी। श्रमणी संघ की प्रमुखा का नाम-निर्देश नहीं है।

आर्य वज्र की दीक्षा आठ वर्ष की अवस्था में वी० नि० ५०४ (वि० ३४) में हुई थी। बालक वज्र मुनि कोमल प्रकृति के थे। सहज, नम्र एवं आचार के प्रति दृढ़ निष्ठावान् थे। श्रमण परिवार से परिवृत आर्य सिंहगिरि विहारचर्या में एक बार किसी पर्वत की तलहटी तक पहुंच पाए थे। तीव्रधार दुर्निवार वर्षा प्रारम्भ हुई। बादलों की गरज, झपाझप कौंधती बिजलियों की चमक प्रलयंकारी रूप प्रस्तुत कर रही थी। स्वल्प समय में ही धरा जलाकार दिखाई देने लगी, आवागमन के रास्ते बन्द हो गए। तोय जीवों की विराधना से बचने के लिए श्रमण संघ को गिरि-कन्दरा में वहीं रुक जाना पड़ा। उपदेशमाला के अनुसार इस समय ससंघ आर्य

सिंहगिरि अवन्ति के उद्यान में स्थित थे। आहारोपलब्धि की संभावना न देख तपः पूत्त, क्षमाप्रधान, परीषह विजेता, समता रस लीन अध्यात्मपीन श्रमणों ने उपवास व्रत स्वीकार कर लिया।

यह असामयिक अतिवृष्टि प्रकृति का प्रकोप नहीं देवमाया थी। बाल मुनि वज्र के चरित्रनिष्ठ जीवन की परीक्षा के लिए पूर्व भव के मित्र जृंभक देवों ने कुतूहलवश इस सघन घनाघन घटा पटल का निर्माण किया था।

वर्षा के रुकने पर उपासक वणिक् आर्य सिंहगिरि के पास आए और गोचरी की प्रार्थना की। आचार्य की अनुमति या वज्रमुनि माधुकरी वृत्ति के लिए अक्लांत अखिन्न मनसा उठे एवं द्वार तक पहुंचकर वे रुक गए। नन्ही-नन्ही बूंदें तब तक आ रही थीं। वर्षा पूर्ण रुक जाने पर ईर्या समितिपूर्वक मंद-मंद अनुद्विग्न गति से चलते हुए संयोगवश वे उसी वस्ती में प्रविष्ट हुए जो देव-निर्मित थी। मानव के रूप में देव गण बाल मुनि वज्र को अपने गृह में ले गया एवं भक्तिभावपूर्वक दान देने को प्रस्तुत हुआ।

बाल मुनि आर्य वज्र भिक्षा की गवेषणा में जागरूक थे। इस अवसर पर प्रदीयमान सामग्री को अशुद्ध आधाकर्मी दोषयुक्त देवपिण्ड जानकर उसे लेना सर्वथा अस्वीकार कर दिया। भिक्षा में द्रव्य से कुष्माण्डपाक क्षेत्र से मालव देश में प्राप्त हो रहा था। काल से ग्रीष्म काल का समय था। भाव की दृष्टि से अनिमिष नयन, अम्लान कुसुम मालाधारी व्यक्ति भोज्य सामग्री प्रदान कर रहा था। दान-प्रदाता के चरण धरा से ऊपर उठे हुए थे। इस प्रकार का दान मानव वंशज से संभव नहीं था। कुष्माण्ड पाक ग्रीष्म काल में और मालव देश में सर्वथा अप्राप्य था। आर्य वज्र की दृष्टि में यह आहार देवपिण्ड था तथा देवता के द्वारा दिया जा रहा था। साधु के लिए देवपिण्ड आहार सर्वथा अकल्प्य है, यह जान वज्र मुनि ने महान् क्षुधा से बाधित होने पर भी उसे ग्रहण नहीं किया।[९]

जृंभक देवों ने प्रकट होकर वज्र मुनि के उच्चतम साधनानिष्ठ जीवन की प्रशंसा की एवं नाना रूप निर्मात्री वैक्रिय विद्या उन्हें प्रदान कर वे लौटे।

आर्य वज्र के सामने आहार-पानी की गवेषणा में उत्तीर्ण होने का एक अवसर और प्रस्तुत हुआ। ग्रीष्म ऋतु के मध्याह्नकाल में माधुकरी वृत्ति में व्यस्त बाल-मुनि वज्र को देखकर जृंभक देव पुनः धरती पर वैक्रिय शक्ति द्वारा मानव-रूप बनाकर आए एवं प्रार्थनापूर्वक वज्र मुनि को देव-निर्मित गृह में ले गए। श्रावक रूप में प्रकटीभूत जृंभक देवों ने मुनि को दान देने के लिए घृत निष्पन्न मिष्टान्न (मिठाई) से भरा थाल प्रस्तुत किया। थाल में शरद्कालीन मिष्टान्न थे। ग्रीष्म ऋतु में इस प्रकार की मिष्टान्न सामग्री को देखकर वज्र मुनि संभल गए। उसे देवपिंड समझकर उन्होंने ग्रहण नहीं किया।

भाग्यवान् व्यक्तियों को पग-पग पर निधान मिलता है। आर्य वज्र स्वामी के

जृंभक देव पूर्व जन्म के मित्र थे। उनके आचार कौशल को देखकर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए एवं इस समय उन्हें गगन-गामिनी विद्या प्रदान की।

सुविनीत आर्य वज्र के पास श्रुत संपदा का गंभीर अध्ययन था। एक बार आर्य सिंहगिरि शौचार्थ बाहर गए। माधुकरी में प्रवृत्त अन्य मुनि भी उस समय उपाश्रय में नहीं थे। बाल मुनि आर्य वज्र स्थान पर अकेले थे। नीरव वातावरण से उनके मन में कई प्रकार के भाव जागृत हुए। आगम वाचना प्रदान करने की उत्सुकता जगी। वातावरण को भी सर्वथा अनुकूल पाया। वाचना प्रदान करने के कार्य में कोई भी बाधक व्यक्ति वहां पर नहीं था। अपने चारों ओर श्रमणों के उपकरणों को रखकर उन्हें ही श्रमणों का प्रतीक मानकर वाचना प्रदान का कार्य मुनि वज्र ने प्रारंभ किया। मनोनुकूल कार्य में सहज लीनता आ जाती है। वज्र मुनि भी वाचना प्रदान कार्य में तल्लीन हो गए। उन्हें समय का भी भान न रहा। आर्य सिंहगिरि उपाश्रय के निकट आए। उन्हें मात्रा बिन्दु सहित आगम पद्यों का स्पष्ट उच्चारण सुनाई दे रहा था। मधुर-मधुर ध्वनि ने आर्य सिंहगिरि के मन को मुग्ध कर दिया। आगम के प्रत्येक पद्य का अतीव सुन्दर सांगोपांग विवेचन सुनकर आर्य सिंहगिरि शिशु मुनि वज्र की प्रतिभा पर आश्चर्यविभोर थे।

अप्रकटीकृतशक्तिः शक्तोऽपि नरस्तिरस्कृतिं लभते।
निवसन्नन्तर्दारुणि लङ्घ्यो वह्निर्न तु ज्वलितः ॥१६॥

(उपदेशमाला विशेष वृत्ति, पृ० २१२)

शक्ति गुप्त रहने पर सबल व्यक्ति भी तिरस्कार को प्राप्त होते हैं। अन्तर्निहित अग्निक काष्ठ को लांघा जा सकता है, प्रज्वलित काष्ठ को नहीं।

वैयावृत्यादिषु लघोर्माऽवज्ञाऽस्य भवत्विति।
ध्यात्वाऽऽहुर्गुरवः शिष्यान् विहारं कुर्महे वयम् ॥१२८॥

(प्रभा० च०, पृ० ६)

ज्ञान-गुणसम्पन्न आर्य वज्र की योग्यता अज्ञात रहने पर स्थविर मुनियों द्वारा वैयावृत्य आदि कराते समय किसी प्रकार की अवज्ञा न हो इस हेतु से मेरा अन्यत्र प्रस्थान प्रयुक्त होगा। यह सोच दूसरे दिन आर्य सिंहगिरि ने शिष्य समूह को देशान्तर का निर्णय सुना दिया। अध्ययनार्थी मुनियों ने निवेदन किया—"गुरुदेव! हमें वाचना कौन प्रदान करेंगे?" आर्य सिंहगिरि ने लघु शिष्य मुनि वज्र का नाम वाचना प्रदानार्थ प्रस्तुत किया।

"निर्विचारं गुरोर्वचः" गुरु के वचन अतर्कणीय होते हैं। विनीत शिष्य मण्डल ने 'तथेति' कहकर आर्य सिंहगिरि के आदेश को निर्विरोध स्वीकार किया।

स्थविर मुनियों से परिवृत आर्य सिंहगिरि का विहार हुआ एवं आर्य वज्र ने शिष्य समूह को वाचना देनी प्रारंभ की। लघुवय होने पर भी आर्य वज्र का विशद ज्ञान एवं तत्त्व बोध प्रदान करने की पद्धति सुंदर थी। मंदमति शिष्य भी सुखपूर्वक

आर्य वज्र से वाचना को ग्रहण करने लगे। कतिपय समय के बाद आर्य सिंहगिरि का आगमन हुआ। श्रमण वर्ग को आर्य वज्र की वाचना से संतुष्ट पाया। वाचनाचार्य के रूप में आर्य वज्र की नियुक्ति के लिए स्वयं मुनिजनों ने आचार्य देव से प्रार्थना की थी।

श्रुत्वेति गुरवः प्राहुर्मत्वेदं विहृतं मया।
अस्य जापयितुं युष्मान् गुणगौरवमद्भुतम् ॥१२५॥
(प्रभा० चरित, पृ० ६)

आर्य सिंहगिरि बोले—"मैं पहले ही मुनि वज्र की योग्यता को परख चुका था पर तुम्हें इससे अवगत कराने के लिए मैंने अन्यत्र विहार किया था। गुरु की दूरदर्शिता पर श्रमण संघ हर्षित हुआ एवं प्रतिभासंपन्न-सुविनीत योग्य शिष्य को पाकर आर्य सिंहगिरि को पूर्ण तोष था।

मुनि वज्र शिष्य समूह को वाचना देते और स्वयं भी आर्य सिंहगिरि से तपो-विधिपूर्वक अध्ययन करते। आगम निधि आचार्य सिंहगिरि के पास जितना ज्ञान था उसे बालमुनि वज्र की सुतीक्ष्ण प्रतिभा पूर्णरूप से ग्रहण कर चुकी थी। आर्य सिंहगिरि ने उनको विशेष अध्ययनार्थ दश पूर्वधारी भद्रगुप्त के पास जाने का मार्ग-दर्शन दिया।

गुरु का आदेश प्राप्त कर आर्य वज्र ने दशपुर से अवन्ति की ओर विहार किया। वे अवन्ति नगर के बहिर्भूभाग की सीमा तक पहुंचे तब तक संध्या हो चुकी थी। उन्होंने रात्रि-निवास नगर के बाहर ही कहीं किया। उसी रात्रि में आचार्य भद्रगुप्त ने स्वप्न देखा :

पात्रं मे पयसा पूर्णमतिथिः कोऽपि पीतवान्।
(प्रभा० च०, पृ० १२६)

—दूध से भरा हुआ मेरा पात्र था, कोई अतिथि आकर पी गया। रात्रिकालीन इस स्वप्न की बात आर्य भद्रगुप्त ने अपनी शिष्यमंडली से कही और इस स्वप्न के आधार पर अपना विश्वास प्रकट करते हुए वे बोले—"दश पूर्वों का ग्राहक विद्यार्थी अवश्य मेरे पास आएगा।" बात के प्रसंग में ही आर्य वज्र वहां पहुंच गए।

प्रतिभासम्पन्न, पूर्व ज्ञानराशि को ग्रहण करने में सक्षम-सुयोग्य शिष्य आर्य वज्र को पाकर आर्य भद्रगुप्त को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उन्होंने सप्रयास अपना संपूर्ण अधीत-श्रुत उन्हें पढ़ाया। दश पूर्व ज्ञानामृत का समग्रता से पान कर आर्य वज्र को भी परम तृप्ति की अनुभूति हुई। निर्धारित लक्ष्यसिद्धि के बाद आर्य भद्रगुप्त ने उन्हें पुनः अपने गुरु के पास जाने का आदेश प्रदान किया। सुविशाल ज्ञान-संपदा का अर्जन कर वे आर्य सिंहगिरि के पास आए।

शिष्य की योग्यता से गुरु को संतोष हुआ। संघ ने होनहार शिष्य का सम्मान किया।

आचार्य सिंहगिरि इस समय वृद्ध हो चुके थे। अब वे उत्तरदायित्व से मुक्त होना चाहते थे। उन्होंने वैसा ही किया। सुयोग्य शिष्य आर्य वज्र को वी० नि० ५४८ (वि० ७८) में आचार्य पद पर नियुक्त कर वे संघ-चिंता से मुक्त बने। पूर्व जन्म के मित्र देवों ने इस अवसर पर महान् उत्सव मनाया।[८] आर्य वज्र स्वामी संघ का सकुशल नेतृत्व करते हुए पांच सौ श्रमणों के साथ विहरण करने लगे। उनके व्यक्तित्व में रूप-सौंदर्य एवं वाक्-माधुर्य का अनुपम संयोग था।

एक बार श्रमण परिवार से परिवृत वज्र स्वामी का पदार्पण पाटलिपुत्र में हुआ। पाटलिपुत्र के उद्यान में वे ठहरे।

पाटलिपुत्र के राजा पर आर्य वज्र स्वामी के व्यक्तित्व का प्रभाव पहले से ही अंकित था। उनके आगमन की सूचना पाकर वे हर्षित हुए एवं वज्र स्वामी के स्वागतार्थ दल-बल सहित चले उज्जयिनी की ओर। श्रमणों के अलग-अलग दल शीघ्र गति से चलते हुए आ रहे थे। सबके बाद विशाल मुनि मंडली से परिवृत आर्य वज्र को दूर से आते देखकर राजा का मन प्रफुल्ल हो उठा। भक्तिपूरित श्रावक की भांति मुकुलित पाणि एवं नत मस्तक मुद्रा में राजा ने विधिपूर्वक वज्र स्वामी को वन्दन किया एवं 'अभिवंदिओ अभिणंदिओ' आदि शब्दों से उनका भव्य स्वागत किया था।

पाटलिपुत्र के उद्यान में आर्य वज्र ने विशाल मानव-मेदिनी को संबोधित करते हुए मोह-विनाशिनी धर्मकथा प्रारंभ की। घनरव-गंभीर घोष में वे बोले :

खणदिट्ठनट्ठविहवे, खणपरियट्ट तविविहसुहदुक्खे।
खणसंजोगवियोगे, नत्थि सुहं किंपि संसारे ॥५६॥

(उपदेशमाला विशेष वृत्ति, पृ० २१५)

—संसार प्रतिक्षण परिवर्तनधर्मा है। वैभव स्थायी नहीं है। सुख-दुःख, संयोग-वियोग का प्रतिक्षण चक्र चलता रहा है।

"पोइणिदलग्गजलबिंदुचंचलजीवियं"—पद्मिनी दलाग्र पर स्थित जल-बिंदु के समान जीवन अस्थिर है।

विलसिततडिलेहचंचला लच्छी—विद्युत्लेखा की भांति लक्ष्मी चंचल है। "ता जिणधम्मं मोत्तूण सरणं न हु किमपि संसारे"—जिनधर्म को छोड़कर कहीं शरण नहीं है।

आर्य वज्र की अमृतोपम देशना को राजा के साथ राजकुमारों, श्रेष्ठी पुत्रों, प्रशासकों, मंत्रियों एवं सहस्रों नागरिकों ने भी सुना। आर्य वज्र की प्रभावोत्पादक वाणी से श्रोतागण मंत्रमुग्ध हो गए। प्रवचनोपरांत शहर में वज्र स्वामी के प्रवचन की चर्चा होने लगी। यह चर्चा रुक्मिणी के कानों तक भी पहुंची। रुक्मिणी पाटलि-पुत्र के श्रीसम्पन्न धन श्रेष्ठी की पुत्री थी। वह यानशाला में विराजित साध्वियों के द्वारा स्वाध्याय करते समय प्रतिदिन सुना करती थी :

एस अखंडियसीलो, बहुस्सुओ एस एस पसमड्ढो।
एसो य गुणनिहाणं, एय सरित्थो परो नत्थि ।।४८।।

(उपदेशमाला विशेष वृत्ति, पृ० २१४)

—अखंडित शील, बहुश्रुत प्रशांत भाव से सम्पन्न, गुणनिधान आर्य वज्र के समान दुनिया में कोई दूसरा पुरुष नहीं है। "वइरस्स गुणे सरइंदुनिम्मले" उनके गुण शरच्चन्द्र की भांति निर्मल है। रुक्मिणी वज्र स्वामी के यशोगान श्रवण मात्र से उनके व्यक्तित्व एवं रूप-सौंदर्य पर मुग्ध हो चुकी थी। पिता के सामने भी अपने विचार प्रस्तुत करते हुए उसने स्पष्ट कह दिया—"तात !

जइ मज्झ वरो वइरो, हो ही ताहं विवाहमीहेमि।
जालाजालकरालो, जलणो मे अन्न हा सरणं ।।२५०।।

(उपदेशमाला विशेष वृत्ति, पृ० २१४)

"मैं वज्र स्वामी के साथ पाणिग्रहण करूंगी, अन्यथा अग्नि की जाज्वल्यमान ज्वालाओं की शरण ग्रहण कर लूंगी। उत्तम कुल की कन्याएं कभी दो बार वर का चुनाव नहीं किया करतीं।" पुत्री के द्वारा अग्निदाह की बात सुनकर वात्याचक्र के तीव्र झोंकों से प्रताड़ित पीपल के पत्ते की भांति धन श्रेष्ठी का दिल कांप गया।

साहिंति साहुणीओ, जहा न वइरो विवाहेइ ।।५१।।

(उप० वृत्ति, पृ० २१४)

रुक्मिणी को साध्वियों ने बोध देते हुए कहा—"आर्य वज्र श्रमण हो चुके हैं वे विवाह नहीं करेंगे।" रुक्मिणी दृढ़ स्वरों में बोली, "मुझे भी प्रव्रजित होना स्वीकार है। आर्य वज्र के अतिरिक्त मेरा कोई वर नहीं होगा।" आर्य वज्र को पा लेने की प्रतीक्षा में रुक्मिणी अपने दृढ़ संकल्प का वहन करती रही। तपस्या निष्फल नहीं जाती। दृढ़संकल्प शक्ति भी एक दिन अवश्य फलवान् होती है। कुछ समय के बाद आचार्य वज्र स्वामी का आगमन रुक्मिणी के सौभाग्य से पाटलिपुत्र में हुआ। वह उनके दर्शन को उत्सुक बनी। संकल्प की बात पिता के सामने दुहराती हुई बोली—"श्रीमद् वज्राय मां यच्छ शरणं मे अन्यथानलः—तात ! मेरी मनोकामना पूर्ण करने का अवसर आ गया है। आर्य वज्र यहां पहुंच चुके हैं। मुझे आप उन्हें समर्पित कर दें, अन्यथा मैं अग्निदाह कर लूंगी।" पुत्री के संकल्प से श्रेष्ठी धन एक बार पुनः सिहर उठा। वह शत-कोटि सम्पदा के साथ रुक्मिणी कन्या को लेकर वज्र स्वामी की परिषद् में पहुंचा।

आर्य वज्र स्वामी के द्वारा प्रदत्त प्रथम देशना की प्रशंसा सुनकर अंतःपुर में हलचल हुई। रानियां भी आर्य वज्र के रूप-सौंदर्य को देखने एवं मधुर वाणी का रसास्वाद प्राप्त करने को उत्सुक बनी एवं अनेक नारियों से परिवृत होकर वे धर्म-स्थान पर उपस्थित हुईं। आर्य वज्र विविध लब्धियों के स्वामी थे। क्षीराश्रवलब्धि से उनकी वाणी में मधु-मिश्रित दुग्ध जैसा मिठास आता था। राजपरिवारयुक्त

विशाल परिषद के सामने विरूपाकृति में प्रस्तुत होकर आर्य वज्र ने पुष्करावर्त मेघ की नाई धाराप्रवाह प्रवचन दिया। लोगों के मन में विचार उठने लगे :

जइ नामरूवलच्छी हुंति एयस्स तो न तिजए वि।
असुरोसुरो व विज्जाहारो व इमिणा समो हुंतो ।।७१।।

(उप० वृत्ति, पृ० २१५)

आर्य वज्र में अद्भुत वाक्-कौशल के साथ रूप भी होता तो सुर-असुर, विद्याधर कोई भी व्यक्ति इनकी तुलना में नहीं आता। आर्य वज्र ने जनता की भावना को जाना एवं तत्काल रूप-परिवर्तन किया। वे सहस्रारदलाकृति आसन पर स्थित अत्यन्त सौंदर्यसम्पन्न एवं विद्युत्पुञ्ज की भांति प्रकाशवान दिखाई देने लगे। जनता उनके अनूप रूप पर चमत्कृत हुई और लोग कहने लगे—"नारियां इनके रूप-सौंदर्य पर विमूढ़ न बन जाय संभवतः इसीलिए आर्य वज्र ने देशना के प्रारंभ में विरूप रूप का प्रदर्शन किया था।" राजा ने भी उनके व्यक्तित्व की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

विस्मितानन समग्र सभा को देखकर आर्य वज्र बोले—"तपोधन, लब्धिसम्पन्न अणगार असंख्यात सौंदर्यसम्पन्न रूपाकृतियों का निर्माण कर सकता है। मैंने एक रूप का प्रदर्शन किया है इसमें आश्चर्य जैसा क्या है।"

श्रेष्ठी पुत्री रुक्मिणी आर्य वज्र के गुण-रूपसम्पन्न व्यक्तित्व की यशोगाथा सुनकर पहले से ही उन पर समर्पित हो चुकी थी। प्रवचोनपरांत धन श्रेष्ठी आर्य वज्र स्वामी के निकट गया, वंदन किया और नम्र शब्दों में बोला—"आर्य ! आपका जैसा विस्मयकारी रूप है मेरी यह पुत्री भी रूप-सौंदर्य में कम नहीं है। शतकोटि संपदा सहित इसे स्वीकार करें।" आर्य वज्र ने कहा—"श्रेष्ठिन् ! तुम स्वयं संसार में बद्ध हो और दूसरों को भी बांधना चाहते हो ? जानते नहीं :

कलुणा नराणमेए, भोगा भुयगव्व भीसणा भोगा।
महुलग्ग अग्गधारा, करालकरवाललिहणसमा ।।८०।।
किंपागाण व पागा, कडुयविवागा इमे मुहे महुरा।
भोगा मसाणभूमिव्व सव्वओ भूरि भयहे ऊ ।।८१।।
किं बहुणा भणिएणं, चउगइ दुक्खाण कारणं भोगा।
ता किर को कल्लाणी, सल्लेसु व तेसु रज्जेज्जा ।।८२।।

(उप० वृत्ति, पृ० २१५)

—भोग भुजंग के समान भीषण होते हैं। मधुलिप्त असिधारा के समान कष्ट कारक होते हैं। किम्पाक फल के समान मुख मधुर कटु विपाकी होते हैं। श्मशान भूमि की तरह भयप्रद होते हैं। अधिक क्या, चातुर्गतिक दुःखों के कारण भोग हैं। कल्याण चाहने वाला व्यक्ति इनमें रंजित नहीं होता।

"श्रेष्ठीवर ! भौतिक द्रव्य एवं विषयानंद का प्रलोभन देकर अनन्त आनंद स्रोत

तप:-संपदा को मेरे से छीन लेना चाहते हो, यह प्रयास रेणु के बदले रत्नराशि को, तृण के बदले कल्पवृक्ष को काक के बदले कोकिला को, कुटिया के बदले प्रासाद को क्षार जल से अमृत को पा लेने जैसा है। संयम-धन की तुलना में ये विषयभोग तुच्छ हैं, क्षुद्र हैं। इनसे प्राप्त क्षण-भर का सुख महान् संकट का सूचक है। यह तुम्हारी पुत्री मेरे में अनुरक्त है। छाया की भांति मेरा अनुगमन करना चाहती है, उसकी चाह की सर्व सुंदर राह यह है :

मयादृतं व्रतं धत्तां, ज्ञानदर्शनसंयुतं ।।१४६।।

(प्रभा० चरित, पृ० ६)

—ज्ञान दर्शन युक्त मेरे द्वारा आदृत इस त्यागमार्ग का अनुसरण करें।

आर्य वज्र स्वामी की सहज सुमधुर उपदेशधारा से रुक्मिणी के अंतर्नयन खुल पड़े। वह साध्वी बनी एवं श्रमणी संघ में सम्मिलित हो गयी।

आर्य वज्र ज्ञान के निधान थे। आचारांग सूत्र के अंतवर्ती महा परिज्ञा नामक अध्ययन से उन्होंने गगन-गामिनी विद्या का उद्धार किया। इस विद्या से मानुषोत्तर पर्वत तक निर्बाध गति से गमन करने की क्षमता आ जाती है। ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए श्रुतनिधि आर्य वज्र स्वामी ने पूर्वी भारत में धर्म की अतिशय प्रभावना की।

एक बार आर्य वज्र स्वामी का पदार्पण पूर्व से उत्तर भारत में हुआ। वहां पर अति क्षयकारी दुर्भिक्ष का विकट समय उपस्थित हुआ। धरा पर क्षुधा से आर्त्त लोग आकुल-व्याकुल हो उठे।

दुष्काल जनित संकट से घिर जाने पर शय्यातर सहित सम्पूर्ण संघ को पट पर बैठाकर गगन-गामिनी विद्या के द्वारा आकाश-मार्ग से उड़ते हुए वज्र स्वामी उत्तर भारत से महापुरी नगरी में पहुंचे थे। वहां पर भी राजकीय संकट उपस्थित होने पर पर्युषण पर्व के मनाने में सुविधा न मिल सकी अत: वे आकाश मार्ग से पुन: संघ को माहेश्वरी उद्यान में ले गए। इस समय उनकी इस चामत्कारिक विद्या से प्रभावित होकर सहस्रों जैनेतर व्यक्तियों ने वहां जैन धर्म स्वीकार किया।

महानिशीथ सूत्र के तृतीय अध्ययन में चर्चित विषयानुसार वज्र स्वामी के युग में पंचमंगल रूप नमस्कार महामंत्र का सूत्रों के साथ संयोजन हुआ। उसके पहले 'पंचमंगल महाश्रुत' नामक यह एक स्वतंत्र ग्रंथ था और उसके व्याख्या ग्रंथ भी पृथक् थे।

आर्य वज्र स्वामी से संबंधित दक्षिणांचल की घटना विस्मयकारक है। एक बार वे यथोचित समय पर औषध लेना भूल गये थे। उन्हें अपनी स्मृति की क्षीणता पर आयुष्य की अल्पता का भान हुआ। इस समय उनके ज्ञानदर्पण में भावी अत्यन्त भीषण दुष्काल के संकेत भी झलक रहे थे। श्रमण संघ को दुष्काल से बचाने के लिए वज्र स्वामी ने पांच सौ श्रमणों सहित वज्रसेन को सोपारक देश

की ओर जाने का आदेश दिया। द्वादश वर्षीय भयंकर दुर्भिक्ष के कारण दक्षिण विहारी श्रमण संघ को आहोरोपलब्धि कठिन हो गई।[10] वज्र स्वामी ने आपत्-कालीन स्थिति में क्षुधा-शान्ति के लिए लब्धि पिंड (लब्धि द्वारा निर्मित भोज्य सामग्री) ग्रहण करने का और विकल्प में अनशन स्वीकार का अभिमत शिष्यों के सामने प्रस्तुत किया। निर्मल चरित्र पर्याय के पालक आर्य वज्र स्वामी ने इस प्रकार के परामर्श प्रदान का प्रयोग शिष्यों के धृति परीक्षणार्थ ही किया होगा।

ताहे भणंति सव्वे, भत्तेणेएण सामि ! अलमत्थु।
अणसणविहिणाऽवस्सं, साहिस्सामो महाधम्मं ।।३६।।

(उप० वृ०, पृ० २१८)

—संयमनिष्ठ श्रमणों ने एक स्वर में कहा—"भगवन् ! सदोष आहार हमें किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं है। भोजन बहुत किया है। अब अनशन विधि-पूर्वक उत्कृष्ट चारित्र धर्म की आराधना में अपने-आपको नियोजित करेंगे।"

मरणान्तक स्थिति में भी शिष्य गण का दृढ़ आत्मबल देखकर वज्र स्वामी प्रसन्न हुए एवं विशाल श्रमण परिवार सहित आर्य वज्र स्वामी अनशनार्थ गिरि शृंग की ओर प्रस्थित हुए। उनके साथ एक लघु वय का शिष्य था। अवस्था की अल्पता के कारण वज्र स्वामी उसे अनशन में साथ लेना नहीं चाहते थे। उन्होंने कोमल शब्दों में शिष्य से कहा :

अज्ज वि तं वच्छ लहू ! अच्छ सु एत्थेव ताव पुरे ।।४१।।

(उप० वृ०, पृ० २१८)

—वत्स ! अनशन का मार्ग बहुत कठिन है ! तुम बालक हो। अब भी यहीं पुर या नगर में रुक जाओ।

आर्य वज्र स्वामी द्वारा निर्देश मिलने पर भी कष्ट-सहिष्णु उच्च अध्यवसायी बाल मुनि रुकने के लिए प्रस्तुत नहीं हुआ। अनशन-पथ की कठोरता उसे तिलमात्र भी विचलित न कर सकी।

स्वेच्छापूर्वक बाल मुनि के न रुकने पर किसी कार्य के ब्याज से उसे एक ग्राम में प्रेषित कर ससंघ वज्र स्वामी आगे बढ़ गए। कार्य-निवृत्त होकर वह शिष्य लौटा, उसे संघ का एक भी सदस्य दिखाई नहीं दिया। वह खिन्न हुआ, सोचा—मुझे इस पण्डित-मरण में गुरुदेव ने अपना साथी नहीं बनाया, क्या मैं इतना निःसत्त्व, निर्वीर्य, निर्बल हूं ? वह वहां से चला—मेरे द्वारा उनकी तपोमयी ध्यान साधना में किसी प्रकार का विक्षेप न हो यह सोच, वज्र स्वामी जिस गिरिशृंग पर अनशनस्थ हो गए थे उसी पहाड़ की तलहटी में पहुंचकर तप्त पाषाण शिला पर पादापगमन अनशन स्वीकार कर लिया। तप्त शिला के तीव्र ताप से शिशु मुनि का नवनीत-सा कोमल शरीर झुलसने लगा। भयंकर वेदना को समता से सहन करता हुआ लघुवय मुनि उन सबसे पहले स्वर्ग का अधिकारी बना। बाल मुनि की उत्तम

साधना को जैन धर्म की प्रभावना का निमित्त मान देव महोत्सव के लिए आए। देवागमन देखकर वज्र स्वामी ने श्रमण संघ को सूचित किया—अत्यन्त तीव्र परिणामों से भीष्ण ताप-लहरी को सहन करता हुआ लघुवय मुनि का अनशन पूर्ण हो चुका है।

लघु शिष्य से पहले ही पांच सौ श्रमणों सहित आर्य वज्र स्वामी शैल शिखर पर आरोहण कर चुके थे। परम वैराग्य को प्राप्त श्रमणों ने देवगुरु का स्मरण किया। पूर्वकृत दोषों की आर्य वज्र के पास आलोचना की। गिरिखंड पर अधिष्ठित देवी से आज्ञा लेकर यथोचित स्थान पर आसन ग्रहण कर मेरु की भांति अकम्प समाधिस्थ बने।

वे क्षण-भर के लिए विस्मित हुए। उनके भावों को श्रेणी चढ़ी। चिन्तन चला—बाल मुनि ने स्वल्प समय में ही परमार्थ को पा लिया है। चिरकालिक संयम प्रव्रज्या को पालन करने वाले हम भी क्या अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच पाएंगे ? उत्तरोत्तर उनकी भाव-तरंगें तीव्रगामी बनती रहीं। रात्रि के समय प्रत्यनीक देवों का उपसर्ग हुआ। उस स्थान को अप्रतीतिकर जानकर ससंघ वज्र स्वामी अन्य गिरिशृंग पर गए। वहां पर दृढ़ संकल्प के साथ अपना आसन स्थिर किया। मृत्यु और जीवन की आकांक्षा से रहित उच्चतम भावों में लीन श्रमण प्राणों का उत्सर्ग कर स्वर्ग को प्राप्त हुए।

अनशन की स्थिति में वज्र स्वामी का स्वर्गवास वी० नि० ५८४ (वि० स० ११४) में हुआ।

पांच सौ श्रमणों सहित आर्य वज्र की समाधिस्थली गिरि मंडल के चारों ओर रथारूढ़ इन्द्र ने रथ को घुमाकर प्रदक्षिणा दी, अतः उस पर्वत का नाम रथावर्त पर्वत हो गया था।

आर्य वज्र स्वामी के तीन प्रमुख शिष्य थे—वज्रसेन, पद्म, आर्यरथ। वज्रसेन इनमें ज्येष्ठ थे।

दायित्व को वहन करने में समर्थ एवं गीतार्थ आचार्य सिंहगिरि के कुशल पट्टधर आर्य वज्र स्वामी आठ वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहे। कुल ८८ वर्ष की अपनी आयु में ८० वर्ष तक संयम पर्याय का उन्होंने पालन किया एवं ३६ वर्ष तक युगप्रधान पद को अलंकृत किया।

आर्य वज्र स्वामी जैन शासन के सबल आधार-स्तम्भ थे। उनके स्वर्गगमन के साथ ही दसवें पूर्व की ज्ञान-सम्पदा एवं चतुर्थ अर्धनाराच नामक संहनन की महान् क्षति जैन शासन में हुई।[11]

कालिक सूत्रों का अपृथक्त्व व्याख्यान पद्धति (प्रत्येक सूत्र की चरण करुणानुयोग आदि चारों अनुयोगों पर विभागशः विवेचन) भी आर्य वज्र स्वामी के बाद अवरुद्ध हो गई।[12]

युगप्रधान आचार्यों की परंपरा में वज्रस्वामी का जीवन-प्रसंग अत्यन्त प्रभावक एवं विस्मयकारी घटनाओं से अनुस्यूत है। वाज्रीशाखा (वायरी शाखा) का निर्माण आर्य वज्र स्वामी के नाम पर हुआ।

आधार-स्थल

१. जेणुद्धरिया विज्जा आगासगमा महापरिन्नाओ।
वंदामि अज्जवइरं अपच्छिमो जो सुअधराणं ॥७६६॥
(आवश्यक निर्युक्ति, मलयवृत्ति, भाग २, पत्रांक ३६०)

२. धणपालसेट्ठिधूया, भणइ सुनंदत्ति तंमि चेव पुरे।
देह ममं धणगिरिणो, जेणाहं तं वसे नेमि ॥१४॥
(उपदेशमाला विशेष वृत्ति, पत्रांक २०७)

३. 'जेण कुमारीण पिया, जोव्वणभरभारियाण भत्तारो।
थेरत्ते पुत्तो पुणं, नारीणं रक्खकओ होइ ॥२२॥
(उपदेशमाला विशेष वृत्ति, पत्रांक २०७)

४. ता ऊसवो स सन्नी, निम्मलमइनाणसंगओ सुणइ।
महिलाणं तमुल्लावं जाइसरणो तओ ॥३१॥
(उपदेशमाला विशेषवृत्ति, पत्रांक २०८)

५. अतिखिन्ना च साऽवादीदत्राऽऽर्यसमितो मुनिः।
साक्षी सस्यश्च साक्षिण्यो भाषे नाऽतः किमप्यहम् ॥६४॥
(प्रभावक चरित, पत्रांक ४)

६. निवसंतो तो तासिं, समीवदेसे सुणइ अंगाई।
एक्कारसवि पढंतीण, ताव तेणोवलद्धाणि ॥६७॥
एगपयाओ पयसयमणुसरइ मइ तहाविहा तस्स।
जाओ अ अट्ठवरिसो, ठविओ गुरुणा नियसमिवे ॥६८॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पत्रांक २१०)

७. नियतं देवपिण्डोऽयं साधूनां नहि कल्पते।
तस्मादनात्तपिण्डोऽपि व्रजामि गुरुसन्निधौ ॥१५४॥
(परि० पर्व०, सर्ग १२)

८. वज्रप्राग्जन्मसुहृदो ज्ञानाद् विज्ञाय ते सुराः।
तस्याचार्य प्रतिष्ठायां चक्रुरुत्सवमद्भुतम् ॥१३२॥
(प्रभावक चरित, पत्रांक ६)

९. तत्रैव महाधनधनश्रेष्ठिनन्दना रुक्मिणी।
प्रतिबोध्य तेन भगवता निर्लोभचूडामणिना प्रव्राजिता।
(विविध तीर्थ कल्प, पाटलिपुत्र नगरकल्प, पृ० ६६)

१०. इतो य वइरस्सामी दक्खिणावहे विहरति दुब्भिक्खं च ।
जायं बारसवरिसगं सव्वतो समंता छिन्नपंथा निराधारजातं ।

(आवश्यक चूर्णि, पत्रांक ४०४)

११. वास पंचसएहिं अज्जवयरे दसमं पुव्वं, संघयणचउक्कं च अवगच्छिहो ।

(विविध तीर्थ कल्प, पृ० ३८)

१२. जावंत अज्जवइरा अपुहुत्तं कालिआणुओगस्स ।
तेणारेण पुहुत्तं कालिअसुइ दिट्ठिवाए अ ॥१६३॥

(आवश्यक मलय निर्युक्ति, पृ० ३८३)

२४. कीर्ति-निकुञ्ज आचार्य कुन्दकुन्द

जैन साहित्य के अभ्युदय में दाक्षिणात्य प्रतिभाओं का महान् योगदान रहा है। उनमें आचार्य कुन्दकुन्द को सर्वतोऽग्र स्थान प्राप्त है।

वे कर्णाटक के कोंडकुंड के निवासी थे। उनके पिता का नाम करमंडू और माता का नाम श्रीमती था। बोधप्राभृत के अनुसार वे श्रुतकेवली भद्रबाहु के शिष्य थे, पर यथार्थ में उनकी गुरुपरंपरा प्राप्त नहीं है। भद्रबाहु उनके साक्षात् (अनंतर) गुरु नहीं थे। यह आज कई प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है।

कन्नड़ी भाषा में आचार्य कुन्दकुन्द कोंडकुंड नाम से विख्यात हैं। 'कुन्दकुन्द' कोंडकुंड का ही संस्कृत रूप प्रतीत होता है।

पद्मनन्दी, वक्रग्रीव, गृध्रपिच्छ और एलाचार्य नाम भी आचार्य कुन्दकुन्द के थे। उनका सबसे पहला नाम पद्मनन्दी था। सतत अध्ययन में झुकी हुई ग्रीवा रहने के कारण वक्रग्रीव और एक समय गृध्रपिच्छी धारण करने से गृध्रपिच्छ कहलाए।

आचार्य कुन्दकुन्द अध्यात्म के प्रमुख व्याख्याकार थे। उनकी आत्मानुभति-परक वाणी ने अध्यात्म के नए क्षितिज का उद्‌घाटन किया और आगमिक तत्त्वों को तर्कसुसंगत परिधान दिया।

आचार्य कुन्दकुन्द की आगमिक परिभाषाएं निश्चयनय पर केंद्रित हैं और उनकी दृष्टि में भावशून्य क्रियाएं सर्वथा निष्फल थीं। इन्हीं विचारों की अभिव्यक्ति में उनका एक श्लोक है :

भावरहिओ ण सिज्जई, जइवि तवं चरई कोडि कोडियो।
जम्मतराइं बहुसो लंबियहत्थो गलियवत्थो॥

जीव दोनों हाथ लटकाकर और वस्त्र त्याग कर करोड़ जन्म तक निरन्तर तपश्चर्या करता रहे पर भावशून्यावस्था में उसे कभी सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

आचार्य कुन्दकुन्द चौरासी प्राभृतों (पाहुड़) के रचनाकार थे, पर वर्तमान में उन चौरासी प्राभृतों के पूरे नाम भी उपलब्ध नहीं हैं।

प्राभृत साहित्य में दर्शन प्राभृत (दंसण-पाहुड़), चरित्र प्राभृत (चरित्त-पाहुड़),

सूत्र प्राभृत (सुत्त-पाहुड़), बोध प्राभृत (बोध-पाहुड़), भाव प्राभृत (भाव-पाहुड़), मोक्ष प्राभृत (मोक्ख-पाहुड़), लिंग प्राभृत (लिंग-पाहुड़), शील प्राभृत (सील-पाहुड़) ये आठ प्राभृत प्रमुख हैं। इनकी भाषा शौरसेनी है। इनमें दर्शन, चारित्र आदि विविध विषयों का निश्चयनय की भूमिका पर सुंदर विवेचन प्रस्तुत है।

समयसार, प्रवचनसार, नियमसार—यह रत्नत्रयी आचार्य कुन्दकुन्द की अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस रत्नत्रयी में 'समयसार आर्यावृत्त' में गुम्फित जैन सौरसेनी भाषा का सर्वोत्कृष्ट परमागम है। जीवादि नव तत्त्वों का बोध, रत्नत्रयी की आराधना तथा निश्चयनय की अवगति में व्यवहारनय की उपयोगिता पर सुंदर विवेचन प्रदान करता हुआ यह ग्रंथ कुन्दकुन्द की समग्र कृतियों में शीर्षस्थानीय है।

प्रवचन सार में जिनवाणी का नवनीत और नियमसार में परमात्म-भाव का सम्यक् प्रतिपादन तथा शाश्वत सुखप्राप्ति हेतु विविध नियमों का निर्देश है।

वैदिक दर्शन में जो आदरास्पद स्थान उपनिषद्, ब्राह्मणसूत्र और गीता को प्राप्त हुआ है वही स्थान दिगम्बर समाज में इस रत्नत्रयी को है।

पंचास्तिकाय संग्रह भी उनकी मौलिक रचना है। इसमें जैन दर्शनसम्मत द्रव्य विभाग की सुस्पष्ट और सुसम्बद्ध व्याख्या है। सप्तभंगी का स्पष्ट उल्लेख भी सर्वप्रथम इसी ग्रंथ में हुआ है।

आचार्य कुन्दकुन्द की समग्र रचनाएं प्राकृत भाषा में पद्यात्मक हैं और उनकी रचना के प्रत्येक श्लोक में दिव्य ध्वनि का संदेश माना गया है। दिगम्बर अभिमत से सातवें गुणस्थान में झूलते हुए महामुनि के आत्मानुभव से ये गाथाएं प्रकट हुई हैं। इसीलिए कुन्दकुन्द को कलिकाल-सर्वज्ञ कहकर उनके प्रति महान् आदर भाव प्रकट हुआ है और उनकी वाणी को गणधर गिरा की तरह प्रामाणिक समझा गया है।

प्राकृत की तरह तमिल भाषा पर भी आचार्य कुन्दकुन्द का सवल अधिकार था।

तिरुकुरल तमिल भाषा की अत्युत्तम कृति है। इस कृति के कर्ता एलाचार्य थे। एलाचार्य ने ही मदुरा (दक्षिण मथुरा) में संस्थापित तमिल भाषा के संगम साहित्य केंद्र का नेतृत्व किया था। ये एलाचार्य संभवतः कुन्दकुन्द ही थे। आचार्य कुन्दकुन्द दर्शन युग में आए पर उन्होंने अध्यात्म प्रासाद को दर्शन की नींव पर खड़ा नहीं किया। प्रस्तुत दर्शन को आगमिक सांचे में ढाला।

दिगम्बर समाज में आचार्य कुन्दकुन्द का बहुत ऊंचा स्थान है। भगवान् महावीर और गौतम के साथ उनका नाम मंगल रूप में अतिशय गौरव के साथ स्मरण किया जाता है।

मंगल भगवान् वीरो, मंगलम् गौतमप्रभु।
मंगलं कुन्दकुन्दार्या, जैन धर्मोस्तु मंगलम्॥

कर्णाटकीय पहाड़ियों की जैन गुफाओं में उन्होंने ध्यान और तप की उत्कृष्ट साधना की। उनकी मुख्य निवास-स्थली नन्दी पर्वत की गुफाएं थी।

धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए उन्होंने संपूर्ण भारत में परिभ्रमण किया था। वे महाविदेह में भी गए थे और उनके पास चारण ऋद्धि भी थी। उन्हें सीमंधर स्वामी से ज्ञानोपलब्धि हुई ऐसी जनश्रुति भी विश्रुत है।

डा० ज्योतिप्रसाद जैन ने उनका समय ई० पू० ८ से ४४ ईस्वी माना है। इस आधार पर वे वीर निर्वाण ५१९ से ५७१ (विक्रम ४८ से १०१) तक विद्यमान थे।

२५. अक्षयकोष आचार्य आर्यरक्षित

आर्यरक्षित अनुयोग व्यवस्थापक आचार्य थे। अनुयोगद्वार आगम के निर्यूहक थे। युगप्रधान आचार्यों की परंपरा में भी उनको विशिष्ट स्थान प्राप्त था। मध्य प्रदेश (मालवा) के अंतर्गत दशपुर नगर में वी० नि० ५२२ (वि० ५२) में उनका जन्म हुआ। वर्णज्येष्ठ, कुलश्रेष्ठ, क्रियानिष्ठ, कलानिधि, राजपुरोहित सोमदेव के वे पुत्र थे। उनकी माता का नाम रुद्रसोमा था। रुद्रसोमा उदार हृदय, प्रियभाषिणी महिला थी। वह जैन उपासिका थी। उसके द्वितीय पुत्र का नाम फल्गुरक्षित था। कुल की धुरा को वहन करने में दोनों पुत्र सूर्याश्व की तरह सक्षम थे।[1] पुरोहित सोमदेव ने दोनों पुत्रों को वेदों का सांगोपांग अध्ययन करवाया। शास्त्रीय ज्ञान का पीयूष पान कर लेने पर भी महाविद्वान् आर्यरक्षित का मानस अतृप्ति का अनुभव कर रहा था। आगे पढ़ने की तीव्र उत्कंठा उनमें थी। विशेष प्रशिक्षण पाने के लिए वे पाटलिपुत्र गए। सद्यग्राही जागृत कुंडलिनी के बल से धृति-धर प्रकृष्ट बुद्धिमान आर्यरक्षित वेदों, उपनिषदों के पारगामी मनीषी बने। यथेप्सित अध्ययन कर लेने के बाद उपाध्याय का आदेश प्राप्त कर वे दशपुर लौटे। राजपुरोहितपुत्र होने के कारण महाप्राज्ञ आर्यरक्षित को राजसम्मान प्राप्त हुआ। नागरिकों ने हार्दिक अभिवादन दिया एवं घर-घर से उन्हें आशीर्वाद मिला। सभी का भव्य स्वागत झेलते हुए आर्यरक्षित मां के पास पहुंचे। रुद्रसोमा सामायिक कर रही थी। उसने आशीर्वाद देकर अपने पुत्र का वर्धापन नहीं किया।

राजसम्मान पा लेने पर भी मां के आशीर्वाद के बिना जननी वत्सल आर्यरक्षित खिन्न थे। सोचा, धिक्कार है मुझे! शास्त्र समूह को पढ़ लेने पर भी मैं मां को तोष नहीं दे सका।[2] सुत के उदासीन मुख को देखकर सामायिक-संपन्नता के बाद रुद्रसोमा बोली—"पुत्र! जो विद्या तुझे आत्मबोध न करा सकी उससे क्या? मेरे मन को प्रसन्न करने के लिए महाकल्याणकारी जिनोपदिष्ट दृष्टिवाद का अध्ययन करो।" आर्यरक्षित ने चिंतन किया—"दृष्टिवाद का नाम भी सुंदर है। इसका अध्ययन मुझे अवश्य करना चाहिए।" मां से आर्यरक्षित ने दृष्टिवाद के अध्यापनार्थ अध्यापक का नाम जानना चाहा। रुद्रसोमा ने बताया—"अगाध ज्ञान के निधि, दृष्टिवाद के ज्ञाता आर्य तोषलिपुत्र नामक आचार्य इक्षुवाटिका में विराज

रहे हैं[1], जाओ पुत्र ! उनके पास अध्ययन प्रारंभ करो। तुम्हारी इस प्रवृत्ति से अवश्य ही मुझे शांति की अनुभूति होगी।"

मां का आशीर्वाद पाकर दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही आर्यरक्षित ने इक्षुवाटिका की ओर प्रस्थान कर दिया। नगर के बहिर्भूभाग में उन्हें पिता का मित्र वृद्ध ब्राह्मण मिला। उसके हाथ में ६ इक्षुदण्ड पूर्ण थे। दशवां आधा था। इक्षु का यह उपहार लेकर वह आर्यरक्षित से मिलने ही आ रहा था। संयोगवश मित्रपुत्र को मार्ग के मध्य में ही पाकर वह प्रसन्न हुआ। आर्यरक्षित ने उनका अभिवादन किया। पिता-मित्र,वृद्ध ब्राह्मण ने भी प्रीति-वश उन्हें गाढ़ आलिंगन में बांध लिया। आर्यरक्षित ने कहा—"मैं अध्ययन करने के लिए जा रहा हूं। आप मेरे बंधु जनों की प्रसत्ति के लिए उनसे घर पर मिले।" आर्यरक्षित ने अनुमान लगाया—इक्षुवाटिका की ओर जाते हुए मुझे सार्धनव इक्षुदण्डों का उपहार मिला। इस आधार पर मुझे दृष्टिवाद ग्रंथ के सार्ध नव परिच्छेदों की प्राप्ति होगी, इससे अधिक नहीं।[४]

उल्लास के साथ आर्यरक्षित इक्षुवाटिका में पहुंचे। ढड्ढर श्रावक को वंदन करते देख उन्होंने उसी भांति आर्य तोषलिपुत्र को वंदन किया। श्रावकोचित क्रियाकलाप से अज्ञात नवागंतुक व्यक्ति को विधियुक्त वंदन करते देख आर्य तोषलि पुत्र ने पूछा—"वत्स ! तुमने यह विधि कहां से सीखी ?" आर्यरक्षित ने ढड्ढर श्रावक की ओर संकेत किया और अपने आने का प्रयोजन भी बताया। आर्य तोषलि पुत्र ने ज्ञानोपयोग से जाना—"श्रीमद् वज्र स्वामी के बाद यह बालक महा प्रभावी होगा।" नवागंतुक आर्यरक्षित को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा—"दृष्टिवाद का अध्ययन करने के लिए मुनि बनना आवश्यक है। आर्य रक्षित में ज्ञान पिपासा प्रबल थी। वे श्रमण दीक्षा स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हुए और गुरु चरणों में उन्होंने नम्र निवेदन किया—"आर्य ! मिथ्या मोह के कारण लोग मेरे प्रति अनुरागी हैं। जैन संस्कारों से अज्ञात पारिवारिक जनों का ममकार (ममत्व) भी दुस्त्याज्य है। मेरे श्रमण बनने का वृत्तांत ज्ञात होने पर राजा के द्वारा भी मुझे शक्ति-प्रयोग से घर ले जाने के लिए विवश किया जा सकता है। इस प्रकार की घटना से किसी प्रकार जैन शासन की लघुता न हो इस कारण मुझे दीक्षा प्रदान करते ही अन्य देश में विहरण करना उचित होगा। आर्य तोषलिपुत्र ने समग्र बातों को ध्यान से सुना और ईशान कोणाभिमुख आर्यरक्षित को सामायिक व्रत का उच्चारण करते हुए वी० नि० ५४४ (वि० ७४) में दीक्षा प्रदान कर वहां से अन्यत्र प्रस्थान कर दिया। कालांतर में अपनी ज्ञाननिधि को पूर्णतः प्रदान कर देने के बाद आर्य तोषलि पुत्र ने उनको अग्रिम अध्ययन के लिए आर्य वज्र स्वामी के पास भेजा।

गुरु के आदेशानुसार आर्यरक्षित वहां से चले। मार्गान्तरवर्ती नगर अवन्ति में आचार्य भद्रगुप्त से उनका मिलन हुआ। आचार्य भद्रगुप्त वज्र स्वामी के विद्या-

गुरु थे। उन्होंने आर्य रक्षित को गाढ़ स्नेह प्रदान करते हुए कहा—"आर्यरक्षित ! पूर्वों को पढ़ने की तुम्हारी अभिलाषा भद्र है, प्रशंसनीय है। तुम्हारा यहां आना उचित समय पर हुआ। मेरी मृत्यु का समय निकट है। अनशन की स्थिति में मेरे पास रहकर तुम सहायक (निर्यामक) बनो। कुलीन व्यक्तियों का यही कर्त्तव्य होता है।" आर्य तोषलि पुत्र का निर्देश पाकर आर्यरक्षित ने परम प्रसन्न मन से स्वयं को सेवा धर्म में नियुक्त कर दिया—परम समाधि में लीन, अनशन में स्थित आर्य भद्रगुप्त ने एक दिन प्रसन्न मुद्रा में कहा—"तुमने मेरी इतनी अच्छी परिचर्या की है जिससे क्षुधा एवं तृषा की खिन्नता भी मुझे अनुभूत नहीं हुई। मैं तुम्हे एक मार्ग-दर्शन देता हूं। तुम वज्र स्वामी के पास पढ़ने के लिए जाओगे पर भोजन एवं शयन की व्यवस्था अपनी पृथक् रूप से रखना। क्योंकि आर्य वज्र की जन्म-कुंडली (जन्मपत्रिका) का योग है—जो भी नवागन्तुक व्यक्ति उनकी मंडली में भोजन करेगा और आर्य वज्र स्वामी के पास रात्रि-शयन करेगा वह उन्हीं के पास पंचत्व को प्राप्त होगा। तुम शासन के प्रभावक बनोगे, संघाधार बनोगे अतः यह उपदेश मैं तुम्हें दे रहा हूं।"

आर्यरक्षित ने शीश झुकाकर 'आम्'—इति—कहकर अत्यन्त विनीत भाव से आर्य तोषलि पुत्र के मार्ग-दर्शन को स्वीकार किया। समाधिपूर्ण अवस्था में आर्य भद्रगुप्त के स्वर्गगमन के पश्चात् आर्यरक्षित ने वज्र स्वामी की दिशा में अध्ययनार्थ प्रस्थान कर दिया। वहां पहुंचते ही आर्य वज्र स्वामी के पास न जाकर रात्रि में सोने की व्यवस्था उन्होंने अपनी अलग की। आर्य वज्र स्वामी ने ढलती रात में स्वप्न देखा—दूध से भरा कटोरा नवागन्तुक पथिक आकर पी गया है पर कुछ पय उसमें अवशेष रह गया है। प्रातः होते ही स्वप्न की यह बात वज्र स्वामी ने अपने शिष्यों से कही। वार्तालाप के यह प्रसंग पूर्ण भी नहीं हो पाया था कि तभी अपरिचित अतिथि ने आकर वज्र स्वामी को वन्दन किया। आर्य वज्र स्वामी ने पूछा—"तुम कहां से आ रहे हो ?" आर्यरक्षित बोले "मैं आर्य तोषिल पुत्र के पास से आ रहा हूं।" दूरदर्शी, सूक्ष्मचिन्तक आर्य वज्र स्वामी ने कहा—"तुम आर्यरक्षित हो ? अवशिष्ट पूर्वों का ज्ञान करने के लिए मेरे पास आए हो ? तुम्हारे उपकरण, पात्र, संस्थारक कहां हैं ? उनको यहीं ले आओ। आहार-पानी की व्यवस्था यहां बनाकर अध्ययन-कार्य को प्रारम्भ करो। पृथक् रहने से पूर्वों का अध्ययन कैसे कर पाओगे ?" आर्यरक्षित ने आर्य भद्रगुप्त द्वारा प्रदत्त मार्ग-दर्शन को कह सुनाया और अपनी पृथक् रहने की व्यवस्था भी बता दी। वज्र स्वामी ने भी ज्ञानोपयोग से समग्र स्थिति को जाना और आर्य भद्रगुप्त के निर्देशानुसार उनके पृथक् रहने की व्यवस्था को स्वीकार कर लिया।

दृष्टिवाद का पाठ विविध भागों, पर्यायों एवं गंभीर शब्दों के प्रयोग से अत्यंत

दुर्गम था। आर्यरक्षित ने स्वल्प समय में ही इस ग्रंथ के २४ यव पढ़ लिए थे। उनका अध्ययन विषयक प्रयास अद्‌भुत था।

इधर दशपुर में रुद्रसोमा को पुत्र की स्मृति बाधित करने लगी। उसने सोचा, घर में दीपक की तरह प्रकाश करने वाला पुत्र चला गया। इससे सारा वातावरण अंधकारमय हो गया है। सोमदेव का परामर्श लेकर रुद्रसोमा ने कनिष्ठ पुत्र फल्गुरक्षित से कहा—"पुत्र! मेरा संदेश लेकर ज्येष्ठ भ्राता के पास जाओ। उनसे कहना—'भ्रात! आपने जननी का मोह छोड़ दिया है पर जिनेन्द्र भगवान ने भी वात्सल्यभाव को समर्थन दिया था और गर्भावास में माता के प्रति अपूर्व भक्ति प्रदर्शित की थी। अतः आप भी माता को दर्शन देने की कृपा करें। हो सकता है आपने जिस मार्ग को स्वीकारा है आपका परिवार भी उस मार्ग पर चलने के लिए प्रस्तुत हो। आप में मोहबुद्धि नहीं है। पर मां के उपकार को स्मरण करते हुए एक बार पधारकर उनके सामने कृतज्ञ भाव प्रकट करें। माता का आशीर्वाद लें।'

मां का आदेश प्राप्त कर नम्रांग फल्गुरक्षित आर्यरक्षित के पास गए एवं मां की भावना को प्रस्तुत करते हुए बोले—"आपके दर्शन से पूज्या मां को अमृतपान जैसी तृप्ति होगी।" संयम साधना में सावधान, विवेकशील, अन्तर्मुखी आर्य रक्षित ने फल्गुरक्षित के द्वारा रुद्रसोमा की अन्र्वेदना को अनासक्त भाव से सुना और उन्होंने अत्यन्त वैराग्यमयी भाषा में कहा—"फल्गुरक्षित! इस अशाश्वत संसार से क्या मोह है? तुम्हारा भी सच्चा मोह मेरे प्रति है तो मुनि-जीवन स्वीकार कर अनवरत मेरे पास रहो।"

श्रेय कार्य में विलम्ब श्रेष्ठ नहीं होता, यह सोच फल्गुरक्षित ने भाई की बात को सम्मान देते हुए तत्क्षण दीक्षा स्वीकार कर ली। यविकाओं का अविरल अध्ययन करते हुए एक दिन आर्यरक्षित ने आर्य वज्र स्वामी से पूछा "भगवन्! अध्ययन कितना अवशिष्ट रहा है?" आर्य वज्र स्वामी गंभीर होकर बोले—"यह प्रश्न पूछने से तुम्हें क्या लाभ है? तुम दत्तचित्त होकर पढ़ते जाओ।" थोड़े समय के बाद यही प्रश्न पुनः आर्यरक्षित ने आर्य वज्र स्वामी के सामने प्रस्तुत किया। वज्र स्वामी ने कहा—"वत्स! तुम सर्षप मात्र पढ़े हो; मेरु जितना शेष पड़ा है। तुम अल्प मोहवश पूर्वों के अध्ययन को छोड़ने की सोच रहे हो यह कांजी के बदले क्षीर को, लवण के बदले कर्पूर को, कुसुम के बदले कुंकुम को, गुंजाफल के बदले स्वर्ण को परित्यक्त करने जैसा है।" गुरु का प्रशिक्षण पाकर आर्यरक्षित पुनः अध्ययन में स्थिर हुए और नवपूर्वों का पूर्ण भाग एवं दसवें पूर्व का अर्धभाग उन्होंने सम्पन्न कर लिया। आर्य फल्गुरक्षित पुनः-पुनः ज्येष्ठ भ्राता को माता की स्मृति कराते रहते थे। दृष्टिवाद के अथाह ज्ञान को धारण कर लेने में एक दिन आर्य रक्षित का धैर्य डोल उठा। उन्होंने वज्र स्वामी से निवेदन किया—"मुझे दशपुर जाने का आदेश प्राप्त हो, मैं शेष अध्ययन के लिए लौटकर शीघ्र ही आने का

प्रयास करूंगा।" आर्य वज्र ने ज्ञानोपयोग से जाना—मेरा आयुष्य कम है। आर्य-रक्षित का मेरे से पुनः मिलन होना असंभव है। दूसरा कोई योग्य व्यक्ति ज्ञान-सिन्धु—दृष्टिवाद को ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। दसवां पूर्व मेरे तक ही सुरक्षित रह पायेगा। ऐसा ही स्पष्ट दीख रहा है।

आर्य वज्र गम्भीर होकर बोले—"वत्स ! परस्पर उच्चावच्च व्यवहार के लिए 'मिच्छामि दुक्कड़ं' हैं। तुम्हें जैसा सुख हो वैसा करो। तुम्हारा मार्ग शिवानु-गामी हो।" गुरु का आदेश प्राप्त होने पर उन्हें वंदन कर आर्यरक्षित फल्गुरक्षित के साथ वहां से चल पड़े।

शुद्ध संयमपूर्वक यात्रा करते हुए बन्धु सहित आर्यरक्षित पाटलिपुत्र पहुंचे। दीक्षाप्रदाता आर्य तोषलिपुत्र से प्रसन्नतापूर्वक मिले एवं सार्ध नव पूर्वों के अध्ययन की बात कही। पूर्वधर आर्यरक्षित को सर्वथा योग्य समझकर आर्य तोषलिपुत्र ने आचार्य पद पर उनकी नियुक्ति की।[1]

आर्यरक्षित ने दशपुर की ओर प्रस्थान किया। मुनि फल्गुरक्षित ने आगे जाकर मां को आर्यरक्षित के आगमन की सूचना दी। ज्येष्ठ पुत्र के दर्शनार्थ उत्कंठित जननी रुद्रसोमा पुत्रागमन की प्रतीक्षा कर ही रही थी। आर्यरक्षित आ पहुंचे।

पिता सोमदेव को अपने पुत्रों का यह सीधा आगमन अच्छा नहीं लगा। वे चाहते थे, महान उत्सव के साथ दोनों पुत्रों का नगर-प्रवेश होता। सोमदेव ने विशेष स्वागतार्थ दोनों पुत्रों को नगर के बाह्य उद्यान में लौट जाने को कहा पर आर्य-रक्षित ने इस बात की स्वीकृति नहीं दी।

पिता सोमदेव का दूसरा प्रस्ताव था—"पुत्र ! श्रमण वेश को छोड़कर द्वितीय आश्रम गृहस्थ जीवन की साधना करो और रूप यौवनसम्पन्ना योग्य कन्या के साथ महोत्सवपूर्वक श्रौत विधि से विवाह करने के लिए प्रस्तुत बनो। तुम्हारी माता को भी इससे आनन्द प्राप्त होगा। गृहस्थ जीवन की गाड़ी को वहन करने के लिए धनोपार्जन की चिन्ता तुम्हें नहीं करनी होगी। पूज्य नृपवर की कृपा से सात पीढ़ी सुख से भोग सके इतना द्रव्य मेरे पास है।"

अध्यात्म-साधना में रत आर्यरक्षित ने राजपुरोहित पिता सोमदेव से कहा—"मनीषी-मान्य, विज्ञ ! शास्त्रों का दुर्धर भार ही वहन कर रहे हो, जीवन के यथार्थ को नहीं पहचाना है। जन्म-जन्म में माता-पिता, भ्राता-भगिनी, पत्नी सुता आदि अनेक बार ये संबंध हुए हैं, इनमें क्या आनंद है ? राज-प्रसाद को भी भृत्य रूप में रहकर अर्जित किया है इसमें भी गर्व किस बात का ? अर्थ-सम्पदा अनर्थ की जननी है, वह उपद्रवकारिणी है। मनुष्यजन्म रत्न की तरह दुष्प्राय है। गृहमोह में फंसकर विज्ञ मनुष्य इसको खोया नहीं करते। मेरा दृष्टिवाद का पठन भी पूर्ण नहीं होपाया है। मैं यहां कैसे रुक सकता हूं ? आपका मेरे प्रति सच्चा अनुराग मैं तभी समझूंगा, आप दीक्षा स्वीकार करें।"

आर्य रक्षित की धीर-गंभीर मंगलमयी गिरा को सुनकर राजपुरोहित परिवार प्रतिबुद्ध हुआ एवं श्रमण धर्म में दीक्षित हुआ। सोमदेव का दीक्षा संस्कार साप-वादिक था। उन्होंने छत्र, जनेऊ, कौपीन एवं पादुका का अपवाद रखा। पिता सोमदेव को इन अपवादों से मुक्त कर जैन-विहित विधि में आर्यरक्षित द्वारा स्थिर करने की घटना आगम के व्याख्यात्मक साहित्य में युक्तिपूर्ण संदर्भ के साथ प्रस्तुत है।

एक बार सोमदेव मुनि श्रमणों के साथ चल रहे थे। आर्य रक्षित के संकेतानु-सार मार्गवर्ती बालकों ने कहा—"छत्रधारी के अतिरिक्त सब मुनियों को वन्दन करते हैं।" सोमदेव मुनि ने इसे अपना अपमान समझा और छत्र धारण करना छोड़ दिया। इसी तरह कौपीन के अतिरिक्त अन्य उपकरण भी छोड़ दिये थे। सोमदेव मुनि पहले भिक्षा लेने भी नहीं जाते। आर्यरक्षित के निर्देशानुसार एक दिन मुनि मंडली ने उन्हें भोजन के लिए निमन्त्रण नहीं दिया। सोमदेव मुनि कुपित हुए। पिता की परिचर्या के लिए आर्यरक्षित स्वयं भिक्षाचरी करने के लिए प्रस्तुत हुए।

सोमदेव मुनि ने कहा—"पुत्र! आचार्य भिक्षाचरी करे और मैं न करूं, यह लोकव्यवहार की दृष्टि से उचित नहीं है अतः स्वयं ही इस क्रिया में मैं प्रवृत्त बनूंगा।" सोमदेव मुनि भिक्षा के लिए चले। सम्पन्न श्रेष्ठी के घर पीछे के द्वार से उन्होंने प्रवेश किया। कोई भी नवागन्तुक व्यक्ति प्रमुख द्वार से आता है। मुनि को चोर पथ से आते देख श्रेष्ठी कुपित हुआ। सोमदेव मुनि बुद्धि के धनी थे, वाक्पटु थे। उन्होंने तत्काल कहा—"श्रेष्ठी! लक्ष्मी का आगमन उल्टे द्वार से ही होता है। मधुर वाणी में वातावरण को बदल देने की क्षमता होती है। सोच-समझकर विवेक-पूर्ण बोला गया एक वाक्य भी विष को अमृतमय बना देता है। सोमदेव के सुमधुर शब्द के प्रयोग से श्रेष्ठी के क्रोध का पारा उतर गया। वह मुनि पर प्रसन्न हुआ। भक्तिभाव से अपने घर में ले गया ओर बत्तीस मोदकों का दान दिया। धर्मस्थान में आर्यरक्षित के मार्ग-दर्शन से शिष्य मंडली में उन मोदकों का वितरण कर (दान देकर) महान् लाभ के भागी सोमदेव मुनि बने।

आर्यरक्षित का युगप्रधानत्व काल वी० नि० ५८४ (वि० ११४) से प्रारम्भ होता है। आर्यरक्षित का युग विचारों के संक्रमण का युग था। वह नई करवट ले रहा था। पुरातन परम्पराओं के प्रति जनमानस में आस्थाएं डगमगा रही थीं।

नग्नो न स्यामहं यूयं मा वन्दध्वं सपूर्वजाः।
स्वर्गोऽपि सोऽथ मा भूयाद् यो भावी भवदर्चनात्॥ १६८॥

प्रभा० चरित्र, पृ० १४

—मुझे तुम वन्दन भले न करो और तुम्हारी अर्चा से प्रापणीय स्वर्ग की उप-लब्धि भी भले न हो, मैं नग्नत्व को स्वीकार नहीं करूंगा।"—पूर्वधर आर्य रक्षित

के सामने पिता सोमदेव मुनि के ये शब्द प्राचीन नग्नत्व परम्परा के प्रति स्पष्ट विद्रोह का उद्‌घोष था।

आर्यरक्षित भी स्थिति-पालक नहीं थे। वे स्वस्थ परम्परा के पोषक थे। क्रान्तिकारी विचारों के वे सबल समर्थक भी थे। चतुर्मास की स्थिति में दो पात्र रखने की प्रवृत्ति स्वीकार कर नई परम्परा को जन्म देने का साहस उन्होंने किया था।[६] उनके शासनकाल में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य अनुयोग व्यवस्था का हुआ। आगम-वाचना का यह अतीव विशिष्ट अंग है। उससे पहले आगमों का अध्ययन समग्र नयों एवं चारों अनुयोगों के साथ होता था। अध्ययन क्रम की यह जटिल व्यवस्था थी। अस्थिरमति शिष्यों का धैर्य डगमगा जाता था। आर्यरक्षित के युग में अध्ययन की नई व्यवस्था प्रारम्भ हुई। इसमें मुख्य हेतु विन्ध्य मुनि बने थे। विन्ध्य मुनि अतीव प्रतिभासम्पन्न, शीघ्रग्राही मनीषा के धनी थे। आर्यरक्षित शिष्य मंडली को जो आगम-वाचना देते विन्ध्य मुनि उसे तत्काल ग्रहण कर लेते थे। उनके पास अग्रिम अध्ययन के लिए बहुत-सा समय अवशिष्ट रह जाता था। आर्यरक्षित से विन्ध्य मुनि ने प्रार्थना की मेरे लिए अध्ययन की व्यवस्था पृथक् रूप से करने की कृपा करें। आर्यरक्षित ने इस महनीय कार्य के लिए महामेधावी दुर्बलिका पुष्यमित्र को नियुक्त किया। कुछ समय के बाद अध्यापनरत दुर्बलिका पुष्यमित्र ने आर्यरक्षित से निवेदन किया—"आर्य विन्ध्य को आगम-वाचना देने से मेरे पठित पाठ के पुनरावर्तन में बाधा पहुंचती है। इस प्रकार की व्यवस्था से मेरी अधीत पूर्व ज्ञान की राशि विस्मृत हो जायेगी।"

शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र के इस निवेदन पर आर्यरक्षित ने सोचा—महा-मेधावी शिष्य की भी यह स्थिति है। आगम-वाचना प्रदान करने मात्र से अधीत ज्ञान राशि के विस्मरण की संभावना बन रही है। ऐसी स्थिति में आगम ज्ञान का सुरक्षित रहना बहुत कठिन है।

दूरदर्शी आर्यरक्षित ने समग्रता से चिन्तन कर पठन-पाठन की जटिल व्यवस्था को सरल बनाने हेतु आगम अध्ययन क्रम को चार अनुयोगों में विभक्त किया।[७] इस महत्त्वपूर्ण आगम-वाचना का कार्य द्वादश वर्षीय दुष्काल की परिसमाप्ति के बाद दशपुर में वीर निर्वाण ५९२ (वि० १२२) के आसपास सम्पन्न हुआ।

सीमंधर स्वामी द्वारा इन्द्र के सामने निगोद व्याख्याता के रूप में आर्यरक्षित की प्रशंसा, मथुरा में आर्यरक्षित की प्रतिमा परीक्षा हेतु इन्द्रदेव का वृद्ध रूप में आगमन, बनावटी वृद्ध की हस्तरेखा देखकर आर्यरक्षित द्वारा देव होने की स्पष्टोक्ति तथा निगोद की सूक्ष्म व्याख्या को सुनकर सुरेन्द्र द्वारा मुनीन्द्र की भूरि-भूरि प्रशंसा, जाते समय अन्य मुनियों की जानकारी के हेतु सुगंधित पदार्थों का वातावरण में विकीर्णन तथा उपाश्रय द्वार के दिक् परिवर्तन तक की समग्र घटना का विस्तार से आवश्यक निर्युक्ति—मलयवृत्ति में उल्लेख है।[८] पन्नवणा सूत्र के

रचनाकार आचार्य श्याम के साथ भी यह घटना अत्यन्त प्रसिद्धि-प्राप्त है, अतः इसे प्रस्तुत प्रकरण में न देकर आचार्य श्याम के जीवन-प्रसंग में ससंदर्भ निबद्ध कर दिया गया है।

आर्यरक्षित के पास योग साधक शिष्यों की प्रभावक मंडली थी। तीन पुष्यमित्र उनके शिष्य थे---दुर्बलिका पुष्यमित्र, घृत पुष्यमित्र एवं वस्त्र पुष्यमित्र। तीनों शिष्य लब्धिसम्पन्न शिष्य थे[१] एवं आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र ध्यानयोग के विशिष्ट साधक भी थे।

आर्यरक्षित का प्रमुख विहार-क्षेत्र अवन्ति, मथुरा एवं दशपुर (मन्दसौर) के आसपास का क्षेत्र था। उनके जीवन की विशेष घटनाएं इन्हीं नगरों से संबंधित है। महाप्रभावी आचार्य रक्षित जी की सम्पूर्ण आयु ७५ वर्ष की थी। उन्होंने १६ वर्ष तक युगप्रधान आचार्य पद का दायित्व संभाला। मन्दसौर में वी० नि० ५६७ (वि० सं० १२७) में देवेन्द्र वन्दित अनुयोग व्यवस्थापक महानुभाव आर्यरक्षित स्वर्गगामी बने। उनकी सम्पूर्ण आयु ७५ वर्ष की थी।

कुछ इतिहासकार उनकी आयु ६५ वर्ष की मानते हैं। उनके अनुसार आर्य रक्षित का जन्म वी० नि० ५०२ (वि० सं० ३२) में और भद्रगुप्त से उनका मिलन वी० नि० ५३३ (वि० सं० ६३) में हुआ था।

आधार-स्थल

१. सूर्याश्वयोरिव यमौ तयोः पुत्रौ बभूवतुः।
आर्यरक्षित इत्याद्यो द्वितीयः फल्गुरक्षितः॥ ६॥

(प्रभा० चरित, पत्रांक ६)

२. धिक्! ममाधीतशास्त्रौघं बह्वप्यवकरप्रभम्।
येन मे जननी नैव परितोषमवापिता॥ १६॥

(प्रभा० चरित, पत्रांक ६)

३. ताव चिंतेइ---नामंपि चेव सुन्दरं, जइ कोइ अज्झावेइ अज्झामि, मायावि तोसिया भवई, ताहे भणइ कहिं ते दिट्ठवायजाणंतगा? सा भणइ---अम्हं उच्छुघरे तोसलिपुत्ता नाम आयरिया।

(आवश्यक मलय वृत्ति, पत्रांक ३६४)

४. नवाहं दृष्टिवादस्य पूर्वाण्यध्ययनानि वा।
दशमं खण्डमध्येष्ये दध्यौ यानिति सोमभूः॥ ५४॥

(परि० पर्व०, सर्ग० १३)

५. श्रीमत्तोसलिपुत्राणां मिलितः परया मुदा।
पूर्वाणां नवके सार्द्धे संगृहीती गुणोदधिः॥ ११७॥

तं च सूरिपदे न्यस्य गुरुर्वोऽगु: परं भवम् ।
अथार्यरक्षिताचार्य: प्रायाद् दशपुरंपुरम् ।। ११८ ।।

(प्रभा० चरित, पत्रांक १२)

६ व्यवहार चूर्णि उद्देशो ८

७. देविंदवंदिएहिं मणाणुभावेहिं रक्खिअअज्जेहिं ।
जुगमासज्जं विहत्तो अणुओगो ता कओ चउहा ।। ७७४ ।।

८. (क) आवश्यक मलयवृत्ति, पत्रांक ४००
(ख) इत्थ भूअधरे ठिआ निगोअवत्तव्वयं नियाउपरिमाणं च पुच्छिअ तुट्ठचित्तेण सक्केण अज्जरक्खिअसूरी वंदिआ उवस्सयस्स अ अन्न ओहुत्तं दारं कयं ।

(विविध तीर्थ कल्प, पृ० १९)

९. इत्थ वत्थपूसमित्तो घयपूसमित्तो दुब्बलियापूसमित्तो अ लद्धिसंपन्ना विहरिया ।

(विविध तीर्थ कल्प, पृ० १९)

२६. ध्यानयोगी आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र

आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र स्वाध्याय योग एवं ध्यान योग के विशिष्ट साधक थे। वे अनुयोग व्यवस्थापक आर्यरक्षित के शिष्य थे। उनका जन्म वी० नि० ५५० (वि० ८०) में हुआ। संसार से विरक्त होकर वी० नि० ५६७ में उन्होंने मुनि-दीक्षा स्वीकार की।

आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र प्रबल धृतिधर एवं महामेधावी संत थे। आर्यरक्षित की सार्ध नौ पूर्व की विशाल ज्ञानराशि से वे ९ पूर्वों को ग्रहण करने में सफल सिद्ध हुए। शास्त्रों के अनवरत गुनन-मनन-परावर्त्तन में दत्तचित्तता एवं प्रबल ध्यान साधना के परिश्रम परिणामस्वरूप उनका शरीर संस्थान अत्यन्त कृश था। दुर्बलिका पुष्यमित्र—यह उनका नाम कृशकाय होने के कारण सार्थक भी था।

एक बार बौद्ध भिक्षु आर्यरक्षित के पास आए। प्रभावक चरित के अनुसार बौद्ध उपासक आये थे।[1] उन्होंने बौद्ध शासन में निर्दिष्ट उच्चतम ध्यान प्रणाली की प्रशंसा की और कहा, "हमारे संघ में विशिष्ट ध्यान साधक भिक्षु हैं, आपके संघ में ध्यान साधना का विकास नहीं है।"

आर्यरक्षित ने कहा, "जैन परम्परा में भी ध्यान साधना का क्रम विद्यमान है।" उन्होंने दुर्बलिका पुष्यमित्र को उनके सामने प्रस्तुत करते हुए बताया, "इस शिष्य के वपुः दौर्बल्य का निमित्त ध्यान साधना है।[2] यह दुर्बलिका पुष्यमित्र अप्रमत्त भाव से अहर्निश ध्यान साधना में निरत रहता है।"

बौद्ध उपासकों को आर्यरक्षित के कथन पर विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने कहा, "मुनि की कृशता का कारण स्निग्धाहार का अभाव है। आपको गरिष्ठ भोजन की उपलब्धि नहीं होती है।"

बौद्ध उपासकों की शंका के समाधान में आर्य रक्षित ने घृत पुष्यमित्र और वस्त्र पुष्यमित्र को उनके सामने प्रस्तुत किया और कहा, "इन शिष्यों को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से संबंधित चारों ही प्रकार की घृतलब्धि और वस्त्रलब्धि प्राप्त है।[3] ये श्रमण लब्धियों के प्रभाव से घृत और वस्त्र-संबंधी सामग्री को पर्याप्त रूप से प्रस्तुत कर समग्र संघ की यथेप्सित आवश्यकता को पूरी कर सकते हैं।"

दोनों शिष्यों की क्षमता को उदाहरण की भाषा में समझाते हुए आर्य रक्षित बोले, "मथुरा देश की अनाथ कृपण महिला अपने हाथ से कपास को बीनकर वस्त्र बनाती है और उनके विक्रय से अपनी आजीविका चलाती है। यह महिला वर्षा, शिशिर और हेमन्त ऋतु में भी श्रमण वस्त्र पुष्यमित्र के उपस्थित होने पर उसे प्रमुदितमना वस्त्र प्रदान करने हेतु प्रस्तुत हो जाती है।

"अवन्ति प्रदेश की कृपण गर्भिणी निकट प्रसवा महिला के लिए उसके पति ने याचनापूर्वक छह महीनों के प्रयत्नों से घृत मंचय किया। उस घृत को कृपण महिला अपने क्षुधार्त पति के द्वारा मांग किए जाने पर भी प्रदान नहीं करती पर घृतपुष्यमित्र के उपस्थित होने पर ज्येष्ठ और आषाढ़ मास में भी वह घृत उसी कृपण महिला द्वारा द्वारस्थ मुनि को सहर्ष प्रदान कर दिया जाता है।[४]

"लब्धिधर इन समर्थ मुनियों के होते हुए भी संघ में पौष्टिक भोजन के अभाव की कल्पना भ्रान्ति मात्र है। शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र प्रतिदिन गरिष्ठ एवं घृता-सिक्त भोजन स्वेच्छापूर्वक करता है।[५] प्रस्तुत विषय की विश्वसनीयता प्राप्त करने के लिए इन्हें अपने स्थान पर रखकर परीक्षा ले सकते हैं।"

श्रमण दुर्बलिका पुष्यमित्र गुरु के आदेश से उनके साथ चले गये। बौद्ध उपासकों ने अपने स्थान पर शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र की ध्यान साधना और आहार विधि का समग्रता से कई दिनों तक अवलोकन किया। स्निग्ध और अति-स्निग्ध भोजन को ग्रहण करने पर भी कृशकाय मुनि दुर्बलिका पुष्यमित्र का शरीर दिन-प्रतिदिन अधिक कृश बनता गया। भस्म में प्रक्षिप्त घृत की भांति रस परिणत आहार उनके शरीर में अरस परिणत सिद्ध होता।[६] रसोत्पत्ति न होने का कारण उनके शरीर में पाचन शक्ति की दुर्बलता नहीं पर स्वाध्याय, ध्यानरत आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र द्वारा अनास्वाद वृत्ति से भोजन का ग्रहण था। बौद्ध उपासकों को दुर्बलिका पुष्यमित्र की साधना वृत्ति से अन्तःतोष हुआ।

आर्यरक्षित के घृत पुष्यमित्र और वस्त्र पुष्यमित्र के अतिरिक्त चार और प्रमुख शिष्य थे। दुर्बलिका पुष्यमित्र, फल्गुरक्षित, विन्ध्य, गोष्ठामाहिल।[७] दुर्बलिका पुष्यमित्र विनय, धृति आदि गुणों से सम्पन्न था। आर्य रक्षित की विशेष कृपा इन पर थी।

मेधावी फल्गुरक्षित आर्यरक्षित के लघु सहोदर थे। गोष्ठामाहिल तार्किक-शिरोमणि एवं वादजयी मुनि थे। घृत पुष्यमित्र एवं वस्त्र पुष्यमित्र भी श्रमण परिषद् के विशेष अलंकारभूत थे।

एक बार श्रमण परिवार परिवृत आर्यरक्षित दशपुर में विहरण कर रहे थे। मथुरा में अक्रियावादी अपना प्रबल प्रभुत्व स्थापित करने लगे थे। आर्यरक्षित ने उनके प्रभाव को प्रतिहत कर देने के लिए शास्त्रार्थ-कुशल गोष्ठामाहिल को वहां भेजा था। उनके वाक्-कौशल का अमित प्रभाव मथुरा के नागरिकों पर हुआ।

श्रावकों ने वादजयी मुनि के पावस की विशेष मांग आचार्य देव के सामने प्रस्तुत की। जैन शासन की विशेष प्रभावना की सम्भावना का चिन्तन कर आर्यरक्षित ने गोष्ठामाहिल को मथुरा में ही चातुर्मासिक स्थिति सम्पन्न करने का आदेश दिया।

आर्यरक्षित का यह चातुर्मास दशपुर में था। इस चातुर्मास में उनके सामने भावी उत्तराधिकारी की नियुक्ति का प्रश्न उपस्थित हुआ। आचार्य पद जैसे उच्चतम पद के लिए आर्यरक्षित ने दुर्बलिका पुष्यमित्र को योग्य समझा था।[८] उस समय का श्रमण वर्ग भी इस विषय में अत्यधिक जागरूक था। उन्होंने मेधावी मुनि फल्गुरक्षित और वादजयी मुनि गोष्ठामाहिल का नाम प्रस्तुत किया।[९]

आचार्य का दायित्व श्रमण संघ को अधिक से अधिक तोष प्रदान करना है। अपने इस दायित्व की भूमिका पर श्रमणों के मन को समाहित करने के लिए तीन कलशों का दृष्टान्त देते हुए आर्यरक्षित प्रश्न की भाषा में बोले, "सुविज्ञ श्रमणो ! कल्पना करो···एक कलश उड़द धान्य से, दूसरा कलश तेल से, तीसरा कलश घृत से पूर्ण भरा हुआ है। तीनों कलशों को उलट देने का परिणाम क्या होगा ?" संघ हितैषी श्रमणों ने नम्र होकर कहा, "पहला कलश पूर्ण रिक्त हो जायेगा। दूसरे कलश में तेल की बूंदें अल्प मात्रा में एवं तीसरे कलश में घृत की बूंदें अत्यधिक परिमाण में अवशिष्ट रह जाएगी।"

दृष्टान्त को शिष्यों पर घटित करते हुए आर्यरक्षित मधुर एवं गम्भीर शब्दों में समझाने लगे, "शिष्यो ! उड़द धान्य प्रथम कलश की भांति मैं अपना सम्पूर्ण ज्ञान दुर्बलिका पुष्यमित्र में निहित कर चुका हूं। फल्गुरक्षित में द्वितीय कलश के समान एवं गोष्ठामाहिल में तृतीय कलश के समान अल्प-अल्पतर मात्रा में मैं ज्ञान राशि को स्थापित कर पाया हूं।"[१०]

सुविनीत, श्रद्धानिष्ठ, चिन्तनशील श्रमणों ने आर्यरक्षित के विचारों की गहराई को समझा। उनके मन को समाधान मिला।

आर्यरक्षित की सूझ-बूझ से निर्विरोध वातावरण का निर्माण हुआ। आचार्य पद की नियुक्ति के लिए सर्वथा समुचित अवसर उपस्थित हो गया था। अनुकूल परिस्थिति का लाभ उठाते हुए आर्यरक्षित ने शिष्य समुदाय को संबोधित करते हुए कहा, "शिष्यो ! मेरे द्वारा प्रदत्त सूत्रागम और अर्थागम का ज्ञाता दुर्बलिका पुष्यमित्र को मैं आचार्य पद पर स्थापित कर रहा हूं।" धर्म संघ को आचार्य के निर्विरोध निर्णय से प्रसन्नता हुई।

दुर्बलिका पुष्यमित्र को आर्यरक्षित ने प्रशिक्षण दिया—"आर्य ! मैंने जैसे फल्गुरक्षित और गोष्ठामाहिल के साथ समुचित व्यवहार किया है तुम भी इन्हें इसी प्रकार सम्मान से रखना।" श्रमणों को भी आचार्य के प्रति कर्तव्य-बोध का पथ-दर्शन दिया। समग्र संघ को समुचित शिक्षाएं देकर आर्यरक्षित गण-चिन्ता से मुक्त बने। उनका उसी वर्ष स्वर्गवास हो गया। आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र ने वी०

नि० ५८४ (वि० ११४) में संघ का दायित्व सम्भाला।

गोष्ठामाहिल को आर्यरक्षित के स्वर्गवास की सूचना प्राप्त हुई। वे पावस पूर्णाहुति के बाद दशपुर में आए। उन्होंने मार्गवर्ती लोगों से पूछा, "गणधारक कौन हैं?" उत्तर में सभीके द्वारा दुर्बलिका पुष्यमित्र का नाम सुनकर गोष्ठामाहिल का मन खिन्न हुआ। श्रमणों ने एवं श्रावकों ने उन्हें संघ में सम्मिलित होने के लिए समुचित मार्ग-दर्शन दिया पर गोष्ठामाहिल ने किसी के कथन को समादर नहीं दिया।

नवोदीयमान ध्यान योगी दुर्बलिका पुष्यमित्र द्वारा शिष्यों को प्रदीयमान आगम-वाचना का गोष्ठामाहिल श्रवण नहीं करते थे। मुनि विन्ध्य की आगम-वाचना में वे सम्मिलित होते थे और उनसे अर्थागम-वाचना ग्रहण करते थे। अहंभाव की प्रबलता के कारण कर्म-प्रवाद पूर्व की अर्थ-वाचना करते समय गोष्ठामाहिल में मिथ्याभिनिवेश प्रकट हुआ। वे कर्मबन्धन की प्रक्रिया को लेकर उलझ गये। गोष्ठामाहिल के अभिमत से कर्म का वन्ध स्पृष्ट मात्र ही होता है। मुनि विन्ध्य ने कर्माणुओं की आत्मा के साथ बद्ध, स्पृष्ट, बद्ध-स्पृष्ट आदि अवस्थाओं का तथा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश की भूमिका पर उद्वर्तना, अपवर्तना, निधत्ति, निकाचना आदि भेद-प्रभेदों का भिन्न-भिन्न प्रकार से उद्‌बोध दिया। प्रतिक्षण जागरूक, निष्पक्ष, निराग्रही, पापभीरु दुर्बलिका पुष्यमित्र ने भी नाना प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया पर पूर्वाग्रहग्रस्त गोष्ठामाहिल ने अपना अभिमत नहीं वदला।

इक्षु में रस, तिल में तेल, पय में नवनीत की भांति कर्म की आत्मप्रदेशों के साथ बद्ध अवस्था न स्वीकार करने के कारण गोष्ठामाहिल द्वारा वी० नि० ५८४ (वि० ११४) में अवद्धिक मत की स्थापना हुई। जैन परम्परा में गोष्ठामाहिल सातवें निह्नव हैं।[११]

आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र पूर्वधर आचार्यों की परम्परा में नौ पूर्व को धारण करने वाले अन्तिम आचार्य थे। संयम पर्याय के ५० वर्षीय काल में ३३ वर्ष तक उन्होंने आचार्य पद के दायित्व का कुशलतापूर्वक वहन किया। विशिष्ट ध्यान-साधना से आत्मा को भावित करते हुए वी० नि० ६१७ (वि० १४७) में वे स्वर्ग-सम्पदा के स्वामी वने।

आधार-स्थल

१. सौगतोपासकास्ते च सूरिपार्श्वे समाययुः ॥२२०॥

(प्रभावक चरित, पृ० १६)

२. ताणि भणंति—अम्हं भिक्खुणो भाणपरा, तुज्झं भाणं नत्थि, आयरिया भणंति—अम्हं चेव भाणं,…दुब्बलिय पूसमित्तो सोभाणेणं चेव दुब्बलो ।

(आव० मलयवृत्ति, पत्रांक ३६८)

३. तत्राद्यपुष्यमित्रस्य लब्धिरासीच्चतुर्विधा ।
द्रव्यतः क्षेत्रतश्चापि कालतो भावतस्तथा ॥२०६॥

(प्रभावक चरित, पृ० १६)

४. द्रव्यतो घृतमेव स्यात् क्षेत्रतोऽवन्तिमण्डलम् ।
ज्येष्ठाषाढ़े कालतस्तु भावतोऽथ निगद्यते ॥२१०॥
दुर्गता ब्राह्मणी षड्भिर्मासैः प्रसवधर्मिणी ।
तद्भर्तेति विमृश्याज्यं भिक्षित्वा संचयेदधो ॥२११॥
ततः सा प्रसवे चाद्यश्वीने क्षुद्बाधितं द्विजम् ।
तद् घृतं याचमानं तं रुणद्धयन्यनिराशया ॥२१२॥
समुनिश्चेदर्थयेत दत्ते तदपि सा मुदा ।
यावद्गच्छोपयोग्यं स्यात् तावदाप्नोति भावतः ॥२१३॥

(प्रभावक चरित, पृ० १६)

५. दुर्बलः पुष्यमित्रोऽपि यथालब्धं घृतं घनम् ।
भुनक्ति स्वेच्छयाऽभीक्ष्णं पाठाभ्यासात् तु दुर्बलः ॥२१८॥

(प्रभावक चरित, पृ० १६)

६. स्वजना व्यमृशन्नस्य भुक्तं भस्मनि होमवत् ॥२२८॥

(प्रभावक चरित, पृ० १६)

७. तत्थय गच्छे चत्तारि जणा पहाणा, सो चेव दुब्बलियपूसमित्तो विंझो फग्गुरक्खितो-गोट्ठामाहिलोत्ति ।

(आवश्यक मलयवृत्ति, पत्रांक ३६८)

८. आर्यरक्षितसूरिश्च व्यमृशत् कः पदोचितः ।
दुर्बलः पुष्यमित्रोऽयं तद्विचारे समागमत् ॥२६४॥

(प्रभावक चरित, पृ० १७)

९. जो पुण से सयणवग्गो तेसिं गोट्ठामाहिलो फग्गुरक्खितो वा अभिमतो ।

(आवश्यक मलयवृत्ति, पत्रांक ४००)

१०. दुब्बलियापूसमित्तं पति सुत्तत्थतदुभएसु निप्फावकुडसमाणी अहं जातो, फग्गुरक्खियं पति तेल्लकुडसमाणो, गोट्ठामाहिलं पति घयकुडसमाणो, अतो मम ।

(आव० मलयवृत्ति, पत्रांक ४००)

११. विज्झो अणुभासइ, तं सुणेइ, अट्ठमे कम्मपवायपुव्वे कम्मं वन्निज्जइ, जहा कम्मं बज्झइ, जीवस्सय कह बंधो, एत्थ विचारे सो अभिनिवेसेण अन्नहा मन्नंतो य निण्हवो जातो ।

(आवश्यक मलयवृत्ति, पृ० ४०२)

२७. विवेक-दर्पण आचार्य वज्रसेन

विवेकसम्पन्न आर्य वज्रसेन अपने युग के विलक्षण आचार्य थे। युगप्रधान आचार्यों की शृंखला में सवा सौ वर्ष से भी ऊपर उम्र पाने वाले एवं सवा सौ वर्ष की वृद्धावस्था में आचार्य पद को अलंकृत करने वाले वे प्रथम थे।

उनका जन्म वी० नि० ४६२ (वि० २२) में हुआ। उम्र का एक दशक ही पूर्ण नहीं हो पाया, वे त्याग के कुलिश-कठोर पथ पर बढ़ने को उत्सुक बने। पूर्ण वैराग्य के साथ वी० नि० ५०१ (वि० स० ३१) में उन्होंने मुनि-जीवन में प्रवेश पाया। आगमों का गम्भीर अध्ययन कर वे जैन दर्शन के विशिष्ट ज्ञाता बने।

उत्तर भारत उनका प्रमुख विहार-क्षेत्र था। वीर निर्वाण की छठी शताब्दी का उत्तरार्ध महान् संकट का समय था। द्वादश वर्षीय दुष्काल की काली छाया से पूरा उत्तर भारत भयंकर रूप से आक्रान्त हो चुका था। यह समय वी० नि० ५८० (वि० सं० ११०) से वी० नि० ५९२ (वि० सं० १२२) तक था। इस समय लब्धिधर विलक्षण वाग्मी एवं संघ की नौका को कुशलतापूर्वक वहन करने वाले आर्य वज्र स्वामी वृद्धावस्था में पहुंच चुके थे। जीवन के संध्याकाल में वे पांच सौ मुनियों के परिवार सहित अनशनार्थ रथावर्त पर्वत पर जाने की तैयारी में लगे थे।

दुष्काल के इन क्षणों में मुनिवृन्द से परिवृत आर्य वज्रसेन का पदार्पण सोपारक में हुआ।[१] सोपारक देश का राजा जितशत्रु एवं रानी धारिणी थी। वहां का धनी-मानी श्रेष्ठी जिनदत्त धर्म का महान् उपासक था। उसकी पत्नी का नाम ईश्वरी था। धृतिसम्पन्न एवं विपुल सम्पत्ति का स्वामी होते हुए भी श्रेष्ठी जिनदत्त दुष्काल धर्म के उग्र प्रकोप से विक्षुब्ध हो उठा था। क्षुधा-पिशाचनी के क्रूर प्रहार से प्रताड़ित श्रेष्ठी का परिवार जिन्दगी की आशा खो चुका था। श्राविका ईश्वरी का धैर्य भी धान्याभाव के कारण डगमगा गया। पारिवारिक जनों ने परस्पर परामर्शपूर्वक सविष भोजन खाकर प्राणान्त करने की बात सोची।[२] ईश्वरी ने एक लाख स्वर्ण मुद्रा के शालि पकाए। अब वह भोजन में विष मिलाने का प्रयत्न कर रही थी। भिक्षार्थ नगर में पर्यटन करते हुए आर्य वज्रसेन श्रेष्ठी जिनदत्त के घर पहुंचे।[३] मुनि को देखकर श्राविका ईश्वरी एवं जिनदत्त परम प्रसन्न हुए।

उन्होंने अपना अहोभाग्य माना। विषपूरित पात्र को भोजन से दूर रख दिया एवं मुनि को विशुद्ध भावों से दान दिया।

ईश्वरी चतुर महिला थी। उसने अपने अन्तर्द्वन्द्व को मुनि के सामने रखा एवं लक्ष मूल्य के पाक में विष-मिश्रित करने की योजना प्रस्तुत की।[४] घटना-प्रसंग को सुनते ही आर्य वज्रसेन मुनि को दश पूर्वधर वज्र स्वामी के कथन का स्मरण हो आया और जिनदत्त श्रेष्ठी के समग्र परिवार को आश्वासन देते हुए वे बोले, "भोजन को विष-मिश्रित मत करो; अब यह कष्ट अधिक समय का नहीं है। दुष्काल चरम सीमा पर पहुंच चुका है। मुझे दश पूर्वधर वज्र स्वामी ने कहा था, 'जिस दिन लक्ष मूल्य पाक की उपलब्धि होगी वही दुष्काल की परिसमाप्ति का दिन होगा। इस कथन के आधार पर कल ही सुखद प्रभात का उदय होने वाला है।' "

उदीप्त भाल एवं निस्वार्थ प्रवृत्तिक मुनि वज्रसेन के अमृतोपम वचनों को सुनकर जिनदत्त श्रेष्ठी एवं उसके परिवार को आत्मतोष की अनुभूति हुई एवं भोजन के साथ विष-मिश्रण की योजना स्थगित कर सुकाल की प्रतीक्षा में समता से काल-यापन करने लगे।

दूसरे दिन प्रभात में अन्न से भरे पोत नगर की सीमा पर आ पहुंचे।[६] आर्य वज्रसेन की वाणी सत्य प्रमाणित हुई। श्रेष्ठी का पूरा परिवार काल-कवलित होने से बच गया।

प्रस्तुत घटना-प्रसंग के बाद संसार से विरक्त होकर जिनदत्त श्रेष्ठी और ईश्वरी ने अपने पुत्र नागेन्द्र, चन्द्र, विद्याधर और निवृत्ति के साथ आर्य वज्रसेन से दीक्षा ग्रहण की।[७] चारों पुत्रों के नाम पर चार कुल (गण) स्थापित हुए—नागेन्द्र कुल, चन्द्र कुल, विद्याधर कुल, निवृत्ति कुल। प्रत्येक शाखा में अनेक प्रभावक आचार्य हुए हैं। नागेन्द्र आदि चारों मुनियों के लिए कुछ कम दश पूर्वधारी होने का उल्लेख भी मिलता है।[८]

विवेक-दर्पण आचार्य वज्रसेन दीर्घजीवी आचार्य थे। वे नौ वर्ष की अवस्था में श्रमण बने। अनुयोगधर आर्यरक्षित की अनुयोग-व्यवस्था के समय आचार्य वज्रसेन वाचनाचार्य के रूप में उपस्थित थे। उन्होंने युगप्रधान के रूप में आचार्य पद का दायित्व ध्यानयोगी आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र के बाद वी० नि० ६१७ (वि० १४७) में संभाला। उनका आचार्य-काल मात्र तीन वर्ष का था। संयम-पथ पर उनके चरण लगभग १२० वर्ष तक सोत्साह बढ़ते रहे। उनकी सर्वायु १२८ वर्ष की थी। वे वी० नि० ६२० (वि० १५०) में स्वर्ग-सम्पदा के स्वामी बने।[९]

आधार-स्थल

१. वज्रसेनश्च सोपारं नाम पत्तनमभ्यगात् ॥१८५॥

(प्रभावक चरित, पृ० ८)

२. विना धान्यक्रयाद्दुःखं जीवितास्मः कियच्चिरम् ।
तद्वरं सविषं भोज्यमुपभुज्य समाहिताः ॥१८६॥

(परि० पर्व, सर्ग १३)

३. पक्काथान्नं लक्षमूल्यं सा यावन्नाक्षिपद्विषम् ।
वज्रसेनमुनिस्तावत्तज्जीवातुरिवागमत् ॥१८६॥

(परि० पर्व, सर्ग १३)

४. हृष्टाथ तस्मै विस्मेरचक्षुर्भिक्षामदत्त सा ।
लक्षमूल्यस्य पाकस्य वृत्तान्तं च न्यवेदयत् ॥१६२॥

(परि० पर्व, सर्ग १३)

५. तो मणइ वइरसेणो, मा खीरीए खिवेइ विसमेयं ॥३७०॥

(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति २२०)

६. अह अवरह्ने देसंतराहि पत्ताणि जाणवत्ताणि ।
अइपउर धन्नपुन्नाइं, तेहिं जायं अइसुभिक्खं ॥७६॥

(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति २२०)

७. घ्यात्वेति सा सपुत्राऽथ व्रतं जग्राह साग्रहा ।
नागेन्द्रो निर्वृतिश्चन्द्रः श्रीमान् विद्याधरस्तथा ॥१६६॥

(प्रभावक चरित, पृ० ८)

८. अभूवंस्ते किंचदूनदशपूर्वविदस्ततः ।
चत्वारोऽपि जिनाधीशमतोद्धारधुरंधराः ॥१६७॥

(प्रभावक चरित, पृ० ८)

६. तत्पट्टे १४ श्री वज्रसेन सूरिः स च दुर्भिक्षे श्री वज्रस्वाम्याज्ञया सोपारके पत्तने गत्वा जिनदत्तगृहे ईश्वरीनाम्न्या भार्यया दुर्भिक्षभयाल्लक्षपाकभोज्ये विषक्षेपादिकारणे निवेदिते प्रातः मुकालो भावीत्युक्त्वा विपनिक्षेपं निवार्य्य नागेन्द्र १ चन्द्र २ निवृत्ति ३ विद्याधरा-४ ख्यान् चतुरः सकुटुंबेभ्यः पुत्रान् प्राव्राजितवान् तेभ्यश्चत्वारि कुलानि जज्ञिरे । स वज्रसेनो ६ वर्षाणि गृहे ११६ व्रते त्रीणि वर्षाणि युगप्रधानत्वे सर्वायुः साप्टाविंशतिशतं प्रपाल्य वीरात् ६२० वर्षांते स्वर्गभाक् बभूव ।

(पट्टावली समुच्चय, श्री गुरु पट्टा०, पृ० १६६, १६७)

२८. आलोक-कुटीर आचार्य अर्हद् बलि

आचार्य अर्हद् बलि मूल संघ के अधिपति थे। वे अंगों के एक देशपाठी थे। पूर्वांशों का ज्ञान भी उन्हें था। इनका दूसरा नाम 'गुप्ति गुप्त' भी था।

आचार्य अर्हद् बलि महान् समर्थ आचार्य थे। उनके पुष्पदंत और भूतबलि नामक दो विद्वान् शिष्य थे। पुष्पदंत श्रेष्ठीपुत्र थे। भूतबलि सौराष्ट्र के 'नहपान' नामक नरेश थे। 'गौतमीपुत्र' 'सातकरणी' से पराजित होकर अर्हद् बलि के पास उन्होंने श्रमण-दीक्षा ग्रहण की थी।

आन्ध्र प्रदेश में स्थित वेणा नदी के तट पर बसे हुए महिमा नगर में महामुनि-सम्मेलन हुआ था। उसकी अध्यक्षता आचार्य अर्हद् बलि ने की थी। इस सम्मेलन में संघ की अंतरंग और बहिरंग स्थितियों पर विचार-विमर्श हुआ था।

मूल संघ में उस समय अनेक विद्वान्, तपस्वी, स्वाध्यायी, ध्यानी एवं अध्ययन-अध्यापनरत श्रमण विद्यमान थे। अर्हद् बलि ने इस संघ को नन्दी, देव, सिंह, भद्र, वीर, अपराजित, पंच स्तूप, गुणधर आदि भिन्न-भिन्न उपसंघों में विभक्त कर एक नई संघ व्यवस्था को जन्म दिया। इन संघों को स्थापित करने में धर्मवात्सल्य की अभिवृद्धि एवं जैन संघ की प्रभावना का उद्देश्य प्रमुख था।

आचार्य अर्हद बलि पुण्ड्रवर्धन नगर के निवासी थे। शिष्य पुष्पदन्त और भूत-बलि के योग से उनकी प्रख्याति अधिक विश्रुत हुई।

आचार्य अर्हद् बलि ज्ञानालोक के कुटीर थे एवं अपने युग की महान् हस्ती थे। उनका समय वी० नि० ५६५ (वि० ६५) के आस पास माना गया है।

२६. दूरदर्शी आचार्य धरसेन

दिगम्बर परम्परा के आचार्य धरसेन आगम-ज्ञान के विशिष्ट ज्ञाता एवं अष्टांग निमित्त के पारगामी विद्वान् थे। द्वितीय पूर्व का आंशिक ज्ञान भी उनके पास सुरक्षित था। सौराष्ट्र के गिरिनगर की चन्द्र गुफा में उनका निवास था। उन्होंने योनि पाहुड़ (योनि प्राभृत) ग्रन्थ लिखा जो आज अनुपलब्ध है।

श्रुत की धारा को अविच्छिन्न रखने के लिए महिमा महोत्सव में एकत्रित दक्षिणापथ विहारी महासेन आचार्य प्रमुख श्रमणों के पास एक पत्र भेजा था। इस पत्र के द्वारा उन्होंने प्रतिभासम्पन्न मुनियों की मांग की थी।

श्रमणों ने धरसेन द्वारा प्रेषित पत्र पर गम्भीरता से चिन्तन किया और समग्र श्रमण मुनि परिवार से चुनकर दो मेधावी मुनियों को उनके पास भेजा था। उनमें एक का नाम सुबुद्धि तथा दूसरे का नाम नरवाहन था। दोनों ही श्रमण विनयवान्, शीलवान्, जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न एवं कलासम्पन्न थे। आगमार्थ को ग्रहण और धारण करने में समर्थ थे और वे आचार्यों से तीन वार पूछकर आज्ञा लेने वाले थे।

टीकाकार वीरसेन के शब्दों में यह प्रसंग निम्नोक्त प्रकार से उल्लिखित है :

"तेण वि सोरट्ठ-विसयगिरिणयरपट्टणचंद गुहाठिएण अट्ठंग महाणिमित्त-पारएण गन्थवोच्छेदो होहदित्ति जादभएण पवयण-वच्छलेणदक्खिणावहाइरियाणं महिमाए मिलियाणं लेहो पेसिदो। लेहट्ठिय धरसेणवयणमवधारिय ते हि वि आइरिएहि बे साहू गहणधारण समत्था धवलामलबहुविह विणयविहूसियंगा सीलमा-लाहरा गुरुपेसणासणतित्ता देसकुलजाइसुद्धा सयलकलापारया त्तिक्खुत्ता बुच्छि-याइरिया अन्धविसयवेण्णायणादो पेसिदा।"

जब दोनों श्रमण वेणानदी के तट से धरसेनाचार्य के पास आने के लिए प्रस्थित हुए थे उस समय पश्चिम निशा में आचार्य धरसेन ने स्वप्न देखा था—दो धवल वर्ण ऋषभ उनके पास आए और उन्हें प्रदक्षिणा देकर उनके चरणों में बैठ गए हैं। इस शुभसूचक स्वप्न से आचार्य धरसेन को प्रसन्नता हुई। उत्तम पुरुषों के स्वप्न सत्य फलित होते हैं। आचार्य धरसेन का स्वप्न भी फलवान् बना। दोनों श्रमण ज्ञान ग्रहण करने के लिए उनके पास आ पहुंचे थे।

आचार्य धरसेन की परीक्षाविधि में भी उभयमुनि पूर्ण उत्तीर्ण हुए और विनयपूर्वक श्रुतोपासना करने लगे। उनका अध्ययन क्रम शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र, शुभ दिन में प्रारम्भ हुआ था। आचार्य धरसेन की ज्ञान प्रदान करने की अपूर्व क्षमता एवं युगल मुनियों की सूक्ष्मग्राही प्रतिभा का मणि-कांचन योग था। अध्ययन का क्रम द्रुतगति से चला। आषाढ़ शुक्ला एकादशी के पूर्वाह्न काल में वाचना-कार्य सम्पन्न हुआ था। कहा जाता है, इस महत्त्वपूर्ण कार्य की सम्पन्नता के अवसर पर देवताओं ने भी मधुरवाद्य ध्वनि की थी। इसी प्रसंग पर धरसेनाचार्य ने एक का नाम भूतबलि और दूसरे का नाम पुष्पदंत रखा था।

निमित्त ज्ञान से अपना मृत्युकाल निकट जानकर धरसेनाचार्य ने सोचा, 'मेरे स्वर्गगमन से इन्हें कष्ट न हो।' उन्होंने दोनों मुनियों को श्रुत की महा उपसम्पदा प्रदान कर कुशलक्षेमपूर्वक उन्हें विदा किया।

आगम निधि सुरक्षित रखने का यह कार्य आचार्य धरसेन के महान् दूर-दर्शी गुण को प्रकट करता है। जैन समाज के पास आज षट्खण्डागम जैसी अमूल्य कृति है उसका श्रेय आचार्य धरसेन के इस भव्य प्रयत्न को है।

आचार्य धरसेन आचारंग के पूर्ण ज्ञाता लोहाचार्य के निकटवर्ती थे। लोहा-चार्य का स्वर्गवास वी० नि० ११५३ (वि० ६८३) में माना जाता है। लोहाचार्य के स्वर्गगमन के समय अंगागम के पूर्ण ज्ञाता आचार्य धरसेन वृद्धावस्था में थे। प्रस्तुत प्रसंग के आधार पर धृतिसम्पन्न आचार्य धरसेन वी० नि० की ७वीं (वि० २) शताब्दी के विद्वान् थे।

३०. लब्धगौरव आचार्य गुणधर

षट्खण्डागम की भांति प्राकृत भाषा में निबद्ध कषाय प्राभृत ग्रन्थ को दिगम्बर परम्परा में मौलिक स्थान प्राप्त है। इस ग्रन्थ के रचनाकार आचार्य गुणधर थे। गुणनिधि आचार्य गुणधर आचार्य धरसेन के समकालीन थे। धरसेनाचार्य की भांति वे भी पूर्वांशों के ज्ञाता थे। ज्ञानप्रवाद नामक पंचमपूर्व की १०वीं वस्तु के अधिकारान्तर्गत तृतीय पेज्जदोष पाहुड़ से उन्होंने कषाय प्राभृत ग्रन्थ का निर्माण किया था। इस ग्रन्थ के २३३ गाथा सूत्र हैं। प्रत्येक सूत्र की भाषा संक्षिप्त एवं गूढ़ार्थक है।

यह ग्रन्थ पन्द्रह अधिकारों में विभक्त है। इन अधिकारों में क्रोध आदि कषायों की राग-द्वेषमयी परिणतियों का विस्तार से वर्णन है तथा मोहनीय कर्म की विभिन्न अवस्थाओं को और इसे शिथिल करने वाले आत्मपरिणामों को ससन्दर्भ समझाया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पर यतिऋषभ ने छह सहस्र श्लोक परिमाण चूर्णि साहित्य की रचना की है। आचार्य वीरसेन एवं जिनसेन ने इसी ग्रन्थ पर ६० सहस्र श्लोक परिमाण जयधवला नामक टीका लिखी है।

कषाय प्राभृत के रूप में साहित्य युग को अनुपम उपहार प्रदान करने वाले अतिशय गौरवलब्ध आचार्य गुणधर का समय आचार्य धरसेन के समकालीन होने के कारण वी० नि० की ६वीं (वि० २) शताब्दी है।

३१-३२. प्रबुद्धचेता आचार्य पुष्पदन्त एवं भूतबलि

पुष्पदन्त और भूतबलि महामेधासम्पन्न आचार्य थे। उनकी सूक्ष्म प्रज्ञा आचार्य धरसेन के ज्ञान-पारावर को ग्रहण करने में सक्षम सिद्ध हुई। उन्होंने अगस्त्य ऋषि के सागर-पान की परम्परा को श्रुतोपासना की दृष्टि से दुहरा दिया था।

आचार्य धरसेन से ज्ञान-सम्पदा लेकर लौटने के बाद दोनों ने एकसाथ अंकलेश्वर में चातुर्मासिक स्थिति सम्पन्न की। वहां से पुष्पदन्त वन की ओर चले गए तथा भूतबलि का पदार्पण द्रमिल देश के हुआ।

आचार्य पुष्पदन्त ने जिनपालित नामक व्यक्ति को दीक्षा प्रदान की। जिनपालित को योगियों का भी अधीश्वर माना गया है।

षट्खण्डागम दिगम्बर साहित्य का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। सत्कर्म प्राभृत, खण्ड सिद्धान्त तथा षट्खण्ड सिद्धान्त की संज्ञा से भी यह ग्रन्थ पहचाना जाता है। इस ग्रन्थ के रचनाकार आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि थे।

आचार्य पुष्पदन्त ने बीसदिसूत्र के अन्तर्गत सत्प्ररूपणा के १७७ सूत्रों का निर्माण कर उन्हें जिनपालित के द्वारा भूतबलि के पास प्रेषित किया था।

'पुष्पदन्त के जीवन का संध्याकाल है'—यह सूचना आचार्य भूतबलि को जिनपालित से प्राप्त हुई।

आचार्य पुष्पदन्त द्वारा रचित १७७ सूत्रों के आगे साठ सहस्र सूत्रों का निर्माण कर आचार्य भूतबलि ने अवशिष्ट ग्रन्थ को पूर्ण किया था। इस ग्रन्थ का नाम ही 'षट्खण्डागम' है।

षट्खण्डागम के छह विभाग हैं। प्रथम खण्ड का नाम 'जीवस्थान' (जीवट्ठाण) है। उसके आठ अनुयोग द्वार हैं। नौ चूलिकाएं हैं। श्लोक परिमाण संख्या अठारह सहस्र है।

द्वितीय विभाग का नाम 'क्षुल्लक बन्ध' है। इसके ग्यारह अधिकार हैं।

तृतीय खण्ड का नाम 'स्वामीत्वविचय' है। इसमें कर्म-सम्बन्धी विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है।

चतुर्थ विभाग का नाम 'वेदना' है। इसके दो अनुयोग द्वार हैं।

पंचम विभाग का नाम 'वर्गणा' है। इसमें विभिन्न प्रकार की कर्म वर्गणा का

प्रतिपादन है।

षष्ठ विभाग का नाम 'महाबन्ध' है। महाबन्ध का विस्तार तीस सहस्र श्लोक परिमाण है। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्ध की व्याख्या इस विभाग में प्राप्त है।

षट्खण्डागम के छह खण्डों में चालीस सहस्र श्लोक परिमाण यह अन्तिम खण्ड महाबन्ध के नाम से प्रसिद्ध है। महाबन्ध का दूसरा नाम महाधवल भी है। षट्-खण्डागम ग्रन्थ से संयुक्त होते हुए भी यह स्वतन्त्र कृति के रूप में उपलब्ध है। षट्खण्डागम के पांचों खण्डों से महाबन्ध का विस्तार अधिक है। धवल टीकाकार आचार्य वीरसेन ने इस पर टीका लिखने की आवश्यकता ही नहीं समझी थी। यह महाबन्ध आधुनिक शैली में सात भागों में 'भारतीय ज्ञानपीठ' द्वारा प्रकाशित है। जैन दर्शनसम्मत कर्मवाद का पर्याप्त विवेचन इस कृति से प्राप्त किया जा सकता है।

जिनपालित आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि के मध्य में ग्रन्थ-निर्माण-कार्य में संयोजक कड़ी सिद्ध हुए। संभवतः आचार्य भूतबलि के पास रहकर ग्रन्थ लेखन का कार्य भी जिनपालित ने किया था।

साहित्य को स्थायित्व प्रदान करने की दृष्टि से पुष्पदन्त और भूतबलि के समय में प्रथम बार साहित्य निबद्ध किया गया था। दिगम्बर परम्परा में इससे पहले श्रुत पुस्तक-निबद्ध नहीं था।

आचार्य पुष्पदन्त एवं भूतबलि द्वारा प्रसूत इस नई प्रवृत्ति का जनता के द्वारा विरोध नहीं, स्वागत ही हुआ था। कहा जाता है—पुस्तकारूढ़ साहित्य को ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन संघ के सामने प्रस्तुत किया गया था। अतः यह पंचमी 'श्रुत पंचमी' के नाम से प्रसिद्ध हुई है। इस प्रसंग पर ग्रन्थ का संघ ने पूजा महोत्सव मनाया। यह ग्रन्थ सम्पन्न हुआ, उस समय तक भाग्य से आचार्य पुष्पदन्त विद्यमान थे। भूतबलि ने इस ग्रन्थ को सम्पन्न कर आचार्य जिनपालित के साथ प्रेषित किया। विविध सामग्री से परिपूर्ण इस ग्रन्थ को देखकर आचार्य पुष्पदन्त को अत्यन्त प्रसन्नता हुई।

कृति की प्रशस्ति में भूतबलि और जिनपालित दोनों के नाम का उल्लेख नहीं है।

महाबन्ध की प्रस्तावना में आचार्य भूतबलि का काल वी० नि० ६६३ के बाद माना है। इस आधार पर प्रबुद्धचेता आचार्य पुष्पदन्त एवं भूतबलि का कालमान वी० नि० की सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध एवं वि० की द्वितीय शताब्दी का उत्तरार्ध है।

३३. अर्हन्नीति-उन्नायक आचार्य उमास्वाति

आचार्य उमास्वाति न्यग्रोधिका के कोभीषण गोत्रीय ब्राह्मण परिवार में जन्मे। कुल परम्परा से वे शैव थे। जैन धर्म की उच्च नागरी शाखा में उन्होंने दीक्षा ग्रहण की। उनके पिता का नाम स्वाति और माता का नाम उमा था। माता-पिता की स्मृति के रूप में उनका नाम उमास्वाति हुआ।

उमास्वाति अपने युग के महान् विद्वान् थे। संस्कृत भाषा पर उनका अतिशय अधिकार था। जैन-दर्शन की विपुल सामग्री को प्रांजल सुरभारती में प्रस्तुत करने का सर्वप्रथम श्रेय उन्हीं को है।

'तत्त्वार्थ सूत्र' आचार्य उमास्वाति की प्रसिद्ध रचना है व जैन तत्त्वों का संग्राहक ग्रन्थ है। मोक्ष मार्ग के रूप में रत्नत्रयी (सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र) का युक्ति पुरस्सर निरूपण, षड्द्रव्य और नव तत्त्व की विवेचना, ज्ञान-ज्ञेय की समुचित व्यवस्था और भूगोल-खगोल की परिचर्या से इस ग्रन्थ की जैन समाज में महती उपयोगिता सिद्ध हुई है।

आचार्य उमास्वाति बेजोड़ संग्राहक थे। उन्होंने जैन दर्शन से सम्बन्धित कोई भी विषय नहीं छोड़ा जिसका संकेत इस कृति में न हुआ हो। उनकी इस संग्राहक वृत्ति से प्रभावित होकर आचार्य हेमचन्द्र ने कहा :

उपउमास्वाति संग्रहीतारः ॥

—जैन तत्त्व के संग्राहक आचार्यों में उमास्वाति प्रथम हैं।

उमास्वाति समर्थ साहित्यकार थे। उन्होंने अनेक ग्रन्थ रचे। विशुद्ध अध्यात्म की भूमिका पर प्रतिष्ठित उनका 'प्रशमरति प्रकरण' समता रस को प्रवाहित करने वाला निर्झर है।

'जम्बूद्वीप समास प्रकरण', 'श्रावक-प्रज्ञप्ति'. 'प्रजा प्रकरण' और 'क्षेत्र विचार' आदि भी उन्हीं की रचनाएं हैं।

जनश्रुति के अनुसार उमास्वाति चामत्कारिक भी थे। उन्होंने एक वार प्रस्तर-निर्मित सरस्वती की प्रतिमा के मुख से शब्दोच्चारण करवा दिया था।

आचार्य उमास्वाति का व्यक्तित्व वास्तव में ऐसे चामत्कारिक प्रयोगों से नहीं, उनकी अभूतपूर्व संग्राहक प्रतिभा के आधार पर चमका है।

तत्त्वार्थ सूत्रों के व्याख्याकारों में उमास्वाति ही सर्वप्रथम थे।

'तत्त्वार्थाधिगम' उनकी स्वोपज्ञ रचना है। यह मान्यता श्वेताम्बर विद्वानों की है। दिगम्बर विद्वान् इसे स्वोपज्ञ रचना नहीं मानते।

उमास्वाति गद्यकार ही नहीं पद्यकार भी थे। उनकी भाष्यकारिकाएं सुललित पद्यों में सन्निहित हैं।

कारिका पद्यों के अनुसार वाचक मुख्य शिवश्री के शिष्य व एकादशांग के धारक घोषनन्दि क्षमाश्रमण उमास्वाति के दीक्षा गुरु थे और महावाचक मुंडपाद के शिष्य 'मूल' उनके विद्यागुरु थे।

उनके तत्त्वार्थ भाष्य से बाल, वृद्ध, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान आदि श्रमणों के लिए उपकरण-संग्रह का संकेत प्राप्त होता है।

आचार्य उमास्वाति पांच सौ ग्रन्थों के रचनाकार थे—यह उल्लेख प्रशमरति प्रकरण की हारिभद्रीया वृत्ति के उपोद्‌घात में है, पर वर्तमान में इन ग्रन्थों की पूर्णतः सूची भी उपलब्ध नहीं है।

आचार्य उमास्वाति का साहित्य मौलिक है एवं गम्भीर सामग्री से परिपूर्ण है। अर्हन्नीति-उन्नयन कार्य उनके साहित्य से सबल हुआ। 'तत्त्वार्थ सूत्र' उनकी अनुपम कृति है। दुःखार्त एवं आगमों के गूढ़ ज्ञान को प्राप्त करने में असमर्थ लोगों पर अनुकम्पा कर आचार्य उमास्वाति ने गुरु-परम्परा से प्राप्त आर्हत् उपदेश को 'तत्त्वार्थाधिगम' ग्रन्थ में निहित किया। आचार्य उमास्वाति के शब्दों में यह ग्रन्थ अव्याबाध सुख को प्राप्त करने वाला है। इस ग्रन्थ की रचना कुसुमपुर में हुई थी।

सिद्धान्तप्रधान एवं दर्शनप्रधान इस ग्रन्थ ने उत्तरवर्ती आचार्यों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है। श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में इस ग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रन्थ की व्याख्या में पूज्यपाद ने सर्वार्थ सिद्धि, आचार्य अकलंक देव ने राजवार्तिक टीका और आचार्य विद्यानन्द ने सभाष्य तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक टीका लिखी है। स्थान-स्थान पर 'आप्त परीक्षा' आदि ग्रन्थों की रचना में आचार्य विद्यानंद के 'तत्त्वार्थ सूत्र' के सूत्रों का प्रामाणिक आधार भी दिया है।

आचार्य उमास्वाति के साथ कहीं-कहीं 'पूर्वविद्' विशेषण भी आता है। यह विशेषण उनके पूर्वज्ञान का सूचक माना गया है। दिगम्बर परम्परा में उनको श्रुत-केवली के तुल्य घोषित किया है।

प्रो० हीरालाल जैन ने श्रवणबेलगोल के शिलालेखों के आधार पर आचार्य उमास्वाति को आचार्य कुन्दकुन्द की परम्परा में माना है। 'कल्पसूत्र स्थविरावली' के अनुसार आचार्य उमास्वाति उच्चनागरी शाखा के थे। उच्चनागरी शाखा का सम्बन्ध आचार्य सुस्थित की परम्परा के आचार्य माठर गोत्रीय शान्ति श्रेणिक से था। इस आधार पर पंडित सुखलाल जी ने उमास्वाति को श्वेताम्बर परम्परा का

प्रमाणित किया है।

प्रभावक आचार्यों की परम्परा में उमास्वाति एक ऐसे आचार्य हुए हैं जिनको दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों समान भावेन सम्मान देते हैं और इन्हें अपनी-अपनी परम्परा का मानने में गौरव का अनुभव करते हैं।

दिगम्बर परम्परा में उमास्वाति और उमास्वामी दोनों नाम प्रचलित हैं। श्वेताम्बर परम्परा में केवल उमास्वाति नाम ही प्रसिद्ध है।

आचार्य उमास्वाति की जीवन परिचायक सामग्री निम्नोक्त पद्यों में उपलब्ध है।

वाचकमुख्यस्य शिवश्रियः प्रकाशयशसः प्रशिष्येण।
शिष्येण घोषनन्दिक्षमा श्रमणस्यैकादशांगविदः ॥१॥
वाचनया च महावाचकक्षमणमुण्डपादशिष्यस्य।
शिष्येण वाचकाचार्यमूलनाम्नः प्रथितकीर्तेः ॥२॥
न्यग्रोधिकाप्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि।
कौभीषणिना स्वातितनयेन वात्सीसुतेनार्घ्यम् ॥३॥
अर्हद्वचनं सम्यग्, गुरुक्रमेणागतं समवधार्य।
दुःखार्तं च दुरागम-विहतमतिं लोकमवलोक्य ॥४॥
इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृब्धम्।
तत्त्वार्थाधिगमाख्यं स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥५॥
यस्तत्त्वाधिगमाख्यं ज्ञास्यति च करिष्यते च तत्रोक्तम्।
सोऽव्याबाधसुखाख्यं प्राप्स्यत्यचिरेण परमार्थम् ॥६॥

(तत्त्वार्थ भाष्य कारिका)

आचार्य बलिस्सह के उत्तराधिकारी हारीत गोत्रीय आचार्य स्वाति आचार्य उमास्वाति से भिन्न थे। 'तत्त्वार्थ सूत्र' के रचनाकार आचार्य उमास्वाति का समय वि० की तृतीय सदी स्वीकार किया है। अतः वे वीर निर्वाण की आठवीं शताब्दी के आसपास सिद्ध होते हैं।

३४-३५. आगमपिटक-आचार्य स्कन्दिल और नागार्जुन

अगाध ज्ञान के धनी, वाचक वंश परम्परा के परम प्रभावी आचार्य स्कन्दिल एवं नागार्जुन आगम वाचनाकार के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त हैं। वे अनुयोगधर आचार्य थे।

भगवान् महावीर के निर्वाणोत्तर काल से अब तक चार आगम-वाचनाओं का उल्लेख मिलता है। उनमें प्रथम वाचना वीर निर्वाण की द्वितीय शताब्दी के उत्तरार्ध में सम्पन्न हुई थी। उस समय दुष्काल के प्रभाव से श्रुतधर मुनियों की महान् क्षति होने पर भी श्रुत की धारा सर्वथा विच्छिन्न नहीं हुई थी। चौदह पूर्वों के ज्ञाता भवाब्धि-पतवार आचार्य भद्रबाहु एवं श्रुत-सागर का समग्रता से पान कर लेने में सक्षम महाप्रतिभासम्पन्न आचार्य स्थूलभद्र जैसे श्रमण विद्यमान थे।

वीर निर्वाण की नौवीं शताब्दी में द्वादश वार्षिक दुष्काल का श्रुत विनाश-कारी भीषण आघात पुनः जैन शासन को लगा। साधु-जीवन की मर्यादा के अनुकूल आहार की प्राप्ति दुर्लभ हो गयी। अनेक श्रुतसम्पन्न मुनि काल के अंक में समा गए। सूत्रार्थ ग्रहण-परावर्तन के अभाव में श्रुत सरिता सूखने लगी। जैन शासन के सामने यह अति विषम स्थिति थी। बहुसंख्यक मुनिजन सुदूर प्रदेशों में विहरण करने के लिए प्रस्थान कर चुके थे।

दुष्काल-परिसमाप्ति के बाद मथुरा में श्रमण सम्मेलन हुआ। सम्मेलन का नेतृत्व आचार्य स्कन्दिल ने सम्भाला। श्रुतसम्पन्न मुनियों की उपस्थिति सम्मेलन की अनन्य शोभा थी। श्रमणों की स्मृति के आधार पर आगम पाठों का व्यवस्थित संकलन हुआ। इस द्वितीय आगम वाचना का समय वी० नि० ८२७ से ८४० (वि० सं० ३५७ से ३७०) का मध्य काल है। यह आगम वाचना मथुरा में होने के कारण माथुरी वाचना कहलाई। आचार्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में होने के कारण इसे स्कन्दिली वाचना के नाम से अभिहित किया गया।

प्रस्तुत घटनाचक्र का दूसरा पक्ष यह भी है—दुष्काल के इस क्रूर आघात से अनुयोगधर मुनियों में एक स्कन्दिल ही बच पाए थे। उन्होंने मथुरा में अनुयोग का प्रवर्तन किया था अतः यह वाचना स्कन्दिली वाचना के नाम से विश्रुत हुई।[1] इसी समय के आसपास एक आगम-वाचना वल्लभी में आचार्य नागार्जुन की

अध्यक्षता में सम्पन्न हुई। इसे वल्लभी वाचना एवं नागार्जुनीय वाचना की संज्ञा मिली है। स्मृति के आधार पर सूत्र-संकलना होने के कारण वाचना भेद रह जाना स्वाभाविक था।[२] आचार्य देवर्द्धिगणी के समय में भी आगम वाचना का महत्त्वपूर्ण कार्य वल्लभी में हुआ है। अतः वर्तमान में आचार्य नागार्जुन की आगम वाचना को प्रथम वल्लभी वाचना के नाम से भी पहचाना जाता है।

इतिहास के पृष्ठों पर दोनों वाचनाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्षत-विक्षत आगमनिधि का उचित समय पर संकलन कर इन दोनों आचार्यों ने जैन शासन पर महान् उपकार किया है।

आचार्य देवर्द्धिगणी ने इन दोनों ही आचार्यों की भावपूर्ण शब्दों में स्तुति की है। आचार्य नागार्जुन के विषय में वे लिखते हैं :

मिउमज्जव संपण्णे अणुपुव्वि वायगत्तणं पत्ते।
ओहसुयसमायारे णाणज्जुणवायए वंदे ॥३५॥ (नन्दी सूत्र)

मृदुतादि गुणों से सम्पन्न, सामायिक श्रुतादि के ग्रहण से अथवा परम्परा से विकास की भूमिका का क्रमशः आरोहणपूर्वक वाचक पद को प्राप्त ओघ श्रुत समाचारी में कुशल आचार्य नागार्जुन को मैं प्रणाम करता हूं।

वाचनाचार्य स्कन्दिल के विषय में उनका प्रसिद्ध श्लोक है :

जेसिं इमो अणुओगो पयरइ अज्जावि अड्ढभरहम्मि।
बहुनगरनिग्गयजसे ते वंदे खंदिलायरिए ॥३२॥ (नन्दी सूत्र)

प्रस्तुत पद्य में आचार्य स्कन्दिल के अनुयोग को सम्पूर्ण भारत में प्रवृत्त बता कर उनके प्रति देवर्द्धिगणी ने अपार सम्मान प्रकट किया है। नन्दी सूत्र के इस उल्लेख के आधार महामहिम आचार्य स्कन्दिल के उदात्त व्यक्तित्व का प्रभाव पूरे भारत में प्रतीत होता है। आचार्य देवर्द्धिगणी ने आचार्य स्कन्दिल की वाचना को प्रमुख माना था। यह तथ्य भी उपर्युक्त गाथा के आधार पर प्रमाणित होता है।

आचार्य नागार्जुन धृति सम्पन्न, महा पराक्रमी, स्वाध्यायी उपसर्गादि प्रतिकूलताओं के सहने में अकम्प हिमालय वाचनाचार्य हिमवन्त के शिष्य थे।[३]

नीलोत्पल की भांति श्यामवर्ण वाचनाचार्य रेवती नक्षत्र के विद्वान् शिष्य ब्रह्मद्वीपक सिंह आचार्य स्कन्दिल के गुरु थे। ब्रह्मद्वीपक सिंह कालिक श्रुत के ज्ञाता, अनुयोग कुशल, धीर-गम्भीर एवं उत्तम वाचक पद से सुशोभित थे।[४]

'वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना' कृति में प्रदत्त हिमवन्त स्थविरावली के अनुसार आचार्य स्कन्दिल का जन्म मथुरा के ब्राह्मण परिवार में हुआ। उनके पिता का नाम मेघरथ एवं माता का नाम रूपसेना था। मेघरथ एवं रूपसेना दोनों उत्कृष्ट धर्म की उपासना करने वाले, जिनाज्ञा के प्रतिपालक श्रावक थे। गृहस्थ जीवन में आचार्य स्कन्दिल का नाम सोमरथ था। ब्रह्मदीपिका शाखा के

स्थविर सिंहरथ के उपदेश से प्रभावित हो सोमरथ ने उनके पास श्रमण दीक्षा ग्रहण की।

द्वादश वर्षीय दुष्काल के प्रभाव से अनेक श्रुतधर मुनि वैभारगिरि एवं कुमार-गिरि पर्वत पर अनशनपूर्वक स्वर्गस्थ हो चुके थे। इस अवसर पर आगम श्रुत की भी महान् क्षति हुई। दुष्काल की परिसमाप्ति पर मथुरा में आयोजित श्रमणों के महा सम्मेलन की अध्यक्षता आचार्य स्कन्दिल ने की। प्रस्तुत सम्मेलन में मधुमित्र, गन्धहस्ती आदि १५० श्रमण उपस्थित थे। मधुमित्र एवं स्कन्दिल दोनों आचार्य सिंह के शिष्य थे। नन्दी सूत्र में इन्हें ही ब्रह्मद्वीपक सिंह कहा गया है। आचार्य गन्धहस्ती मधुमित्र के शिष्य थे। उनका वैदुष्य उत्कृष्ट था। उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र पर आठ हजार श्लोक प्रमाण महाभाष्य की रचना आचार्य गन्धहस्ती ने की।

गुरुभाई आचार्य मधुमित्र, महाप्राज्ञ आचार्य गन्धहस्ती एवं तत्सम अनेक विद्वान श्रमणों के स्मृत पाठों के आधार पर आगम श्रुत का संकलन हुआ। अनुयोग-धर आचार्य स्कन्दिल ने उसे प्रणाम किया था। आचार्य स्कन्दिल की प्रेरणा से विद्वान् शिष्य गन्धहस्ती ने ग्यारह अंगों का विवरण लिखा। मथुरा निवासी ओसवाल वंशज श्रावक पोशालक ने गन्धहस्ती विवरण सहित सूत्रों को ताड़पत्र पर लिखवाकर निर्ग्रन्थों को अर्पित किया था। आचार्य गन्धहस्ती को ब्रह्मदीपक शाखा में मुकुट मणि के तुल्य माना है।

प्रभावक चरित्र के अनुसार आचार्य स्कन्दिल विद्याधरी आम्नाय के आचार्य पादलिप्त सूरि की परम्परा के थे। जैन शासन रूपी नन्दन वन में कल्पवृक्ष के समान, समग्र श्रुतानुयोग को अंकुरित करने में महामेघ के समान आचार्य स्कन्दिल थे। 'चिन्तामणिरिवेष्टदः' चिन्तामणि की भांति वे इष्ट वस्तु के प्रदाता थे।[५] वाचनाचार्य हिमवंत के ठीक पश्चात्वर्ती आचार्य नागार्जुन एवं पूर्ववर्ती आचार्य स्कन्दिल थे।

आचार्य मेरुतुंग ने आचार्य स्कन्दिल की काल-निर्णायकता के विषय में लिखा है—"श्री विक्रमात् ११४ वर्षैर्वज्र स्वामी, तदनु २३९ वर्षैः स्कन्दिलः।" विक्रम सं० ११४ में वज्र स्वामी का स्वर्गवास हुआ। आचार्य स्कन्दिल का समय आर्य वज्र की स्वर्ग सम्वत् से २३९ वर्ष बाद का है। विद्वान मुनि कल्याण विजय जी के अभिमत से वज्र स्वामी एवं आचार्य स्कन्दिल दोनों का मध्यवर्ती समय २४२ वर्ष है। वज्र स्वामी के बाद १३ वर्ष आर्य रक्षित के, २० वर्ष पुष्पमित्र के, ३ वर्ष वज्रसेन के, ६९ वर्ष नागहस्ती के, ५९ वर्ष रेवतिमित्र के, ७८ वर्ष ब्रह्मदीपक सिंह के हैं। कुल जोड़ २४२ वर्ष का है। इस २४२ की संख्या में वज्र स्वामी के ११४ वर्ष एवं अनुयोग प्रवर्तक प्रसिद्ध वाचनाकार आचार्य स्कन्दिल के युगप्रधान-काल के १४ वर्ष मिला देने से उनका (आर्य स्कन्दिल) समय वी० नि० ८२७ से ८४०

तक का प्रमाणित किया गया है। यही काल स्कंदिली वाचना का प्राय: मान्य हुआ है।

आधार-स्थल

१. कह पुण तेसि अणुओगो ? उच्यते—बारससंबच्छरिए महंते दुब्भिक्खकाले भत्तट्ठा अण्णण्णतो फिडिताणं गहण-गुणणाणुप्पेहाभावातो सुत्ते विप्पणट्ठे पुणो सुभिक्खकाले जाते मधुराए महंते साहु समुदए खंदिलायरियप्पमुहसंघेण 'जो जं संभरति' त्ति एवं संघडितं (जे० १६० प्र०) कालियसुत्तं। जम्हा य एवं मधुराए कतं तम्हा माधुरा वायणा भण्णति। सा य खंदिलायरियसम्मयत्ति कातु तस्संतियो अणुओगो भण्णति। सेसं कंठं। अण्णे भणंति जहा—सुत्तं ण णट्ठं, तम्मि दुब्भिक्खकाले जे अण्णे पहाणा अणुओगधरा ते विणट्ठा, एगे खंदिलायरिए संधरे, तेण मधुराए अणुयोगो पुणो साधूणं पवत्तितो त्ति माधुरा वायणा भण्णति, तत्संतितो य अणुयोगो भण्णति ॥३२॥

(नन्दी चूर्णि, पृ० ६)

२. इह हि स्कंदिलाचार्यप्रवृत्तौ दुष्षमानुभावतो दुर्भिक्षाप्रवृत्त्या साधूनां पठनगुणनादिकं सर्वमप्यनेशत्। ततो दुर्भिक्षातिक्रमे सुभिक्षप्रवृत्तौ द्वयोः संघयोर्मेलापकोऽभवत्। तद्यथा—एको बलभ्यामेको मथुरायाम्। तत्र च सूत्रार्थसंघटने परस्परवाचनाभेदो जातः। विस्मृतयोर्हि सूत्रार्थयोः स्मृत्वा संघटने भवत्यवश्यवाचनाभेदो न काचिदनुपपत्तिः।"

(ज्योतिष्करण्डक टीका)

३. ततो हिमवंतमहंतविक्कमे धिइपरक्कममहंते।
सज्झायमणंतधरे हिमवंते वंदिमो सिरसा ॥३३॥

(नन्दी सूत्र स्थविरावली)

४. जच्चंजणधाउसमप्पहाण मुद्दीय-कुवलयनिहाणं।
वड्ढउ वायगवंसो रेवइणक्खत्तणामाणं ॥३०॥
अयलपुरा णिक्खंते कालियसुयआणुओगिए धीरे।
बंभद्दीवगसीहे वायगपयमुत्तमं पत्ते ॥३१॥

(नन्दी सूत्र स्थविरावली)

५. पारिजातोऽपारिजातो जैनशासननन्दने।
सर्वश्रुतानुयोगद्रु कन्दकन्दलनाम्बुदः ॥४॥
विद्याधरवराम्नाये चिन्तामणिरिवेष्टदः।
आसीच्छ्रीस्कन्दिलाचार्यः पादलिप्तप्रभोः कुले ॥५॥

(प्रभा० चरित, वृद्धवादी चरित्र, पृ० ५४)

३६. प्राज्ञप्रवर आचार्य विमल

पउमचरिय के रचनाकार आचार्य विमल 'नाइल-कुल' के वंशज थे। वे आचार्य राहु के प्रशिष्य एवं आचार्य विजय के शिष्य थे। प्राकृत-भाषा पर उनका एकाधिपत्य था। साहित्यिक भाषा में गुम्फित 'पउमचरिय' (जैन-रामायण) अत्युत्तम पद्यमयी रचना आचार्य विमल की कुशल कवित्व-शक्ति का परिचय कराती है।

पउमचरिय ११८ पर्वों में निबद्ध है। राम का आद्योपान्त जीवन-चरित्र इस कृति में प्रस्तुत है। वाल्मीकि रामायण में रावण, कुम्भकर्ण आदि नायकों के व्यक्तित्व को विचित्र ढंग से उभारा गया है। रावण मांस-भक्षी था। षन्मासशायी कुम्भकर्ण क्षुधा शान्त करने के लिए हाथी आदि विशालकाय पशुओं को भी निगल जाया करता था। स्वर्णमृग के पीछे राम का पलायन एवं उद्दामवीचियों से उद्धत सागर पर वानर सेना द्वारा पुल का निर्माण आदि प्रसंग उसमें हैं। आचार्य विमल ने भिन्न प्रकार से जैन-संस्कृति के माध्यम से राम के यथार्थ रूप को प्रकट करने का प्रयत्न किया है।

पउमचरिय के अनुसार सीता का जन्म भूखनन के समय हल की नोक से नहीं हुआ था। वह मिथिला की राजकुमारी-जनक दुलारी विदेह की प्यारी सुता थी।

लंका में प्रवेश करते समय अंजनि-सुत ने लंकासुन्दरी के साथ युद्ध किया था। वह लंकासुन्दरी देवी नहीं मानव पुत्री थी और दुर्गरक्षक विभाग से सम्बन्धित थी।

लंका-विजय के लिए प्रस्थित राम के मार्ग को रोकने के लिए किसी प्रकार की देवशक्ति समुद्र के रूप में प्रकट नहीं हुई थी अपितु वह लंकेश द्वारा नियुक्त लंका सीमा पर स्थित समुद्र नाम का राजा ही था।

लक्ष्मण जी की चिकित्सा के लिए पवन-पुत्र द्वारा पूरा पर्वत ही कन्धों पर उठा लाने के घटना-प्रसंग पर विमलाचार्य ने कुशल चिकित्सक महिला विशल्या का उल्लेख किया है।

जैन परम्परा में पउमचरिय को वही महत्त्व प्राप्त है, जो महत्त्व ब्राह्मण साहित्य में वाल्मीकि रामायण का है। वाल्मीकि रामायण संस्कृत रचना है। पउमचरिय महाराष्ट्री प्राकृत रचना है। इसमें मात्राप्रधान गाथा छन्द का प्रयोग हुआ

है। स्थान-स्थान पर अनेक देशी शब्द भी व्यवहृत है। राम का एक नाम 'पद्म' भी है। 'पद्म' नाम के आधार पर इस कृति का नाम 'पउमचरिय' हुआ है।

जैन प्रसिद्ध सम्राट् श्रेणिक के सम्मुख गौतम गणधर द्वारा निर्दिष्ट रामकथा का विस्तार इस कृति में है।

शलाका-पुरुष का जीवन प्रतिपादित होने के कारण इसे पुराण संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है पर शैली की दृष्टि से यह महाकाव्य की अनुभूति कराता है। काव्य की उत्प्रेक्षा रूपक आदि विभिन्न अलंकारों से मंडित प्रवाहमयी ओजपूर्ण भाषा एवं मालिनी, इन्द्रवज्रा, उपजाति आदि नाना छन्दों में बद्ध सरस पद्यावलियां पाठक को मधुबिन्दु जैसी रोचकता प्रदान करती है।

कथा का प्रवाह पूरे काव्य में सलिल-परिपूर्ण मन्दाकिनी की भांति निर्बाध गति से प्रवहमान है। कहीं भी काव्यगुणों से प्रभावित होकर उसकी धारा मन्द नहीं हो पायी है।

रसप्रधान और भावप्रधान यह ग्रन्थ कथ्य के आधार पर पुराण साहित्य के गुणों को एवं शैली के आधार पर काव्य गुणों को प्रकट करता है।

काव्य-परम्परा में यह उत्तम काव्य है एवं जैन पुराण साहित्य का यह ८६५१ श्लोक परिमाण प्रथम पुराण ग्रन्थ है। पुराण साहित्य के अन्वय आदि आठों अंगों का प्रस्तुत पुराण में पर्याप्त विवेचन है।

रामायण के मुख्य नायक जैन हैं। राम अंत में श्रमण दीक्षा ग्रहण कर निर्वाण को प्राप्त हुए हैं। निर्वाण-प्राप्ति ही जैन दर्शन के उत्कर्ष का चरम बिन्दु है।

यह कृति पुरुषोत्तम राम के जीवन-चरित्र के साथ जैनसम्मत तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि शलाका-पुरुषों के सम्बन्ध की विविध सामग्री प्रस्तुत करती है।

आचार्य विमल यथार्थ में ही विमल प्रज्ञा के धनी थे। उन्होंने पउमचरिय जैसी उच्चकोटि की कृति का निर्माण कर जैन शासन को अनुपम उपहार भेंट किया है।

रविषेण का 'पद्म चरित्तं' ग्रन्थ पउमचरिय का ही रूपान्तरण है।

आचार्य विमल की द्वितीय रचना हरिवंश पुराण वर्तमान में अनुपलब्ध है।

पउमचरिय कृति में प्राप्त उल्लेखानुसार यह रचना ईसवी सन् प्रथम सदी की है। पर काव्य की भाषा-रचना को देखकर विद्वान् लोग इसे ईसवी सन् दूसरी सदी से पूर्व किसी प्रकार नहीं मानते। डा० हर्मन याकोबी ने आचार्य विमल का समय ईसवी सन् चौथी सदी माना है। डा० याकोबी के निर्णयानुसार प्राज्ञ-प्रवर आचार्य विमल वी० नि० की ९वीं-१०वीं सदी के विद्वान थे।

३७. जैन संस्कृति-संरक्षक आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण

जैन इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों में वाचनाकार आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण का नाम अंकित है और रहेगा। उन्होंने क्षत-विक्षत आगम ज्ञान धारा को युग-युग तक स्थायित्व प्रदान करने का जो कार्य मौलिक सूझ-बूझ से किया उसे समय की घनी परतें भी ढांक न सकेंगी।

देवर्द्धिगणी के गृहस्थ जीवन का परिचय प्रदान करने वाली प्रामाणिक सामग्री नहीं के बराबर उपलब्ध है। 'कल्पसूत्र स्थविरावली' के अनुसार क्षान्त, दान्त. मृदुतादि गुणों से सम्पन्न सूत्रार्थ रत्नमणियों के धारक आचार्य देवर्द्धिगणी काश्यप गोत्रीय थे।[1] लोक श्रुति के आधार पर सौराष्ट्र के राज सेवक कामर्द्धि क्षत्रिय के वे पुत्र थे। उनकी माता का नाम कलावती था। माता ने ऋद्धि सम्पन्न देव को स्वप्न में देखा था। उसी स्वप्न के आधार पर पुत्र को देवर्द्धि संज्ञा से अभिहित किया गया। देवर्द्धि को मित्र देव द्वारा उद्बोध प्राप्त हुआ। उनके दीक्षा गुरु लोहित्याचार्य थे।

नन्दी सूत्र में लोहित्याचार्य की समीचीन शब्दों में प्रशस्ति हुई है। सूत्रार्थ के सम्यक् धारक, पदार्थस्थ नित्यानित्य स्वरूप के विवेचक एवं शोभन भाव में स्थित लोहित्याचार्य को बताकर उनके प्रति देवर्द्धिगणी ने हार्दिक सम्मान प्रकट किया है।[2]

नन्दी स्थविरावली के आधार पर चूर्णिकार जिनदास महत्तर ने देवर्द्धिगणी को दूष्यगणी का शिष्य माना है।[3] देवर्द्धिगणी के शब्दों में आचार्य दूष्यगणी आगम श्रुत के ज्ञाता थे, समर्थ वाचनाचार्य थे, प्रकृति से मधुर भाषी थे, तप, नियम, सत्य, संयम, विनय, आर्जव, मार्दव, क्षमा आदि उत्तम गुणों से सुशोभित थे एवं अनुयोगधर युगप्रधान थे। उनके चरण प्रशस्त लक्षणों से युक्त सुकोमल तलवों वाले थे।[4]

आचार्य देवर्द्धिगणी द्वारा आर्य दूष्यगणी की ज्ञान-सम्पदा के साथ शरीर-सम्पदा का भी सूक्ष्म विवेचन दोनों का अत्यन्त नैकट्य स्थापित करता है।

मुनि श्री कल्याण विजय जी ने न नन्दी स्थविरावली को गुरुपट्ट परम्परा के रूप में समर्थन दिया है और न देवर्द्धिगणी को दूष्यगणी का शिष्य माना है। उनके अभिमत में कल्प स्थविरावली के अनुसार देवर्द्धिगणी आर्य षांडिल्य के शिष्य हैं।[5]

दुष्काल ने हृदय को कंप-कंपा देने वाले नाखूनी पंजे फैलाए। उस समय अनेक श्रुतधर श्रमण काल-कवलित हो गए एवं श्रुत की महान् क्षति हुई। दुष्काल परिसमाप्ति के बाद वल्लभी में पुनः जैन संघ एकत्रित हुआ। विशिष्ट वाचनाचार्य नाना गुणालंकृत श्री देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण इस महाश्रमण संघ के अध्यक्ष थे।

श्रमण सम्मेलन में त्रुटित-अत्रुटित समग्र आगम-पाठों का श्रमण संघ के स्मृति सहयोग से संकलन हुआ एवं श्रुत को स्थायित्व प्रदान करने हेतु उन्हें पुस्तकारूढ़ किया गया। आगम-लेखन का कार्य आर्यरक्षित के युग में भी अंशतः प्रारम्भ हो चुका था। अनुयोग द्वार में दो प्रकार के श्रुत का उल्लेख है—द्रव्य श्रुत एवं भाव श्रुत। पुस्तक लिखित श्रुत द्रव्य श्रुत में मान्य किया गया है।[६]

आर्य स्कन्दिल और आर्य नागार्जुन के समय में भी आगम लिपिबद्ध होने के उल्लेख मिलते हैं[७] पर देवर्द्धिगणी के नेतृत्व में समग्र आगमों का व्यवस्थित संकलन एवं लिपिकरण हुआ वह अपने-आपमें अपूर्व था। अतः परम्परा से यह श्रेय आर्य देवर्द्धिगणी को प्राप्त होता रहा है। इस संदर्भ का प्रसिद्ध श्लोक है :

वलहिपुरम्मि नयरे, देवड्ढियमुहेण समणसंघेण।
पुत्थइ आगमु लिहिओ नवसयअसीआओ विराओ॥

—वल्लभी नगरी में देवर्द्धिगणी प्रमुख श्रमण संघ ने वी० नि० ६८० (वि० सं० ५१०) में आगमों को पुस्तकारूढ़ किया था।

आगम-वाचना के समय स्कन्दिली एवं नागार्जुनीय उभय वाचनाएं देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के समक्ष थीं। नागार्जुनीय वाचनाओं के प्रतिनिधि आचार्य कालक (चतुर्थ) थे। स्कन्दिली वाचना के प्रतिनिधि देवर्द्धिगणी स्वयं थे। उभय वाचनाओं में पूर्ण समानता नहीं थी। विषमांश रह जाने का कारण आर्य स्कन्दिल एवं आर्य नागार्जुन का प्रत्यक्ष मिलन नहीं हो पाया था। अतः दोनों निकटवर्ती वाचनाओं में भी यह भेद स्थायी रूप में सदा-सदा के लिए रह गया।[८] देवर्द्धिगणी ने श्रुत संकलन कार्य में अत्यन्त तटस्थ नीति से काम किया। पूर्व वाचनाकार आचार्य स्कन्दिल की वाचना को प्रमुखता प्रदान कर तथा नागार्जुनीय वाचना को पाठान्तर के रूप में स्वीकार कर महान उदारता और गम्भीरता का परिचय उन्होंने दिया तथा जैन संघ को विभक्त होने से बचा लिया।

आगम-वाचना के इस अवसर पर नन्दीसूत्र का निर्यूहण भी आर्य देवर्द्धिगणी ने किया। इस निर्यूढ़ कृति में ज्ञान की व्यवस्थित रूपरेखा के साथ-साथ आगम सूत्रों की सूची तथा अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का उल्लेख भी हुआ है। आचार्य सुधर्मा से लेकर दुष्यगणी तक के वाचनाचार्यों की समीचीन परम्परा भी प्रस्तुत है। वह इस प्रकार है :

१. आर्य सुधर्मा
२. आर्य जम्बू
३. आर्य प्रभव
४. आर्य शय्यंभव

५. आर्य यशोभद्र
६. आर्य संभूतविजय
७. आर्य भद्रबाहु
८. आर्य स्थूलभद्र
९. आर्य महागिरि
१०. आर्य सुहस्ती
११. आर्य बलिस्सह
१२. आर्य स्वाति
१३. आर्य श्याम
१४. आर्य षांडिल्य
१५. आर्य समुद्र
१६. आर्य मंगु
१७. आर्य आनन्दिल
१८. आर्य नागहस्ती
१९. आर्य रेवतीनक्षत्र
२०. आर्य ब्रह्मद्वीपकसिंह
२१. आर्य स्कन्दिलाचार्य
२२. आर्य हिमवन्त
२३. आर्य नागार्जुन
२४. आर्य भूतदिन्न
४५. आर्य लौहित्य
२६. आर्य दूष्यगणी
२७. आर्य देवर्द्धिगणी

चूर्णिकार श्री जिनदास महत्तर, टीकाकार आचार्य हरिभद्र एवं मलयगिरि ने आर्य धर्म, भद्र गुप्त, वज्र स्वामी, रक्षित, गोविन्द इन पांचों आचार्यों के नामगत पद्यों को प्रक्षिप्त मानकर इनकी गणना वाचक वंश परम्परा में नहीं की है।

चूर्णिकार एवं टीकाकार ने नन्दीसूत्र की रचना का श्रेय आचार्य देववाचक को प्रदान किया है। देववाचक और देवर्द्धिगणी दोनों अभिन्न पुरुष थे।

भद्रेश्वर सूरि कृत 'कहावली' में वादी, क्षमा श्रमण, दिवाकर, वाचक इन शब्दों को एकार्थक माना है।

विद्वान मुनि पुण्य विजय जी द्वारा नन्दीसूत्र की प्रस्तावना में इस संदर्भ की समीचीन मीमांसा प्रस्तुत है।[१]

जैन शासन आर्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की आगम-वाचना का युग-युग तक आभारी रहेगा। उनके इस भव्य प्रयत्न के अभाव में श्रुतनिधि का जो रूप आज प्राप्त है वह नहीं हो पाता।

वीर नि० सहस्र वर्षीय अवधि की सम्पन्नता एवं अग्रिम काल के प्रारम्भ में आर्य देवर्द्धिगणी संयोजक कड़ी थे। दर्शन एवं न्याय के युग को आगम युग के साथ अपनी साहित्यधारा के माध्यम से उन्होंने जोड़ा। नन्दीसूत्र इसी दिशा का एक प्रयत्न प्रतीत होता है।

अन्तिम पूर्वधर भी आर्य देवर्द्धिगणी थे। पूर्व ज्ञान सम्पदा वीर निर्वाण के बाद काल के क्रूर प्रहारों से क्षत-विक्षत होकर भी हजार वर्ष तक अस्तित्व में रही है। इस आधार पर सम्भवतः आगम वाचनाकार आर्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण का वी० नि० १००० (वि० ५३०) में स्वर्गवास हुआ। उनके साथ पूर्व ज्ञान की धारा भी पूर्णतः विच्छिन्न हो गयी।

आधार-स्थल

१. सुत्तत्थरयणभरिए, खमदममद्दवगुणेहिं संपन्ने ।
देवड्ढिखमासमणे, कासवगुत्ते पणिवयामि ।।१४।।

(कल्पसूत्र स्थविरावली)

२. सुमुणियणिच्चा-ऽणिच्चं सुमुणियसुत्त-ऽत्थधारयं णिच्चं ।
वंदेहं लोहिच्चं सब्भावुब्भावणातच्चं ।।३९।।

(नन्दी सूत्र स्थविरावली)

३. एत्थ जाणिया अजाणिया य अरिहा ।। एवं कतमंगलोवयारो थेरावलिकमे य दंसिए अरिहेसु य दंसितेसु दूसगणिसीसो देववायगो साहुजणहितट्ठाए इणमाह ।

(नन्दी चूर्णि, पत्र १३)

४. अत्थ-महत्थक्खाणिं सुसमणवक्खाणकहणणेव्वाणिं ।
पयतीए महुखाणिं पयओ पणमामि दूसगणिं ।।४०।।
सुकुमाल-कोमलतले तेसिं पणमामि लक्खणपसत्थे ।
पादे पावयणीणं पडिच्छगसएहिं पणिवइए ।।४१।।

(नन्दीसूत्र स्थविरावली)

५. वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना, पृ० १२६
६. से किं तं···दव्वसुअं ? पत्तयपोत्थयलिहिअं

(अनुयोगद्वार सूत्र)

७. जिनवचनं च दुष्षमाकालवशादुच्छिन्नप्रायमिति मत्वा भगवद्भिर्नागार्जुनस्कंदिलाचार्य्यप्रभृतिभिः पुस्तकेषु न्यस्तम् ।

(योगशास्त्र, प्रकाश ३, पत्र २०७)

८. परोप्परमसंपण्णमेलावा य तस्समयाओ खंदिल्लनागज्जुणायरियाकालं काउं देवलोगं गया । तेण तुल्लयाए वि तदुद्धरियसिद्धंताणं जो संजाओ कथम (कहमवि) वायणाभेओ सो य न चालिओ पच्छिमेहिं ।

(कथावली २९८)

९. नन्दी प्रस्तावना पृ० ५

अध्याय २

उत्कर्ष युग के प्रभावक आचार्य

१. बोधिवृक्ष आचार्य वृद्धवादी

वृद्धावस्था में दीक्षित होकर विद्वानों में अपना सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त करने वाले आचार्य वृद्धवादी थे। वे वाद-कुशल आचार्य थे। उनका गृहस्थ जीवन का नाम मुकुन्द था। गौड देश के कौशल ग्राम के विप्र परिवार में उनका जन्म हुआ। विद्या धरणेन्द्र गच्छ के आचार्य पादलिप्त की परम्परा में चिन्तामणि की भांति सकल चिन्तापहारी आचार्य स्कंदिल थे।[1] पूर्ण वैराग्य के साथ मुकुन्द ने उनके पास दीक्षा ग्रहण की।

विकास का अनुबंध अवस्था से अधिक हार्दिक उत्साह से जुड़ा रहता है। व्यक्ति का अदम्य उत्साह हर अवस्था में सभी प्रकार के विकास का द्वार उद्घाटित कर सकता है। मुनि मुकुन्द का जीवन इस बात को प्रमाणित करने के लिए सबल उदाहरण है।

घटना भृगुपुर की है। नव दीक्षित वृद्ध मुनि मुकुन्द में ज्ञानार्जन की तीव्र उत्कंठा थी। वे प्रहर रात्रि बीत जाने के बाद भी उच्चघोष से अप्रमत्त भावेन स्वाध्याय करते रहते थे। उनकी गुण निष्पन्नकारक यह स्वाध्याय प्रवृत्ति दूसरों की नींद में विघ्न-विधायक थी। गुरुवर्य ने मुनि मुकुन्द को प्रशिक्षण देते हुए कहा—"तुम्हारी यह उच्चध्वनिक स्वाध्याय अन्य लोगों की नींद में अन्तरायभूत होने के कारण कर्म बंध का कारण है। हिंस्र पशुओं के जागरण से अनर्थ दंड की संभावना भी है।[2] अतः नमस्कार मंत्र का जाप अथवा ध्यानमय आभ्यन्तर तप ही श्रेष्ठ मार्ग है।[3]

सुविनीत मुनि मुकुन्द ने आचार्य देव से प्रशिक्षण पाकर दिन में स्वाध्याय करना प्रारम्भ कर दिया। ज्ञान की तीव्र पीपासा उन्हें विश्राम नहीं करने देती थी। प्रतिपल अप्रमत्त भाव में लीन दृढ़ संकल्पी, महा अध्यवसायी, अनवरत जागरूक, स्वाध्याय प्रवृत्त मुनि मुकुन्द का कर्णभेदक उच्चघोष श्रावक-श्राविका समाज को अखरा। किसी व्यक्ति ने व्यंग कसा—"मुने! आप इतनी स्वाध्याय करके क्या मूसल (शुष्क लकड़ी) को पुष्पित करोगे? श्रावक द्वारा कही गयी यह बात मुनि मुकुन्द के हृदय में तीर की भांति गहरा घाव कर गयी। उन्होंने ब्राह्मी विद्या की आराधना में इक्कीस दिन का तप किया। देवी प्रकट होकर बोली—"सर्वविद्या

सिद्धो भव।" दैविक वरदान से मुकुन्द मुनि कवीन्द्र एवं विद्यासम्पन्न बने। शक्ति सामर्थ्य को प्राप्त कर मुकुन्द मुनि ने श्रावक के वचनों को सत्य सिद्ध करने की बात सोची। चौराहे पर बैठ सबके सामने मूसल को धरती में थमा, मुनि मुकुन्द बोले :

अस्मादृशा अपि यदा भारति ! त्वत्प्रसादतः।
भवेयुर्वादिनः प्राज्ञा मुशलं पुष्यतां ततः ॥३०॥

—भारति ! तुम्हारे प्रसाद से हमारे जैसे व्यक्ति भी वादी जनों में प्राज्ञ का स्थान प्राप्त कर सके हैं। अब यह मूसल भी पुष्पित हो यह कहते हुए मुनि मुकुन्द ने अचित्त जल का सिंचन देकर मंत्र महात्म्य से मूसल को पुष्पवान कर दिखाया।[४]

वृद्धावस्था में अनवरत अध्ययन प्रवृत्त मुनि मुकुन्द को देखकर—"मूसल के फूल लगाओगे क्या ?" इस प्रकार फब्तियां कसने वाले वाचाल व्यक्तियों के मुनि मुकुन्द ने मुंह बंद कर दिए थे।

वाद-गोष्ठियों में मुनि मुकुन्द सर्वत्र दुर्जेय बन चमके। अप्रतिमल्लवादी के रूप में उनकी महिमा महकी।

वृद्धावस्था में दीक्षित मुनि मुकुन्द वाद-कुशल आचार्य होने के कारण वृद्धवादी नाम से प्रसिद्ध हुए।

सब प्रकार से योग्य समझकर वादजयी वृद्धवादी को आचार्य स्कंदिल ने अपने उत्तराधिकारी के रूप में नियुक्त किया।[५]

जैन शासन सरोवर के उत्पन्न दल को विकसित करने वाले महाभास्कर आचार्य स्कंदिल के स्वर्गगमन के पश्चात् भृगुपुर के बहिर्भूभाग में आचार्य वृद्धवादी का शास्त्रार्थ संस्कृत भाषा के महाप्राज्ञ आचार्य सिद्धसेन के साथ हुआ था। यह सारा प्रकरण आचार्य सिद्धसेन प्रकरण में चर्चित हुआ है। संस्कृत भाषा के महाप्राज्ञ आचार्य सिद्धसेन के गुरु शास्त्रार्थ-जयी आचार्य वृद्धवादी का काल वी० नि० की दसवीं शताब्दी के बाद का है।

आधार-स्थल

१. विद्याधरवराम्नाये चिन्तामणिरिवेष्टदः।
आसीच्छ्रीस्कन्दिलाचार्यः पादलिप्तप्रभोः कुले ॥५॥

(प्रभा० च०, पृ० ५४)

२ यतिरेको युवा तस्मै शिक्षामक्षामधीर्ददौ।
मुने ! विनिद्रिता हिंस्रजीवा भूतद्रुहो यतः ॥१६॥

(प्रभा० च०, पृ० ५४)

३. तस्माद्ध्यानमयं साधु विधेह्याभ्यन्तरं तपः ।
अर्हः संकोचितुं साधोर्वाग्योगो निर्व्वनिक्षणे ॥१७॥

(प्रभा० च०, पृ० ५४)

४. इत्युक्त्वा प्रासुकैर्नीरैः सिषेच मुशलं मुनिः ।
सद्यः पल्लवितं पुष्पैर्युक्तं तारैर्यथा नभः ॥३१॥

(प्रभा० च०, पृ० ५५)

५. ततः सूरिपदे चक्रे गुरुभिर्गुरुवत्सलैः :
वर्द्धिष्णवो गुणा अर्था इव पात्रे नियोजिताः ॥३४॥

(प्रभा० च०, पृ० ५५)

२. सरस्वती-कंठाभरण आचार्य सिद्धसेन

आचार्य सिद्धसेन को श्वेताम्बर परम्परा में गौरवमय स्थान प्राप्त है। वे समर्थ साहित्यकार, प्रकृष्टवादी एवं संस्कृत भाषा के प्रगल्भ विद्वान् थे। विद्याधर गच्छीय आचार्य पादलिप्त की आम्नाय के प्रभावक आचार्य वृद्धवादी उनके दीक्षागुरु थे। उनके दादागुरु का नाम स्कंदिल था।

आचार्य सिद्धसेन का जन्म विशाला के कात्यायन गोत्रीय ब्राह्मण परिवार में हुआ। उनके पिता का नाम देवर्षि और माता का नाम देवश्री था। देवर्षि राजमान्य ब्राह्मण थे।

आचार्य सिद्धसेन को अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य पर भारी अभिमान था। वे अपने को दुनिया में सर्वथा अपराजेय मानते थे। शास्त्रार्थ में हार जाने पर विजेता का शिष्यत्व स्वीकार कर लेने में वे दृढ़प्रतिज्ञ थे।

वादकुशल आचार्य वृद्धवादी के वैदुष्य की चर्चा सर्वत्र प्रसारित हो रही थी। उनसे शास्त्रार्थ करने की उदग्र इच्छा सिद्धसेन में थी। एक बार भृगुपुर के मार्ग में दोनों विद्वानों का मिलन हुआ। सिद्धसेन ने आचार्य वृद्धवादी के सामने शास्त्रार्थ करने का प्रस्ताव रखा। आचार्य वृद्धवादी ने उनके प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। गोपालकों ने मध्यस्थता की। शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। प्रथम वक्तव्य विद्वान् सिद्धसेन ने दिया। वे सानुप्रास संस्कृत भाषा में धाराप्रवाह बोलते गए। गोपालकों की समझ में उनका एक भी शब्द नहीं आया। वे उन्मुख होकर बोले—"पण्डित ! कब से अनर्गल प्रलाप कर रहा है। तुम्हारी कर्णकटूक्ति हमारे लिए असह्य हो रही है। चुप रह, अब इस वृद्ध को बोलने दे।"

सर्वज्ञत्व की निषेध सिद्धि विषय पर पक्ष प्रस्तुत कर विद्वान् सिद्धसेन बैठ गए।

आचार्य वृद्धवादी ने सर्वज्ञत्व समर्थन पर वक्तव्य दिया, तदनन्तर वे कर्णप्रिय घिन्दणी छन्द में बोले :

नवि मारियइ नवि चोरियइ परदारह गमणु निवारियइ।
थोवा थोवं दाइयइ सग्गि टुकु टुकु जाइयई॥

हिंसा नहीं करने से, चोरी नहीं करने से, परदारा सेवन नहीं करने से, शुद्ध दान से व्यक्ति धीमे-धीमे स्वर्ग पहुंच जाता है।

अपने विचारों को सहज ग्रामीण भाषा में प्रस्तुत करते हुए वे पुनः बोले :

कालउ कंबलु अनुनी चाटु छार्सिहि खालडु भरिउ निपाटु।
अइ वडु पडियउ नीलइ झाड़ी अवर किसर गट सिग निलाडि ॥

प्रस्तुत दोहे का राजस्थानी रूपान्तर इस प्रकार उपलब्ध होता है :

काली कम्बल अरणी सट्ठ छाछड़ भरियो दीवड़ मट्ठ।
एवड़ पड़ियो लीले झाड़, अवर कवण छै स्वर्ग विचार ॥

शीतनिवारणार्थ काली कम्बल पास हो, हाथ में अरणि की लकड़ी हो, मटका छाछ से भरा हो और एवड़ को नीली घास प्राप्त हो गयी हो, इससे बढ़कर अन्य स्वर्ग क्या हो सकता है।

सुमधुर ग्रामीण भाषा में आचार्य वृद्धवादी द्वारा स्वर्ग की परिभाषा सुनकर गोपालक जय-जय का घोष करते हुए नाच उठे। उन्होंने कहा—"वृद्धवादी सर्वज्ञ है। श्रुति सुखद उपदेश का पाठक है। सिद्धसेन अर्थहीन बोल रहा है।"

गोपालकों की सभा में आचार्य वृद्धवादी विजयी हुए। जय-पराजय का निर्णय आचार्य वृद्धवादी भृगुपुर में पहुंचकर विद्वत् सभा में करवाना चाहते थे, पर आचार्य सिद्धसेन अपने संकल्प पर दृढ़ थे। आचार्य वृद्धवादी ने पाण्डित्य का प्रदर्शन न कर समयज्ञता का कार्य किया, समयज्ञ ही सर्वज्ञ होता है। इस अभिमत पर आचार्य वृद्धवादी को सर्वज्ञ और उनकी सूझ-बूझ के सामने अपने को अल्पज्ञ मानते हुए विद्वान् सिद्धसेन ने अपनी पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। वे मुनि बन गए। उनका दीक्षा नाम कुमुदचन्द्र रखा गया। वृद्धवादी के शिष्य परिवार में कुमुदचन्द्र अत्यन्त योग्य और प्रतिभावान शिष्य थे। एक दिन वृद्धवादी ने उन्हें आचार्य पद पर आरूढ़ कर शिष्य समुदाय के साथ धर्म-प्रभावना के लिए स्वतन्त्र विहरण का आदेश दे दिया और उनका नाम कुमुदचन्द्र से पुनः सिद्धसेन हो गया। प्रखर वैदुष्य के कारण आचार्य सिद्धसेन की प्रसिद्धि सर्वज्ञ पुत्र के नाम से भी हुई।

श्रमण परिवार से परिवृत आचार्य सिद्धसेन का पदार्पण अवन्ति में हुआ। नगर-प्रवेश करते समय विशाल जन-समूह उनके पीछे-पीछे चल रहा था। सर्वज्ञ पुत्र की जय हो—कहकर आचार्य सिद्धसेन की विरुदावलि उच्च घोषों से मार्गवर्ती चतुष्पथों पर बोली जा रही थी। अवन्ति-शासक विक्रमादित्य का सहज आगमन सामने से हुआ। वे हाथी पर आरूढ़ थे। सर्वज्ञता की परीक्षा के लिए उन्होंने वहीं से आचार्य सिद्धसेन को मानसिक नमस्कार किया। निकट आने पर विक्रमादित्य को आचार्य सिद्धसेन ने उच्च घोषपूर्वक हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया। विक्रमादित्य बोले—"बिना वंदन किए ही आप किसको आशीर्वाद दे रहे हैं?"

आचार्य सिद्धसेन ने कहा—"आपने मानसिक नमस्कार किया था, उसी के उत्तर में मैंने आशीर्वाद दिया है।"

आचार्य सिद्धसेन की इस सूक्ष्म ज्ञानशक्ति से विक्रमादित्य प्रभावित हुआ और उसने विशाल अर्थ-राशि का अनुदान किया।[१] सिद्धसेन ने उस अनुदान को अस्वीकार कर दिया। उनकी इस त्यागवृत्ति ने विक्रम को और भी अधिक प्रभावित किया तथा धर्मप्रचार कार्य में उस अर्थराशि का उपयोग हुआ।

चित्रकूट में सिद्धसेन ने विविध औषधियों के चूर्ण से बना एक स्तम्भ देखा। प्रतिपक्षी औषधियों का प्रयोग कर आचार्य सिद्धसेन ने उसमें एक छेद कर डाला। स्तम्भ में हजारों पुस्तकें थीं। अत्यधिक प्रयत्न करने पर भी आचार्य सिद्धसेन को उस छेद में से एक ही पुस्तक प्राप्त हो सकी। पुस्तक के प्रथम पृष्ठ के पठन से उन्हें सर्षप मन्त्र (सैन्य सर्जन विद्या) और स्वर्णसिद्धि योग नामक दो महान् विद्याएं उपलब्ध हुईं।

सर्षप विद्या के प्रभाव से मान्त्रिक द्वारा जलाशय में प्रक्षिप्त सर्षप कणों के अनुपात में चौबीस प्रकार के उपकरण सहित सैनिक निकलते थे और प्रतिद्वन्द्वी को पराभूत कर वे पुनः जल में अदृश्य हो जाते थे।

हेम विद्या के द्वारा मान्त्रिक किसी भी प्रकार की धातु को सहजतः स्वर्ण में परिवर्तित कर सकता था।[२]

इन दो विशिष्ट विद्याओं की प्राप्ति से आचार्य सिद्धसेन के मन में उत्सुकता बढ़ी। वे पूरी पुस्तक को पढ़ लेना चाहते थे पर देवी ने आकर उनसे पुस्तक को छीन लिया और उनकी मनोकामना पूर्ण न हो सकी।[३]

आचार्य सिद्धसेन खिन्नमन वहां से प्रस्थित हुए और जैन धर्म का जन-जन को बोध प्रदान करते हुए गांवों, नगरों, राजधानियों में विहरण करते रहे। पुंगी पर डोलते हुए नाग की भांति आचार्य सिद्धसेन की कुशल वाग्मिता से उनकी यशःज्योत्स्ना विश्व में प्रसारित हुई। मुख-मुख पर उनका नाम गूंजने लगा।

आचार्य सिद्धसेन भ्रमणप्रिय आचार्य थे। वे चित्रकूट से पूर्व दिशा की ओर प्रस्थित हुए। अनेक ग्राम-देशों में विहरण करते हुए पूर्व के कूर्मार में पहुंचे। कूर्मार देश का शासक देवपाल था। आचार्य सिद्धसेन से बोध प्राप्त कर वह उनका परम भक्त बन गया। देवपाल की राजसभा में नित्य नवीन एवं मधुर गोष्ठियां होतीं। आचार्य सिद्धसेन के योग से उन गोष्ठियों की सरसता अधिक बढ़ जाती थी। राज-सम्मान प्राप्त कर सिद्धसेन का मन उस वातावरण से मुग्ध हो गया और वे वहीं रहने लगे। राजा देवपाल के सामने पर चक्र का भय उपस्थित हुआ। राजा को चिंतित देखकर आचार्य सिद्धसेन ने कहा—"मा स्म विह्वलो भूः"—राजन्, चिंतित मत बनो। जिसका मैं सखा हूं विजयश्री उसी की है। सिद्धसेन से सान्त्वना पाकर देवपाल को प्रसन्नता हुई। प्रतिद्वन्द्वी को पराभूत करने में उनको आचार्य सिद्धसेन से महान् सहयोग प्राप्त हुआ। युद्ध की संकटकालीन स्थिति प्रस्तुत होने पर आचार्य सिद्धसेन ने 'सुवर्ण सिद्धि योग' नामक विद्या से पर्याप्त परिमाण में अर्थ

को निष्पन्न कर तथा सर्षप मंत्र के प्रयोग (सैन्य सर्जन विद्या) से विशाल संख्या में सैनिक समूह का निर्माण कर देवपाल को सामर्थ्यसंपन्न बना दिया। युद्ध में देवपाल की विजय हुई। आचार्य सिद्धसेन राजा देवपाल के लिए सूर्य की भांति पथदर्शक सिद्ध हुए अतः विजयोपरान्त देवपाल ने आचार्य सिद्धसेन को 'दिवाकर' की उपाधि से विभूषित किया।[४]

निशीथ चूर्णि के अनुसार सिद्धसेन ने अश्व रचना भी की थी।[५] देवपाल की भावभीनी मनुहार से आचार्य सिद्धसेन राजसुविधाओं का मुक्तभाव से उपयोग करने लगे। वे हाथी पर बैठते और शिविका का भी प्रयोग करते।[६] सिद्धसेन दिवाकर के साधनाशील जीवन में शैथिल्य की जड़ें विस्तार पाने लगीं। "श्रावकाः पौषधशालायां प्रवेशमेव न लभन्ते।" उनके पास उपासक वर्ग का आवागमन भी निषिद्ध हो गया। आचार्य होते हुए भी राजसम्मान प्राप्त कर संघ-निर्वहण के दायित्व को उन्होंने सर्वथा उपेक्षित कर दिया था। धर्म-संघ में चर्चा प्रारम्भ हुई :

दगपाणं पुप्फफलं अणेसणिज्जं गिहत्थकिच्चाइं।
अजया पडिसेवंती जइवेसविडंबगा नवरं॥१३॥

प्रबन्धकोश, पृ० १७, पं० २८

अचित्त जल, पुष्प, फल, अनषेणीय आहार का ग्रहण एवं गृहस्थ कार्यों का अयत्नापूर्वक सेवन श्रमण वेश की प्रत्यक्ष विडम्बना है।

आचार्य सिद्धसेन के अपयश की यह गाथा आचार्य वृद्धवादी के कानों तक पहुंची। वे गच्छ के भार को योग्य शिष्यों के कन्धों पर स्थापित कर एकाकी वहां से चले। कूर्मार देश में पहुंचे। आचार्य सिद्धसेन के सामने वस्त्र से अपने शरीर को आवृत कर उपस्थित हुए। उन्होंने सबके सम्मुख एक श्लोक बोला :

अणुहुल्लीय फुल्ल म तोड हु मन आरामा म मोड हु।
मण कुसुमेहिं उच्चि निरज्जणु हिण्डह काइ वणेण वणु॥

आचार्य सिद्धसेन बुद्धि पर पर्याप्त बल लगाकर भी प्रस्तुत श्लोक का अर्थ न कर सके। उन्होंने मन ही मन सोचा—ये मेरे गुरु वृद्धवादी तो नहीं हैं? पुनः-पुनः समागत विद्वान् की मुखाकृति को देखकर आचार्य सिद्धसेन ने वृद्धवादी को पहचाना। "पादयोः प्रणम्य क्षामिताः पद्यार्थपृष्टाः" चरणों में गिरकर अविनय की क्षमा याचना की और विनम्र होकर श्लोक का अर्थ पूछा। आचार्य वृद्धवादी बोले—"योगकल्पद्रुमः—श्रमण साधना योगकल्पवृक्ष के समान है। यम और नियम इस वृक्ष के मूल है। ध्यान प्रकाण्ड एवं समता स्कन्ध श्री है। कवित्व, वक्तृत्व, यश, प्रताप, स्तम्भन, उच्चाटन, वशीकरण आदि क्रियाएं पुष्प के समान हैं। केवलज्ञान की उपलब्धि मधुर फल है। अभी तक साधना जीवन का कल्पवृक्ष पुष्पित हुआ है। फलवान बनने से पहले ही इन पुष्पों को मत तोड़। महाव्रत रूपी पौधों का उन्मूलन मत कर। प्रसन्न मन से अहंकाररहित होकर वीतराग प्रभु की

आराधना कर। मोहादि तरुओं से गहन इस संसार अटवी में भ्रमण क्यों कर रहा है ?"

आचार्य वृद्धवादी की उद्‌बोधक वाणी से आचार्य सिद्धसेन के अन्तर् चक्षु उद्‌घाटित हुए। उन्होंने गुरु चरणों में नत हो क्षमा याचना की।

किंवदन्ती के अनुसार वृद्धवादी ने कूर्मार ग्राम में पहुंचकर आचार्य सिद्धसेन की पालकी के नीचे अनेक शिविकावाही पुरुषों के साथ अपना कंधा लगा दिया। अवस्था वृद्ध होने के कारण वृद्धवादी के पांव लड़खड़ा रहे थे एवं उनकी ओर से सुख पालकी लचक रही थी। आचार्य सिद्धसेन की दृष्टि कृशकाय-वयोवृद्ध वृद्धवादी पर पहुंची और दर्प के साथ वे बोले :

अयमांदोलिका दंडः वृद्धस्तव किन्तु बाधति।

—रे वृद्ध ! इस सुख पालकी का दंड तुम्हें कष्टकर प्रतीत हो रहा है ?

आचार्य सिद्धसेन द्वारा उच्चारित बाधति धातु के प्रयोग पर आचार्य वृद्धवादी चौंके। संस्कृत के 'बाधृङ्' धातु का परस्मैपदव्यवहार सर्वथा अशुद्ध है। इस अशुद्ध प्रयोग को परिलक्षित कर वे बोले :

न बाधते तथा दण्डः यथा बाधति बाधते।

—मुझे इस दण्ड से नहीं, बाधति धातु के प्रयोग से क्लेश हो रहा है।

आचार्य सिद्धसेन जानते थे, मेरी अशुद्धि की ओर संकेत करने वाला व्यक्ति मेरे गुरु वृद्धवादी के अतिरिक्त कोई नहीं हो सकता। अतः आचार्य सिद्धसेन तत्क्षण सुख शिविका से नीचे उतरे, आत्मालोचन करते हुए गुरु-चरणों में गिरे। आचार्य वृद्धवादी ने उन्हें प्रायश्चित्तपूर्वक संयम में स्थिर किया।

आचार्य सिद्धसेन संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उस समय संस्कृत भाषा का सम्मान बढ़ रहा था। प्राकृत भाषा ग्रामीण भाषा समझी जाने लगी। जैनेतर विद्वान् अपने-अपने ग्रंथों का निर्माण संस्कृत में करने लगे थे। आगमों को विद्वद्-भोग्य बनाने के लिए सिद्धसेन ने भी आगम ग्रन्थों को प्राकृत से संस्कृत में अनूदित करना चाहा। उन्होंने यह भावना गुरुजनों के सामने प्रस्तुत की।[९] स्थितिपालक मुनियों द्वारा नवीन विचारों के समर्थन पाने का मार्ग सरल नहीं था। सारे संघ ने आचार्य सिद्धसेन का प्रबल विरोध किया। श्रमण बोले—"किं संस्कृतं कर्तुं न जानन्ति श्रीमन्तः तीर्थंकराः गणधराः वा यदर्धमागधेनागमानकृषत ? तदेवं जल्पतस्तव महत् प्रायश्चित्तमापन्नम्।" तीर्थंकर और गणधर संस्कृत नहीं जानते थे ? उन्होंने अर्ध मागधी भाषा में आगमों का प्रणयन क्यों किया ? अतः आगमों को संस्कृत भाषा में अनूदित करने का विचार महान् प्रायश्चित्त का निमित्त है।

संघ के इस अंतर्विरोध के फलस्वरूप आचार्य सिद्धसेन को मुनिवेश बदल-कर बारह वर्ष तक गण से बाहर रहने का कठोर दण्ड मिला।[८] इस पाराञ्चित नामक दशवें प्रायश्चित्त को वहन करते समय आचार्य सिद्धसेन के लिए एक अपवाद

था, बारह वर्ष की इस अवधि में उनसे जैन शासन की महनीय प्रभावना का कार्य सम्पादित हो सका तो दण्डकाल की मर्यादा से पूर्व भी उन्हें संघ में सम्मिलित किया जा सकता है।[९]

संघमुक्त आचार्य सिद्धसेन मुनिवेश परिवर्तित कर सात वर्ष तक विहरण करते रहे। उसके बाद उनका आगमन अवन्ति में हुआ। वे शिव मंदिर में पहुंचकर प्रतिमा को बिना नमन किए ही बैठ गए। पुजारी ने उन्हें पुनः-पुनः प्रतिमा-प्रणाम के लिए कहा, पर आचार्य सिद्धसेन पर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ। उन्होंने पुजारी की बात को सुनकर भी अनसुना कर दिया। इस घटना की सूचना राजा के कानों तक पहुंची। विक्रमादित्य स्वयं शिव मंदिर में उपस्थित हुआ और सिद्धसेन से बोला—"क्षीर लिलिक्षो भिक्षो ! किमिति त्वया देवो न वंद्यते ?—हे दूधपान करने वाले श्रमण ! देव प्रतिमा को वन्दन नहीं करते ?" आचार्य सिद्धसेन बोले, "मेरा वन्दन प्रतिमा सहन नहीं कर सकेगी।"

राजा बोला, "भवतु क्रियतां नमस्कारः—जो कुछ घटित होता है, होने दो। तुम वन्दन करो।"

शिव प्रतिमा के सामने बैठकर आचार्य सिद्धसेन ने काव्यमयी भाषा में स्तवना प्रारम्भ की। फलस्वरूप आचार्य सिद्धसेन द्वारा बत्तीस द्वात्रिंशिकाओं (स्तुति काव्य) का और तदनन्तर महान् प्रभावक कल्याण मंदिर स्तोत्र का निर्माण हुआ। कल्याण मन्दिर स्तोत के १३वें श्लोक के साथ पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रकट हुई।

आचार्य सिद्धसेन के इस कार्य से जैन शासन की महनीय प्रभावना शतगुणित होकर प्रसारित हुई। राजा विक्रमादित्य ने आचार्य सिद्धसेन का महान् सम्मान किया और उनका परम भक्त बना। राजा विक्रमादित्य की विद्वन्मण्डली में भी आचार्य सिद्धसेन को गौरवमय स्थान प्राप्त हुआ।

आचार्य सिद्धसेन के प्रस्तुत प्रयत्न को संघ अतिशय प्रभावना का महत्त्वपूर्ण अंग मान श्रमण संघ ने उन्हें दंड मर्यादा से पांच वर्ष पूर्व ही गण में सम्मिलित कर लिया।[१०]

सिद्धसेन प्रगतिगामी विचारों के धनी थे। उनके नवीन विचारों का विरोध होना स्वाभाविक था। द्वादश वर्षीय संघ बहिष्कार के रूप में दण्ड की यह पद्धति अवश्य अनुसन्धान का विषय है।

साहित्य-निर्माण की दिशा में उन्होंने जो कुछ किया, वह अनुपम था। आगमिक तथ्यों को तर्क की भूमिका पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय उन्हें है। जैन दर्शन में न्याय के वे प्राण-प्रतिष्ठापक थे। दिग्गज विद्वान् धर्मकीर्ति, दिङ्नाग और वसुबन्धु के वे सबल प्रतिद्वन्द्वी थे।

'न्यायावतार' ग्रन्थ उनकी न्यायविषयक सर्वथा मौलिक रचना है। जैन न्याय में संस्कृत भाषा का यह प्रथम ग्रन्थ भी है। आगमों में बीज रूप से प्राप्त प्रभाव

एवं नय का आधार लेकर बत्तीस अनुष्टुप श्लोकों में न्याय जैसे गम्भीर विषय को प्रस्तुत कर देना उनकी प्रतिभा का चमत्कार है।

'सन्मति तर्क' उनकी प्राकृत रचना है। उस समय आगम समर्थक जैन विद्वान् प्राकृत भाषा को पोषण दे रहे थे। सम्भवतः इन विद्वानों की अभिरुचि का सम्मान करने के लिए 'सन्मति तर्क' का निर्माण सिद्धसेन ने प्राकृत भाषा में किया है। नय का विशद विवेचन, तर्क के आधार पर पांच ज्ञान की परिचर्चा, प्रतिपक्षी दर्शन का भी सापेक्ष भूमिका पर समर्थन तथा सम्यक्त्व स्पर्शी अनेकान्त का युक्ति पुरस्सर प्रतिपादन इस ग्रन्थ का प्रमुख विषय है। प्रमाणविषयक सामग्री को प्रस्तुत करने वाला यह सर्वप्रथम जैन ग्रन्थ है।

आचार्य सिद्धसेन का द्वात्रिंशिका साहित्य उनके गम्भीर ज्ञान का सूचक है। इस साहित्य की रचना में उन्होंने अनुष्टुप्, उपजाति, बसन्ततिलका, पृथ्वी, शिखरिणी आदि विभिन्न छन्दों का उपयोग किया है।

आचार्य सिद्धसेन में आस्था एवं तर्क का अपूर्व समन्वय था। वे एक और मौलिक चिन्तन के धनी, स्वतंत्र विचारक एवं नवीन युग के प्रवर्तक थे; दूसरी ओर वे महान् स्तुतिकार थे। उनके द्वारा निर्मित द्वात्रिंशिकाओं में इक्कीस द्वात्रिंशिकाएं आज उपलब्ध हैं। उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओं में प्रथम पांच द्वात्रिंशिकाएं स्तुतिमय हैं। इन स्तुतियों में भगवान महावीर के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा के दर्शन होते हैं।

अवशिष्ट द्वात्रिंशिकाओं में विविध विषयों का वर्णन मिलता है। जैनेतर दर्शनों को समझने के लिए १३वीं, १४वीं, १५वीं, १६वीं द्वात्रिंशिका उपयोगी हैं। इनमें क्रमशः सांख्य, वैशेषिक, बौद्ध एवं नियतिवाद की चर्चा है। जैन तत्त्व दर्शन को समझने के लिए १९वीं द्वात्रिंशिका विपुल सामग्री प्रदान करती है। आत्म-स्वरूप एवं मुक्ति मार्ग का बोध २०वीं द्वात्रिंशिका में है। प्रथम पांच द्वात्रिंशिकाओं की भांति २१वीं द्वात्रिंशिका भी स्तुतिमय है।

'न्यायावतार' एवं 'सन्मति तर्क' ग्रन्थ की रचना द्वात्रिंशिका साहित्य के बाद की है। भाषाशास्त्र-विशेषज्ञ विद्वान् इन दोनों ग्रन्थों का कर्तृक सिद्धसेन का स्वीकार करने में सन्देहास्पद भी हैं।

आचार्य सिद्धसेन की कृतियां उनकी स्पष्टवादिता, निर्भीकता और चिन्तन की उन्मुक्तता का स्पष्ट प्रतिबिम्ब है। पूर्वाग्रह का भाव आचार्य सिद्धसेन में कभी पनप नहीं सका। उन्होंने पुरातन रूढ़ धारणाओं पर क्रान्ति का घोष करते हुए कहा :

> पुरातनैर्या नियता व्यवस्थितिस्तथैव सा किं परिचित्य सेत्स्यति।
> तथेति वक्तुं मृतरूढ़गौरवादहन्नजातः प्रथयन्तु विद्विषः।

पुरातन पुरुषों की असिद्ध व्यवस्था का समर्थन करने के लिए मैं नहीं जन्मा हूं। एक ओर आचार्य सिद्धसेन ने आगम में बिखरे अनेकान्त सुमनों को माला का

रूप दिया दूसरी ओर उनके उर्वर मस्तिष्क से अनेक मौलिक तथ्य भी उभरे। ज्ञान की प्रमाणता और अप्रमाणता में मोक्षमार्गोपयोगिता के स्थान पर मेय रूप का समर्थन, प्रत्यक्ष अनुमान और आगम के रूप में प्रभावत्रयी की परिकल्पना, प्रत्यक्ष और अनुमान में स्वार्थ और परार्थ की अनुमति और प्रमाण लक्षण में स्वपराव-भाषक के साथ बाध वर्जित स्वरूप का निश्चयी कारण सिद्धसेन की अपनी मौलिक सूझ ही थी।

वे कवि थे। "अनुसिद्धसेनकवयः" इस प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार अन्य समस्त कवि उनके पीछे थे। आचार्य सिद्धसेन न्यायप्रतिष्ठापक, महान् स्तुतिकार, कुशल वाग्मी, नवीन युग के प्रवर्तक, स्वतंत्र विचारक एवं साहित्याकाश के दिवाकर थे। उनकी नव-नवोन्मेष प्रदायिनी प्रतिभा जैन शासन के लिए वरदान सिद्ध हुई। उनकी साहित्य-सम्पदा ने श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों परम्परा के विद्वान् जैनाचार्यों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया।

कलिकाल-सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र जैसे विद्वद्वरेण्य आचार्य का मस्तक भी उनकी प्रतिभा के सामने झुक गया। उन्होंने कहा :

क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्थाः अशिक्षितालापकला क्व चैषा ?

—सिद्धसेन की महान् गूढ़ार्थक स्तुतियों के सामने मेरे जैसे व्यक्ति का प्रयास अशिक्षित व्यक्ति का आलापमात्र है।

आदिपुराण के कर्त्ता दिगम्बर आचार्य जिनसेन उनकी कवित्व-शक्ति से अति प्रभावित हुए और उन्होंने कहा :

कवयः सिद्धसेनाद्या-वयं तु कवयो मताः।
मणयः पद्मरागाद्या-ननु काचोऽपि मेचकः।।

—हम तो गणना मात्र कवि हैं। यथार्थ में कवि आचार्य सिद्धसेन थे।

राजवार्तिक के कर्त्ता अकलंक भट्ट भी उनके महान् प्रशंसक रहे हैं।

धर्म-प्रचार की दिशा में भी आचार्य सिद्धसेन ने जो किया वह जैन समाज के लिए गौरव का विषय है।

एक बार रास गाकर आचार्य सिद्धसेन ने भृगुकच्छ के सहस्रों ग्वालों को प्रति-बुद्ध किया था। उनके रास के आधार पर उन लोगों ने ताल रासक ग्राम बसाया।

आचार्य सिद्धसेन ने अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से अनेक राजाओं को बोध दिया था। सात राजाओं को अथवा अट्ठारह राजाओं को आचार्य सिद्धसेन द्वारा बोध देने की बात अधिक विश्रुत है। प्रभावक-चरित्र एवं प्रबन्धकोश में राजाओं की संख्या का कोई उल्लेख नहीं है।

जीवन के सन्ध्या काल में आचार्य सिद्धसेन दक्षिण दिशा के पृथ्वीपुर में थे। आयु का अन्तिम समय जान उन्होंने अनशन स्वीकार किया। पूर्ण समाधि में उनका स्वर्गवास हुआ। इस समय सिद्धसेन का गच्छ चित्रकूट में था। पृथ्वीपुर के संघ ने

महाप्रभावी आचार्य सिद्धसेन के स्वर्गारोहण की सूचना वाग्मी भट्ट के साथ वहां प्रेषित की। उसने वहां जाकर श्रमण सभा में श्लोक का अर्ध भाग बोला :

स्फुरन्ति वादिखद्योता साम्प्रतं दक्षिणापथे

पुनः-पुनः इस वाक्य का उच्चारण वाग्मी भट्ट के द्वारा सुनकर आचार्य सिद्धसेन की सिद्ध सरस्वती भगिनी समझ गयी—उसका भाई अब संसार में नहीं रहा है। उसने वाग्मी भट्ट द्वारा उच्चारित श्लोक का अर्धांश पूर्ण करते हुए कहा :

नूनमस्तंगतो वादिसिद्धसेनो दिवाकरः।

इन दो चरणों की रचना से एवं सिद्धसरस्वती विशेषण से लगता है, आचार्य सिद्धसेन की भांति उनकी भगिनी भी प्रतिभासम्पन्न साध्वी थी।

आचार्य सिद्धसेन का युग आरोह और अवरोह का युग था। संस्कृत भाषा का उत्कर्ष एवं प्राकृत भाषा का अपकर्ष हो रहा था। पुस्तकों के केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति आरम्भ हो चुकी थी। श्रमण जीवन में शिथिलाचार प्रवेश पा रहा था। राजसम्मान प्राप्त जैनाचार्यों की दृष्टि में व्यक्तित्व-प्रभावना का लक्ष्य प्रमुख एवं साधुचर्या की बात गौण बन गयी थी। श्रमणों के द्वारा गजशिविका आदि विशेष वाहनों का उपयोग भी उस युग में होने लगा था।

आचार्य सिद्धसेन का जीवन-प्रसंग इन सारे बिन्दुओं का संकेतक है।

आचार्य सिद्धसेन से प्रभावित शासक विक्रमादित्य गुप्तवंशीय राजा द्वितीय चन्द्रगुप्त के युग के थे और संवत्सर प्रवर्तक प्रसिद्ध विक्रमादित्य से भिन्न थे।

आचार्य सिद्धसेन द्वारा रचित साहित्य में संदृब्ध, सुललित, सालंकारिक, प्रवाहमयी संस्कृत भाषा स्वरूप के आधार पर वे वी० नि० ११वीं (वि० की चौथी-पांचवीं) शताब्दी के विद्वान् माने गए हैं।

आधार-स्थल

१. धर्मलाभ इति प्रोक्ते, दूरादुद्धतपाणये।
सूरयेसिद्ध सेनाय ददौ कोटिं नराधिपः ॥६४॥

(प्रभावक चरित, पृ० ५६)

२. द्वे विद्ये लभते स्म। एका सर्षपविद्या, अपरा हेमविद्या। तत्र सर्षपविद्या सा ययोत्पन्ने कार्ये मान्त्रिको यावन्तः सर्षपान् जलाशये क्षिपति तावन्ताऽश्ववारा द्विचत्वारिंशदुपकरण-सहितानि सरन्ति। ततः परबलं भज्यते। सुभटाः कार्यसिद्धेरनन्तरमदृश्यो भवन्ति। हेमविद्या पुनरक्लेशेन शुद्धहेम-कोटीः सद्यो निष्पादयति, येन तेन धातुना। तद्विद्याद्वयं सम्यग् जग्राह।

(प्रबन्धकोश, पृ० १७)

३. सावधानः पुरो यावद् वाचयत्येष हर्षभूः।
तत्पत्रं पुस्तकं चाथजह्रे श्रीशासनामरी ॥७२॥

(प्रभावक चरित, पृ० ५६)

४. ततो दिवाकर इति ख्याताख्या भवतु प्रभो: ।
ततः प्रभृति गीत: श्रीसिद्धसेनदिवाकरः ।।८४।।

(प्रभा० चरित, पृ० ५७)

५. सिद्धसेनाचार्येणाश्वा उत्पादिताः

(बृहत्कल्प सूत्र, सनिर्युक्ति भाष्य वृत्तिक, विभाग ३, पृ० ५३)

६. तस्य राज्ञो दृढं मान्यः सुखासनगजादिषु ।
बलादारोपितो भक्त्या गच्छति क्षितिपालयम् ।।८५।।

(प्रभा० चरित, पृ० ५७)

७. सकलानप्यागमानहं संस्कृतान्करोमि, यदि आदिशथ ।

(प्रबन्धकोश, पृ० १८)

८. अहमाश्रितमौनो द्वादशवार्षिकं पाराञ्चिकं नाम प्रायश्चित्तं गुप्त मुखवस्त्रिका रजोहरणादिलिंगः प्रकटितावधूतरुपच्चरिष्याम्युपयुक्तः ।

(प्रबन्धकोश, पृ० १८)

९. जैनप्रभावना कांचिदद्भुतां विदधाति चेत् ।
तदुक्तावधिमध्येऽपि लभते स्वं पदं भवान् ।।१६।।

(प्रभा० चरित, पृ० ५८)

१०. वत्सराणि ततः पंच संघोऽमुष्य मुमोच च ।
चक्रे च प्रकटं श्रीमत् सिद्धसेनदिवाकरम् ।।१५१।।

(प्रभा० चरित, पृ० ६०)

३. महाप्राज्ञ आचार्य मल्लवादी

महामेधावी आचार्य मल्लवादी को जैन दर्शन की प्रभावना में महान् श्रेय प्राप्त है। वे तर्कशास्त्र के प्रकांड विद्वान् थे। उनका जन्म गुजरात प्रदेशान्तर्गत वल्लभी में हुआ। उनकी माता का नाम दुर्लभ देवी था। दुर्लभ देवी के तीन पुत्र थे—अजित यश, यक्ष और मल्ल। इन तीनों में आचार्य मल्लवादी सबसे छोटे थे। वे अत्यन्त प्रतिभासम्पन्न बालक थे।

एक बार जैनाचार्य जिनानन्द सूरि का वल्लभी में पदार्पण हुआ। जिनानन्द सूरि दुर्लभ देवी के भ्राता थे। उन्होंने वल्लभी की जनता को विरक्ति-प्रधान उपदेश दिया। उनसे प्रेरणादायी उद्बोधन सुनकर दुर्लभ देवी और तीनों पुत्र परम वैराग्य को प्राप्त हुए। उन्होंने संसार की असारता को समझा। जननी सहित तीनों ने जिनानन्द सूरि के पास दीक्षा ग्रहण की।[1] लक्षणादि महाशास्त्रों का गम्भीर अध्ययन कर पृथ्वी पर वे प्रख्यात विद्वान् बने। प्रबन्धकोश के अनुसार सौराष्ट्र राष्ट्र के भास्कर महाराज शिलादित्य की दुर्लभ देवी भगिनी थी। मल्लवादी शिलादित्य के भानजे थे।

भृगुकच्छ में एक बार जिनानन्द सूरि का बौद्ध भिक्षु नन्द के साथ राजा शिलादित्य के सम्मुख शास्त्रार्थ हुआ। उसमें जैनाचार्य जिनानन्द सूरि की भारी पराजय हुई। पराभव के फलस्वरूप जैन श्रमणों को महान् क्षति उठानी पड़ी। वहां से उनका निष्कासन हो गया था।

> तीर्थं शत्रुञ्जयाह्वं यद्विदितं मोक्षकारणम्।
> श्वेताम्बरा भावतस्तद्बौद्धैर्भूतैरिवाश्रितम्।।

जैनों का प्रमुख तीर्थस्थान शत्रुंजय था, उस पर भी जैनों का अपना अधिकार नहीं रहा।

मल्लवादी अवस्था से बालक थे, विचारों से नहीं। उन्होंने यह दुःखद वृत्तान्त स्थविर मुनियों से सुना। घनी अन्तर्वेदना उन्हें कचोटने लगी। जिनानन्द सूरि की हार एवं जैन शासन का घोर अपमान उनके लिए असह्य हो गया। अपने खोये गौरव को पुनः प्राप्त करने के लिए उन्होंने दृढ़ संकल्प किया।

मल्लनामा गिरिं गत्वा तेपे तीव्रतरं तपः। (प्रबन्धकोश पृ० २२ श्लोक ३६)

शक्ति संचयनार्थ सर्वप्रथम गिरि खंडल पर्वत पर उन्होंने घोर तप प्रारम्भ किया। वे निरन्तर षष्टम भक्त तप (दो दिन का उपवास) करते एवं पारणक के दिन रूक्ष भोजन लेते थे। चातुर्मासिक पारणक के दिन संघ की अति आग्रहपूर्ण प्रार्थना पर कठिनता से उन्होंने श्रमणों द्वारा आनीत स्निग्ध भोजन ग्रहण किया था। इस दुष्कर तप से उन्हें दिव्यशक्ति प्राप्त हुई।

शासनदेवी ने प्रत्यक्ष प्रकट होकर कहा—"वत्स ! प्रतिपक्षी विजेता बनो। तर्कशास्त्र के अध्ययन से वाद-विवाद करने की विलक्षण क्षमता का उनमें अभ्युदय हुआ। महाप्रज्ञा के जागरण से मल्लवादी हीरकोपम तेजस्वी प्रतीत होने लगे।[2]

सभी प्रकार के सामर्थ्य से सम्पन्न होकर विद्वान् मल्लवादी ने शिलादित्य की सभा में बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ किया। नय चक्र महाग्रन्थ के आधार पर यह शास्त्रार्थ छह मास तक चला। वाक्‌निपुण मल्लवादी की अन्त में विजय हुई। विजयोल्लास में महाराज शिलादित्य ने उनका महोत्सवपूर्वक नगर में प्रवेश करवाया। शासन देवी ने पुष्पवृष्टि की। कलानिधि, वागेश मुनि मल्लवादी को इसी अवसर पर राजा शिलादित्य की ओर से वादी की उपाधि प्राप्त हुई थी। उससे पहले उनका नाम मल्ल था।[3]

जिनानन्द सूरि ने उन्हें सूरि पद पर पहले ही प्रतिष्ठित कर दिया था। इस समय गच्छ का सम्पूर्ण दायित्व उनके कन्धों पर निहित कर वे गण चिन्ता से मुक्त बने।

सन्तान की उन्नति होने पर अभिभावक भी यशोभाक् बनते हैं। मल्लवादी गच्छाधार बने एवं चारित्र धारिणी परम पवित्रिणी दुर्लभ देवी का भी सम्मान बढ़ा।

आचार्य मल्लवादी वाद-कुशल थे एवं समर्थ साहित्यकार भी थे। उन्होंने द्वादशार नयचक्र की रचना की। चक्र के बारह आरों के समान इस ग्रन्थ के बारह अध्याय थे। महाप्राज्ञ आचार्य सिद्धसेन के सन्मति तर्क की भांति न्याय-जगत् का शिरोमणी, नय और अनेकान्त दर्शन का विवेचन करने वाला संस्कृत भाषा का यह ग्रन्थ अपने युग में अद्वितीय था तथा जन-मानस के अज्ञ तम को हरने वाला था। आचार्य मल्लवादी ने प्रतिवाद गजकुंभ के भेदने में केसरी तुल्य इस ग्रन्थ का वाचन अपने शिष्य समुदाय के सम्मुख किया[4] और तर्कशास्त्र का गम्भीर बोध उन्हें प्रदान किया था। साहित्य-जगत् की यह अमूल्य कृति मूलरूप में आज उपलब्ध नहीं है। सिंहगणी क्षमाश्रमण रचित टीका इस ग्रन्थ पर प्राप्त हो सकी है। सन्मति तर्क टीका एवं २४००० श्लोक परिमाण पद्मचरित्र (जैन रामायण) के रचनाकार भी आचार्य मल्लवादी थे।[5]

आचार्य मल्लवादी के ज्येष्ठ भ्राता मुनि अजितयश ने 'प्रमाण' ग्रन्थ रचा एवं यक्ष मुनि ने 'अष्टांग निमित्त बोधिनी' संहिता का निर्माण किया था। दीपकलिका के तुल्य सकलार्थ प्रकाशिनी यह संहिता थी। वर्तमान में ये ग्रन्थ अप्राप्य हैं।

आचार्य मल्लवादी के वाक्-कौशल एवं साहित्य साधना द्वारा जैन शासन की महती प्रभावना हुई। उनकी विशेषताओं के वर्णन में ऋषिमंडल का एक प्रसिद्ध श्लोक है :

श्रीनागेन्द्रकुलैकमस्तकमणिः प्रामाणिकग्रामणी-
रासीदप्रतिमल्ल एव भुवने श्री मल्लवादी गुरुः ॥
प्रोद्यत्प्रातिभवैर्भवोद् भवमुदा श्रीशारदासूनवे।
यस्मै तं निजहस्तपुस्तक मदाज्जैत्रं त्रिलोक्या अपि ॥

आचार्य हरिभद्र से मल्लवादी पूर्व थे। आचार्य हरिभद्र कृत अनेकान्त जय-पताका में उनकी सन्मति टीका के कई अवतरण दिए गए हैं।

आचार्य मल्लवादी के जीवन की प्रमुख घटना शिलादित्य की सभा में बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ का सम्बन्ध है। यह शास्त्रार्थ प्रभावक चारित्र के अनुसार वी० नि० ८८४ में हुआ और वल्लभी नगर का ध्वंस वी० नि० ८४५ में हुआ था। प्रस्तुत संवत् के अनुसार मल्लवादी का शास्त्रार्थ वल्लभी भंग के बाद हुआ था।

प्रबन्धकोश में वल्लभी भंग का पूरा प्रसंग प्रस्तुत है। उसके अनुसार रंक वणिक् से वैमनस्य हो जाने के कारण सामर्थ्यसम्पन्न शिलादित्य को भी महान् संकट का सामना करना पड़ा। म्लेच्छ जाति का पूर्ण सहयोग रंग वणिक् को प्राप्त हुआ। इससे सौराष्ट्र में अत्यधिक जन-धन की क्षति हुई।

विक्रमादित्य भूपालात्पञ्चर्षित्रिक (५७३) वत्सरे।
जातोऽयं वल्लभीभङ्गो ज्ञानिनः प्रथमं ययुः ॥६६॥
भग्ना पूर्वलभी तेन सञ्जातमसमञ्जसम्।
शिलादित्यः क्षयं नीतो वणिजा स्फीतऋद्धिना ॥६७॥

प्रबन्धकोश, पृ० २३

सौराष्ट्र की श्रेष्ठ नगरी वल्लभी का वि० सं० ५७३ में घटित रंक वणिक् के प्रस्तुत घटना में भंग हुआ। वल्लभी विनाश के साथ ही महाराज शिलादित्य भी कालधर्म को प्राप्त हुए।

आचार्य मल्लवादी की काल-निर्णायकता में प्रबन्धकोश का यह घटना-प्रसंग प्रबल सहायक है। प्रस्तुत घटनाचक्र में उल्लिखित वि० सं० ५७३ के आधार पर महाराज शिलादित्य के समकालीन आचार्य मल्लवादी वी० नि० ११वीं सदी (१०४३) के विद्वान् सिद्ध होते हैं।

आधार-स्थल

१. जनन्या सह ते सर्वे बुद्ध्वा दीक्षामथादधुः ।
संप्राप्ते हि तरण्डे कः पाथोधिं न विलंघयेत् ।।१२।।

(प्रभा० चरित, पृ० ७७)

२. एष मल्लो महाप्राज्ञस्तेजसा हीरकोपमः ।।१७।।

(प्रभा० चरित, पृ० ७७)

३. विरुदं तत्र 'वादी' ति ददौ भूपो मुनिप्रभोः ।
मल्लवादी ततो जातः सूरिर्भूरि कलानिधिः ।।६१।।

(प्रभा० चरित, पृ० ७९)

४. नयचक्रमहाग्रन्थः शिष्याणां पुरतस्तदा ।
व्याख्यातः परवादीभकुम्भभेदनकेसरी ।।६९।।

(प्रभा० चरित, पृ० ७९)

५. श्रीपद्मचरितं नाम रामायणमुदाहरत् ।
चतुर्विंशतिरेतस्य सहस्रा ग्रन्थमानतः ।।७०।।

(प्रभा० चरित, पृ० ७९)

४. संस्कृत-सरोज-सरोवर आचार्य समन्तभद्र

श्वेताम्बर परम्परा में जो आदरास्पद स्थान आचार्य सिद्धसेन का है वही स्थान दिगम्बर परम्परा में समन्तभद्र स्वामी का है।

आचार्य समन्तभद्र दक्षिण के राजकुमार थे। वे तमिलनाडु उरगपुर नरेश के पुत्र थे। उनका नाम शान्तिवर्मा था। 'आप्तमीमांसा' कृति में उनके जीवन का परिचायक उल्लेख उपलब्ध होता है।[१]

मुनि-जीवन में प्रवेश पाकर समन्तभद्र स्वामी गणियों के भी गणि कहलाए और महान् गौरवार्ह आचार्य श्रमण संघ के बने।

कवित्व, गमकत्व, वादित्व, वाग्मित्व—ये चार गुण उनके व्यक्तित्व के अलंकार थे। अपने इन्हीं विरल गुणों के कारण वे काव्य-लोक के उच्चतम अधिकारी, आगम-मर्मज्ञ, सतत शास्त्रार्थ प्रवृत्त और वाक्पटु बनकर विश्व में चमके। संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, तमिल आदि कई भाषाओं पर उनका अधिकार था। भारतीय विद्या का कोई भी विषय संभवतः उनकी प्रतिभा से अस्पृष्ट नहीं रहा।

वे स्याद्वाद के संजीवक आचार्य थे। उनका जीवन-दर्शन स्याद्वाद का दर्शन था। उनकी अभिव्यक्ति स्याद्वाद की अभिव्यक्ति थी। वे जब भी बोलते, अपने प्रत्येक वचन को स्याद्वाद की तुला से तोलते थे। उनके उत्तरवर्ती विद्वान् आचार्य ने उनको स्याद्वाद विद्यापति, स्याद्वाद शरीर, स्याद्वाद विद्यागुरु तथा स्याद्वाद अग्रमी का सम्बोधन देकर अपना मस्तक झुकाया।

वे वाद-कुशल आचार्य ही नहीं वाद-रसिक आचार्य भी थे। भारत के सुप्रसिद्ध ज्ञान केन्द्रों में पहुंचकर भेरी ताड़नपूर्वक वाद के लिए विद्वानों को उन्होंने आह्वान किया था। पाटलिपुत्र, वाराणसी, मालव, पंजाब, कांचीपुर (कांजीवरम्) उनके प्रमुख वादक्षेत्र थे।[२] उनकी वादप्रीति सम्यक् बोध की हेतु थी।

आचार्य समन्तभद्र का पूरा परिचय उन्हीं के द्वारा रचित एक श्लोक में प्राप्त होता है; वह इस प्रकार है :

> आचार्योहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोहं।
> दैवज्ञोहं भिषगमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोहं॥

राजन्नस्या जलधिवलया मेखलायामिलाया-
माज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोहं ॥३॥

—स्वयम्भू स्तोत्र

स्वामी समन्तभद्र आचार्य, कवि, वादिराट्, पंडित, दैवज्ञ, (ज्योतिषज्ञ), वैद्य, मान्त्रिक, तान्त्रिक और आज्ञासिद्ध थे। सरस्वती की अपार कृपा उन पर थी।

वे मूल प्रवर्तकों में से थे और बौद्धाचार्य नागार्जुन के समकालीन थे। पूरे दक्षिण में उनके शास्त्रार्थों का प्रभाव था। उनका मूल निवासस्थान सम्भवतः कांची था, जो वर्तमान में कांजीवरं कहलाता है। उन्होंने स्वयं अपने को काञ्ची का नग्नाटक कहा है।[1]

आचार्य समन्तभद्र प्रबल कष्टसहिष्णु भी थे। मुनि जीवन में उन्हें एक बार भस्मक नामक व्याधि हो गयी थी। इस व्याधि के कारण वे जो कुछ खाते वह अग्नि में पतित अन्नकण की तरह भस्म हो जाता। भूख असह्य हो गयी। कोई उपचार न देखकर उन्होंने अनशन की सोची। गुरु से आदेश मांगा पर अनशन की स्वीकृति उन्हें न मिल सकी। समन्तभद्र को विवश होकर कांची के शिवालय का आश्रय लेना पड़ा और पुजारी बनकर रहना पड़ा। वहां देव-प्रतिमा को अर्पित लगभग चालीस सेर का चढ़ावा उन्हें खाने को मिल जाता था। कुछ दिनों के बाद मधुर एवं पर्याप्त भोजन से उनकी व्याधि शान्त होने लगी। नैवेद्य बचने लगा। एक दिन यह भेद शिवकोटि के सामने खुला। राजा आश्चर्यचकित रह गया। इसे किसी भयंकर घटना का संकेत समझ शिवालय को राजा की सेना ने घेर लिया। उस समय समन्तभद्र नैवेद्य खाने में व्यस्त थे। जब उन्होंने सेना के द्वारा मन्दिर को घेरे जाने की बात जानी, इस भयंकर उपसर्ग के शान्त न होने तक अनशन कर लिया और जिनेन्द्र देव की स्तुति करने लगे। चन्द्रप्रभ का स्मरण करते समय चन्द्र-बिम्ब प्रकट हुआ। शिवकोटि राजा पर इस घटना का आश्चर्यकारी प्रभाव हुआ और उन्होंने समन्तभद्र का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया।

समन्तभद्र भी पुनः संयम में स्थिर होकर आचार्य पद पर आरूढ़ हुए एवं अपनी प्राञ्जल प्रतिभा से प्रचुर संस्कृत साहित्य का सर्जनकर जैन शासन की महनीय श्रीवृद्धि की। उनकी रचनाएं प्रांजल संस्कृत में हैं।

आप्तमीमांसा

आचार्य समन्तभद्र की यह प्रथम रचना है। इसका दूसरा नाम देवागम स्तोत्र भी है। इस ग्रन्थ का प्रारम्भ देवागम शब्द से हुआ है। आचार्य अंकलंक भट्ट ने इस पर अष्टशती नामक भाष्य लिखा है। आचार्य विद्यानन्द ने अष्ट सहस्री नामक विशाल टीका लिखी है। इस टीका को आप्त मीमांसालंकृति एवं देवागमालंकृति संज्ञा से भी पहचाना गया है।

आचार्य समन्तभद्र पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने आप्त पुरुषों के आप्तत्व को भी तर्क की कसौटी पर परीक्षा कर उसे मान्य किया है। स्याद्वाद-सम्बन्धी विस्तृत विवेचन एवं समर्थन सर्वप्रथम इस ग्रन्थ में प्राप्त होता है।

युक्त्यनुशासन

युक्त्यनुशासन अर्थ-गरिमा से परिपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें आप्त स्तुति के साथ विविध दार्शनिक दृष्टियों का पर्याप्त विवेचन एवं स्व-परमत के गुण-दोषों का निरूपण मार्मिक ढंग से हुआ है। आचार्य विद्यानन्द ने इस पर संस्कृत टीका लिखी है। इस ग्रन्थ की रचना आप्तमीमांसा के बाद हुई है। उस सर्वोदय शब्द का प्रथम प्रयोग[४] आचार्य समन्तभद्र की इस कृति में प्राप्त होता है।

स्वयंभूस्तोत्र

इस ग्रन्थ में चतुर्विंशति तीर्थंकरों की स्तवना युक्तिपूर्ण ढंग से की गयी है। ग्रन्थ का दूसरा नाम 'समन्तभद्र स्तोत्र' भी है। इस ग्रन्थ की भाषा अलंकारपूर्ण है। आराध्य के चरणों में अपने को सर्वतोभावेन समर्पित करके समन्तभद्र स्वामी ने अपनी आस्था को सुश्रद्धा कहा है।[५] यह उल्लेख इसी ग्रन्थ में प्राप्त होता है।

स्तुतिविद्या

जिनस्तुतिशतक स्तुतिविद्या का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति चित्रकाव्य के रूप में प्रस्तुत हुई है। सर्व अलंकार से अलंकृत यह ग्रन्थ भक्तिरस का अनुपम उदाहरण है। चक्र, कमल, मृदंग आदि विभिन्न चित्रों में श्लोक-रचना कर संस्कृत साहित्य में इस ग्रन्थ को आचार्य समन्तभद्र ने महान् उपयोगी बना दिया है।

रत्न-करंड श्रावकाचार

इस ग्रन्थ में श्रावकों की आचार-संहिता तथा रत्नत्रयी (सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चरित्र) का सम्यक् विवेचन है।

आचार्य वादिराज सूरि ने इस ग्रन्थ को अक्षय सुखावह की संज्ञा प्रदान की है। आचार्य प्रभाचन्द ने इस ग्रन्थ पर रत्न-करंड विषमपद व्याख्यान नामक संस्कृत टिप्पण लिखा है। कन्नड़ टीका साहित्य की रचना भी इस ग्रन्थ पर हुई है। श्रावकाचार-सम्बन्धी सामग्री प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थों में यह ग्रन्थ सर्वोत्तम है।

आचार्य समन्तभद्र की कई रचनाएं वर्तमान में अनुपलब्ध हैं। अनुपलब्ध रचनाओं में जीवसिद्धि, तत्वानुशासन, प्रमाण पदार्थ, कषाय प्राभृतिका, गन्धहस्ती महाभाष्य आदि ग्रन्थ हैं।

गन्धहस्ती महाभाष्य विद्वानों के अभिमत से चौरासी सहस्र श्लोक परिमाण महाग्रन्थ है। गन्धहस्ती की गन्ध से सामान्य मतंगज निस्तेज हो जाते हैं। इसी प्रकार गन्धहस्ती महाभाष्य प्रतिपक्ष को पराभूत करने में समर्थ हैं। देवागम स्तोत्र को इस ग्रन्थ का मंगलाचरण रूप में प्रस्तुत हुआ मानते हैं।

आचार्य समन्तभद्र पंडितों के भी पंडित और दार्शनिकों, योगियों, त्यागियों, तपस्वी संघों तथा वाग्मियों के भी अग्रणी थे। अतः उनकी प्रख्याति स्वामी शब्द से भी हुई।

प्रकांड विद्वान् आचार्यों ने भी उनके समर्थ व्यक्तित्व की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।

आचार्य वादिराज सूरि ने यशोधरचरित्र में समन्तभद्र को काव्यमणियों का पर्वत कहा है। आचार्य वादीभसिंह सूरि उन्हें सरस्वती की स्वच्छन्द विहार-भूमि कहकर सम्बोधित करते हैं। जिनसेनाचार्य की दृष्टि में वे महाकवि वेद्या (ब्रह्मा) हैं व आचार्य भट्ट अकलंक की दृष्टि में कलिकाल में स्याद्वाद तीर्थ के प्रभावक हैं।

आचार्य शुभचन्द्र ने कवीन्द्र, भास्वान्, अजित जिनसेनाचार्य ने उन्हें कवि-कुंजर, मुनि वन्ध, और आचार्य हरिभद्र ने वादि मुख्यविशेषण से उन्हें विशेषित किया है।

श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं० १०५ में वादीय वज्रांकुश, सूक्तिजाल, शिलालेख नं० १०८ में जिनशासन प्रणेता लिखा है।

आचार्य वर्धमान, आचार्य सकल कीर्ति आदि विद्वानों ने भी आचार्य समन्त-भद्र की प्रतिभा का लोहा माना है।

आचार्य समन्तभद्र विविध गुणों से मंडित एवं संस्कृत-सरोज-सरोवर थे। वे अपने युग के अनुपम रत्न थे।

आचार्य समन्तभद्र के ग्रन्थों में कुमारिलभट्ट की शैली का अनुकरण है। कुमारिलभट्ट ईसवी सन् ६२५ से ६८० के विद्वान् माने गए हैं। इस आधार पर आचार्य समन्तभद्र का समय वी० नि० की १२वीं सदी (वि० की ७वीं सदी) अनुमानित होता है। कई इतिहासकार आचार्य समन्तभद्र को विक्रम की ५वीं सदी के विद्वान् मानते हैं।

आधार-स्थल

1. इति फणिमंडलालंकारस्योरगपुराधिपसूनोः श्री स्वामि-समन्तभद्रमुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम्।

(आप्तमीमांसा)

२. पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता ।
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे ।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं ।
वादार्थी विचराम्यहं नरपतेः शार्दूलविक्रीडितम् ।

(श्रवणबेलगोल शिलालेख न० ५४)

३. कांच्यां नग्नाटकोहं

(राजवलिकथे)

४. युक्त्यनुशासन श्लोक ।।६१।।

५. सुश्रद्धा मम ते मतेः स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चार्पिते ।
हस्तावञ्जलये कथा-श्रुति-रतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते ।।
सुस्तुत्यां व्यसनं शिरोनतिपरं सेवेदृशीयेन ते ।
तेजस्वी सुजनोहमेव सुकृतिः तेनैव तेजः पते ।।

(स्वयम्भू स्तोत्र ४)

५. दिव्य विभूति देवनन्दी (पूज्यपाद)

आचार्य देवनन्दी अपने युग के उद्भट्ट विद्वान् थे। वे मूल संघान्तर्गत नन्दी संघ के प्रथम आचार्य थे। उनके पिता का नाम माधव भट्ट और माता का नाम श्रीदेवी था। ब्राह्मण कुल में उनका जन्म और जैन संघ में उनकी दीक्षा हुई।

योग, दर्शन, तर्क, व्याकरण आदि सभी विषयों में वे निष्णात थे। देवनन्दी के तीन नाम थे—देवनन्दी, जिनेन्द्रबुद्धि और पूज्यपाद।

श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं० ४० के अनुसार आचार्य जी का असली नाम देवनन्दी था। जिनतुल्य बुद्धि की विशिष्टता के कारण जिनेन्द्र बुद्धि और देवों द्वारा पूजा प्राप्त करने के कारण वे पूज्यपाद कहलाए।[१] उनका देव नाम भी बहुत प्रचलित था। जिनसेन ने आदि पुराण में इसी नाम का उल्लेख किया है।

उन्होंने पूज्यपाद नाम से भी अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त की है। आज भी लोग उन्हें देवनन्दी नाम से अधिक पूज्यपाद नाम से पहचानते हैं।

आचार्य जी का जीवन विविध गुणों का समवाय था। वे महान् तेजस्वी थे। शान्त्याष्टक का एक निष्ठा से जाप करने पर उनकी खोई हुई नयन-ज्योति पुनः लौट आयी।

श्रवणबेलगोल नं० १०८ शिलालेख के आधार पर उन्हें अद्वितीय औषध ऋद्धि प्राप्त थी। एक बार उनके चरण प्रक्षालित जल के छूने मात्र से लोहा भी सोना बन गया। उनके 'विदेहगमन' की बात भी इसी शिलालेख के आधार से सिद्ध होती है।[२]

पूज्यपाद साहित्य-रसिक और महान् शाब्दिक थे। 'जिनेन्द्र व्याकरण' साहित्य-जगत् की प्रतिष्ठाप्राप्त कृति है। इस व्याकरण के कर्त्ता जिनेन्द्रबुद्धि पूज्यपाद ही थे। यह आज अनेक विद्वानों ने विविध प्रमाणों से मान्य किया है। जैन विद्वान् द्वारा लिखा गया यह प्रथम संस्कृत व्याकरण है। इसी व्याकरण के आधार पर आठ महान् शाब्दिकों की गणना में एक स्थान उनका भी है। शब्दावतार भी उनके ज्ञान का श्रेष्ठ खजाना है। वह पाणिनी व्याकरण के ऊपर लिखी गयी टीका है।

की व्याख्या में उन्होंने सर्वार्थसिद्धि का निर्माण किया। सवार्थ-

सिद्धि शब्द ही उनके प्रौढ़ ज्ञान का संकेतक है। यह ग्रन्थ उक्त दोनों ग्रन्थों के बाद की रचना है।

समाधितन्त्र तथा इष्टोपदेश ये दोनों पूर्णतः आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं। इन्हें पढ़ने से लगता है रचनाकार ने पूर्ण स्थितप्रज्ञ जैसी स्थिति में पहुंचकर इन कृतियों की रचना की थी।

सिद्धभक्ति प्रकरण ग्रन्थ भी आचार्य पूज्यपाद का बताया गया है। श्रुतभक्ति, चरित्रभक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति, निर्वाणभक्ति तथा नन्दीश्वरभक्ति आदि कई संस्कृत प्रकरण आचार्य पूज्यपाद के माने गए हैं। वैद्यक शास्त्र आचार्य पूज्यपाद का चिकित्सा-सम्बन्धी ग्रन्थ है।

शिमोगा जिलान्तर्गत 'नगर ताल्लुक' का ४६वां शिलालेख आचार्य पूज्यपाद के चार ग्रन्थों की सूचना देता है।[३] उनमें एक नाम वैद्यक ग्रन्थ का भी है। पं० नाथूराम प्रेमी के अभिमत से यह ग्रन्थ जैनेन्द्र व्याकरण के रचनाकार पूज्यपाद का नहीं है।

आचार्य पूज्यपाद के व्याकरणशास्त्र से आदिपुराण के कर्त्ता आचार्य जिनसेन, पार्श्वनाथचरित्र के रचयिता आचार्य वादिराज, नियमसार टीका के रचयिता पद्मप्रभ, नाममाला के रचयिता धनंजय, जैनेन्द्रप्रक्रिया के रचयिता गुणनन्दी एवं ज्ञानार्णव के रचयिता शुभचन्द्र अत्यधिक प्रभावित थे। यह संकेत इन विद्वानों की रचनाओं से प्राप्त होता है।

आचार्य पूज्यपाद का विहरण क्षेत्र द्रविड़ प्रदेश था। गंग राजधानी तालव-नगर (तलवाड़) की 'प्रधान जैन वसीद' के वे अध्यक्ष थे। यह संस्थान दक्षिण भारत में उस काल का एक महान् विद्यापीठ था।

द्रविड़ संघ की स्थापना वी० नि० ९९६ (वि० ५२६) में हुई थी। इस संघ की स्थापना का श्रेय आचार्य पूज्यपाद के शिष्य प्राभृतवेत्ता महासत्त्व वज्रनन्दी को है।[४]

महाप्रतापी, मुक्तहस्तदानी, धर्म तथा संस्कृति का संरक्षक और जिनेश्वर के चरणों को अपने हृदय में अचलमेरु के समान स्थिर रखने वाला जैन शासक अविनीत कोंगुणी गंगवंश का महान् नरेश था।

उसने अपने महत्त्वाकांक्षी पुत्र युवराज दुर्विनीत कोंगुणी को प्रशिक्षण पाने के लिए पूज्य देवनन्दी के पास ही रखा था। आगे जाकर दुर्विनीत पूज्यपाद का परम भक्त बन गया।

दुर्विनीत कोंगुणी महान् साहित्य-रसिक और लेखक भी था। उसने पूज्यपाद के 'शब्दावतार' का कन्नड़ में सफल अनुवाद किया था।

दुर्विनीत ई० सं० ४८२ से ५२२ तक गंगवंश का शासक रहा है। इस प्रमाण के आधार पर देवनन्दी (पूज्यपाद) वी०नि० १००९ (वि०५३९) में विद्यमान थे।

समाधि तन्त्र की प्रस्तावना में श्रवणबेलगोल शिलालेखों के आधार पर तथा स्वयं पूज्यपाद द्वारा रचित जैनेन्द्र व्याकरण में समागत 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' इस सूत्र (५-४-१६८) का प्रमाण देकर पूज्यपाद देवनन्दी का समय आचार्य समन्तभद्र के बाद प्रमाणित किया है।

आधार-स्थल

१. यो देवनन्दि प्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम् ॥

(श्रवणबेलगोल, शि० नं० ४०-६४)

२. श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्द्धिर्जीयाद्विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः।
यत्पादधौतजलसंस्पर्शप्रभावात् कालायसं किल तदा कनकीचकार ॥

(श्रवणबेलगोल, शि० नं० १०८-२५८)

३. न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो,
न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा।
यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिह तां भात्यसौ पूज्यपाद,
स्वामी भूपालवंद्यः स्वपरहितवचः पूर्णदृग्बोधवृत्तः ॥

(नगर ताल्लुक शि० नं० ४६)

४. सिरि पुज्जपादसीसो दाविडसंघस्य कारगो दुट्ठो।
णमेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्तो ॥२४॥
पंचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिणमहुराजा दो दाविडसंघो महामोहो ॥२८॥

(दर्शन सार)

६. भवाब्धिपोत आचार्य भद्रबाहु—द्वितीय (निर्युक्तिकार)

निमित्त वेत्ता निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु श्रुत केवली भद्रबाहु से पश्चाद्‌वर्ती थे। प्रतिष्ठानपुर के ब्राह्मण कुल में वे पैदा हुए थे। सुप्रसिद्ध ज्योतिषी वराह-मिहिर उनका लघु सहोदर था। गृहस्थ जीवन में दोनों निर्धन एवं निराश्रित थे। संसार से विरक्त होकर एकसाथ उन्होंने दीक्षा ली और ज्योतिषशास्त्र के वे प्रकांड विद्वान बने। वराहमिहिर में प्रतिस्पर्धा का भाव अधिक था। विनय आदि गुणों से सम्पन्न सुशील स्वभावी मुनि भद्रबाहु को सर्वथा योग्य समझकर उन्हें आचार्य पद पर अलंकृत किया गया था। इससे पदाकांक्षी वराहमिहिर का अहं प्रबल हो उठा। मुनिवेश का परित्याग कर वह प्रतिष्ठान पुर में पहुंचा तथा अपने निमित्त ज्ञान से वहां के राजा जितशत्रु को प्रभावित कर उनका अत्यन्त कृपापात्र पुरोहित बना। अपने को प्रख्यात करने के उद्देश्य से उसने विचित्र घोषणाएं कीं और जनता को बताया, "सूर्य के साथ उसके विमान में बैठकर मैंने ज्योतिषचक्र का परिभ्रमण किया है। मेरे बुद्धिबल पर प्रसन्न होकर स्वयं सूर्य ने ज्योतिष विद्या का मुझे बोध दिया तथा ग्रहमंडल एवं नक्षत्रों की गतिविधि से अवगत कराया है। मैं उनके आदेश से ही जनहितार्थ पृथ्वी पर चंक्रमण कर रहा हूं।[१] ज्योतिषशास्त्र की रचना मैंने स्वयं की है।

ज्येष्ठ सहोदर आचार्य भद्रबाहु के व्यक्तित्व को प्रभावहीन करने के लिए उसने अत्यधिक प्रयत्न किए पर सर्वत्र वह असफल रहा। सूर्य-प्रकाश के सामने ग्रह नक्षत्रों का ज्योतिर्मयमंडल श्रीहीन प्रतीत होता है। उसी प्रकार श्रावकों की प्रार्थना पर भद्रबाहु का पदार्पण प्रतिष्ठानपुर में होते ही वराहमिहिर का प्रभाव कम होने लगा था।

ज्योतिष के आधार पर वराहमिहिर द्वारा की गयी भविष्यवाणियां निष्फल गयीं। अपने नवजात पुत्र के सम्बन्ध में शतायु होने की उनकी घोषणा असिद्ध हुई।

लक्षणविद्या, स्वप्नविद्या, मंत्रविद्या एवं ज्योतिषविद्या के प्रयोग का गृहस्थ के सम्मुख संभाषण करना साधु के लिए वर्जित है।[२] फिर भी जैन धर्म की प्रभावना को प्रमुख मानकर आर्य भद्रबाहु ने निमित्त ज्ञान से लघु सहोदर के नवजात शिशु का आयुष्य सात दिन का घोषित किया था तथा बिल्ली के योग से

उसकी मौत बतायी थी ।[3]

वराहमिहिर के द्वारा शतशः प्रयत्न होने पर भी सात दिन से अधिक बालक बच न सका। उसकी मौत का निमित्त अर्गला थी, जिस पर बिल्ली का आकार था। भद्रबाहु का निमित्त ज्ञान सत्य के निकष पर सत्य प्रमाणित हुआ। जन-जन के मुख पर उनका नाम प्रसारित होने लगा। वराहमिहिर के घर पहुंचकर लघु भ्राता के शोक-संतप्त परिवार को भद्रबाहु ने सांत्वना प्रदान की थी। आचार्य भद्रबाहु की ज्योतिष विद्या से प्रभावित होकर वहां के राजा जितशत्रु ने उनसे श्रावक धर्म स्वीकार किया था।[4]

प्राज्ञ अग्रणी आचार्य भद्रबाहु समर्थ साहित्यकार थे। व्यंतरदेव के उपद्रव से क्षुब्ध जनमानस को शान्ति प्रदान करने के लिए उन्होंने 'उवसग्गहरं पासं' इस पंक्ति से प्रारम्भ होने वाला विघ्नविनाशक मंगलमय स्तोत्र बनाया था। यह स्तोत्र अत्यधिक चमत्कारिक सिद्ध हुआ। आज भी लोग संकट की घड़ियों में हार्दिक निष्ठा से इस स्तोत्र का स्मरण करते हैं।

ग्रन्थकारों के अभिमत से यह व्यंतरदेव वराहमिहिर था। तपकवचधारी मुनियों के सामने उसका कोई बल काम न कर सका। अतः वह पूर्व वैर से रुष्ट होकर श्रावक समाज को त्रास दे रहा था। भद्रबाहु से संघ ने विनती की "आप जैसे तपस्वी आचार्य के होते हुए भी हम कष्ट पा रहे हैं।"

'कुञ्जरस्कन्धाधिरूढोपि भषणैर्भक्ष्यते'—गजारूढ़ व्यक्ति भी कुत्तों से काटा जा रहा है। श्रावक समाज की इस दर्द-भरी प्रार्थना पर आचार्य भद्रबाहु का ध्यान केन्द्रित हुआ। उन्होंने इस प्रसंग पर पंच श्लोकात्मक महाप्रभावी उक्त स्तोत्र का पूर्वों से उद्धार किया था।[5]

'भद्रबाहु संहिता' नामक ज्योतिष ग्रन्थ की रचना भी निर्युक्तिकार भद्रबाहु की बताई गयी है। अर्हत् चूड़ामणि नामक प्राकृत ग्रन्थ के निर्माण का श्रेय भी उन्हें है। निर्युक्ति साहित्य का सर्जन कर आचार्य भद्रबाहु ने विपुल ख्याति अर्जित की है।

निर्युक्तियां आर्या छन्द में निर्मित पद्यमयी प्राकृत रचनाएं हैं। आगम के व्याख्या ग्रन्थों में उनका सर्वोच्च स्थान है। काल की दृष्टि से भी वे प्राचीन हैं। उनकी शैली गूढ़ और सांकेतिक है। आगमों की पारिभाषिक शब्दों की सुस्पष्ट व्याख्या करना उनका मुख्य अभिप्रेत है। किसी भी विषय का पर्याप्त विवेचन प्रस्तुत करती हुई भी ये निर्युक्तियां अपने-आपमें परिपूर्ण हैं। स्वाभिप्रेत की अभिव्यक्ति में सफल हैं। विषय सामग्री की दृष्टि से सम्पन्न हैं एवं मधुर सूक्तियों के प्रयोग से सरस भी। भारत की सुप्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति के दर्शन इनमें किए जा सकते हैं। विभिन्न घटनाओं, दृष्टान्तों, कथानकों के संकेतों एवं उपयोगी सूचनाओं से गर्भित निर्युक्ति-साहित्य अत्यधिक मूल्यवान् है।

आचार्य भद्रबाहु ने दश निर्युक्तियों की रचना की थी।[६] उनमें अधिकांश निर्युक्तियां आगम साहित्य पर हैं। आवश्यक निर्युक्ति उनकी सबसे प्रथम रचना है। आवश्यक सूत्र में निर्दिष्ट छह आवश्यक का विस्तृत विवेचन इस निर्युक्ति में हुआ है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ का जीवनचरित्र, गणधरवाद, आर्यवज्र स्वामी, आर्य रक्षित आदि अनेक ऐतिहासिक प्रसंगों को प्रस्तुत करती हुई यह निर्युक्ति अति महत्त्वपूर्ण है।

आचारांग निर्युक्ति की ३५६ एवं सूत्रकृतांग निर्युक्ति की २०५ गाथाएं हैं। वृहत्कल्प तथा व्यवहार सूत्र की निर्युक्ति अपने भाष्यों के साथ सम्मिश्रित हो गयी है। निशीथ निर्युक्ति आचारांग निर्युक्ति के साथ समाहित है। दशाश्रुत-स्कंध निर्युक्ति लघुकाय है। इस निर्युक्ति में श्रुत केवली छेदसूत्रकार आचार्य भद्रबाहु को निर्युक्तिकार भद्रबाहु के द्वारा नमस्कार किया गया है।[७] प्रस्तुत सूत्र के उक्त उल्लेख के आधार पर दोनों भद्रबाहु की स्पष्ट भिन्नता सिद्ध होती है। उत्तराध्ययन निर्युक्ति की ३५९ गाथाएं हैं एवं शान्त्याचार्य ने इस पर विशाल टीका लिखी है। दशवैकालिक निर्युक्ति में ३७१ गाथाएं हैं तथा सूत्रार्थ के स्पष्टी-करण में लौकिक-धार्मिक कथाओं का उपयोग किया गया है।

आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेगिनी, निर्वेदनी इन चारों कथाओं का निर्देश निर्युक्ति में मिलता है।

सूर्यप्रज्ञप्ति पर भी आचार्य भद्रबाहु ने निर्युक्ति की थी, पर वह बहुत पहले ही नष्ट हो चुकी थी। ऋषि-भाषित निर्युक्ति स्वतंत्र रचना है।

निर्युक्ति साहित्य में पिंड निर्युक्ति एवं ओघ निर्युक्ति का विशेष स्थान है। साधुचर्या के नियमोपनियमों का विशेष रूप से प्रतिपादन होने के कारण इन्हें स्वतंत्र रूप से आगम साहित्य में परिगणित कर लिया गया है। इन दोनों निर्युक्तियों के अतिरिक्त उपर्युक्त शेष समग्र निर्युक्तियों के रचनाकार आचार्य भद्रबाहु थे। आगम के पारिभाषिक शब्दों की सुसंगत व्याख्या प्रस्तुत कर साहित्य के क्षेत्र में नवीन विधा का द्वार उन्होंने उद्‌घाटित किया। इस दृष्टि से निर्युक्ति-कार आचार्य भद्रबाहु को जैन परम्परा में मौलिक स्थान प्राप्त है।

मुनि श्री नथमल जी (वर्तमान में युवाचार्य श्री महाप्राज्ञ) द्वारा निर्मित 'जैन परम्परा का इतिहास' में निर्युक्ति काल विक्रम की पांचवीं-छठी सदी माना है। आचार्य भद्रबाहु के लघु सहोदर वराहमिहिर द्वारा 'रचित पंचसिद्धांतिका' नामक ग्रन्थ रचना का समय वी० नि० १०३२ श० सं० ४२७ विक्रम संवत् ५६२ निर्णीत है।[८] उपर्युक्त दोनों प्रमाणों के आधार पर निर्युक्तिकार भद्रबाहु का समय वीर निर्वाण की दसवीं, ग्यारहवीं सदी सिद्ध होता है।

मुक्ति मंजिल तक पहुंचने के लिए आचार्य भद्रबाहु भवाब्धि में विशाल पोत के समान हैं।

आधार-स्थल

१. सूर्यमापृच्छ्य ज्ञानेन च जगदुपकर्तुं महीलोकं भ्रमन्नसि ।।

(प्रबन्धकोश, भद्रबाहु वराह प्रबन्ध, पृ० ३, पंक्ति ५)

२. (क) नक्खत्तं सुमिणं जोगं, निमित्तं मंत भेसजं ।
गिहिणो तं न आइक्खे, भूयाहिगरणं पयं ।।५०।।

(दशवै ८/५०)

(ख) छिन्नं सरं भोमं अतलिक्खं, सुमिणं लक्खणदण्डवत्थुविज्जं ।
अंगवियारं सरस्स विजयं जो विज्जाहिं न जीवइ सभिक्खु ।।७।।

(उत्तरा १५/७)

३. अयं बालः सप्तमे दिवसे नशीथे विडालिकया यातिष्यते ।

(प्रबन्धकोश, भद्रबाहु वराह प्रब०, पृ० ३, पंक्ति २१)

४. राजा श्रावकधर्मं प्रतिवेदे ।

(प्रबन्धकोश, भद्रबाहु वराह प्रबन्ध, पृ० ४ पंक्ति १७)

५. ततः पूर्वेभ्य ऊद्धृत्य 'उवसग्गहरं पासं' इत्यादि स्तवनं गाथा पञ्चकमयं सन्दद्रभे गुरुभिः ।

(प्र०को०, भद्रबाहु वराह प्रब०, पृ० ४, पंक्ति १८)

६. आवस्सगस्स दसवैकालिअस्स तह उत्तरज्झायारे ।
सूअगडे निज्जुत्ति वोच्छामि तहा दसाणं च ।
कप्पस्स य निज्जुत्ति ववहारस्सेव परमनिउणस्स ।
सूरि अपन्नत्तीए वुच्छं इसीभासिआणं च ।।

(आवश्यक निर्युक्ति)

७. वंदामि भद्दबाहुं, पाईणं चरिमसगलसुयनाणिं ।
सुत्तस्स कारगमिसिं, दसासु कप्पे य ववहारे ।।१।।

(दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति)

८. (क) बृहत्कल्प सूत्र सभाष्य (षष्ठो विभागः)

(प्रस्तावना पत्रांक १७)

(ख) सप्ताश्विवेदसंख्यं, शककालमपास्य चैत्रशुक्लादौ ।
अर्द्धास्तमिते भानौ, यवनपुरे सौम्यदिवसाद्ये ।।८।।

(पंच सिद्धान्तिका)

७. परमागमपारीण आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण

आगमप्रधान आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण निवृति कुल के थे। वे ज्ञान-सिन्धु, वाग्मीश्रेष्ठ एवं गूढ़ आगमवाणी के विवेचक थे। उनके युक्ति-संदोह का सहारा पाकर आगम-व्याख्याएं विद्वद्भोग्य बन पायी। उन्हें बौद्धिक आधार मिला।

आगम के व्याख्या ग्रन्थों में निर्युक्ति के बाद भाष्य का क्रम आता है। निर्युक्तियों की भांति भाष्य पद्यबद्ध प्राकृत में हैं। निर्युक्तियां सांकेतिक भाषा में निबद्ध हैं। पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करना उनका मुख्य प्रयोजन है। निर्युक्ति की अपेक्षा भाष्य अर्थ को अधिक स्पष्टता से प्रस्तुत करते हैं। बहुत बार आगमों के गूढ़ार्थ को समझने के लिए निर्युक्ति का एवं निर्युक्ति को समझने के लिए भाष्य का सहारा ढूंढना पड़ता है। निर्युक्ति के पारिभाषिक शब्दों में गुंफित अर्थ बाहुल्य के प्रकाशनार्थ भाष्यों की रचना हुई। पर वे भी कहीं-कहीं संक्षिप्त होकर निर्युक्ति के साथ एक हो गए हैं। अनेक स्थलों पर इन दोनों का पृथक् करना असंभव-सा लगता है।

भाष्यों की रचना निर्युक्तियों पर हुई हैं। कुछ भाष्यों का आधार मूल सूत्र भी है। निम्नोक्त आगम ग्रन्थों पर भाष्य लिखे गए हैं—(१) आवश्यक, (२) दशवैकालिक, (३) उत्तराध्ययन, (४) बृहत्कल्प, (५) पंचकल्प, (६) व्यवहार, (७) निशीथ, (८) जीतकल्प, (९) ओघ निर्युक्ति, (१०) पिंड निर्युक्ति।

वर्तमान में उपलब्ध भाष्य साहित्य के आधार पर दो भाष्यकारों के नाम उपलब्ध होते हैं। संघदासगणी एवं जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण।

संघदासगणी आचार्य हरिभद्र के समकालीन थे, सौ अध्यायों में विभक्त, २८ सहस्र श्लोक परिमाण कृति 'वसुदेव हिण्डी' के रचयिता संघदासगणी से वे भिन्न थे। भाष्यकार संघदासगणी ने निशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार इन तीनों सूत्रों पर विस्तृत भाष्य लिखे हैं। प्राचीन अनुश्रुतियां, लौकिक कथाएं और निग्रन्थों का परम्परागत आचार-विचार, विधियों का वर्णन एवं आपात्कालीन स्थिति में अनेकविध अपवाद-मार्ग की सूचनाएं भी इनमें पर्याप्त रूप से प्राप्त हैं।

उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, पिंड निर्युक्ति, ओघ निर्युक्ति पर भी भाष्य प्राप्त हैं। ये भाष्य अज्ञात कर्तृक हैं एवं परिणाम में बहुत छोटे हैं। ओघ निर्युक्ति भाष्य

की ३२२ गाथा, दशवैकालिक भाष्य की ६३ गाथा, पिंड निर्युक्ति की ४६ गाथा एवं उत्तराध्ययन भाष्य की मात्र ४५ गाथा हैं। इन लघुकाय भाष्यों को कंठाग्र भी किया जा सकता है।

आचार्य जिनभद्रगणी ने दो भाष्य लिखे हैं—जीतकल्प भाष्य एवं विशेषावश्यक भाष्य।

जीतकल्प भाष्य में ज्ञानपंचक, प्रायश्चित्त आदि कई आवश्यक विषयों का वर्णन है।

आवश्यक सूत्र पर तीन भाष्य हैं। उनमें विशेषावश्यक भाष्य—आवश्यक सूत्र के प्रथम अध्ययन सामायिक सूत्र पर है। इसमें ३६०३ गाथाएं हैं। विशालकाय भाष्य साहित्य में आचार्य जिनभद्रगणी के विशेषावश्यक भाष्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है। यह जैन आगमों के बहुविध विषयों का प्रतिनिधि है।

नय, निक्षेप, प्रमाण, स्याद्वाद आदि दार्शनिक विषयों पर गूढ़ परिचर्चा, कर्मशास्त्र का सूक्ष्म प्रतिपादन, ज्ञान पंचक की भेद-प्रभेदों के साथ व्याख्या, शब्दशास्त्र का विस्तार से विवेचन तथा औदारिक आदि सात प्रकार की वर्गणाओं के सम्बन्ध में नए तथ्य इस ग्रन्थ से पढ़े जा सकते हैं। जैन दर्शन के साथ दर्शनेतर सिद्धान्तों का तुलनात्मक रूप भी इस कृति में प्रस्तुत है। शोधविद्यार्थियों के लिए यह कृति विशेष सहायक है।

आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमणआगम वाणी पर पूर्णतः समर्पित थे। उनकी समग्र रचनाएं तथा रचना की प्रत्येक पंक्ति आगम आम्नाय की परिपोषक थी। उन्होंने दर्शन पर आगम को नहीं, पर आगम के आधार पर दर्शन को प्रतिष्ठित किया।

उनकी चिन्तन विधा अत्यन्त मौलिक थी। उन्होंने प्रत्येक प्रमेय के साथ अनेकान्त और नय को घटित किया। परोक्ष की परिधि में परिगणित इन्द्रिय प्रत्यक्ष को संव्यवहार प्रत्यक्ष संज्ञा देने की पहल भी उन्होंने की। ये समग्र बिन्दु भाष्य साहित्य में अधिकांशतः उपलब्ध हैं।

वृहत् संग्रहणी, वृहत् क्षेत्र समास, विशेषणवती आदि कुल ९ ग्रन्थों की रचना आचार्य जिनभद्रगणी ने की थी। उनके सात ग्रन्थ पद्य प्राकृत में है। अनुयोग चूर्णि गद्य प्राकृत में है।

वृहत् संग्रहणी में चार गतिक जीवों की स्थिति आदि का वर्णन है। वृहत् क्षेत्र समास जैन सम्मत भौगोलिक ग्रंथ है। द्वीपों और समुद्रों का विवेचन इसमें हुआ है। इन दोनों ग्रंथों पर आचार्य मलयगिरि ने टीकाएं लिखीं। वृहत् संग्रहणी के टीकाकार आचार्य मलयगिरि के अतिरिक्त शालिभद्र जिनवल्लभ आदि कई विद्वान् थे।

अनुयोग चूर्णि का जिनदास महत्तर एवं टीकाकार हरिभद्र सूरि ने अपनी कृतियों में पूरा उपयोग किया है।

आचार्य जिनभद्रगणी के गम्भीर चिन्तन का विशेष अनुदान उनके भाष्य साहित्य में है। अतः उत्तरवर्ती आचार्यों ने भाष्य-अम्बुधि, भाष्य-पीयूष-पाथोधि, भगवान् भाष्यकार आदि सम्बोधन देकर विशिष्ट भाष्यकार के रूप में उनका स्मरण किया है।

आगम के विशिष्ट व्याख्याकार आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण की अंतिम कृति—विशेष आवश्यक भाष्य की स्वोपज्ञ रचना है। पर उसे वे पूर्ण नहीं कर पाए थे। षष्ठ गणधर वाद तक उन्होंने लिखा। उसके बाद उनका स्वर्गवास हो गया था। वृत्ति के अवशिष्ट भाग को कोट्याचार्य ने १३७०० श्लोक परिमाण में पूर्ण किया था।

आचारनिष्ठ, गुणनिधान, आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का स्वर्गवास विविध शोधों के आधार पर वी० नि० ११२० (वि० सं० ६५०) के आसपास प्रमाणित हुआ है।

८. पुण्यश्लोक आचार्य पात्रस्वामी

पात्रस्वामी न्यायविद्या के दिग्गज विद्वान् थे। प्रभावक आचार्यों की शृंखला में न्याय विषय को उजागर करने वाले स्वामी नाम से प्रख्याति प्राप्त दो आचार्य हैं—समन्तभद्र स्वामी और केशरी पात्रस्वामी। पात्रस्वामी का दूसरा नाम पात्र-केशरी भी है।

तीक्ष्ण तार्किक दिङ्नाग के 'त्रिलक्षण हेतु' नामक ग्रन्थ के प्रतिवाद में पात्र-स्वामी ने 'त्रिलक्षण कदर्थन' ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ स्वामी जी के स्वतंत्र चिन्तन की उपज थी। लक्षण विज्ञापक ग्रन्थों में यह ग्रन्थ मौलिक सिद्ध हुआ। आज यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है पर इसके उद्धरण विविध ग्रन्थों में पाए जाते हैं।

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।

त्रिलक्षण हेतु का प्रतिवाद करने वाली यह कारिका आचार्य पात्रस्वामी की बताई गयी है। आचार्य अकलंक देव ने न्याय विनिश्चय में, आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक में इस कारिका का प्रयोग किया है। बौद्ध विद्वान् शान्ति-रक्षित ने भी अपने तत्त्वार्थ संग्रह में पात्रस्वामी की कारिकाओं को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है।

पात्रस्वामी की एक अन्य रचना 'पात्रकेशरी स्तोत्र' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके मात्र पचास पद्य हैं। हर पद्य की गहराई पाठक के मानस को छू जाती है। इस कृति का द्वितीय नाम 'वृहत् पंच नमस्कार स्तोत्र' भी है।

कुछ वर्षों पू ' विद्यानन्द का ही दूसरा नाम पात्रस्वामी या पात्रकेशरी समझा जाता रहा पर वर्तमान में इतिहास-गवेषक पंडित जुगल किशोर जी मुख्तार ने इन दोनों की भिन्नता को विविध युक्तियों से प्रमाणित कर दिया है।

आचार्य अकलंक के ग्रन्थों में पात्रस्वामी की कारिका का प्रयोग होने से वे इनसे पूर्ववर्ती विद्वान् सिद्ध होते हैं। आचार्य अकलंक भट्ट वि० की छठी शताब्दी के विद्वान् माने गये हैं। इनसे पूर्ववर्ती होने के कारण और विद्वान दिङ्नाग (ई० सं० ३४५-४२५) के उत्तरवर्ती होने के कारण पात्रस्वामी विक्रम की छठी-सातवीं शताब्दी के विद्वान् प्रमाणित हुए हैं।

६. मुक्ति-मन्दिर आचार्य मानतुंग

आचार्य मानतुंग वाराणसी के थे। वे विद्वान् श्रेष्ठी धनदेव के पुत्र थे। उनकी माता का नाम धनश्री था। उन्होंने दिगम्बर परम्परा में दीक्षा ग्रहण की। भगिनी से उद्‌बोध प्राप्त कर आचार्य अजितसिंह के पास वे श्वेताम्बर मुनि बने। दिगम्बर मुनि-अवस्था में उनका नाम चारुकीर्ति था। उनका दूसरा नाम महाकीर्ति भी था। श्वेताम्बर श्रमण बनने के बाद सम्प्रदाय-परिवर्तन के साथ उनका नाम भी परिवर्तित हुआ। वे मानतुंग के नाम से सम्बोधित होने लगे।

आचार्य मानतुंग के समय वाराणसी में निष्कलंक राजा हर्षदेव का शासन था।[१] हर्षदेव कविजनों का विशेष आदर करते थे। बाण और मयूर नाम के कवि उनकी सभा में अतिशय सम्मान को प्राप्त हुए। मयूर ने सूर्यशतक के द्वारा सूर्य की उपासना कर अपने कुष्ठ रोग को शान्त कर लिया था। चंडीशतक के द्वारा चंडीदेवी को प्रसन्न करने से बाण कवि के विच्छिन्न हाथ-पैर यथोचित स्थान पर जुड़ गये थे। हर्षदेव इन दोनों विद्वानों के मंत्रप्रयोगों से प्रभावित हुए और बोले—"आज चामत्कारिक विद्याओं का धनी ब्राह्मण वर्ग है। इनका अतिशय प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। किसी दर्शन में इन जैसा प्रभावक व्यक्ति हो तो मुझे सूचित करें।"

राजा हर्षदेव का मंत्री जैन था। उसने राजा से नम्र निवेदन किया—"भूमिनाथ! यह धरा वसुन्धरा है। इसके महासाम्राज्य में बहुमूल्य रत्नों के भंडार भरे हैं। जैनों का भी चामत्कारिक विद्याओं पर अतिशय आधिपत्य है। जैन विद्वान् महाप्रभाव-सम्पन्न श्वेताम्बराचार्य मानतुंग आपकी नगरी में विराजमान हैं। आपकी कौतुक-मयी जिज्ञासा को पूर्ण करने में वे समर्थ हैं। आप उनको सादर आमंत्रित करें।"[२] राजा ने मंत्री को उन्हें सम्मानपूर्वक बुला लाने का निर्देश दिया। मंत्री ने आचार्य मानतुंग के पास जाकर समग्र स्थिति से उन्हें अवगत किया और कहा—"कृपा कर आप अपने चरणों से राजप्रांगण को पवित्र करें और चामत्कारिक विद्या के प्रयोग का प्रदर्शन करें।" आचार्य मानतुंग बोले—"समग्र सांसारिक कामनाओं से मुक्त मुनिजनों को इस प्रदर्शन से कोई प्रयोजन नहीं है।" मंत्री ने प्रार्थना की—"मैं जानता हूं आप निस्संग और निरासक्त हैं, पर यहां जैन धर्म की प्रभावना का प्रश्न

प्रमुख है।" मंत्री की युक्तिसंगत विनती को स्वीकार कर मानतुंग राजसभा में पहुंचे और सबको धर्मलाभ देकर उचित स्थान पर बैठ गए। राजा हर्षदेव ने सम्मुखासीन आचार्य मानतुंग से कहा—"संतश्रेष्ठ ! सूर्य की आराधना से रोगोपशान्ति करने वाले और चंडी की आराधना से विच्छिन्न अंगों को पुनः प्राप्त करने वाले ये अतिशय-प्रभावी ब्राह्मण विद्वान् आपके सामने हैं, अब आप भी अपनी मंत्रविद्या का प्रभाव प्रदर्शित करें।"

आचार्य मानतुंग बोले—"भौतिक उपलब्धियों की प्राप्ति से निस्पृह मुनिजनों को लोकरंजन से अर्थ ही क्या है? उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति का उद्देश्य मोक्षार्थ की सिद्धि है।"

आचार्य मानतुंग की बात सुनकर राजा हर्षदेव गम्भीर हो गए। उनके आदेश से राजसेवकों ने लौहशृंखला के ४४ निगड़ बन्ध से आपादमस्तक मानतुंग को बांधकर घोर तिमिराच्छन्न अन्तर्गृह में बंद कर दिया।[३]

आचार्य मानतुंग चामत्कारिक विद्याओं का प्रदर्शन करना नहीं चाहते थे। जैन धर्म की दृष्टि से विद्याओं का प्रदर्शन अविहित भी माना गया है। पर जैन शासन की प्रभावना का प्रश्न प्रमुख बन गया था। आचार्य मानतुंग जिनस्तुति में लीन हो गए। भक्तिरस से परिपूर्ण ४४ श्लोक रचे। प्रति श्लोक के साथ अयोमयी शृंखला की सघन कड़ियां और ताले टूटते गए।[४] इस स्तोत्र का प्रारम्भ भक्तामर शब्द से हुआ अतः इसकी प्रसिद्धि भक्तामरनाम से है। मंदिरमार्गी परम्परा में इस स्तोत्र के ४८ पद्य हैं।

आचार्य मानतुंग द्वारा रचित प्रस्तुत भक्तामर स्तोत्र का प्रभाव देखकर राजा हर्षदेव अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा—"मैं धन्य हूं, मेरा देश धन्य है और मेरा आज का दिवस धन्य है। आप जैसे त्यागी संत पुरुषों के दर्शन का शुभलाभ मुझे प्राप्त हुआ है!" आचार्य मानतुंग के पावन उपदेश से जैन शासन की उन्नति के लिए भी अनेक कार्य किये और स्वयं ने भी जैन धर्म स्वीकार किया।[५]

आचार्य मानतुंग के सर्वोपद्रव निर्नाशि भक्तामर महास्तोत्र का प्रभाव अब भी जैन समाज पर छाया हुआ है।[६] सहस्रों व्यक्ति उसे कंठस्थ करते हैं और स्वाध्याय करते हैं। अनेक टीकाओं का निर्माण भी इस स्तोत्र पर हुआ जो आज भी उपलब्ध है। प्रातः-सायं शुभाशय से इस स्तोत्र का पाठ करने पर उपसर्ग दूर होते हैं।[७]

अठाहर मंत्राक्षर का भयहर स्तोत्र भी आचार्य मानतुंग का ही है। यह स्तोत्र चामत्कारिक और विपत्ति के क्षणों में धैर्य प्रदान करने वाला है।[८]

जिनशासन में मानतुंग धर्म के महान् उद्योतक आचार्य हुए। उन्होंने अपने शिष्यों को अनेक प्रकार से बोध देकर योग्य बनाया। गुणाकर नामक शिष्य को अपने पद पर स्थापित कर वे इंगिनी अनशन के साथ स्वर्ग को प्राप्त हुए।[९]

हर्षदेव का राज्याभिषेक वि० सं० ६६४ में माना गया है। अतः आचार्य मानतुंग

का समय वीर निर्वाण ११३४ मानने में किसी बाधा की संभावना नहीं है।

'प्रबन्ध चिन्तामणि' के उल्लेखानुसार आचार्य मानतुंग भोज और भीम के समकालीन थे।

आधार-स्थल

१. तत्र श्री हर्षदेवाख्यो राजा न तु कलंकभृत् ।।५।।

(प्रभा० चरित, पृ० ११२)

२. मन्त्रिणोक्तम्—जिनशासनेऽपि महाप्रभावोऽस्ति । यदि कौतुकं ततः श्री मानतुंगाख्यं सूरिमाकार्य विलोकय ।

(पुरातन प्रबन्ध-संग्रह, पृ० १६)

३. ततो राज्ञा तमपि आपादमस्तकं चतुश्चत्वारिंशल्लोहशृंखलाभिर्नियंत्र्यापवरके क्षिप्त्वा तालकं दत्वा मोचिताः ।

(पुरा० प्रबन्ध-संग्रह, पृ० १६)

४. ततो भक्तामरस्तवः कृतः । एकैकवृत्तपाठे एकैक निगडभंगे निगड संख्यया-वृत्तभणनम् । सूरयो मुत्कला जाताः । तालकं भग्नम् ।

(पुरा० प्रबन्ध-संग्रह, पृ० १६)

५. राज्ञाऽनेक स्तुतिः कृत्वा सविनयं नत्वा कृत्यादेशेन प्रसीदत । सूरिणोक्तम्—अस्माकं कापीच्छा नहि । परं तव हिताय ब्रूमः जिनधर्मं प्रपद्यस्व । राजोऽगीचकार ।

(पुरा० प्रबन्ध-संग्रह, पृ० १६)

६. सर्वोपद्रवनिर्नाशी भक्तामर महास्तवः ।
तदा तैर्विहितः ख्यातो वर्तत्तेद्यापि भूतले ।।१५७।।

(प्रभा० चरित, पृ० ११७)

७. सांय प्रातः पठेदेतत् स्तवनं यः शुभाशयः ।
उपसर्गा व्रजन्त्यस्य विविधा अपि दूरतः ।।१६४।।

(प्रभा० चरित, पृ० ११७)

८. सूरय सर्वोपद्रवहरं तन्मन्त्रगर्भितं भयहरस्तवं कृत्वा पुनर्नवतां प्राप्ताः ।

(पुरा० प्रबन्ध-संग्रह, पृ० १६)

९. इत्थं प्रभावनां कृत्वाऽन्तसमयं प्राप्य श्री गुणाकर सूरिं न्यस्य पदेऽनशनमरणेन सूरयो दिवं ययुः ।

(पुरा० प्रबन्ध-संग्रह, पृ० १६)

१०. कोविद-कुलालंकार आचार्य अकलंक

आचार्य अकलंक दक्षिण भारत के प्रभावशाली विद्वान् थे। वे आचार्य हरिभद्र के समकालीन थे। उनका जन्म कर्नाटक प्रान्त में हुआ। राष्ट्रकूट राजा शुभतुंग के मंत्री पुरुषोत्तम उनके पिता थे। निष्कलंक उनके भ्राता थे। उनकी माता का नाम जिनमति था। बालवय में ही ब्रह्मचारी-जीवन जीने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हो चुके थे। अध्ययन के प्रति उनकी गहरी रुचि थी। दोनों भाइयों ने गुप्त रूप से बौद्ध मठ में तर्कशास्त्र का गम्भीर अध्ययन प्रारम्भ किया। एक दिन यह भेद खुल गया। अकलंक पलायन करने में सफल हो गया और निष्कलंक वहीं मार दिया गया। आचार्य अकलंक के जीवन का यह प्रसंग आचार्य हरिभद्र के शिष्य हंस परमहंस के घटनाचक्र से मिलता-जुलता है।

आचार्य अकलंक की श्रमण दीक्षा आचार्य पद की प्राप्ति के समय का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं हो सका है।

जैनाचार्यों की परम्परा में अकलंक प्रौढ़ दार्शनिक विद्वान् थे और जैन न्याय के प्रमुख व्यवस्थापक थे। उनके द्वारा निर्धारित प्रमाणशास्त्र की रूपरेखा उत्तरवर्ती जैनाचार्यों के लिए मार्गदर्शक बनी है। अमरकोश का यह प्रसिद्ध श्लोक है :

प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
द्विसन्धानकवे: काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ॥

अकलंक की प्रमाण-व्यवस्था, पूज्यपाद का लक्षण और धनञ्जय का द्विसन्धान काव्य—ये अपश्चिम रत्नत्रयी हैं।

जैन तर्कशास्त्र का परिमार्जित एवं परिष्कृत रूप आचार्य अकलंक के ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

आचार्य अकलंक वाद-कुशल भी थे। वह युग शास्त्रार्थ प्रधान था। एक ओर नालन्दा विश्वविद्यालय के बौद्धाचार्य धर्मपाल के शिष्य धर्मकीर्ति थे, जिन्होंने तर्कशास्त्र के पिता दिङ्नाग के दर्शन को शास्त्रार्थों के बल पर चमका दिया था, दूसरी ओर प्रभाकर, मंडन मिश्र, शंकराचार्य, भट्टजयंत और वाचस्पति मिश्र की चर्चा-परिचर्चाओं से धर्मप्रधान भारत भूमि का वातावरण आन्दोलित था। आचार्य अकलंक भी इनसे पीछे नहीं रहे। उन्होंने अनेक विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ

किए। मुख्यतः अकलंक बौद्धों के प्रतिद्वन्द्वी थे। आचार्य पदारोहण के बाद कलिंग नरेश हिमशीतल की सभा में बौद्ध विद्वानों के साथ उनका छह महीने तक शास्त्रार्थ हुआ।

आचार्य अकलंक की शास्त्रार्थ विषय के साथ एक रोचक घटना-प्रसंग भी है। कहा जाता है बौद्धभिक्षु घट में तारा देवी की स्थापना करके शास्त्रार्थ करते थे। इससे वे दुर्जय बने हुए थे। आचार्य अकलंक को यह रहस्य ज्ञात हो गया था। अतः उन्होंने शासन देवता की आराधना की। घट फूट गया। आचार्य अकलंक की विजय हुई। आचार्य अकलंक की विजय का वास्तविक रहस्य उनकी वाद-प्रतिभा थी।

जैन समाज में आचार्य अकलंक की साहित्यनिधि को मौलिक स्थान प्राप्त है।

उन्होंने कई ग्रन्थों का निर्माण किया। आचार्य समन्तभद्र की आप्तमीमांसा पर उन्होंने अष्टशती टीका लिखी। यह उनकी सबसे प्राचीन टीका मानी गयी है। अनेकान्त के सजीव दर्शन इस टीका में होते हैं।

तत्त्वार्थ सूत्र पर उन्होंने राजवार्तिक टीका लिखी। यह टीका १६००० श्लोक परिमाण है। सर्वार्थसिद्धि के बाद व्याख्या ग्रन्थों में यह टीका अत्युत्तम मानी गयी है।

सिद्धि विनिश्चय, न्याय विनिश्चय, प्रमाण-संग्रह—ये तीनों ग्रन्थ उनकी सबल तर्कणाशक्ति के परिचायक हैं।

सिद्धि विनिश्चय के बारह प्रकरण हैं। न्याय विनिश्चय के तीन प्रकरण हैं और प्रमाण-संग्रह के नौ प्रकरण हैं। इन तीनों ग्रन्थों में प्रमाण नय-सम्बन्धी विपुल सामग्री प्राप्त होती है। सिद्धि विनिश्चय में प्रमाण-चर्चा के साथ आत्मस्वरूप का भी विवेचन है।

लघीयस्त्रयी में आचार्य अकलंक ने समुचित प्रमाण-व्यवस्था प्रस्तुत की है।

इन कृतियों में न्याय की रूपरेखा अकलंक न्याय के नाम से प्रसिद्ध है।

आचार्य अकलंक भक्ति-परायण भी थे। अपने नाम पर अकलंक स्तोत्र की रचना कर उन्होंने भक्तिरस को चरम सीमा पर पहुंचा दिया था।

आचार्य माणिक्यनन्दि उनके ग्रन्थों के प्रमुख पाठक रहे हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थों में अकलंक की न्याय पद्धति को ही विस्तार दिया है और कहीं-कहीं शब्दशः अनुकरण किया है। उनका परिक्षामुख ग्रन्थ आचार्य अकलंक के विचारों का स्पष्ट प्रतिबिम्ब है।

आचार्य विद्यानन्द, वादिराज, अनन्त वीर्य, प्रभाचन्द्र आदि विद्वानों ने आचार्य अकलंक के अष्टशती, न्याय विनिश्चय, प्रमाण-संग्रह, सिद्धि विनिश्चय तथा लघीयस्त्रयी पर विस्तृत टीकाएं लिखी हैं।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के विद्वान् आचार्य अकलंक के साहित्य पर मुग्ध हैं।

अजेयवाद शक्ति, अतुल प्रतिभाबल एवं मौलिक चिन्तन पद्धति से आचार्य अकलंक भट्ट कोविद कुल के अलंकार थे। वे वीर निर्वाण की ११-१२वीं० (वि० की ७वीं) सदी के विद्वान् माने गए हैं।

११. चरित्र-चिन्तामणि आचार्य जिनदास महत्तर

आगम के व्याख्याकारों में जिनदास महत्तर को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। वे संस्कृत एवं प्राकृत भाषा पर विशेष अधिकार प्राप्त विद्वान् थे। चूर्णि साहित्य के अनुसार जिनदास महत्तर के पिता का नाम नाग अथवा चन्द्र,[१] माता का नाम गोपा[२] अनुमानित होता है। देहड़, सीह, थोर—तीन उनसे ज्येष्ठ एवं देउल, णण, तिइज्जग—तीन उनसे कनिष्ठ सहोदर थे।[३] परिवार के अन्य सदस्यों की सूचना प्राप्त नही है। वाणिज्य कुलीन कोटिक गणीय वज्र शास्त्रीय महा विद्वान्, स्व-पर-समय के अभिज्ञाता, धीर, गंभीर गोपालगणी महत्तर उनके धर्म गुरू[४] और प्रद्युम्न क्षमाश्रमण उनके विद्यागुरु[५] थे। गुरु द्वारा उन्हें गणी पद प्राप्त हुआ था। योग्यता के आधार पर जनता ने उन्हें महत्तर की उपाधि से विभूषित किया था।[६]

साहित्य के क्षेत्र में जिनदास महत्तर की प्रसिद्धि चूर्णिकार के रूप में है।

व्याख्या साहित्य में चूर्णि साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। चूर्णियां गद्यमयी हैं। उनकी भाषा संस्कृत-मिश्रित प्राकृत है। चूर्णिकाल में संस्कृत अभ्युदय हो रहा है। अतः प्राकृत-प्रधान चूर्णि साहित्य में संस्कृत भाषा का सम्मिश्रण हुआ प्रतीत होता है।

भाष्य एवं निर्युक्ति की अपेक्षा चूर्णि साहित्य अधिक विस्तृत है एवं चतुर्मुखी ज्ञान का स्रोत है। गद्यात्मक होने के कारण इस साहित्य में भावाभिव्यक्ति निर्बाध गति से हो पायी है।

शिक्षात्मक कथाओं, धार्मिक आख्यानों एवं उपाख्यानों की विपुल सामग्री चूर्णि साहित्य से प्राप्त होती है। इसकी रचना-शैली पुरातन साहित्य से सर्वथा भिन्न है और मौलिक है। भाषाशास्त्रीय शोधविद्यार्थियों के लिए यह साहित्य अत्यन्त उपयोगी भी है।

श्री जिनदास महत्तर का इस साहित्य को महत्त्वपूर्ण अनुदान है।

आगम ग्रन्थों पर विशाल परिमाण में चूर्णि साहित्य लिखा गया है। वर्तमान में जो चूर्णियां आगम साहित्य पर उपलब्ध हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं:

१. आवश्यक	३. नन्दी
२. दशवैकालिक	४. अनुयोगद्वार

५. उत्तराध्ययन
६. आचारांग
७. सूत्रकृतांग
८. निशीथ
९. व्यवहार
१०. दशाश्रुतस्कन्ध
११. भगवती
१२. जीवाभिगम
१३. प्रज्ञापनासूत्र शरीरपद
१४. जम्बूद्वीप करण
१५. कल्प
१६. कल्पविशेष
१७. पञ्चकल्प
१८. जीतकल्प
१९. दशवैकालिक
२०. पाक्षिक

इनमें प्रथम आठ चूर्णियां जिनदास महत्तर की बताई गयी है। इनका रचना-क्रम भी यही है।

आचारांग चूर्णि एवं सूत्रकृतांग चूर्णि का चूर्णि साहित्य में मौलिक स्थान है। गोल्ल देश, सिन्धु देश, ताम्रलिप्ति, कोंकण आदि विभिन्न देशों का प्राकृतिक वर्णन, वहां की परम्पराएं, रीति-रिवाज एवं मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों की चर्चा इन दोनों चूर्णियों में उपलब्ध है।

उत्तराध्ययन चूर्णि में अनेक शब्दों की नवीन व्युत्पत्तियां प्राकृत भाषा में उपलब्ध हैं तथा जिनदास महत्तर की जीवन परिचायिका सामग्री भी संकेत रूप में प्राप्त है।

अनुयोग चूर्णि में आराम, उद्यान आदि की व्याख्याएं हैं। दशवैकालिक चूर्णि को आचार्य हरिभद्र ने वृद्ध विवरण की संज्ञा प्रदान की है। यह चूर्णि भी अपने विषय की सुष्ठु सामग्री प्रस्तुत करती है। नन्दी चूर्णि में माथुरी आगम-वाचना का इतिहास दिया गया है। इन दोनों चूर्णियों के अन्त में चूर्णिकार ने अपना नाम निर्देश किया है।[७]

आवश्यक चूर्णि एवं निशीथ चूर्णि अत्यधिक विस्तृत हैं। विषय सामग्री, भाषा-प्रवाह एवं रचना शैली के आधार पर दोनों चूर्णियां आगम ग्रन्थों की व्याख्या मात्र न होकर स्वतंत्र कृति का आस्वाद प्रदान करती हैं।

पुरातन इतिहास से सुपरिचित होने के लिए आवश्यक चूर्णि उपयोगी है। जैन धर्म के आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का सम्पूर्ण जीवनवृत्त, भगवान् की सुविस्तृत विहार-चर्या, वज्र स्वामी, आर्य रक्षित, वज्रसेन आदि प्रभावशाली आचार्यों के विवध घटना-प्रसंग, चेटक एवं कुणिक का महासंग्राम एवं सात निह्नव का प्रमाणिक इतिहास इस चूर्णि में उपलब्ध होता है। इस चूर्णि के अनुसार गोल्ल देश में भगिनी एवं विप्रदेश में विमाता से वैवाहिक संबंध कर लेने की परम्परा भी प्रचलित थी। लौकिक कथाओं की भी पर्याप्त सामग्री इस चूर्णि से प्राप्त की जा सकती है।

निशीथ चूर्णि यथार्थ में जिनदास महत्तर की अत्यन्त प्रौढ़ रचना है। इस

चूर्णि में चूर्णिकार की सूक्ष्म प्रज्ञा के दर्शन होते हैं।

पुण्य विजय जी द्वारा संपादित नन्दी प्रस्तावना में नन्दी, अनुयोगद्वार एवं निशीथ इन तीनों चूर्णियों का कर्तृक जिनदास महत्तर का स्वीकार किया है। इस शोध से चूर्णि साहित्य की रचना का अधिकांश श्रेय भी जिनदास महत्तर को प्रदान करने की सुप्राचीन धारण भ्रामक सिद्ध हुई है। समग्र आगम चूर्णि साहित्य की रचना में कई विद्वानों का योग माना है। दशवैकालिक चूर्णि के कर्त्ता श्री अगस्त्य सिंहगणी एवं जीतकल्प वृहत् चूर्णि के प्रणेता श्री सिद्धसेनगणी है।

आचारांग चूर्णि एवं सूत्रकृतांग चूर्णि अज्ञात कर्तृक है। उन्होंने आचारांग चूर्णि के प्रति श्री जिनभद्रगणी से पूर्व होने की सम्भावना प्रकट की है। आवश्यक चूर्णि को भी जिनदास महत्तर की रचना मानने में सन्देह व्यक्त किया गया है। विधि-निषेध एवं अपवाद मार्गों की सूचना प्रस्तुत करने वाले व्यवहार, दशाश्रुत स्कन्ध एवं वृहत्कल्प इन तीन महत्त्वपूर्ण छेदसूत्रों की चूर्णियां भी अज्ञात कर्तृक मानी गयी है।

अनेक विद्वानों का इस विषय में अनुदान होने पर भी जिनदास महत्तर की चूर्णिकार के रूप में प्रसिद्धि उनके साहित्य की मौलिकता है। निशीथ चूर्णि निर्विवाद रूप से श्री जिनदास महत्तर की कृति है।

जैन श्रमण आचार से सम्बन्धित विधि-निषेधों की विस्तार से परिचर्चा और उत्सर्ग मार्ग तथा अपवाद मार्ग की पर्याप्त सूचना इस कृति में प्राप्त होती है।

निशीथ चूर्णि के अन्त में चूर्णिकार जिनदास महत्तर ने अपने नाम का परिचय रहस्यमयी शैली में प्रस्तुत किया है। वह श्लोक इस प्रकार है :

ति चउ पण अट्ठमवग्गे ति तिग अक्खरा व तेसि।
पढ़मततिए ही तिदुसरजुएहि णामं कयं जस्स॥

अकारादि स्वरप्रधान वर्णमाला को एक वर्ग मान लेने पर अ वर्ग से श वर्ग तक आठ वर्ग बनते हैं। इस क्रम से तृतीय च वर्ग का तृतीय अक्षर 'ज', चतुर्थ ट वर्ग का पंचम अक्षर 'ण', पंचम त वर्ग का तृतीय अक्षर 'द' अष्टम वर्ग का तृतीय अक्षर 'स', तथा प्रथम अ वर्ग की तृतीय मात्रा इकार, द्वितीय मात्रा आकार को क्रमशः 'ज' और 'द' के साथ जोड़ देने पर जो नाम बनता है उसी नाम को धारण करने वाले व्यक्ति ने इस चूर्णि का निर्माण किया है। यह नाम बनता है जिनदास। अपने नाम के परिचय में इस प्रकार की शैली साहित्य क्षेत्र में बहुत कम प्रयुक्त हुई है।

नन्दी चूर्णि श्री जिनदास महत्तर की मौलिक कृति है। यह शक संवत् ५९८ एवं वि०सं० ७३३ में पूर्ण हुई थी। शक सम्वत् का उल्लेख स्वयं जिनदास महत्तर ने प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्त में किया है।[८]

उक्त प्रमाण के आधार पर चरित्र-चूड़ामणि चूर्णिकार जिनदास महत्तर का समय वी० नि० की १२वीं तथा विक्रम की ८वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध निश्चित होता है।

आधार-स्थल

१. संकरजडमउडविभूसणस्स तण्णामसरिसणामस्स।
   तस्स सुतेणेस कता विसेसचुण्णी णिसीहस्स ॥१३॥

(निशीथ विशेष चूर्णि उद्देशक १३)

२. रविकरमभिधाणक्खरसत्तमवग्गंत-अक्खरजुएणं।
   णामं जस्सित्थिए सुतेण तिसे कया चुण्णी ॥

(निशीथ विशेष चूर्णि उद्देशक १५)

३. देहडो सीह थोरा य ततो जेट्ठा सहोयरा।
   कणिट्ठा देउलो णण्णो सत्तमो य तिइज्जगो।
   एतेसिं मज्झिमो जो उ मंदेवी तेण वित्तिता।

(निशीथ विशेष चूर्णि उद्देशक १६)

४. वाणिजकुलसंभूतो कोडियगणितो य वज्जसाहीतो।
   गोवालियमहतरओ विक्खातो आसि लोगम्मि ॥१॥
   ससमय-परसमयविऊ ओयस्सी देहिमं सुगंभीरो।
   सीसगणसंपरिवुडो वक्खाणरतिप्पियो आसी ॥२॥
   तेसिं सीसेण इमं उत्तरज्झयणाण चुण्णि खंडं तु।
   रइयं अणुग्गहत्थं सीसाणं मंदबुद्धीणं ॥३॥

(उत्तरा: चूर्णि)

५. सविसेसायरजुतं काउ पणामं च अत्थदायिस्स।
   पज्जुण्णखमासमणस्स चरण-करणाणुपालस्स ॥२॥

(निशीथ विशेष चूर्णि पीठिका)

६. गुरुदिण्णं च गणित्तं महत्तरत्तं च तस्स तुट्ठेण।
   तेण कयेसा चुण्णी विसेसणमा णिसीहस्स ॥२॥

(निशीथ विशेष चूर्णि)

७. (क) श्री श्वेताम्बराचार्य श्री जिनदासगणिमहत्तर-
   पूज्यपादानामनुयोगद्वाराणां चूर्णिः।

(अनुयोगद्वार चूर्णि)

   (ख) णि रे ण ग म त्त ण ह स दा जि या पसुपतिसंखगजट्ठिताकुला।
   कमट्ठिता धीमतचिंतियक्खरा फुडंकहेयंतऽभिधाण कत्तुणो ॥१॥

(नन्दी चूर्णि)

८. शकराज्ञो पञ्चसु वर्षशतेषु व्यतिक्रान्तेषु अष्टनवतेषु नन्द्यध्ययनचूर्णि समाप्ता।

(नन्दी चूर्णि)

१२. अमेय मेधा के धनी आचार्य हरिभद्र

आचार्य हरिभद्र का जीवन सहस्रों वर्षों के बाद भी प्रकाशमान नक्षत्र की तरह चमक रहा है। उनका जन्म चित्तौड़-निवासी ब्राह्मण परिवार में हुआ। पिता का नाम शंकर भट्ट और माता का नाम गंगा था। विद्या-गंगोत्री में गहरी डुबकियां लगाकर वे प्रगल्भ पंडित बने। चौदह प्रकार की विद्याओं पर उनका प्रबल आधिपत्य हो गया था। चित्तौड़ नरेश जितारि के यहां उन्हें राजपुरोहित का स्थान मिला। राजदरबार में उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। घर से राजभवन तक वे शिविका में बैठकर जाते, उनके पीछे सरस्वती-कंठाभरण, वैयाकरण-प्रवण, वादि-मत्तंगज, न्याय-विचक्षण आदि विरुदावलियां बोली जाती। राजपुरोहित के सम्मान में जय-जय के नारों से वातावरण गूंजता था।

सीमातीत सम्मान पाकर विद्या-धुरीण हरिभद्र का मानस गर्वित हो उठा। 'बहुरत्ना वसुन्धरा 'यह वसुन्धरा विविध रत्नों को धारण करने वाली है। यह बात उन्हें अवैज्ञानिक लगी। उनकी दृष्टि में कोई भी योग्यता उनकी तुला के पलक को उठाने में समर्थ नहीं थी।

हरिभद्र पंडितों में अग्रणी थे। शास्त्रविशारद विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए वे सदा तत्पर रहते थे। पांडित्य के अतिशय अभिमान ने उन्हें असाधारण निर्णय तक पहुंचा दिया था। ज्ञानभार से कहीं उदर फट न जाये, इस भय से वे पेट पर स्वर्णपट्ट बांधे रहते थे। अपने प्रतिद्वन्द्वी को धरती का उत्खनन कर निकाल लेने के लिए कुदाल, जल से खींच लेने के लिए जाल और आकाश से धरती पर उतारने के लिए सोपान प्रति समय अपने कंधे पर रखते। जम्बू द्वीप में भी उन जैसा कोई विद्वान नहीं है, इस बात को सूचित करने हेतु वे हाथ में जम्बू वृक्ष की शाखा को रखते थे।[1] उनका दर्पोन्नत मानस किसी भी व्यक्ति द्वारा उच्चारित वाक्य का अर्थ न समझने पर उसका शिष्यत्व स्वीकार कर लेने को प्रतिबद्ध था।

एक बार रात्रि को राजसभा से लौटते समय वे जैन उपाश्रय के पास से निकले। साध्वी संघ की प्रवर्तिनी 'महत्तरा याकिनी' संग्रहिणी गाथा का जाप कर रही थी :

चक्कि दुगं हरिपणगं पणगं चक्कीण केसवो चक्की।
केसव चक्की केसव, दुचक्की केसीय चक्कीया॥

श्लोक की 'स्वर-लहरियां' हरिभद्र के कानों में टकरायीं। उन्होंने बार-बार ध्यानपूर्वक इसे सुना। मन ही मन चिन्तन चला पर बुद्धि को पूर्णतः झकझोर देने के बाद भी वे अर्थ के नवनीत को न पा सके। हरिभद्र का अहं पिघलकर बह गया। उपाश्रय में जाकर महत्तरा जी से उन्होंने विनम्रतापूर्वक उक्त श्लोक का अर्थ समझा और अपनी पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार उनका शिष्यत्व भी स्वीकार कर लिया।

एक नारी के सामने इस तरह अपनी हार को प्रामाणिकतापूर्वक स्वीकार कर लेना हरिभद्र की विशिष्ट महत्ता का परिचायक था।

प्रभावक चरित आदि पुरातन ग्रन्थों के अनुसार प्रस्तुत पद्य की अर्थप्रदायिनी साध्वी याकिनी महत्तरा नहीं थी। इन ग्रंथों का उल्लेख है—उपाश्रय में प्रवेश करने के बाद विद्वान हरिभद्र का सबसे प्रथम प्रश्न था—इस स्थान पर चकचकाहट किस बात का हो रहा है? अर्थहीन वाक्य का पुनरावर्तन क्यों किया जा रहा है? हरिभद्र ने यह प्रश्न अतिवक्र भाषा में प्रस्तुत किया था।

याकिनी महत्तरा जी धीर-गंभीर, आगम-विज्ञ और व्यवहार-निपुण साध्वी थी। उन्होंने मृदु स्वरों में कहा—'नूतनं लिप्तं चिगचिगायते'—नया लिपा हुआ आंगन चकचकाहट करता है। यह शास्त्रीय पाठ है। इसे गुरुगम्य ज्ञान बिना समझा नहीं जा सकता। याकिनी के द्वारा दिए गए स्पष्ट और सारगर्भित उत्तर को सुनकर विद्वान् हरिभद्र प्रभावित हुए। वे झुके और बोले—"प्रसादं कृत्वा अस्य अर्थं कथयतः—साध्वीश्री जी! प्रसाद करके मुझे इसका अर्थ समझाइए।"

अपनी पूर्वप्रतिज्ञा के अनुसार शिष्य-दीक्षा प्रदान करने की बात भी उन्होंने साध्वी याकिनी के सामने विनम्र शब्दों में प्रस्तुत की।

साध्वी याकिनी महत्तरा जी ने जिनदत्त सूरि के पास से अर्थ समझने का निर्देश दिया। विद्वान् हरिभद्र की जिज्ञासा तीव्रतर होती जा रही थी। प्रातःकाल होते ही हरिभद्र जिनभद्र सूरि के पास पहुंचे। उनके मार्ग में वह मंदिर भी आया जहां घुसकर सामने से आते हुए मदोन्मत्त हाथी से कभी प्राण बचाये थे। 'वपुरेव तवाचष्टे स्पष्टं मिष्टान्न भोजनम्' इस वाक्य से जिन-प्रतिमा का महान् उपहास भी उस समय उन्होंने किया था। आज उस कृत्य की स्मृति भाव से उनका मन तापित हो रहा था। निर्मल भाव-भूमि से इस बार प्रस्फुटित होने वाला कविता का रूप सर्वथा भिन्न था। मधुर और शिष्ट शब्दों में हरिभद्र गुनगुनाए :

वपुरेव तवाचष्टे भगवान् वीतरागताम्।
नहि कोटरसंस्थेऽग्नौ तरुर्भवति शाद्वलः।

यह भव्य आकृति ही वीतरागता को प्रकट कर रही है। वह तरु कभी हरा नहीं हो सकता, जिसके कोटर में अग्नि जल रही हो।

गुरुचरणों के निकट पहुंचकर विद्वान् हरिभद्र को सात्त्विक प्रसन्नता की अनुभूति हुई। उन्होंने झुककर नमन किया और अपनी जिज्ञासा उनके सामने रखी। आचार्य जिनदत्त ने कहा—"पूर्वापर संदर्भ सहित सिद्धान्तों के पद्यों को समझ लेने के लिए मुनि-जीवन का स्वीकरण आवश्यक है।" वैज्ञानिक भूमिका पर धर्म का विवेचन करते हुए उन्होंने बताया—"भव-विरह ही धर्म का परम फल है।" आचार्य जिनदत्त सूरि के दर्शन से विद्वान् हरिभद्र के सांसारिक वासना का संस्करण क्षीण हो गया। भव-विरह की बात उनके मानस को बेध गयी।

विद्वान् हरिभद्र सच्चे अर्थ में जिज्ञासु थे। वे दीक्षा लेने के लिए भी प्रस्तुत हुए। ब्राह्मण समाज को बुलाकर उन्होंने जैन-दीक्षा की भावना प्रकट की। अपने सम्प्रदाय के प्रति दृढ़ आस्थाशील ब्राह्मणों द्वारा राजपुरोहित हरिभद्र के इन विचारों का विरोध होना स्वाभाविक था। वैसा हुआ, किसी ने भी उनको समर्थन नहीं दिया। विद्वान् हरिभद्र बोले :

पक्षपातं परित्यज्य मध्यस्थी भूययेव च।
विचार्य युक्तियुक्तं यद् ग्राह्यं त्याज्यमयुक्तिमत् ॥३०८॥

(पुरातन प्रबन्ध-संग्रह)

—पक्षपात को छोड़कर मध्यस्थ भावभूमि पर विचार करें। युक्तियुक्त वचन ग्राह्य है और अयुक्तिपूर्ण वचन त्याज्य हैं।

न वीतरागादपरोऽस्ति देवो न ब्रह्मचर्यादपरचरित्रम्।
नाभीत्तिदानात्परमस्ति दानं चारित्रिणो नापरमस्ति पात्रम् ॥

(पुरातन प्रबन्ध-संग्रह ३१०)

—वीतराग से परे कोई देव नहीं है। ब्रह्मचर्य से श्रेष्ठ आचार नहीं है। अभयदान से श्रेष्ठ कोई दान नहीं है। चारित्र गुणमंडित पुरुष से उन्नत कोई पात्र नहीं है।

विवेक बुद्धि से अपने समाज को अनुकूल बनाकर तथा उनसे सहमति प्राप्त कर विद्वान् हरिभद्र जैन मुनि बने। वे राजपुरोहित से धर्मपुरोहित बन गए और साध्वी याकिनी महत्तरा जी को उन्होंने धर्मजननी के रूप में अपने हृदय में स्थान दिया। आज भी उनकी प्रसिद्धि याकिनी सुनू के नाम से है।

प्रभावक चरित और प्रबन्धकोश के अनुसार विद्वान् हरिभद्र के दीक्षागुरु जिनभट्ट थे।[२] प्रबन्ध-संग्रह में आचार्य जिनदत्त का उल्लेख है। आचार्य हरिभद्र ने अपनी कृतियों में गुरु का नाम जिनदत्त बताया है। आवश्यक वृत्ति में वे लिखते हैं—"समाप्ता चेयं शिष्यहिता नाम आवश्यकटीका, कृति सिताम्बराचार्य जिनभट्ट निगदानुसारिणों विद्याधरकुलतिलकाचार्यजिनदत्तशिष्यस्य धर्मतो याकिनी महत्तरा सुनोरल्पमतेराचार्य हरिभद्रस्य।" प्रस्तुत टीका में आचार्य हरिभद्र ने गुरु जिनदत्त के नामोल्लेख के साथ श्वेताम्बर परंपरा विद्याधर गच्छ एवं आचार्य

जिनभट्ट का नाम निर्देष किया है। संभवतः जिनभट्ट या जिनभद्र के निर्देशवर्ती आचार्य जिनदत्त थे।

मुनि आचार संहिता से संबंधित नाना प्रकार की शिक्षाएं उन्हें गुरु से प्राप्त हुई। अपने गण के परिचय-प्रसंग में गुरु ने हरिभद्र मुनि को बताया—"आगम प्रवीणा साध्वी समूह में मुकुटमणि श्री को प्राप्त महत्तरा उपाधि से अलंकृत साध्वी याकिनी मेरी गुरुभगिनी है।"[3]

हरिभद्र ने भी याकिनी महत्तरा के प्रति कृतज्ञ भाव प्रकट करते हुए कहा—"मैं शास्त्रविशारद होकर भी मूर्ख था। सुकृत के संयोग से निजकुल देवता की तरह धर्ममाता याकिनी के द्वारा मैं बोध को प्राप्त हुआ हूं।[4]

आचार्य हरिभद्र वैदिक दर्शन के पारगामी विद्वान् पहले से ही थे। जैन श्रमण दीक्षा लेने के बाद वे जैन दर्शन के विशिष्ट विज्ञाता बने। उनकी सर्वतोमुखी योग्यता के आधार पर गुरु ने उन्हें आचार्य पद पर नियुक्त किया।

आचार्य हरिभद्र जब आहार करते तब ललिग शंख बजाया करता था। शंख की ध्वनि के साथ कुछ याचक आते, भोजन करते और जाते समय आचार्य हरिभद्र को नमस्कार किया करते थे। हरिभद्र आशीर्वाद में उन्हें कहते—"भवविरह में प्रयत्नशील बनो।" इस भावना की प्रबलता के कारण उनका नाम भवविरह सूरि भी हो गया था।

आचार्य हरिभद्र के पास हंस और परमहंस दीक्षित हुए। वे दोनों आचार्य हरिभद्र के भगिनीपुत्र थे। हरिभद्र ने उन्हें प्रमाणशास्त्र का विशेष रूप से प्रशिक्षण दिया। दोनों शिष्यों ने एक बार बौद्ध प्रमाणशास्त्र के अध्ययनार्थ इच्छा प्रकट की। उन्होंने कहा—"यह अध्ययन बौद्ध विद्यापीठ में जाकर ही किया जा सकता है।"

आचार्य हरिभद्र ज्योतिषशास्त्र के विद्वान् थे। उनके निर्मल ज्ञान में अनिष्ट घटना का आभास हुआ। उन्होंने इस कार्य के लिए उन्हें रोका पर वे न रुके। गुरु के आदेश की अवहेलना कर दोनों वहां से प्रस्थित हुए। वेश बदलकर बौद्ध पीठ में प्रविष्ट हुए। विद्यार्थी दल में युग्म सहोदर प्रतिभासम्पन्न छात्र थे। बौद्ध अध्यापकों के पास वे बौद्ध प्रमाणशास्त्र पढ़ते व अपने स्थान पर आकर जैन दर्शन से बौद्ध दर्शन के सूत्रों की तुलना करते और स्वपक्ष, विपक्ष के समर्थन तथा निरसन में तर्क-वितर्क पत्र पर लिखते थे। इस रहस्य का उद्घाटन दैवीशक्ति द्वारा हुआ। बौद्ध अधिष्ठात्री 'तारादेवी' ने वायु के वेग से पत्र को उड़ाकर उसे लेखशाला में डाल दिया। पत्र के शीर्ष स्थान पर 'नमो जिनाय' लिखा हुआ था। बौद्ध छात्रों ने उसे देखा और उपाध्याय के पास ले गए। उपाध्याय ने समझ लिया—यहां अवश्य छद्म वेश में कोई जैन छात्र पढ़ रहा है। परीक्षा के लिए वाटिका के द्वार पर जिन-प्रतिमा की स्थापना कर सबको गुरुजनों ने आदेश दिया—वे जिन-प्रतिमा पर चरण रखकर आगे बढ़े। बौद्ध जानते थे कोई भी जैन जिन-प्रतिमा पर पैर नहीं

रखेगा। आदेश प्राप्त होते ही विद्यार्थी प्रतिमा पर चरण-निक्षेप करते हुए चले गए। हंस और परमहंस के सामने धर्मसंकट उपस्थित हो गया। उन्होंने समझ लिया—यह सारा योजनाबद्ध उपक्रम हमारी परीक्षा के लिए ही किया गया है। आचार्य हरिभद्र के द्वारा बार-बार निषेध किए जाने पर भी वे आग्रहपूर्वक यहां पढ़ने के लिए आए थे। गुरुजनों के आदेश-निर्देश की अवहेलना का परिणाम अहितकर होता है यह उन्हें सम्यक् प्रकार से अवगत हो गया। दोनों ने एकांत में विचार-विमर्श किया। ज्येष्ठ बन्धु ने खटिका से प्रतिमा पर ब्रह्मसूत्र की रेखा खींचकर जिन प्रतिमा की प्रतिकृति को पूर्णतः परिवर्तित कर दिया और उस पर चरण रखकर आगे बढ़ा। परमहंस ने हंस का अनुगमन किया। यह काम हंस ने अत्यन्त त्वरा से तथा कुशलता से किया था। वे युगल-बन्धु अपने पुस्तक-पन्नों को लेकर वहां से पलायन करने में सफल हो गए। संयोग की बात थी—हंस का मार्ग में ही प्राणांत हो गया। दूसरा आचार्य हरिभद्र के चरणों में आकर गिरा। पुस्तक-पन्ने उनके हाथों में सौंपकर उसने अंतःतोप की अनुभूति की। गहरी थकान के बाद शिष्य का जीवन पूर्ण विश्राम की कामना कर रहा था। आचार्य हरिभद्र के देखते-देखते परमहंस का प्राणदीप बुझ गया।

शिष्य हंस का प्राणांत मार्ग में ही हो गया था या कर दिया गया था—यह उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में समान रूप से ही प्राप्त है। परमहंस की मृत्यु के विषय में भिन्न-भिन्न अभिमत हैं। प्रबंध-संग्रह के अनुसार किसी व्यक्ति के द्वारा चित्रकूट में आकर निद्राधीन परमहंस का शिरश्छेद कर दिया था। प्रातःकाल में आचार्य हरिभद्र ने शिष्य कबन्ध को देखा, वे कोपाविष्ट हो गए।[५]

दोनों प्रिय शिष्यों की मृत्यु ने उनको अप्रत्याशित निर्णय पर पहुंचा दिया था। महाराज सूरपाल की अध्यक्षता में उन्होंने बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ किया। इस गोष्ठी की भावी परिणति अत्यन्त भयावह एवं हिंसात्मक थी। परास्त दल को गर्म तेल के कुंड में जलने की प्रतिज्ञा के साथ इस शास्त्रार्थ का प्रारम्भ हुआ था। हरिभद्र इस समर में पूर्ण विजयी हुए। प्रस्तुत हिंसात्मक घटना की सूचना आचार्य जिनदत्त को मिली। उन्होंने कोपाविष्ट आचार्य हरिभद्र को प्रतिबोध देने के लिए दो श्रमणों को तीन श्लोक देकर भेजा था। वे श्लोक इस प्रकार हैं :

गुणसेण-अग्गिसम्मा सीहाणंदा य तह पिआपुत्ता।
सिहि-जालिणि माइ-सुआ धण-धणसिरिमो य पइ-भज्जा ॥१८५॥
जय-विजया य सहोअर धरणो लच्छी अ तह पई भज्जा।
सेण-विसेणा पित्तिय उत्ता जम्मम्मि सत्तमए ॥१८६॥
गुणचन्द-वाणमन्तर समराइच्च-गिरिसेण पाणो अ।
एगस्स तओ मोक्खोऽणन्तो अन्नस्स संसारो ॥१८७॥

(प्रभावक चरित, पृ० ७३)

इन श्लोकों में गुणसेन एवं अग्नि शर्मा के कई भवों की वैराग्यमयी घटना संकलित थी। वैर का अनुबन्ध भव-भवान्तर तक चलता रहता है; यह तथ्य इस कथा के माध्यम से बहुत स्पष्ट उभारा गया था। आचार्य जिनदत्त द्वारा प्रेषित इन श्लोकों को पढ़ते ही हरिभद्र का कोप उपशांत हो गया।

श्रुतानुश्रुत परम्परा के अनुसार क्रुद्ध हरिभद्र को प्रतिबोध देने वाली याकिनी महत्तराजी थी। रात्रि के समय आचार्य हरिभद्र विद्याबल से १४४४ बौद्ध भिक्षुओं को व्योममार्ग से आकृष्ट कर उनकी महान् हिंसा का उपक्रम कर रहे थे। इस घटना की सूचना मिलते ही महत्तरा जी ने तत्काल उपाश्रय में जाकर द्वार खट-खटाए और कहा—"मुझे अभी प्रायश्चित्त लेना है।" आचार्य हरिभद्र ने भीतर से ही प्रत्युत्तर दिया—"रात्रि के समय में साध्वियों का प्रवेश निषिद्ध है। आलोचना कल कर लेना।"

महत्तरा जी अपने आग्रह पर दृढ़ थीं। वह बोली—"इस जीवन का कोई विश्वास नहीं है। प्रभात होने तक सांस रुक गया तो मैं अपने दोष का प्रायश्चित्त किए विना विराधक हो सकती हूं। कृपया द्वार अभी खुलने चाहिए।"

महत्तरा जी के लिए बहुत ऊंचा स्थान आचार्य हरिभद्र के मानस में था। वे उनके कथन का प्रतिवाद न कर सके। द्वार खुलते ही आचार्य हरिभद्र के सामने उपस्थित होकर महत्तरा जी बोली—"प्रमादवश मेरे पैर से मेंढ़क की हत्या हो गई है। मुझे प्रायश्चित्त प्रदान करें।" आचार्य हरिभद्र ने दोष-विशुद्धि हेतु उन्हें तीन उपवास दिए। महत्तरा जी ने निवेदन किया—"मुझे एक मेंढ़क की अपघात के प्रायश्चित्तस्वरूप तीन उपवास मिले हैं। आपको इस महान् हिंसा का क्या दण्ड मिलेगा? आचार्य हरिभद्र एक वाक्य से ही संभल गए। डूबती नैया किनारे लग गई। छूटती पतवार हाथ में थम गयी।"

पुरातन प्रबन्ध-संग्रह में महत्तरा जी के स्थान पर श्रावक का उल्लेख है। आचार्य जिनदत्त द्वारा निर्देश पाकर एक सुदक्ष श्रावक कोपाविष्ट आचार्य हरिभद्र के पास पहुंचा और उसने प्रार्थना की—"आर्य! मैं गुरुदेव जिनदत्त के पास प्राय-श्चित्त लेने के लिए गया था। उन्होंने मुझे प्रायश्चित्त ग्रहणार्थ आपके पास भेजा है। मेरे से पंचेन्द्रिय जीव की विराधना हो गयी है, इससे मेरा मन बहुत खिन्न है। आप मुझे कृपाकर प्रायश्चित्त प्रदान करें।"

हरिभद्र उन्मुख होकर बोले—"सुबहुप्रायश्चित्तमेष्यति—बहुत अधिक प्रायश्चित्त तुम्हें वहन करना होगा।" श्रावक बोला—"मुझे इतना प्रायश्चित्त प्रदान कर रहे हैं। आपको इस हिंसात्मक कार्य के लिए कितना प्रायश्चित्त वहन करना होगा?"

मुविज्ञ हरिभद्र ने समझ लिया—यह प्रेरणा श्रावक के माध्यम से आचार्य जिनदत्त की है। उन्होंने लज्जा से अपना मुख नीचे कर लिया। श्रावक पुन:

बोला—"गुरुदेव ने कहलाया है—आपने समरादित्य चरित्र को पढ़ा या नहीं ? वैर का कटु परिणाम जन्म-जन्मान्तर तक भोगना पड़ता है। आप व्यर्थ ही रोषारुण होकर इतने बड़े वैर का वन्ध क्यों कर रहे हैं ?"

श्रावक के मुख से आचार्य जिनदत्त की शिक्षा को सुनकर आचार्य हरिभद्र का अन्तर्विवेक जागा। वे हिंसा के कार्य से सर्वथा निवृत्त हुए। प्रायश्चित्त ग्रहण कर विशुद्ध हुए। उसके बाद उन्होंने आचार्य जिनदत्त द्वारा प्रेषित श्लोकों के आधार पर समरादित्य-कथा की रचना प्राकृत भाषा में की।[६]

हिंसात्मक योजना से सम्बन्धित ये प्रसंग आचार्य हरिभद्र के चरित्रनिष्ठ व्यक्तित्व के साथ अप्रासंगिक-से लगते हैं।

कथावली-प्रसंग के अनुसार आचार्य हरिभद्र के शिष्य जिनभद्र और वीरभद्र थे। चित्रकूट में आचार्य हरिभद्र के असाधारण प्रभाव से कुछ व्यक्तियों में ईर्ष्या का भाव पैदा हुआ और उन्होंने उनके दोनों शिष्यों को गुप्त स्थान पर मार डाला। यह प्रसंग आचार्य हरिभद्र के हृदय में सुतीक्ष्ण शस्त्र की तरह घाव कर गया। उन्होंने अनशन की सोची। उनकी निर्मल प्रतिभा से जैन शासन की प्रभावना की महान् संभावना थी अतः सबने मिलकर उन्हें इस कार्य से रोका।

आचार्य हरिभद्र ने संघ की बात को सम्मान प्रदान कर अपने चिन्तन को मोड़ा। शिष्य-संतति के स्थान पर वे ज्ञान-संतति के विकास में लगे। उनकी वृत्तियों का शोध हुआ, पर शिष्यों की विरह-वेदना उनके हृदय में कम न हुई अतः प्रत्येक ग्रंथ के साथ उन्होंने विरह शब्द को जोड़ा है।[७] आज भी आचार्य हरिभद्र कृत ग्रंथों की पहचान, अन्त में प्रयुक्त यह विरह शब्द है। आचार्य हरिभद्र के साधनाशील जीवन की उच्च भूमिका पर यह प्रसंग स्वाभाविक और सत्यता के निकट प्रतीत होता है।

आचार्य हरिभद्र साहित्य-सुधा-सागर थे। उनकी कृतियां जैन शासन का अनुपम वैभव है। आचार्य हरिभद्र की लेखनी हर विषय पर चली। आगमिक क्षेत्र में वे सर्वप्रथम टीकाकार थे। आवश्यक दशवैकालिक, नन्दी, अनुयोग द्वार प्रज्ञापना, प्रज्ञप्ति और जीवाभिगम इन आगमों पर उन्होंने टीकाएं लिखीं। पिंड-निर्युक्ति की उनकी अपूर्ण टीका को वीराचार्य ने पूर्ण की थी। विविध विषयों का विवेचन करती हुई उनकी टीकाएं महान् ज्ञानवर्धक सिद्ध हुईं। प्रज्ञापना टीका प्रज्ञापना सूत्र के पदों पर है। यह संक्षिप्त और सरल टीका है। आवश्यक वृत्ति आवश्यक निर्युक्ति पर हैं। निर्युक्ति गाथाओं की व्याख्या में आवश्यक चूर्णि का पदानुसरण नहीं है। इसमें सामायिक आदि सभी पदों पर बहुत विस्तार से विवेचन है तथा विस्तृत रुचि रखने वाले पाठकों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इस टीका की परिसमाप्ति में जिनभट्ट, जिनदत्त याकिनी महत्तरा जी आदि का उल्लेख करते हुए

अपने को अल्पमति कहकर परिचय दिया है। यह टीका बाईस हजार श्लोक परिमाण है।

दशवैकालिक की निर्युक्ति के आधार पर 'दशवैकालिक वृत्ति' लिखी गयी है। इसका नाम शिष्यबोधिनी वृत्ति है। इसे वृहद् वृत्ति भी कहते हैं। इस वृत्ति प्रणयन का उद्देश्य प्रस्तुत करते हुए सूरि जी ने दशवैकालिक के कर्त्ता शय्यंभव आचार्य का पूर्ण परिचय भी प्रस्तुत किया है।

बारह निर्जरा के भेदों में ध्यान का सांगोपांग विवेचन, दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चरित्राचार, तपाचार, वीर्याचार की व्याख्या, अठारह सहस्र शीलांग का प्रतिपादन श्रमण धर्म की दुर्लभता, भाषा-विवेक, व्रतषट्क, कायषट्क आदि अठारह स्थानक, आचार प्रणिधि, समाधि के चारों प्रकार, भिक्षु स्वरूप, चूलिका में आए हुए रत्तिजनक तथा अरत्तिजनक कारण और साधु-जीवन की विविध चर्या का स्पष्टीकरण इस वृत्ति के विवेच्य-स्थल हैं।

टीका के अन्त में टीकाकार ने अपना परिचय महत्तरा धर्मपुत्र के नाम से दिया है।[८]

नन्दी और अनुयोगद्वार की टीका नन्दी चूर्णि और अनुयोगद्वार चूर्णि की शैली पर लिखी गयी है। नन्दी टीका २३३६ श्लोक परिमाण है और इसमें केवलज्ञान, केवलदर्शन की परिचर्चा, नन्दी चूर्णि में वर्णित सभी विषयों का स्पष्टीकरण तथा अयोग्यदान और फल प्रक्रिया की विवेचना है।

अनुयोगद्वार वृत्ति—अनुयोग वृत्ति का नाम 'शिष्यहिता' है। इसकी रचना नन्दी विवरण के बाद हुई है। मंगल आदि शब्दों का विवेचन नन्दीवृत्ति में हो जाने के कारण इसमें नहीं किया गया है। ऐसा टीकाकार का उल्लेख है। प्रमाण आदि को समझाने के लिए अंगुलों का स्वरूप, प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम की व्याख्या, ज्ञाननय और क्रियानय का वर्णन इस वृत्ति के मुख्य प्रतिपाद्य हैं।

प्रज्ञापन प्रदेश व्याख्या—प्रज्ञापना टीका प्रज्ञापना सूत्र के पदों पर है। यह संक्षिप्त और सरल टीका है। इसके प्रारम्भ में जिन प्रवचन की महिमा है। भव्य और अभव्य के प्रसंग में वादिमुख्य के श्लोक भी उद्धृत किए गए हैं और प्रज्ञापना सूत्र के विभिन्न विषयों का सरलतापूर्वक विवेचन कर साधारण जनता के लिए जीव और अजीव से सम्बन्धित अनेक सैद्धान्तिक विषयों को भी समझाया गया है। अष्टम पद की व्याख्या में संज्ञा स्वरूप का विवेचन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

प्रज्ञापना के ग्यारहवें पद के आधार पर कामशास्त्र-सम्बन्धी सामग्री इसमें उपलब्ध होती है और स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक के स्वभावगत लक्षणों का भी सुन्दर विवेचन है।

जीवाभिगम सूत्र लघु वृत्ति जैनागम तत्त्व दर्शन का प्रतिपादन करती हुई

तत्त्वज्ञान-पिपासु पाठकों के लिए विशेष उपयोगी है।

आवश्यक सूत्र वृहद्वृत्ति भी आचार्य हरिभद्र की रचना मानी गयी है। इसका श्लोक परिमाण चौरासी हजार था। वर्तमान में यह टीका उपलब्ध नहीं है। आगम साहित्य के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों पर भी आचार्य हरिभद्र ने कई टीकाएं लिखीं।

तत्त्वार्थ सूत्र लघु वृत्ति (अपूर्ण टीका) पिण्ड निर्युक्ति-वृत्ति, क्षेत्र समास वृत्ति, कर्मस्तव वृत्ति, ध्यान शतक वृत्ति, लघुक्षेत्र समास वृत्ति, ललित विस्तरा (चैत्य वन्दन स्तव वृत्ति), श्रावक धर्म समास वृत्ति, श्रावक प्रज्ञप्ति टीका, सर्वज्ञ सिद्धि टीका, न्यायावतार वृत्ति आदि टीकाएं आचार्य हरिभद्र सूरि की अमेय प्रतिभा का बोध करती है।

योगदृष्टिसमुच्चय वृत्ति स्वनिर्मित योग दृष्टि समुच्चय की व्याख्या है।

धर्म संग्रहिणी ग्रंथ में पांच प्रकार के ज्ञान का वर्णन सर्वज्ञ सिद्धि समर्थन तथा चार्वाक दर्शन का युक्तिपुरस्सर निरसन है। सम्यक् दर्शन (सम्यक्त्व) का विवेचन आचार्य हरिभद्र के 'दंसण सुद्धि' (दर्शन शुद्धि) ग्रंथ में प्राप्त होता है।

सावगधम्म (श्रावक धर्म) और सावगधम्म समास (श्रावक धर्म समास) इन इन दोनों कृतियों में श्रावक धर्म की शिक्षाएं तथा बारह व्रतों का विवेचन है।

शास्त्रवार्ता समुच्चय टीका भारतीय दर्शनों का दर्पण है।

जैनेतर साहित्य पर भी टीका रचना का कार्य आचार्य हरिभद्र ने किया।

न्याय-प्रवेश ग्रंथ बौद्ध विद्वान् दिङ्नाग की रचना है। उस पर भी हरिभद्र ने टीका लिखी और जैनों के लिए बौद्ध दर्शन में प्रवेश पाने का मार्ग सुगम किया। इस टीका से जैनेतर विषयों में भी हरिभद्र सूरि के अगाध ज्ञान की सूचना मिलती है।

टीका साहित्य की तरह योग साहित्य के आदि-प्रणेता भी हरिभद्र सूरि थे। उन्होंने योग-सम्बन्धी नई परिभाषाएं एवं वैज्ञानिक पद्धतियां प्रस्तुत कीं। योग-दृष्टि समुच्चय, योगबिन्दु, योगविंशिका, योगशतकम् ये ग्रंथ योग-सम्बन्धी अपूर्व सामग्री प्रस्तुत करते हैं। अष्टांग योग के स्थान पर स्थान-ऊर्ण आदि पंचांग यो। तथा मित्रा, तारा, बला, दीप्ता आदि आठ यौगिक दृष्टियों का प्रतिपादन उनकी मौलिक सूझ का परिणाम है।

चार अनुयोगों पर उन्होंने रचना की है। द्रव्यानुयोग में धर्म संग्रहिणी, गणितानुयोग में क्षेत्रसमासवृत्ति, चरणानुयोग में धर्मबिन्दु, उपदेश पद और धर्म कथानुयोग में धूर्त्ताख्यान उनकी सरस कृतियां हैं।

अनेकान्त जयपताका व अनेकान्त प्रवेश भगवान् महावीर की अनेकान्त दृष्टि को स्पष्ट करने वाली अत्यन्त गम्भीर रचनाएं हैं। दर्शन जगत् में ये समादृत हुई हैं।

षड्दर्शन समुच्चय में भारत की प्रमुख छह दर्शन धाराओं का उल्लेख तथा उनके द्वारा सम्मत सिद्धान्तों का प्रामाणिक रूप से निरूपण है। नास्तिक धारा को भी आस्तिक धारा के समकक्ष प्रस्तुत कर उन्होंने महान् उदारता, सदाशयता और तटस्थता का परिचय दिया है।

कथाकोष उनका श्रेष्ठ ग्रंथ है और कथाओं का दुर्लभ भंडार था जो वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

'समराइच्च कहा' उनकी अत्यन्त प्रसिद्ध प्राकृत रचना है। शब्दों का लालित्य, शैली का सौष्ठव, सिद्धांतसुधापान कराने वाली कांत-कोमल पदावली एवं भावाभिव्यक्ति का अजस्र बहता ज्ञान निर्झर कथावस्तु की रोचकता एवं सौंदर्य, प्रसाद तथा माधुर्य इसका समवेत रूप—इन सभी गुणों का एकसाथ दर्शन इस कृति में होता है।

लोक तत्त्वनिर्णय, श्रावक प्रज्ञप्ति, अष्टक प्रकरण, पंचाशक, पंचवस्तु प्रकरण टीका आदि अनेक ग्रंथों के रूप में साहित्य-जगत् को आचार्य हरिभद्र की अमर देन है।

आचार्य हरिभद्र का युग पक्षाग्रह का युग था। उस समय में भी उन्होंने समन्वयात्मक दृष्टि को प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट उद्घोष किया :

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

वीर वचन में मेरा पक्षपात नहीं। कपिल मुनियों से मेरा द्वेष नहीं। जिनका वचन तर्कयुक्त है—वही ग्राह्य है।

आचार्य हरिभद्र बड़े स्पष्टवादी थे। सम्बोध-प्रकरण में उन्होंने उस युग में छाये शिथिलाचार के प्रति करारा प्रहार किया है।

हरिभद्र का साहित्य उत्तरवर्ती साहित्यकारों के लिए आधार बना। उनकी 'समराइच्च कहा' को पढ़कर आचार्य उद्योतन में भी ग्रंथ लिखने की प्रेरणा जगी। उसकी परिणति कुवलयमाला के रूप में हुई। उनकी टीकाओं ने संस्कृत में आगम व्याख्या लिखने का मार्ग प्रस्तुत किया। शीलांक अभयदेव, मलयगिरि आदि का प्रेरणा स्रोत उनका टीका साहित्य ही है। उनकी योग-संबंधी नई दृष्टियों ने योग के संदर्भ में सोचने का नया क्रम दिया। योग पल्लवन की दिशा में यशोविजय जी को उत्साहित करने वाली हरिभद्र सूरि की यौगिक कृतियां ही हैं।

साहित्य रचना में लल्लिग नाम के एक व्यक्ति ने उनको सहयोग दिया था। वह रात्रि के समय हरिभद्र सूरि के उपाश्रय में एक मणि रख दिया करता था, जिसके प्रकाश में हरिभद्र सूरि साहित्य रचना किया करते थे।

आज उनका संपूर्ण साहित्य उपलब्ध नहीं है पर जो कुछ भाग्य से प्राप्त है उससे अब भी शोध-लेखकों को पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है।

प्रबंधकोश के अनुसार आचार्य हरिभद्र ने १४४० ग्रंथों की रचना की थी।[९] पुरातन प्रबंध-संग्रह के अनुसार उन्होंने १४०० ग्रंथों की रचना की थी।[१०] आज विद्वानों की दृष्टि में ग्रंथों की यह संख्या संदिग्ध है।

आचार्य हरिभद्र का समय प्राचीन विद्वानों के अनुसार वी० नि० १००० से १०५५ (वि० ५३० से ५८५) था। जिनविजय जी ने उनका समय वि० ७५७ से ८७ निर्णीत किया है। इस आधार पर प्राचीन समय वि० की छठी शताब्दी और वर्तमान समय वि० की ८वीं शताब्दी है।

जीवन के संध्या-काल में उन्होंने अनशन की स्थिति को स्वीकार किया। अध्यात्म भाव में लीन होकर वे परम समाधि के साथ स्वर्ग को प्राप्त हुए।[११]

आधार-स्थल

१. परिभवनमतिर्महावलेपात् क्षितिसलिलाम्बरवासिनां बुधानाम्।
अवदारणजालकाधिरोहण्यपि स दधौ त्रितयं जयाभिलाषी ॥९॥
स्फुटति जठरमन्त्रशास्त्रपूरादिति स दधावुदरे सुवर्णपट्टम।
मम सममतिरस्ति नैव जम्बूक्षितिवलये वहते लतां च जम्ब्वाः ॥१०॥

(प्रभा० चरित, पत्रांक ६२)

२. दिवमगणमनर्थकं स पूर्वस्वकमभिमानकदर्थ्यमानमूर्तिः।
अमनुतः स ततश्च मण्डपस्थं जिनभटसूरिमुनीश्वरं ददर्श ॥३०॥

(प्रभा० चरित, पत्रांक ६४)

३. गुरुरवददथागमप्रवीणा यमि-यतिनीजनमौलिशेखरश्रीः।
मम गुरुभगिनी महत्तरेयं जयति च विश्रुतजाकिनीति नाम्नी ॥४१॥

(प्रभा० च०, पत्रांक ६४)

४. अभणदथ पुरोहितोऽनयाहं भवभवशास्त्रविशारदोऽपि मूर्खः।
अतिमुक्तवशेन धर्ममात्रा निजकुलदेवतयेव बोधितोऽस्मि ॥४२॥

(प्रभा० चरित, पत्रांक ६४)

५. प्रातः श्रीहरिभद्रसूरिभिः शिष्यकबन्धो दृष्टः कोपः।

(प्रबंधकोश, पत्रांक २५)

६. पुनः सङ्घ मील्य प्रायश्चित्तं कृतवन्तः। तदनु 'समरादित्यचरित' वैराग्यामृतमयं चक्रुः।

(पुरा० प्र० सं०, पृ० १०५)

७. अतिशयहृदयाभिरामशिष्यद्वयविरहोर्मिभरेण तप्तदेहः।
निजकृतमिहं संव्यधात् समस्तां विरहपदेन युतां सतां स मुख्यः ॥२०६॥

(प्रभा० चरित, पत्रांक ७४)

८. महत्तरायाकिन्या धर्मपुत्रेण चिन्तिता ।
आचार्य हरिभद्रेण, टीकेयशिष्यबोधिनी ।। प्रशस्ति श्लोक १ ।।
(दशवै० हारि० वृत्तिः)

६. बोधः । शान्तिः । १४४० ग्रन्थाः प्रायश्चित्तपदे कृताः ।
(प्रबन्धकोश, पृ० २६)

१०. तैश्चतुर्दशशतानि कृतानि सिद्धान्तरहस्यभूतानि (प्रकरणानि)
(पुरातन प्रबन्ध सं० १०४)

११. कालेनानशनं कृत्वा दिवं गताः ।
(पुरा० प्र० सं०, पत्रांक १०५)

१३. वरिष्ठ विद्वान् आचार्य बप्पभट्टि

आचार्य बप्पभट्टि क्षत्रिय थे। बौद्धिक बल से आम राजा को प्रभावित कर उन्होंने जैन दर्शन की महती प्रभावना की थी। वे छह वर्ष की अवस्था में दीक्षित होकर ग्यारह वर्ष की अवस्था में आचार्य पद पर आरूढ़ हुए, इतिहास की यह विरल घटना है।[१]

आचार्य बप्पभट्टि का जन्म वी० नि० १२७०(वि० ८००) में भाद्रपद तृतीया रविवार को हुआ।[२] उनके बचपन का नाम सूरपाल था। आचार्य सिद्धसेन से उन्हें जैन संस्कार मिले थे। ये सिद्धसेन मोढ़गच्छ के थे और दिवाकर सिद्धसेन से भिन्न थे।

आचार्य सिद्धसेन एक बार मोढ़ेर नगर में विराजमान थे। उन्होंने स्वप्न में चैत्य पर छलांग भरते केशरी-शावक को देखा।[३] वे प्रातः मंदिर में गए। उनकी दृष्टि एक षट्वार्षिक बालक पर केन्द्रित हो गयी। वह आकृति से प्रभावक प्रतीत हो रहा था। आचार्य सिद्धसेन ने बालक से पूछा—"तुम कौन हो ? कहां से आ रहे हो ?" बालक ने कहा—"मेरा नाम सूरपाल है। मैं पांचालदेश्य बप्प का पुत्र हूं। मेरी मां का नाम भट्टी है।[४] मेरे मन में राज्यद्रोही शत्रुजनों से युद्ध करने की भावना जागृत हुई, पर पिता ने मुझे रोक दिया। निरभिमानी पिता के पास रहना मुझको उचित नहीं लगा। मैं घर के वातावरण से पूर्णतः असंतुष्ट होकर मां-बाप को बिना पूछे ही यहां चला आया हूं।

आचार्य सिद्धसेन व्यक्ति के पारखी थे। वे आकृति को देखकर उसके व्यक्तित्व को पहचान लेते थे। आचार्य सिद्धसेन ने बालक को देखकर चिंतन किया। 'अहो दिव्यरत्नं न मानवमात्रोऽयं" यह बालक सामान्य बालक नहीं दिव्य रत्न है। 'तेजसा हि न वयः समीक्ष्यते'—तेजस्विता का वय से कोई अनुबंध नहीं है। आचार्य सिद्धसेन ने बालक से कहा, "वत्स ! हमारे पास रहो। सन्तों का आवास घर से भी अधिक सुखकर होता है।" विकस्वर सरोरुह पर अलि का मुग्ध हो जाना स्वाभाविक है। सूरपाल गुरु के जीवन बोधकारी प्रसाद को प्राप्त कर उनके पास रहने के लिए प्रस्तुत हो गया। आचार्य सिद्धसेन बालक को लेकर अपने स्थान पर आए। उसकी भव्य आकृति को देखकर श्रमणों को प्रसन्नता हुई। गुरु ने उन्हें

अध्यात्म-प्रशिक्षण देना प्रारम्भ किया। बालक तीव्र प्रज्ञा का धनी था। श्रवणमात्र से उन्हें पाठ ग्रहण हो जाता था। एक दिन में सूरपाल ने सहस्र श्लोक कंठस्थ कर सबको विस्मयाभिभूत कर दिया।[५] बालक ही शीघ्रग्राही मेधा से गुरु को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उन्हें लगा—जैसे योग्य पुत्र को उपलब्ध कर पिता धन्य हो जाता है, उसी प्रकार हम योग्य शिष्य को पाकर धन्य हो गए हैं। पूर्ण पुण्य-संचय से ही ऐसे शिष्यरत्नों की प्राप्ति होती है।

शिष्य परिवार से परिवृत सिद्धसेन डुंबाउधी ग्राम में गए। बालक सूरपाल भी उनके साथ था। डुंबाउधी सूरपाल की जन्मभूमि थी। राजा बप्प और भट्टि दोनों मुनिजनों को वंदन करने आए। आचार्य सिद्धसेन ने उनको उद्‌बोधन देते हुए कहा—"संसार अवकर में अनेक पुत्र कृमि की भांति उत्पन्न होते हैं, उनसे क्या ? तुम्हारा पुत्र धन्य है; वह व्रत धर्म को स्वीकार करना चाहता है। तुम इस पुत्र का धर्मसंघ के लिए दान कर महान् धर्म की आराधना करो। भवार्णव से तैरने की भावना रखता हुआ तुम्हारा पुत्र श्लाघनीय है।"

पुत्र के दीक्षा ग्रहण की बात सुनकर माता-पिता का मन उदास हो गया। वे बोले, "हमारे घर में यह एक ही कुलदीप है। उसे हम आपको कैसे प्रदान कर सकते हैं ?"

मोह का बन्ध माता-पिता में जितना सघन था उतना सूरपाल में नहीं था। धर्मगुरुओं के पास रहने के कारण उसका मोह और भी तरल हो गया था। उसने सबके सामने अपने विचार स्पष्ट किए—"मैं चारित्र पर्याय को अवश्य स्वीकार करूंगा।" पुत्र की निश्चयकारी भाषा से माता-पिता को अपने विचार बदलने पड़े। सुत को गुरुचरणों में समर्पित करते हुए उन्होंने निवेदन किया, "आर्य ! आप इसे ग्रहण करें और इसका नाम बप्पभट्टि रखें, इससे हमारा नाम भी विश्रुत होगा।"

आचार्य सिद्धसेन को बप्पभट्टि नाम रखने में कोई बाधा नहीं थी। उन्होंने अभिभावकों की आज्ञापूर्वक वी० नि० १२७७ (वि० सं० ८०७) वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन गुरुवार को मोढ़ेरक नगर में उसे दीक्षा प्रदान की।[६] मुनि-जीवन में सूरपाल का नाम बप्पभट्टि रखा गया। संघ की प्रार्थना से आचार्य सिद्धसेन ने वह चातुर्मास वहीं किया।

एक बार की घटना है, बप्पभट्टि बहिर्भूमि गए थे। अति वृष्टि के कारण उन्हें देव-मंदिर में रुकना पड़ा। वहां इतर नगर से समागत एक प्रबुद्ध व्यक्ति से उनका मिलन हुआ। वह व्यक्ति विशेष प्रभावी परिलक्षित हो रहा था। उसे मुनि बप्पभट्टि से प्रसाद गुणसम्पन्न गम्भीर काव्य के श्रवण का आस्वाद प्राप्त हुआ। वह बप्पभट्टि की व्याख्या-शक्ति से प्रसन्न हुआ और वर्षा रुकने पर उन्हींके साथ धर्म-स्थान पर आ गया। आचार्य सिद्धसेन ने उनसे पूछा—"तुम कौन हो ?" उसने कहा—"कान्यकुब्ज देश के अन्तर्गत गोपाल गिरि नगर के राजा यशोवर्मा का मैं पुत्र हूं।

मेरी माता का नाम सुयशा है। मैं यौवन से उन्मत्त होकर विपुल धन का व्यय करता था। मेरी इस आदत से प्रकुपित पिता ने मुझे शिक्षा दी—'वत्स ! मितव्ययी भव' —वत्स ! मितव्ययी बन। पिता की यह शिक्षा मुझे नीम की तरह कटु लगी। मैं उनसे रुष्ट होकर घर से निकला और इतस्ततः चक्कर लगाता यहां आ पहुंचा हूं। गुरु के द्वारा नाम पूछने पर उसने खटिका से लिखकर बताया—"आम।" आम का महाजनोचित यह व्यवहार देखकर गुरु को लगा—यह कोई पुण्य पुरुष है।

आम भी आचार्य सिद्धसेन से प्रभावित हुआ। गुरु के आदेशपूर्वक उसने मुनि बप्पभट्टि से बहत्तर कलाओं का प्रशिक्षण पाया।[३] लक्षण और तर्कप्रधान ग्रन्थों को भी पढ़ा। धीरे-धीरे बप्पभट्टि के साथ आम की प्रीति अस्थि-मज्जा की भांति सुदृढ़ हो गयी।

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण ह्रस्वा पुरा वृद्धिमती च पश्चात्।
दिनस्य पूर्वार्द्धपरार्द्धभिन्ना छायेव मैत्री खल सज्जनानाम्॥"

—खल मनुष्यों की प्रीति प्रभात कालीन छाया की भांति क्रमशः घटती जाती है और सज्जन मनुष्यों की प्रीति मध्याह्नोत्तर छाया की भांति क्रमशः बढ़ती जाती है।

आम और बप्पभट्टि की प्रीति दिन-प्रतिदिन गहरी होती गयी। कुछ काल के बाद राजा यशोवर्मा असाध्य बीमारी से आक्रान्त हो गया। उसने पट्टाभिषेक के लिए प्रधान पुरुषों के साथ आम कुमार को लौट आने का निमंत्रण भेजा। आम की इच्छा न होते हुए भी राजपुरुष उसे ले आए। पिता-पुत्र का मिलन हुआ। पिता ने पुत्र को सवाष्प नयनों से देखा, गाढ़ आलिंगन के साथ गद्‌गद् स्वरों से उपालम्भ भी दिया।

औपचारिक व्यवहार के बाद यशोवर्मा ने प्रजापालन का प्रशिक्षण पुत्र को दिया और शुभ मुहूर्त में आम का राज्याभिषेक हुआ।

राज्यचिन्ता से मुक्त होकर यशोवर्मा धर्मचिन्ता में लगे। जीवन के अन्तिम समय में अरिहन्त, सिद्ध और साधु—त्रिविध शरण को ग्रहण करते हुए उनको स्वर्ग की प्राप्ति हुई।

आम ने उनका और्ध्वदैहिक संस्कार किया। राज्यारोहण के प्रसंग पर प्रजा को विपुल दान दिया। आम सब तरह से सम्पन्न था। प्रजा सुखी थी। किसी भी प्रकार की चिन्ता आम को नहीं थी, किन्तु परममित्र मुनि बप्पभट्टि के बिना उसे अपनी सम्पन्नता पलाल-पुलसम निस्सार लग रही थी।

राजा आम का निर्देश प्राप्त कर राजपुरुष बप्पभट्टि के पास पहुंचे और प्रणतिपूर्वक बोले, "आर्य ! आम राजा ने उदग्र उत्कंठा के साथ आपको आमन्त्रण भेजा है। आप हमारे साथ चलें और आम की धरती को पावन करें।" श्रमण बप्पभट्टि ने राजपुरुषों के निवेदन को ध्यान से सुना। गुरुजनों से आदेश लेकर गीतार्थ

मुनियों के साथ वे वहां से प्रस्थित हुए और शीघ्र गति से चलते हुए गोपालगिरि पहुंचे। बप्पभट्टि के स्वागतार्थ सेना सहित राजा आम सामने आए। राजकीय सम्मान के साथ बप्पभट्टि का नगर में प्रवेश हुआ। बप्पभट्टि के आगमन से आम को अत्यधिक प्रसन्नता की अनुभूति हो रही थी। गुरु के चरणों में नत होकर आम ने निवेदन किया, "आर्य ! मेरा आधा राज्य आप ग्रहण करें।"

परिग्रह के मोह से सर्वथा मुक्त बप्पभट्टि बोले, "राजन् ! निर्ग्रन्थों को पाप-मूलक राज्य से क्या करना है ?"

अनेकयोनिसम्पातानन्तबाधाविधायिनी ।
अभिमानफलैवेयं राज्यश्रीः सा विनश्वरी ॥

—अनेक योनियों में ले जाने वाली अनन्त बाधा विधायिका अभिमान फल-प्रदायिनी राज्यश्री भी शाश्वत नहीं है।

श्रमण बप्पभट्टि की अर्थ के प्रति अनासक्त भावना को देखकर राजा बहुत प्रभावित हुआ।

राजसभा में बप्पभट्टि के लिए सिंहासन की व्यवस्था की गयी और राजा ने उस पर बैठने के लिए बप्पभट्टि से आग्रह-भरा निवेदन किया।

श्रमण बप्पभट्टि बोले, "राजन् ! आचार्य के बिना सिंहासन पर बैठना उचित नहीं है। इससे गुरुजनों की आशातना होती है।"

आम राजा बप्पभट्टि के इस कथन के सामने निरुत्तर हो गया था। सिंहासन पर बप्पभट्टि के न बैठने से उन्हें भारी असन्तोष था। गुरु के सामने प्रार्थना रखने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था। राजा ने सोच-समझकर बप्पभट्टि को और उनके साथ प्रधान सचिवों को आचार्य सिद्धसेन के पास प्रेषित किया एवं उनके साथ विज्ञप्ति-पत्र भी दिया। विज्ञप्ति-पत्र में लिखा था :

योग्यं सुतं शिष्यं च नयन्ति गुरुवः श्रियम् ॥

—योग्य पुत्र, और शिष्य गुरुजनों की श्री को प्राप्त करते हैं। अतः आप बप्पभट्टि को सूरि पद पर सुशोभित करें।

राजपुरुषों द्वारा प्राप्त विज्ञप्ति को आचार्य सिद्धसेन ने पढ़ा। राजा की प्रार्थना पर गम्भीरता से चिन्तन कर शिष्य बप्पभट्टि को उन्होंने आचार्य पद पर स्थापित किया। यह वी० नि० १२८१ (वि० ८११) चैत्र कृष्णा अष्टमी का दिन था।[6] एकान्त स्थान में उन्हें प्रशिक्षण देते हुए आचार्य सिद्धसेन ने कहा—"मुने ! मेरा अनुमान है—तुम्हार विशेष राजसत्कार होगा। अनेक प्रकार की सुविधाएं भी तुम्हें प्राप्त होंगी। उनमें मुग्ध होकर लक्ष्य को मत भूल जाना। 'इन्द्रियजयो दुष्करः' :—इन्द्रिय जय की साधना दुष्कर है।

विकार हेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः।

" विकार हेतु उपस्थित होने पर भी जो कुपथ का अनुसरण नहीं करते वे धीर होते हैं।

" मेरी इस शिक्षा को स्मृति में रखना, ब्रह्मचर्य की साधना में विशेष जागरूक रहना। "

शिष्य बप्पभट्टि को उचित प्रकार से मार्ग-दर्शन देकर आचार्य सिद्धसेन ने उन्हें आम राजा के पास पुनः प्रेषित किया।

विशेष पद से अलंकृत मुनि बप्पभट्टि का आगमन आम के लिए हर्ष-वर्धक था। उन्होंने बप्पभट्टि का भारी स्वागत किया एवं उनसे क्लेश-विनाशिनी, कल्याण-कारिणी, सारभूत धर्म देशना को सुना।

राजा की प्रबल भक्ति के कारण बप्पभट्टि का लम्बे समय तक वहीं विराजना हुआ। दिन-प्रतिदिन दोनों का प्रीतिभाव वृद्धिगत होता गया।

आचार्य बप्पभट्टि की काव्य-रचना ने आम को अत्यधिक प्रभावित किया। कभी-कभी तत्काल पूछे गये प्रश्न के उत्तर में अथवा तत्काल प्रदत्त कवितामयी समस्या के समाधान में बप्पभट्टि द्वारा रचित श्लोकों को सुनकर आम मुग्ध हो जाते, उन्हें बप्पभट्टि में सर्वज्ञ जैसा आभास होता।

ब्रह्मचर्य व्रत की परीक्षा के लिए एक बार निशा काल में 'आम' ने पुरुष परिधान पहनाकर गणिका को बप्पभट्टि के पास भेजा।

बप्पभट्टि सानन्द सोये हुए थे। पण्यांगना निःशब्द गति से चलती हुई बप्पभट्टि के शयन-कक्ष तक पहुंची और उनके चरणों की उपासना (मर्दन आदि क्रिया) करने लगी। नारी के कोमल कर स्पर्श होते ही बप्पभट्टि सजग हो गए और तत्काल उठकर बोले, "पण्यांगने ! वायु से तृणों को उड़ाया जा सकता है, कांचन गिरि उससे नहीं हिलते। नखों के प्रहार से शिलाखण्ड को नहीं तोड़ा जा सकता। तुम जिस मार्ग से आयी हो उसी मार्ग से सकुशल लौट जाने में ही तुम्हारा भला है। यहां तुम्हारा कोई काम नहीं है।"

वारवधू के भ्रू-विक्षेप आदि प्रयास निष्फल गए। बप्पभट्टि अपने लक्ष्य से किंचित् भी विचलित नहीं हुए।

गणिका आम के पास जाकर बोली, "भूस्वामिन् ! बप्पभट्टि अपने व्रत में पाषाण की भांति दृढ़ हैं। तिलतुष मात्र भी उनका मन मेरे हाव-भाव पर चलित नहीं हुआ।"

बप्पभट्टि के दृढ़ मनोबल पर आम को प्रसन्नता हुई और उनके दर्शन करने पर राजा को संकोच भी हुआ। बप्पभट्टि ने उन्हें तोष देते हुए कहा, "राजन् ! विशेष चिन्तन की कोई बात नहीं है। राजा को सब प्रकार की परीक्षा लेने का अधिकार होता है।"

वृद्धावस्था में आचार्य सिद्धसेन ने बप्पभट्टि को अपने पास बुलाकर गण का

सारा दायित्व सौंपा । अनशनपूर्वक वे स्वर्ग को प्राप्त हुए ।

बुद्धिबल से बप्पभट्टि ने कई यशस्वी कार्य किए। बंगाल प्रान्त के अधिपति धर्मराज और आम राजा के बीच में लम्बे समय से वैर चल रहा था। लक्षणावती बंगाल की राजधानी थी। धर्मराज को शास्त्रार्थ के लिए आमन्त्रण मिलने पर आम की ओर से बप्पभट्टि लक्षणावती गए। धर्मराज की सभा में 'वर्द्धन कुंजर' नामक दिग्गज विद्वान् के साथ उनका वाद-विवाद हुआ। छह महीने तक यह शास्त्रार्थ चला। बप्पभट्टि की अन्त में विजय हुई। धर्मराज ने उन्हें 'वादी कुंजर केसरी' की उपाधि से मंडित किया। इस शास्त्रार्थ के बाद आम राजा और धर्मराज का वैर सदा-सदा के लिए शान्त हो गया। इससे जैन दर्शन की महती प्रभावना हुई।

मथुरा के वाक्पति नामक सांख्य योगी के मन्त्र-प्रयोग से आम राजा विस्मयाभिभूत थे। एक दिन आम ने बप्पभट्टि से कहा—"आपने विद्याबल से मेरे जैसे व्यक्तियों को प्रभावित कर जैन श्रावक बनाने का कार्य किया है। आपके सामर्थ्य को तब पहचानें जबकि वाक्पति योगी को आप प्रतिबोध दे सकें।" राजा आम के इस वचन पर बप्पभट्टि वहां से उठे और मथुरा की ओर प्रस्थित हुए। वहां पहुंचकर ध्यानस्थ वाक्पति के सामने कई श्लोक बोले—वाक्पति ने नयन खोले, उनके साथ धर्मचर्चा की। बप्पभट्टि ने जिनेश्वर प्रभु का स्वरूप समझाया और विभिन्न प्रकार से अध्यात्म बोध देकर उसे जैन दीक्षा प्रदान की।

बप्पभट्टि के शिष्य गोविन्द सूरि और नन्न सूरि के व्यक्तित्व से भी आम अत्यधिक प्रभावित थे। इसमें मुख्य निमित्त आचार्य बप्पभट्टि ही थे।

बप्पभट्टि साहित्यकार भी थे। उन्होंने ५२ प्रबन्धों का निर्माण किया। उनमें से 'चतुर्विंशति जिनस्तुति' और 'सरस्वती स्तोत्र' ये दो ग्रन्थ ही वर्तमान में उपलब्ध हैं।

धनपाल की तिलक मंजरी में भद्रकीर्ति-निर्मित 'तारागण' नामक ग्रन्थ का उल्लेख हुआ है। भद्रकीर्ति बप्पभट्टि का ही गुरु-प्रदत्त नाम था।

आम राजा और बप्पभट्टि के मैत्री सम्बन्ध मानव जाति के लिए कल्याणकर सिद्ध हुए।

आम के पुत्र का नाम दुन्दुक था। आम के स्वर्गवास के बाद दुन्दुक ने राजसिंहासन ग्रहण किया। बप्पभट्टि को दुन्दुक के द्वारा पर्याप्त सम्मान प्राप्त हुआ। दुन्दुक के पुत्र का नाम भोज था। पंडितों ने बताया—"दुन्दुक को मारकर भोज राजसिंहासन ग्रहण करेगा।" दुन्दुक ने बालक भोज को मारना चाहा। संयोगवश इस बात की सूचना भोज की माता को मिल गयी थी। उसने उसे ननिहाल भेज दिया था। कुछ समय के बाद दुन्दुक ने राजपुरुषों के साथ आचार्य बप्पभट्टि को वहां से प्रेषित किया और कहा, "भोज को लेकर आयें।" राजा के आदेश से बप्पभट्टि चले। मार्ग में उन्होंने सोचा—यह महान् संकट का कार्य है। भोज के द्वारा दुन्दुक की

मृत्यु निश्चित है अतः भोज मेरे साथ आए या न आए, मैं दोनों ओर से सुरक्षित नहीं हूं। भोज के न आने पर राजा दुन्दुक मेरे पर क्रुद्ध होगा। उसके आने पर दुन्दुक का असमय प्राणान्त होगा। मेरा हित किसी प्रकार से निरापद नहीं है। इधर व्याघ्र है, उधर नदी की धार। मेरा आयुष्य भी दो दिन का अवशिष्ट रहा है। कार्य के परिणाम का गम्भीरता से चिन्तन कर बप्पभट्टि ने अनशन स्वीकार कर लिया। नन्न सूरि, गोविन्द सूरि आदि श्रमणों के लिए उन्होंने हित की कामना की। सबको अनित्य भावना का उपदेश दिया।[९] महाव्रतों में जाने-अनजाने लगे दोषों की आलोचना की।[१०] वे अदीन भाव से ८९ वर्ष तक संयम पर्याय का पालन कर वी० नि० १३६५ (वि० ८९५) श्रावण शुक्ला अष्टमी के दिन स्वाति नक्षत्र में ९५ वर्ष की अवस्था में स्वर्गवासी बने।[११]

आचार्य बप्पभट्टि पार्श्वपत्यानुयायी आचार्य रत्नप्रभ के समकालीन थे। इस समय ओसवाल जाति का अभ्युदय हुआ था। आचार्य रत्नप्रभ के चामत्कारिक प्रयोगों से एवं उपदेशों से प्रभावित होकर 'ओसिया' नगरी के निवासी क्षत्रिय परिवारों ने सामूहिक रूप से जैन दीक्षा ग्रहण की और वे ओसवाल कहलाए। कई इतिहासकारों के अभिमत से ओसवाल जाति का अभ्युदय वी० नि० १३वीं (वि० की ९वीं) शताब्दी के बाद हुआ है। आचार्य बप्पभट्टि का स्वर्गवास इससे कुछ वर्ष पूर्व हो गया था।

आचार्य बप्पभट्टि अपने युग के वरिष्ठ विद्वान थे। आचार्य रत्नप्रभ की भांति सामूहिक जैनीकरण का कार्य उन्होंने नहीं किया था, पर जैन शासन की श्रीवृद्धि में उनके प्रयत्न विशेष रूप से उल्लेखनीय हुए हैं। बप्पभट्टि के गुणानुवाद में निम्नोक्त श्लोक विश्रुत है :

बप्पभट्टिर्भद्रकीर्तिर्वादिकुंजरकेसरी।
ब्रह्मचारी गजवरो राजपूजित इत्यपि ॥७६६॥ (प्रभा० चरित, पृ० ११०)

आधार-स्थल

१. षड्वर्षस्य व्रतं चैकादशे वर्षे च सूरिता ॥७४०॥

(प्रभा० चरित, पत्रांक १०९)

२. विक्रमतः शून्यद्वयवसुवर्षे (८००) भाद्रपदतृतीयायाम्।
रविवारे हस्तर्क्षे जन्माभूद् बप्पभट्टिगुरोः ॥७३९॥

(प्रभा० चरित, पत्रांक १०९)

३. श्री सिद्धसेननामा सूरीश्वरो···रात्रावात्मारामरतो योगनिद्रया स्थितः सन् स्वप्नं ददर्श। यथा केसरिकिशोरको देवगृहोपरि क्रीडति।

(प्रबंधकोश, पत्रांक २६)

४. पंचालदेश्य-बप्पाख्य पुत्रोहं भट्टिदेहभूः ।।१७।।

(प्रभा० चरित, पत्रांक ८०)

५. एकाह्नेन श्लोकसहस्रमध्यगीष्ट ।

(प्रबन्धकोश, पत्रांक २६)

६. शताष्टके च वर्षाणां गते विक्रमकालतः ।
सप्ताधिके राधशुक्लतृतीयादिवसे गुरौ ।।२८।।

(प्रभा० चरित, पत्रांक ८०)

७. तत्रास्स्व वत्स ! निश्चिन्तो निजेन सुहृदा समम् ।
शीघ्रं गृहाण शास्त्राणि संगृहाणामलाः कलाः ।।६१।।
एवंविधकलानां च द्वासप्ततिमधीतवान् ।
अनन्यसदृशः कोविदानां पर्षदि सोऽभवत् ।।७३।।

(प्रभा० चरित, पत्रांक ८१-८२)

८. एकादशाधिके तत्र जाते वर्षशताष्टके ।
विक्रमात् सोऽभवत्सूरिः कृष्ण चैत्राष्टमीदिने ।।११५।।

(प्रबन्धकोश, पत्रांक ८३)

९. वाग्लंघने राजाऽपि क्रुद्धो मां हन्ति । तस्मादितो व्याघ्र इतो दुस्तटी इति न्यायः प्राप्तः । समाप्तं च ममायुः दिवसद्वयमवशिष्यते, तस्मादनशनं शरणम् इति विमृश्यासन्नस्थयतयो भाषिताः नन्नसूरिगोविन्दाचार्यो प्रति हिता भवेत् । श्रावकेभ्यो मिथ्यादुष्कृतं ब्रूयात् । परस्परममत्सरतामाद्रियेध्वम् । क्रियां पालयेत् । आबालवृद्धान् लालयेत् । नो वयं युष्मदीयाः, न यूयमस्मदीयाः । सम्बन्धाः कृत्रिमाः सर्वे । इति शिक्षयित्वाऽनशनस्थाः समतां प्रपन्नाः ।

(प्रबन्धकोश, पत्रांक ४४)

१०. महाव्रतानि पंचैव षष्ठकं रात्रिभोजनम् ।
विराधितानि यत्तत्र मिथ्यादुष्कृतमस्तु मे ।।७७।।

(प्रबन्धकोश पत्रांक ४४-४५)

११. शर-नन्द सिद्धिवर्षे (८९५) नभः शुद्धाष्टमीदिने ।
स्वातिभेऽजनि पंचत्वमामराजगुरोरिह ।।७४१।।

(प्रभा० चरित, पत्रांक १०९)

१४. उदात्त चिन्तक आचार्य उद्योतन (दाक्षिण्यांक)

कुवलयमाला के रचनाकार आचार्य उद्योत्तन दाक्षिण्यांक के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। आचार्य उद्योतन की पूर्व परंपरा में आचार्य हरिगुप्त थे। वे सुप्रसिद्ध तोरमाण राजा के गुरु थे। हरिगुप्त के शिष्य देवगुप्त और उनके शिष्य यक्षदत्त थे। यक्षदत्त के कई शिष्य थे। उनमें एक नाम तत्त्वाचार्य का भी था। ये तत्त्वाचार्य ही कुवलय-माला के कर्त्ता उद्योतन आचार्य के गुरु थे।

आचार्य उद्योतन ने वीरभद्र सूरि से सैद्धान्तिक ज्ञान की शिक्षा पाई एवं विद्वान् आचार्य हरिभद्र से तर्कशास्त्र पढ़ा।

कुवलयमाला उनकी चम्पू शैली में निर्मित प्राकृत कथा है। गद्य-पद्य मिश्रित महाराष्ट्री प्राकृत की यह प्रसादपूर्ण रचना है। पैशाची, अपभ्रंश एवं संस्कृत के प्रयोगों ने इस कथा को रोचकता प्रदान की है।

विविध अलंकारों की संयोजना से मंडित, प्रहेलिका एवं सुभाषितों की सामग्री से पूर्ण, मार्मिक प्रश्नोत्तरों से सुसज्जित एवं नाना प्रकार की वणिक् बोलियों के माध्यम से मधुर रस का पान कराती हुई यह कथा पाठक के मन को मुग्ध कर देने वाली है।

बाण की कादम्बरी, त्रिविक्रम की दमयंती कथा और प्रकांड विद्वान् आचार्य हरिभद्र की 'समराइच्चकहा' का अनुगमन करती हुई ग्रंथ की रचना शैली अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। अनेक देशी शब्दों के प्रयोग भी इस कृति में हैं।

कृति का आद्योपांत अध्ययन आचार्य उद्योतन के विशाल ज्ञान की सूचना देता है। क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदि के दुःखद परिणाम बताने के लिए लेखक ने लघु किन्तु सरस कथाओं का व्यवहार कर इस कृति में मधुबिंदु रस जैसा आकर्षण भर दिया है।

जवालिपुर (जालोर में) इस ग्रंथ को लिखकर लेखक ने सम्पन्न किया था। यह स्थान जोधपुर के दक्षिण में है। आचार्य उद्योतन के उदात्त चिंतन का प्रतिबिंब इस कृति में प्राप्त होता है।

इस ग्रंथ का रचना-काल वी० नि० १३०६ (वि० स० ८३६) है। इस प्रमाण के आधार पर उदात्त चिंतक आचार्य उद्योतन का समय विक्रम की नौवीं शताब्दी एवं वीर निर्वाण की तेरहवीं शताब्दी सिद्ध होता है। बड़गच्छ के संस्थापक उद्योतन सूरि से प्रस्तुत उद्योतन सूरि सौ साल से भी अधिक पूर्व के हैं।

१५. विश्रुत व्यक्तित्व आचार्य वीरसेन

आचार्य वीरसेन दिगम्बर परंपरा के प्रकाण्ड विद्वान् आचार्य थे। वे आर्य नन्दी के शिष्य थे। ज्योतिष, व्याकरण, प्रमाणशास्त्र एवं छंदशास्त्र का उन्हें प्रकृष्ट ज्ञान था। उनकी सर्वतोगामिनी प्रज्ञा के आधार पर विद्वानों को उनमें सर्वज्ञ जैसा आभास होता था।

दिगम्बर परंपरा का षट्खण्डागम ग्रंथ गूढ़ार्थ एवं दुरूह है। इस ग्रंथ पर आचार्य वीरसेन ने प्राकृत-संस्कृत-मिश्रित ७२ सहस्र श्लोक परिमाण धवला नामक टीका लिखी है। षट्खण्डागम ग्रंथ पर जितनी टीकाएं लिखी गई हैं उनमें यह टीका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। धवला प्रशस्ति के अनुसार यह ग्रंथ बाट्ग्रामपुर में वी० नि० १३४३ (वि० स० ८७३) में संपन्न हुआ था। इस ग्रंथ में आचार्य उमास्वाति पूज्यपाद आदि अनेक श्वेताम्बर-दिगम्बर विद्वानों के ग्रंथों का उल्लेख है। इससे आचार्य वीरसेन के व्यापक ज्ञान की सूचना मिलती है।

आचार्य वीरसेन ने 'कषाय पाहुड़' ग्रंथ पर जय धवला नाम की टीका लिखी थी। इस टीका की रचना बीस सहस्र श्लोक परिमाण ही वे कर पाए थे। इस महत्त्व-पूर्ण कार्य के संपन्न होने से पूर्व ही उनका स्वर्गवास हो गया।

ये दोनों टीकाएं विविध सामग्री से परिपूर्ण एवं पाठकों के लिए ज्ञानवर्द्धक हैं।

आचार्य वीरसेन का सिद्धांत भूपद्धति टीका ग्रंथ वर्तमान में अनुपलब्ध है।

राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष प्रथम के समय में वीरसेन ने इन टीकाओं का निर्माण किया था। अमोघवर्ष का नाम धवल और अतिशय धवल भी था। इन नामों के आधार पर ही संभवतः वीरसेन ने अपनी टीकाओं का नाम धवला और जय धवला रखा।

अपने युग के विश्रुत विद्वान् दिगम्बर ग्रंथों के महान् व्याख्याकार आचार्य वीर-सेन का समय उनकी टीका प्रशस्ति में प्राप्त उल्लेखानुसार वी०नि० की १४वीं (विक्रम ९वीं) सदी प्रमाणित है।

१६. जिनवाणी संगायक आचार्य जिनसेन

दिगम्बर ग्रन्थों के व्याख्याकार आचार्यों में एक नाम आचार्य जिनसेन का भी है। आचार्य जिनसेन वीरसेन के सुयोग्य शिष्य एवं सफल उत्तराधिकारी थे। वे सिद्धान्तों के प्रकृष्ट ज्ञाता तथा कविमेधा से सम्पन्न थे। कर्णवेध संस्कार होने से पूर्व ही उन्होंने मुनिधर्म स्वीकार कर लिया था। सरस्वती की उन पर अपार कृपा थी। विनय-नम्रता के गुणों से उनकी विद्या विशेष रूप से शोभायमान थी। गुणभद्र भदन्त की दृष्टि में हिमालय से गंगा, उदयाचल से भास्कर की भांति वीरसेन से जिनसेन का उदय हुआ था।

आचार्य वीरसेन की प्रारंभ की हुई जयधवला टीका-कार्य को आचार्य जिनसेन ने पूर्ण किया था। जयधवला टीका आचार्य गुणभद्र के रचित कषाय प्राभृत ग्रंथ की विशिष्ट व्याख्या है। दिगम्बर साहित्य में विविध सामग्री से परिपूर्ण साठ हजार श्लोक परिमाण इस ग्रंथ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य वीरसेन ने इस ग्रंथ के बीस हजार श्लोक रचे, अवशिष्ट चालीस हजार श्लोकों की रचना आचार्य जिनसेन की है।

मेघदूत काव्य के आधार पर 'मंदाक्रांता वृत्त' में आचार्य जिनसेन ने पार्श्वाभ्युदय काव्य की रचना की। यह संस्कृत भाषा में निबद्ध उत्तम खंडकाव्य है।

आचार्य जिनसेन की ऐतिहासिक रचना महापुराण नामक ग्रंथ है। इस ग्रंथ का प्रारंभ आचार्य जिनसेन ने किया पर वे इसे पूर्ण नहीं कर पाए। अपने गुरु वीरसेन की भांति उनका स्वर्गवास रचना पूर्ण होने से पहले ही हो गया था। उनकी अवशिष्ट रचना को शिष्य गुणभद्र ने पूर्ण किया था। इस महापुराण ग्रंथ के दो भाग हैं—आदिपुराण और उत्तरपुराण।

आदि पुराण सूक्त रत्नों से समलंकृत महाकाव्य भी है। इसके ४७ पर्व और बारह सहस्र श्लोक है। इनमें १०३८० श्लोकों के कर्त्ता आचार्य जिनसेन है।

आचार्य गुणभद्र ने आदि पुराण के शेष १६२० श्लोकों की एवं उत्तरपुराण के अस्सी सहस्र श्लोक की रचना की थी।

आदिनाथ तीर्थंकर ऋषभ का जीवन-चरित्र आदिपुराण में तथा अवशिष्ट तीर्थं का जीवन-चरित्र उत्तरपुराण में है।

राष्ट्रकूट वंश का जैन धर्म से घनिष्ठ संबंध था। नरेश अमोघवर्ष प्रथम इस वंश के महान् प्रतापी शासक थे। आचार्य जिनसेन के प्रतिभाशाली व्यक्तित्व का उन पर अतिशय प्रभाव था।

प्रश्नोत्तर रत्नमालिका में अमोघवर्ष को आदिपुराण के कर्त्ता जिनसेन के चरणों की पूजा करने वाला बतलाया गया है। यह कृति स्वयं अमोघवर्ष की ही है।

जिनसेन जिनवाणी के कुशल संगायक आचार्य थे। जयधवला टीका की ई० स० ८३७ में रचना की थी। इस आधार पर उनका कालमान वी० नि० १३६४ (वि० ८९४) है।

१७. वाङ्मय-वारिधि आचार्य विद्यानन्द

दिगम्बर परम्परा के प्रभावी आचार्य विद्यानन्द विद्या के समुद्र थे। विविध विषयों में उनका ज्ञान अगाध था। वे उच्चकोटि के साहित्यकार, प्रामाणिक व्याख्याता, अप्रतिहतवादी, गम्भीर दार्शनिक, प्रकृष्ट सैद्धान्तिक, उत्कृष्ट वैयाकरण, श्रेष्ठ कवि, जिनशासन के अनन्य भक्त थे। अधिक क्या? अपने युग के वे अद्वितीय विद्वान् थे।

विद्यानन्द नाम के कई आचार्य हुए हैं। प्रस्तुत संदर्भ तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक एवं आत्मपरीक्षा आदि परिक्षान्त ग्रन्थों के निर्माता आचार्य विद्यानन्द से सम्बन्धित है।

वाङ्मय-वारिधि आचार्य विद्यानन्द की जीवन-परिचायिका सामग्री नहीं के बराबर उपलब्ध है। उनके माता-पिता, परिवार, कुल, जन्मभूमि आदि का कोई उल्लेख साहित्यधारा में आज प्राप्त नहीं है और न दीक्षा-गुरु, दीक्षा-स्थान और दीक्षाकाल के संकेत ही मिलते हैं।

जैन दर्शन की भांति वैदिक दर्शन पर अगाध पांडित्य के आधार पर उनके ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने की संभावना शोधविद्वानों ने की है। उभय दर्शनों की पारगामिता मैसूर प्रान्त में उनके उत्पन्न होने की प्रतीति कराता है, जो जैन और ब्राह्मण दोनों संस्कृतियों का केन्द्र रहा है। आचार्य विद्यानंद की विशाल साहित्य-निधि को देखकर विद्वानों ने उनके अविवाहित रहने का अनुमान किया है। उनके अभिमत से अखंड ब्रह्मतेज के बिना इस प्रकार का साहित्य रचना संभव नहीं लगता। धवला, जयधवला टीका के निर्माता वीरसेन एवं जिनसेन आचार्य भी अखंड ब्रह्मचारी थे।

आचार्य विद्यानन्द की साहित्य-साधना अनुपम है। उन्होंने नौ ग्रंथ लिखे। उनमें छह स्वतंत्र रचनाएं और तीन टीका ग्रंथ हैं। उनकी कृतियों के नाम इस प्रकार हैं—तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, अष्ट सहस्री, देवागमालंकार, युक्त्यनुशासनालंकार, विद्यानन्द महोदय, आप्त परीक्षा, प्रमाण परीक्षा, पत्र परीक्षा, सत्य शासन परीक्षा, श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र।

इन ९ ग्रंथों में प्रथम ३ टीका ग्रंथ हैं।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक

यह टीका आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र पर है। इस ग्रंथ का परिमाण १८००० श्लोक है। यह टीका आचार्य विद्यानन्द की परिमार्जित एवं प्रसन्न रचना है। इसमें लेखक का अगाध पांडित्य प्रतिबिम्बित है। आचार्य अकलंक की राजवार्तिक में जो गहराई न उभर पाई वह इसमें उभरी है। इस कृति से उनके महान् सैद्धान्तिक ज्ञान का परिचय मिलता है। इसकी शैली मीमांसक मेधावी कुमारिल भट्ट की शैली से प्रतिस्पर्धा करती हुई प्रतीत होती है। इस ग्रंथ के नामकरण में भी कुमारिल भट्ट के 'मीमांसक श्लोक वार्तिक' ग्रंथ की प्रतिच्छाया है।

अष्ट सहस्री

यह रचना आचार्य समंतभद्र की आप्त मीमांसा पर है। यथार्थ में आप्त मीमांसा पर निर्मित आचार्य अकलंक की टीका की टीका है। अष्टशती के प्रत्येक पद्य की व्याख्या इस कृति में स्पष्टता से हुई है। अष्टसहस्री टीका आठ सहस्र श्लोक परिमाण है। यह तथ्य इसके नामकरण से भी स्पष्ट है। इस कृति को पढ़ने से तीनों ग्रंथों की (आप्त मीमांसा, अष्टशती, अष्टसहस्री) का एकसाथ स्वाध्याय हो जाता है। इस ग्रंथ की रचना कर आचार्य विद्यानन्द ने आचार्य अकलंक भट्ट के गूढ़ ग्रंथ को समझने का मार्ग सुगम किया है। आचार्य अकलंक को चमकाने का काम आचार्य विद्यानन्द ने किया है। अतः कतिपय विद्वानों में आचार्य विद्यानन्द को आचार्य अकलंक का शिष्य मान लेने में भ्रान्ति भी हो गई थी।

युक्त्यनुशासनालंकार

यह ग्रंथ आचार्य समंतभद्र स्वामी का स्तुति-प्रधान ग्रंथ है। इसके ६४ पद्य हैं। प्रत्येक पद्य अत्यंत गूढ़ है। आचार्य विद्यानन्द की 'युक्त्यनुशासनालंकार' की टीका की रचना इसी ग्रंथ पर हुई हैं। यह टीका युक्त्यनुशासन जैसे दुरूह ग्रंथ में प्रवेश पाने का राजपथ है। आप्त परीक्षा और प्रमाण परीक्षा में युक्त्यनुशासनालंकार का उल्लेख है।

विद्यानन्द महोदय

यह विद्यानन्द की सर्वप्रथम रचना है जो आज उपलब्ध नहीं है। श्लोकवार्तिक आदि टीकाओं में इस ग्रन्थ का अनेक स्थानों पर उल्लेख है।

आप्त परीक्षा

इस ग्रंथ में १२४ कारिकाएं हैं। इसमें सर्वज्ञ के स्वरूप का विवेचन है। ईश्वर, कपिल, बुद्ध और ब्रह्म के स्वरूप का युक्तिपूर्ण निरसन भी है।

प्रमाण परीक्षा

यह प्रमाण विषयक कृति है। प्रत्यक्ष, परोक्ष आदि के भेद-प्रभेदों का वर्णन इसमें प्राप्त है और 'आप्त परीक्षा' कृति का उल्लेख भी है। इससे इस कृति की रचना 'आप्त परीक्षा' के बाद हुई प्रमाणित होती है।

पत्र परीक्षा एवं सत्यशासन परीक्षा

पत्र परीक्षा आचार्य विद्यानन्द की लघु रचना है। सत्य शासन परीक्षा बहुत लम्बे समय तक अप्राप्य रही है, यह विद्यानन्द की अन्तिम रचना है।

श्री पुरपार्श्व स्तोत्र

इस ग्रंथ की रचना देवागम की शैली में हुई है, अतः इन दोनों कृतियों के श्लोकों का परस्पर साम्य भी है।

आचार्य विद्यानन्द परीक्षा-परायण थे। उन्होंने परीक्षान्त कृतियों में जैन दर्शन के तत्त्वों को भी युक्ति-निकष पर परीक्षापूर्वक युग के सामने प्रस्तुत किया है।

आचार्य विद्यानन्द की सूक्ष्म प्रज्ञा समग्र भारतीय दर्शनों के उपवन में विहरण कर प्रौढ़ता प्राप्त कर चुकी थी। अतः उनकी कृतियों में विविध दर्शनों के अध्ययन का आनन्द एकसाथ सहज ही प्राप्त हो जाता हैं।

आचार्य समंतभद्र का देवागम, अकलंक देव की अष्टशती, आचार्य उमास्वाति का तत्त्वार्थ सूत्र, आचार्य विद्यानन्द की रुचि के ग्रंथ थे। अतः इन तीनों पर उन्होंने टीका साहित्य लिखा है।

आचार्य विद्यानन्द के साहित्य को पढ़ने से लगता है उन पर आचार्य उमास्वाति, सिद्धसेन, समंतभद्र स्वामी, पात्र स्वामी, भट्ट अकलंक देव और कुमार नन्दी भट्टारक आदि विद्वानों का प्रभाव था।

आचार्य विद्यानन्द के ग्रंथों में जो गंभीरता पाई जाती है उसका कारण है कि उन्हें अपने पूर्ववर्ती जैन ग्रंथकारों की साहित्यनिधि से पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो सकी थी।

आचार्य विद्यानन्द ने अपने ग्रन्थों में मीमांसक विद्वान् जैमिनी शवर, कुमारिल भट्ट, प्रभाकर, कणाद दर्शन के विद्वान् व्योमशिवाचार्य, नैयायिक विद्वान् उद्योतकर आदि के ग्रन्थों का समालोचन जिस कुशलता से अपने ग्रंथों में किया है उसी कुशलता से वौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर आदि का भी अष्ट सहस्री प्रमाण परीक्षा आदि ग्रन्थों में सम्यक् निरसन किया है। इससे प्रतीत होता है कि वैदिक दर्शन की तरह बौद्ध दर्शन के भी वे गम्भीर पाठी थे।

आचार्य विद्यानन्द के ग्रंथों से प्रभावित होने वाले आचार्यों में आचार्य माणिक्यनन्दी, वादिराज, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, देवसूरि, हेमचन्द्र, अभिनव धर्म भूषण और

उपाध्याय यशोविजय जी आदि प्रमुख हैं।

आचार्य विद्यानन्द का कार्य क्षेत्र गंगवंश था। उन्होंने अपनी ग्रंथ रचना गंग-नरेश शिवमार द्वितीय एवं राजमल्ल सत्यवाक्य प्रथम के समय में की थी।

शक संवत् १३२० के उत्कीर्ण एक शिलालेख में नंदी संघ के साथ आचार्य विद्यानन्द का नाम है। इस आधार से आचार्य विद्यानन्द का नंदी संघ में दीक्षित होना संभव है।

आचार्य विद्यानन्द ने अपनी कृतियों में कहीं समय का संकेत नहीं दिया है। विविध शोधों के आधार पर आचार्य विद्यानन्द का समय ई० स० ७७५ से ८४० तक निर्धारित हुआ है। इस आधार पर आचार्य विद्यानन्द वीर निर्वाण १३०२ से १३६७ (वि० स० ८३२ से ८८७) तक के विद्वान् सिद्ध होते हैं।

१८. अध्यात्मनाद आचार्य अमृतचन्द्र

परमागम प्रवीण आचार्य अमृतचन्द्र आचार्य कुन्दकुन्द की कृतियों के महान् व्याख्याकार थे। वे वी० नि० १४३२ (वि० ९६२) में विद्यमान थे। जयसेन के धर्मरत्नाकर में अमृतचन्द्र के पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय के पद्यों का उल्लेख होने के कारण परमानन्द शास्त्री ने भी उनका समय वि० १०५५ से पहले का निर्णीत किया है।

आचार्य अमृतचन्द्र संस्कृत के अधिकारी विद्वान् थे। उनकी समग्र रचनाएं संस्कृत में संदृब्ध हैं। आचार्य कुन्दकुन्द को सही रूप में प्रस्तुत करने का महत्त्वपूर्ण काम उन्होंने किया।

उनकी अत्युत्तम कृति आत्मख्याति नामक टीका है। यह टीका कुन्दकुन्द के 'समयसार' ग्रन्थ पर लिखी गई है और नव प्रकार के रसों से परिपूर्ण है। शैल की तरह दुरूह समयसार का आरोहण इस टीका के द्वारा अतीव सुलभ हो गया है। इसके अतिरिक्त प्रवचनसार और पंचास्तिकाय पर भी सरस टीकाएं लिखी हैं। ये तीनों टीकाएं नाटकत्रयी के नाम से भी प्रसिद्ध हैं।

'समयसार' की टीका के श्लोक-संग्रह से—'समयसार कलश' नामक स्वतंत्र ग्रंथ भी बना है। यह ग्रंथ बहुत ही रोचक है। कविवर बनारसीदास ने इस पर हिन्दी पद्यानुवाद किया है।

तत्त्वार्थसार—उमास्वाति 'तत्त्वार्थ सूत्र' की हृदयग्राही पद्य रचना है। 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' उनकी श्रावकाचार विषयक सर्वथा स्वतंत्र एवं मौलिक कृति है।

आचार्य अमृतचन्द्र को जैनागम का अगाध ज्ञान था। विद्वान् होने के साथ-साथ वे अध्यात्म के मूर्त रूप भी थे। उनकी हर एक रचना में अध्यात्म का निर्झर छलकता और हर एक वाक्य अध्यात्म रस से संसिक्त होकर रचना के साथ संपुटित होता।

गम्भीर आध्यत्मिकता की अनुभूति कराता हुआ उनका साहित्य उच्चतम काव्यशक्ति का परिचायक है। ससन्दर्भ निश्चय और व्यवहार को निरूपण करने की उनकी क्षमता उनके साहित्य-पाठक को आत्मविभोर किए बिना नहीं रहती।

महामनीषी आचार्य अमृतचन्द्र को अपनी प्रखर प्रतिभा का जरा भी गर्व

नहीं था। उनके ग्रंथों का अत्यन्त सूक्ष्मता से अवलोकन करने पर भी कहीं और किसी शब्द में उनके अपने अहं-प्रदर्शन की झलक तक नहीं मिलती।

अपनी साहित्यिक रचनाओं के विषय में अपना परिचय भी उन्होंने विलक्षण ढंग से दिया है। वे लिखते हैं :

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः॥

—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

—तरह-तरह के वर्णों से पद बन गए, पदों से वाक्य बन गए और वाक्यों से यह पवित्र शास्त्र बन गया। मैंने इसमें कुछ नहीं किया।

महान् विद्वान् आचार्य अमृतचन्द्र का यह निगर्वी व्यवहार उनकी उच्चतम महत्ता का बोध कराता है।

अध्यात्मनाद आचार्य अमृतचन्द्र वी० नि० १५वीं (वि० १०वीं) शताब्दी के विद्वान् थे।

१९. सिद्धि-सोपान आचार्य सिद्धर्षि

सुप्रसिद्ध जैनाचार्य सिद्धर्षि वज्र स्वामी की परंपरा के थे। वज्र स्वामी के शिष्य वज्रसेन थे। वज्रसेन के चार शिष्य थे। उनमें द्वितीय शिष्य निर्वृत्ति से 'निर्वृत्तिगच्छ' की स्थापना हुई। इसी निर्वृत्तिगच्छ में सूराचार्य हुए हैं। आचार्य गर्गर्षि सूराचार्य के शिष्य थे और सिद्धर्षि के दीक्षागुरु थे।

सिद्धर्षि गुजरात के श्रीमालपुर के थे। उनके पिता का नाम शुभंकर और माता का नाम लक्ष्मी था। उनके दादा का नाम सुप्रभ देव था। सुप्रभ देव गुजरात के श्री वर्मलात नामक राजा के मंत्री थे। मंत्री सुप्रभ देव के दो पुत्र थे—दन्त और शुभंकर। दन्त के पुत्र का नाम माघ था। शिशुपाल आदि उत्कृष्ट काव्यों की रचनाओं से माघ की प्रसिद्धि कवि के रूप में हुई।[1] शुभंकर के पुत्र सिद्धर्षि श्रमण भूमिका में प्रविष्ट हुए और जैन तथा बौद्ध दर्शन का गंभीर अध्ययन कर वे प्रकांड विद्वान् बने। श्रमण-भूमिका में प्रवेश पाने में प्रमुख निमित्त उनकी सुदृढ़ अनुशासिका माता थी।

सिद्धर्षि के जीवन में औदार्य आदि अनेक गुण विकासमान थे पर उन्हें द्यूत खेलने का नशा था। माता-पिता, बंधु एवं मित्रों द्वारा मार्ग-दर्शन देने पर भी उनसे द्यूत का परित्याग न हो सका।[2] दिन-प्रतिदिन उनके जीवन में द्यूत का नशा गहरा होता गया। हर क्षण उन्हें यही चिंतन रहता। वे प्रायः अर्ध-रात्रि का अतिक्रमण कर लौटते। उनकी पत्नी को प्रतीक्षा में रात्रि-जागरण करना पड़ता। पति की इस आदत से पत्नी खिन्न रहती थी। एक दिन सास ने वधू को उदासी का कारण पूछा। लज्जावनत वधू ने पति के द्यूत व्यसन की तथा निशा में विलंब से आगमन की बात स्पष्ट बता दी। सास बोली—"विनयिनी! तुमने मुझे इतने दिन तक क्यों नहीं बताया? मैं पुत्र को मीठे-कड़ुए वचनों से प्रशिक्षण देकर सही मार्ग पर ले आती। तुम निशा में निश्चिंत होकर नींद लेना, रात्रि का जागरण मैं करूंगी।" सास के कथन से वधू सो गयी और पुत्रागमन की प्रतीक्षा में लक्ष्मी बैठी थी। यामिनी के पश्चिम याम में पुत्र ने द्वार खटखटाया। माता लक्ष्मी क्रुद्ध होकर बोली—"काल-विकाल में भटकने वाले पुत्र सिद्ध को मैं कुछ भी नहीं समझती। अनुचित विहारी एवं मर्यादातिक्रांत के लिए मेरे घर में कोई स्थान नहीं है। तुम्हें जहां

अनावृत द्वार मिले वहीं चले जाओ।" सिद्धर्षि तत्काल उल्टे पांव लौटे। धर्म स्थान के द्वार खुले थे। वे वहीं पहुंच गए। वहां गोदोहिकासन, उत्कटिकासन, वीरासन, पद्मासन आदि मुद्रा में स्थित स्वाध्याय-ध्यानरत मुनि जनों को देखा। उनकी सौम्य मुद्रा के दर्शनमात्र से व्यसनासक्त सिद्धर्षि का मन परिवर्तित हो गया। सोचा—'मेरे जन्म को धिक्कार है। मैं दुर्गतिदायक जीवन जी रहा हूं। आज सौभाग्य से सुकृत वेला आई, उत्तम श्रमणों के दर्शन हुए। मेरी मां प्रकुपित होकर भी परम उपकारिणी बनी है। उनके योग से मुझे यह महान् लाभ मिला। उष्ण क्षीर का पान पित्तप्रणाशक होता है।[३] शुभ्र अध्यवसायों में लीन सिद्धर्षि ने उच्च स्वरों से मुनिजनों को नमस्कार किया। गुरुजनों के द्वारा परिचय पूछे जाने पर उन्होंने द्यूत व्यसन से लेकर जीवन का समग्र वृत्तात सुनाया और निवेदन किया—"जो कुछ मेरे जीवन में घटित होना था, हो गया। अब मैं धर्म की शरण ग्रहण कर आपके परिपार्श्व में रहना चाहता हूं। नौका के प्राप्त हो जाने पर कौन व्यक्ति समुद्र को पार करने की कामना नहीं करेगा।"[४] गुरु ने सिद्धर्षि को ध्यान से देखा। ज्ञानोपयोग से जाना—यह जैनशासन का प्रभावक होगा। उन्होंने मुनिचर्या का बोध देते हुए कहा—"सिद्ध! संयम स्वीकृत किए बिना हमारे साथ कैसे रहा जा सकता है? तुम्हारे जैसे स्वेच्छाविहारी व्यक्ति के लिए यह जीवन कठिन है। मुनिव्रत असिधारा है। घोर ब्रह्मव्रत का पालन, सामुदानिकी माधुकरी वृत्ति से आहार ग्रहण, षट् भक्त, अष्ट भक्त तप की आराधना रूप में कठोर मुनिवृत्ति का पालन लोहमय चनों का मोम के दांतों से चर्वण करना है।"

सिद्ध ने कहा—"मेरे इस व्यसनपूर्ण जीवन से साधु जीवन सुखकर है।" दीक्षा जीवन की स्वीकृति में पिता की आज्ञा आवश्यक थी। संयोगवश सिद्ध के पिता शुभंकर पुत्र को ढूंढ़ते इतस्ततः घूमते वहां पहुंच गए। पुत्र को देखकर प्रसन्न हुए। पुत्र सिद्ध को घर चलने के लिए कहा। पिता के द्वारा बहुत समझाये जाने पर भी सिद्ध ने दीक्षा लेने का निर्णय नहीं बदला। पुत्र के दृढ़ संकल्प के सामने पिता को झुकना पड़ा। सिद्ध पिता से आज्ञा पाकर गर्गर्षि के पास मुनि-जीवन में प्रविष्ट हुए।

पुरातन प्रबंध संग्रह के अनुसार श्री मालपुर के दत्त एवं शुभंकर दो भाई थे। उनका गोत्र भी श्रीमाल था। उनके बड़े भाई दत्त का नाम माघ एवं शुभंकर के पुत्र का नाम सीधाक था। सीधाक बाल्यकाल से द्यूत-व्यसनी हो गया। कभी-कभी वह द्यूत में हार जाने पर अपने ही घर में चोरी कर लिया करता था। पिता की संपत्ति से वह प्रच्छन्न द्रव्य खींचने लगा था। इससे पारिवारिक सदस्य सीधाक से अप्रसन्न रहने लगे थे। जुए में हार जाने पर पांच सौ द्रमक अथवा उनके बदले अपना मस्तक दे देने के लिए वचनबद्ध होकर एक दिन सीधाक ने जुआ खेला था।[५] संयोग की बात थी उस दिन भाग्य ने सीधाक का साथ नहीं दिया वह द्यूत में हार गया।

उसके लिए पांच सौ द्रमक देने की बात कठिन हो गयी। निशा में वह जुआरियों के मध्य सोया था। कपाट बन्द थे। द्वार से निकल भागने का कोई रास्ता नहीं था। सीधाक अर्ध-रात्रि के आसपास उठा एवं प्रासाद-भित्ति से छलांग लगाकर कूद गया। गहन अंधकार के बाद उषा का उदय होता है। द्यूत में हार जाने के कारण सीधाक गहरे दुःख में था। मौत सर पर नाच रही थी। भाग्य से सीधाक के भित्ति से कूदते हुए ही भाग्य पलट गया, भवन के पार्श्ववर्ती उपाश्रय में वह पहुंच गया। तीव्र धमाके से श्रमणों की नींद टूटी। उन्होंने सामने खड़े व्यक्ति को देखकर पूछा, "तुम कौन हो ?"

सीधाक ने अपना नाम बताया और वह बोला, "आपके पास कुछ दातव्य है।" गुरु ने 'तथ्यम्' कहकर सीधाक को स्वीकृति प्रदान की। सीधाक भय की मुद्रा में बोला, "मुझे अल्प समय के लिए भी दीक्षा प्रदान करें।"

गुरु नक्षत्र एवं निमित्त ज्ञान के विशेष ज्ञाता थे। उस समय शुभ नक्षत्र का योग था। इस बेला में दीक्षित होने वाला व्यक्ति अत्यन्त प्रभावक होगा, यह सोच श्रमणों ने 'सीधाक' को दीक्षित कर लिया। प्रातःकाल होते ही उपासक 'सीधाक' को मुनि रूप में देखकर बोले—"आर्य ! बिना योग्यता के भी जैसे-तैसे व्यक्ति को दीक्षित कर लेते हैं। आपके शासन परिवार में योग्य व्यक्तियों की कमी हो गयी है ? मुनि परिवार छोटा हो गया है ?" 'सीधाक' के दीक्षागुरु गंभीर आचार्य थे। उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। मुनि 'सीधाक' के पास में ही उपदेशमाला ग्रंथ रखा हुआ था। मुनि सीधाक ने उसे पढ़ना प्रारम्भ कर दिया। शीघ्रग्राही प्रतिभा के कारण ग्रंथ के मुख्य स्थल उसे ज्ञात हो गए। उसकी शीघ्रग्राही प्रतिभा को देखकर गुरु प्रसन्न थे।

सीधाक की खोज करते-करते द्यूतकार धर्मस्थान पर पहुंचे। वे उससे ५०० द्रमक लेने की कामना से आए थे। उन्होंने श्रमणों से कहा—"वे 'सीधाक' को छोड़ दें।" श्रावक वर्ग 'सीधाक' के बदले ५०० द्रमक देने को प्रस्तुत हुआ।

द्यूतकार बोले—"आप लोगों ने इस पर विश्वास कैसे कर लिया है ? इसने हमें धोखा दिया है, इसी प्रकार आपको भी दे सकता है।" श्रावक वर्ग ने धैर्य से उत्तर दिया, "यह ५०० द्रमक के बदले व्यसनमुक्त बनता है, यह अच्छा कार्य है।" द्यूतकारों के भी श्रावकों की बात समझ में आ गयी। सीधाक को श्रमण-धर्म में प्रविष्ट जान ५०० द्रमक लिए बिना ही उसे छोड़ वहां से चले गए।

प्रबंधकोश के अनुसार श्री मालपुर के धनी श्रेष्ठी जैन उपासक ने द्यूत-व्यसनी युवा सिद्धार्थ के ऋण को चुकाकर उसे द्यूतकारों की मंडली से मुक्त किया। घर ले जाकर भोजन करवाया, पढ़ा-लिखाकर उसे सब तरह से योग्य बनाया और उसका विवाह भी किया।

बालक सिद्ध के पिता नहीं थे। माता के संरक्षण का दायित्व उस पर ही था।

श्रेष्ठी के सहयोग से विपुल सम्पत्ति उसके पास हो गई थी।

राजपुत्र सिद्ध महान् उपकारी श्रेष्ठी के घर रात्रि में देर तक लेखन आदि का काम कर लौटता था। इससे उसकी पत्नी एवं माता दोनों अप्रसन्न थीं।

एक दिन की घटना है। रात्रि में अत्यधिक देर से लौटने के कारण माता और पत्नी ने द्वार नहीं खोले। तब वह किसी एक आपण (दुकान) में स्थित आचार्य हरिभद्र के पास गया। उनसे बोध प्राप्त किया और वहीं दीक्षित भी हो गया। प्रस्तुत प्रसंग के अनुसार आचार्य सिद्धर्षि के दीक्षागुरु आचार्य हरिभद्र थे। जैनदर्शन का गम्भीर अध्ययन कर श्रमण आचार्य सिद्धर्षि ने बौद्धों के पास बौद्धदर्शन को पढ़ने का आदेश मांगा। आचार्य हरिभद्र जानते थे वहां जाने के बाद वह जैनधर्म से विचलित हो सकता है। उन्होंने सिद्धर्षि से कहा, "शिष्य! 'तत्र मागा येन परावर्तो भावि' तुम वहां मत जाओ, वहां जाने से लाभ नहीं है। तुम्हारा मन निर्ग्रन्थ धर्म से बदल जाएगा।"

मुनि सिद्धर्षि नम्र होकर बोले, "युगान्तेऽपि नैवं स्यात्"—युगान्त में भी यह संभव नहीं है।

आचार्य हरिभद्र ने शिष्य सिद्धर्षि को मार्गदर्शन देते हुए कहा—"मुने! संयोग-वश तुम्हारा मन परिवर्तित हो जाए, जैनदर्शन के प्रति रुचि न रहे और बौद्ध धर्म में प्रविष्ट होने का अवसर उपस्थित हो जाए उससे पहले मेरे से एक बार जरूर आकर मिलना। सिद्धर्षि गुरुवचनों में बद्ध होकर वहां से चले। बौद्ध संस्थान में पहुंचकर उन्होंने बौद्ध शास्त्रों का अध्ययन किया। जब उनके सम्मुख बौद्ध भिक्षुओं द्वारा आचार्य पद नियुक्ति का प्रश्न उपस्थित हुआ उस समय वचनबद्ध होने के कारण मुनि सिद्धर्षि ने जैन मुनियों से मिलने का विचार सबके सामने प्रस्तुत किया और वे वहां से चल आचार्य हरिभद्र के पास आ पहुंचे।

श्रमण सिद्धर्षि का आचार्य हरिभद्र के साथ शास्त्रार्थ हुआ। पराभव को प्राप्तकर वे जैन हो गए। पुनः बौद्धों के पास गए बौद्ध हो गए। इस प्रकार इक्कीस बार मुनि सिद्धर्षि ने जैन और बौद्धों के बीच आवृत्ति की।[६] बाइसवीं बार आचार्य हरिभद्र ने सोचा, 'पुनः-पुनः मिथ्यात्व प्राप्ति से एवं विपरीत श्रद्धान में ही आयुष्य क्षीण हो जाने से सिद्धर्षि का भवभ्रमण वृद्धिगत होगा' अतः इस बार शास्त्रार्थ न करके संस्कारों को सुदृढ़ करने के लिए आचार्य हरिभद्र ने उन्हें 'ललित विस्तर' नामक वृत्ति ग्रंथ पढ़ने को दिया और वे स्वयं अन्यत्र चले गए। इस ग्रंथ को पढ़कर सिद्धर्षि परम बोध को प्राप्त हुए। इसके बाद कभी वे जैनदर्शन से दिग्भ्रान्त नहीं हुए। इस बात का उल्लेख करते हुए स्वयं सिद्धर्षि ने लिखा है :

नमोस्तु हरिभद्राय तस्मै प्रवरसूरये।
मदर्थं निर्मिता येन वृत्तिर्ललितविस्तरा॥

प्रभावक चरित्र के अनुसार सिद्धर्षि के गुरु गर्गर्षि थे। उन्हें बौद्ध में प्रविष्ट

सिद्धर्षि को समझाने में पुनः-पुनः प्रयास नहीं करना पड़ा था। वे एक ही बार में सफल हो गए थे। बौद्ध भिक्षु की मुद्रा में सिद्धर्षि को अपने सामने उपस्थित देखकर उन्होंने कहा—"कोई बात नहीं, तुम बौद्ध भिक्षु बन चुके हो। थोड़ी देर के लिए रुको, इस ग्रंथ को पढ़ो। मैं अभी बाहर जाकर आता हूं। ग्रंथ को पढ़ते ही सिद्धर्षि के विचार परिवर्तित हो गए।" गर्गर्षि के आने पर वे उनके चरणों में झुके और अपनी भूल पर अनुताप करते हुए बोले—"मैं हरिभद्र को नमस्कार करता हूं जिनकी कृति ने मेरे मानस की कालिख को धो डाला है। यह ग्रंथ ललित (ललित विस्तरा वृत्ति) मेरे हेतु सूर्य की भांति पथ-प्रकाशक सिद्ध हुआ है।" सिद्धर्षि के परिवर्तित विचारों से गर्गर्षि प्रसन्न हुए। उन्होंने तत्काल जैन दीक्षा प्रदान कर आचार्य पद पर उन्हें नियुक्त कर दिया।

सिद्धर्षि को हरिभद्र के ग्रंथ से बोध प्राप्त हुआ, अतः उन्होंने हरिभद्र को अपना महा उपकारी माना है। उनकी भावना का प्रतिबिम्ब निम्नोक्त श्लोक से स्पष्ट है :

महोपकारी स श्रीमान् हरिभद्रप्रभुर्यतः।
मदर्थमेव येनासौ ग्रन्थोऽपि निरमाप्यत ।।१२९।।

(प्रभावक चरित, पृ० १२५)

आचार्य सिद्धर्षि ने अपने ग्रंथों में आचार्य हरिभद्र का पुनः-पुनः गौरव के साथ स्मरण किया है। उनका नमस्कार विषयक प्रभावक चरित्र का श्लोक है :

विषं विनीर्धूय कुवासनामयं व्यचीचरद् यः कृपया मदाशये।
अचिन्त्य वीर्येण सुवासना सुधां नमोस्तु तस्मै हरिभद्रसूरये ।।१३२।।

आचार्य हरिभद्र सूरि को नमस्कार है। उन्होंने विशेष अनुकम्पा कर मेरे हृदय में प्रविष्ट कुवासना-विष का प्रणाश किया और सुवासना सुधा का निर्माण किया है। यह उनकी अचिन्त्य शक्ति का प्रभाव है।

आचार्य पदारोहण के बाद आचार्य सिद्धर्षि ने गुजरात के विभिन्न क्षेत्रों में विहरण कर धर्म की गंगा प्रवाहित की।

वे धर्म, दर्शन, अध्यात्म के महान् व्याख्याकार, सिद्धहस्त लेखक एवं संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उन्होंने श्री दिवाकर जी के न्यायावतरण पर और धर्मकीर्ति की उपदेश माला पर अत्युत्तम टीकाएं लिखीं।

साहित्य-जगत् की सबसे सुन्दर कृति उनकी 'उपमिति भव प्रपंच कथा' है। इस कथा रचना में महान् प्रेरक आचार्य उद्योतन थे।

कुवलयमाला के रचनाकार आचार्य उद्योतन आचार्य सिद्धर्षि के गुरुभ्राता थे। उन्होंने एक दिन सिद्धर्षि से कहा, "मुने ! समरस भाव से परिपूर्ण आकण्ठ तृप्तिदायक समरादित्य कथा की कीर्ति सर्वत्र प्रसारित हो रही है। विद्वान् होकर भी तुमने अभी तक किसी ग्रंथ का निर्माण नहीं किया है।"

आचार्य उद्योतन के वचनों से सिद्धर्षि खिन्न हुए और प्रत्युत्तर में बोले, "सूर्य के सामने खद्योत की क्या गणना है ? महान् विद्वान् हरिभद्र के कवित्व की तुलना मेरे जैसा मन्दमति व्यक्ति कैसे कर सकता है ?"

आचार्य उद्योतन एवं महर्षि के बीच वार्तालाप का प्रसंग समाप्त हो गया पर गुरुभ्राता के द्वारा कही गयी यह बात आचार्य सिद्धर्षि के लिए मार्गदर्शक बनी। उन्होंने 'उपमिति भव प्रपंच' नामक महाकथा की रचना की। यह कथा सुधी जनों के मस्तक को भी विधूनित करने वाली उपशमभाव से परिपूर्ण थी। इसे सुनकर लोग प्रसन्न हुए और धर्म संघ ने उनको 'सिद्ध व्याख्याता' की उपाधि दी।

यह कथाग्रंथ भारतीय रूपक ग्रंथों में शिरोमणि ग्रंथ माना गया है। इस ग्रंथ में भाषा का लालित्य, शैली-सौष्ठव और उन्मुक्त निर्झर की तरह भावों का अस्खलित प्रवाह है। डा० हर्मन जेकोबी ने इस पर अंग्रेजी में प्रस्तावना लिखी है। ग्रंथ-गौरव के विषय में उनके शब्द हैं :

"I did find something still more important. The great literary value of the U. Katha and the fact that it is the first allegorical work in Indian Literature."

—मुझे अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु उपलब्ध हुई है, वह है 'उपमिति भव प्रपंच कथा' जो मूल्यवान साहित्यिक कृति है एवं भारतीय साहित्य का यह प्रथम रूपक ग्रंथ है।

यह ग्रंथ मारवाड़ के भीनमाल नगर में ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी गुरुवार के दिन सम्पन्न हुआ था।

आचार्य सिद्धर्षि के पास विशेष वचन सिद्धि भी थी। उनके मुख से सहजतः जो कुछ कह दिया जाता था वह उसी रूप में फलित हो जाता था, अतः उनका सिद्ध नाम सार्थक भी था।

'उपमिति भव प्रपंच' कथा का रचना-काल वी० नि० १४३२ (वि० ९६२) है।

उपदेशमाला कृति का रचना-काल वी० नि० १४४४ (वि० ९७४) है।

प्रस्तुत दोनों प्रमाणों के आधार पर आचार्य सिद्धर्षि वीर निर्वाण १५वीं (वि० १०वीं) सदी के विद्वान् सिद्ध होते हैं।

संयम् श्रीसम्पन्न आचार्य सिद्धर्षि सिद्धि-सदन के सुगम सोपान थे।

आधार-स्थल

१. श्रीमाघोऽस्ताघधीः श्लाघ्यः प्रशस्यः कस्य नाभवत् ।
चित्रं जाड्यहरा यस्य काव्यगङ्गोर्मिविप्रुषः ॥१७॥

(प्रभा० च०, पृ० १२१)

२. पितृभ्रातृगुरुस्निग्धबन्धुमित्रैर्निवारितः ।
अपि नैव न्यवर्तिष्ट दुर्वार व्यसनै र्यतः ॥२३॥

(प्रभा० च०, पृ० १२१)

३. अमीषां दर्शनात् कोपिन्यापि सूपकृतं मयि ।
जनन्या क्षीरमुत्तप्तमपि पित्तं प्रणाशयेत् ॥४७॥

(प्रभा० च०, पृ० १२२)

४. अतः प्रभृति पूज्यानां चरणौ शरणं मम ।
प्राप्ते प्रवहणे को हि निस्तितीर्षति नाम्बुधिम् ॥ ५१ ॥

(प्रभा० च०, पृ० १२२)

५. अन्यदा रगमाणेनोक्तम्-द्रम्म ५०० यावत् क्रीड़यध्वम् ।
द्रम्मान् ददामि, शिरो वा ददामि ।

(पुरातन प्र० सं०, पृ० १०५)

६. एवं वेपद्वयप्रदानेन एहिरेयाहिराः २१ कृताः ।
एवं वेषद्वयप्रदानेन एहिरेयाहिराः २१ कृताः ।

(प्रबन्धकोश, पृ० २५, २६)

७. दिनैः कतिपयैर्मासमाने तपसि निर्मिते ।
शुभे लग्ने पञ्चमहाव्रतारोपणपर्वणि ॥८२॥

(प्रभा० च०, पृ० १२३)

८. ग्रन्थं व्याख्यानयोग्यं यदेनं चक्रे शमाश्रयम् ।
अतः प्रभृति सङ्घोऽस्य व्याख्यात् बिरुदं ददौ ॥६७॥

(प्रभा० च०, पृ० १२६)

२०. साहित्य-सुधांशु आचार्य शीलांक

निवृत्तिगच्छ के विद्वान आचार्य शीलांक सुविस्तृत टीकाओं के सृजनहार थे। वे मानदेव सूरि के शिष्य थे। उनकी प्रसिद्धि शीलाचार्य और तत्त्वादित्य के नाम से भी है। संस्कृत व प्राकृत दोनों भाषाओं का उनको अधिकृत ज्ञान था। दस सहस्र श्लोक प्रमाण 'चउप्पन्न पुरिस चरियं' उनकी प्राकृत रचना है। इस कृति में चौवन उत्तम पुरुषों का जीवन-चरित्र अंकित है। हेमचन्द्राचार्य ने 'त्रिषष्टिशलाका पुरुष-चरितम्' ग्रन्थ रचना में इस कृति का सहारा लिया था। इस ग्रन्थ को शीलांक ने वि० ९२५ में सम्पन्न किया था।

शीलांक की स्फुरितमेधा का दर्शन उनके टीका साहित्य में होता है। इन्होंने प्रथम ग्यारह अंगों पर टीकाएं लिखीं। उनमें से आचारांग व सूत्रकृतांग पर लिखी गई टीकाएं ही वर्तमान में उपलब्ध हैं।

आचारांग टीका बारह हजार श्लोक परिमाण व सूत्रकृतांग टीका बारह हजार आठ सौ पचास श्लोक परिमाण है। मूल एवं निर्युक्ति पर आधारित इन टीकाओं की महत्ता विषय विवेचन में है। टीकाकार ने शब्दार्थ करके ही संतोष नहीं माना अपितु प्रत्येक विषय की विस्तार से चर्चा की है और निर्युक्ति गाथाओं के अर्थ को अच्छी तरह से समझाने का प्रयास किया है। प्राकृत व संस्कृत श्लोकों के प्रयोग से भाषा में रोचकता भी पैदा हो गयी है।

गन्धहस्तीसूरि की आचारांग व सूत्रकृतांग पर लिखी टीका आचार्य शीलांक के सामने थी। यह बात भी प्रस्तुत टीकाओं के पढ़ने से स्पष्ट हो जाती है।

आचार्य शीलांक ज्ञान-चन्द्रिका को विस्तार देने हेतु साहित्य के निर्मल सुधांशु थे। उन्होंने जैनागम पिपासु पाठकों के सुबोधार्थ टीकाओं का निर्माण किया था। आचारांग, सूत्रकृतांग टीकाओं का परिसमाप्ति-काल शक सम्वत् सात सौ बहत्तर के लगभग माना गया है।

सूत्रकृतांग टीका की परिसमाप्ति पर आचार्य शीलांक लिखते हैं : "समाप्त-मिदं नालन्दाख्यं सप्तममध्ययनम्। इति समाप्तेयं सूत्रकृतद्वितीयांगस्य टीका। कृता चेयं शीलाचार्येण बाहरिगणिसहायेन।"

टीका निर्माण में आचार्य शीलांक को वाहरिगणी का पर्याप्त सहयोग प्राप्त

था। यह बात प्रस्तुत पाठ से प्रमाणित हो जाती है।

टीकाकार आचार्य शीलांक का समय 'चउप्पन्न पुरिस चरियं' ग्रन्थ की मिति संवत् के आधार पर तथा टीका में प्राप्त टीका-रचना-समाप्तिकाल के अनुसार वी० नि० की १४वीं सदी का उत्तरार्द्ध है।

२१. शास्त्रार्थ-निपुण सूराचार्य

श्वेताम्बर परम्परा के शक्तिधर सूराचार्य द्रोणाचार्य के शिष्य थे। वे गुजरात के अणहिल्लपुर के क्षत्रिय थे। उनके पिता का नाम संग्रामसिंह था। द्रोणाचार्य और संग्रामसिंह दोनों भाई थे। अणहिल्लपुर के महाराज भीम के वे मामा थे। सूराचार्य के गृहस्थ जीवन का नाम महीपाल था।

महीपाल को विविध विद्याओं में प्रशिक्षित करने का कार्य द्रोणाचार्य ने किया था। एक दिन द्रोणाचार्य ने महीपाल को माता के आदेश से श्रमण दीक्षा प्रदान की और कुछ समय वाद उनकी नियुक्ति गुरु के द्वारा आचार्य पद पर हुई। महीपाल मुनि ही सूराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए।

एक बार राजा भोज की सभा का सचिव श्लोक लेकर राजा भीम की सभा में उपस्थित हुआ। सूराचार्य ने उस श्लोक के प्रतिवाद में नया श्लोक बनाकर राजा भीम को भेंट किया।

राजा भीम ने वही श्लोक राजा भोज के पास प्रेषित किया। राजा भोज विद्वानों का सम्मान करता था। वह भीम राजा द्वारा भेजे गये श्लोक को पढ़कर प्रसन्न हुआ और श्लोक के रचनाकार को अपनी सभा में आने के लिए आमन्त्रण भेजा।

सूराचार्य महान् विद्वान् थे। वे अनेक श्रमण विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे और कर्कश स्वरों में तर्जना दिया करते थे। कभी-कभी काष्ट-दंडिका से उन पर प्रहार भी कर देते थे। यह बात द्रोणाचार्य के पास पहुंची। उन्होंने सूराचार्य को इस कठोर अनुशासनात्मक पद्धति के लिए उपालम्भ भी दिया। सूराचार्य ने कहा, "मैं इनको वाद-कुशल बनाने की दृष्टि से कटु शब्दों में ताड़ना देता हूं।" द्रोणाचार्य शिक्षार्थी श्रमणों का समर्थन करते हुए वोले, "इनको वाद-कुशल बनाने के लिए पहले तुम स्वयं राजा भोज की सभा में विजयी वनकर आए हो?"[१]

गुरु की यह वात सूराचार्य के हृदय में चुभ गयी। उन्होंने भोज की सभा में वाद-जयी बनने से पहले किसी भी प्रकार के सरस आहार (विगय) न लेने की प्रतिज्ञा ले ली।[२] सूराचार्य प्रस्थान की तैयारी कर ही रहे थे, राजा भोज का निमंत्रण भी आ पहुंचा। गुरु का आदेश और महाराजा भीम का आशीर्वाद पाकर

वे वहां से विदा हुए। धारा नगरी में उनका राजकीय सम्मान के साथ प्रवेश हुआ। राजा भोज ने स्वयं सामने आकर उनका गौरव बढ़ाया।

सूराचार्य की काव्य-रचना से राजा भोज पहले ही प्रभावित थे। अब उनकी शास्त्रार्थ कुशलता ने धारा नगरी के अन्य विद्वानों पर भी अपूर्व छाप अंकित कर दी।

एक बार राजा भोज ने भिन्न-भिन्न धर्म सम्प्रदायों के धर्म गुरुओं को कारागृह में बन्द कर उन्हें एकमत हो जाने के लिए विवश किया था। इस प्रसंग पर धार्मिकों के सामने भारी धर्म-संकट उपस्थित हो गया था।

सूराचार्य ने एक युक्ति सोची। राजसभा में पहुंचकर वे बोले, "मैंने आपकी धारा नगरी का निरीक्षण किया है। यह नगरी यथार्थ में ही दर्शनीय है पर इस विषय में मेरा आपसे निवेदन है कि यहां की सब दुकानें एक हो जाने पर ग्राहकों को अधिक सुविधा होगी। उन्हें वस्तुओं का क्रय करने के लिए भिन्न-भिन्न स्थानों पर पहुंचने का कष्ट नहीं करना पड़ेगा।"[3]

राजा भोज मुस्करा कर बोले, "संतश्रेष्ठ ! सब दुकानों के एक हो जाने की बात कैसे संभव है ? एक ही स्थान पर अधिक भीड़ हो जाने से लोगों के लिए क्रय-विक्रय के कार्य में अधिक बाधा उपस्थित होगी।"[4]

सूराचार्य ने कहा, "राजन् ! भिन्न-भिन्न अभिमत रखने वाले धर्म सम्प्रदायों का एक हो जाना सर्वथा असंभव है। दयार्थी जैन-दर्शन, रसार्थी कोल-दर्शन, व्यवहारप्रधान वैदिक-दर्शन एवं मुक्ति का कामी निरंजन सम्प्रदाय का मतैक्य कैसे हो सकता है ?"[5]

युक्तिपुरस्सर कही हुई सूराचार्य की बात राजा भोज के समझ में आ गयी। उन्होंने कारागृह में बन्द धर्मगुरुओं को मुक्त कर दिया।

विद्वान् राजा भोज के धर्मनिष्ठ, चिन्तनशील व्यक्तित्व के साथ यह प्रसंग अस्वाभाविक-सा प्रतीत होता है।

एक बार राजा भोज द्वारा रचित व्याकरण में भी अशुद्धि का निर्देश कर सूराचार्य ने वहां की विद्वत् सभा का उपहास किया था। इस प्रवृत्ति से राजा भोज कुपित हुए। इस कोष का भयंकर परिणाम सूराचार्य को भोगना पड़ता पर कवि धनपाल ने बीच में आकर उन्हें बचा लिया और प्रच्छन्न रूप में सकुशल वहां से विदा कर दिया था।

सूराचार्य का युग शिथिलाचार का युग था। आचार्य गजवाहन का उपयोग करने लगे थे। सूराचार्य ने भी धारा नगरी और पाटण में प्रवेश करते समय गज-वाहन का उपयोग किया था।[6]

सूराचार्य ज्ञान के सूर्य थे। उन्होंने आदिनाथ और नेमिनाथ से सम्बन्धित एक उच्चकोटिक ज्ञानवर्धक ऐतिहासिक द्विसंधान नामक काव्य का निर्माण किया था।

सूराचार्य प्रशिक्षण प्रदान करने की विद्या में सुदक्ष थे। उन्होंने अपने पास अधीत शिष्यों को वाद-कुशल बनाया। आचार्य द्रोणसूरि के स्वर्गवास के बाद सूराचार्य ने गण का दायित्व सम्भाला। जैन प्रवचन की उन्नति की। जीवन के संध्या काल में अपने पद पर योग्य शिष्य को नियुक्त कर पैंतीस दिन के अनशन के बाद वे स्वर्ग को प्राप्त हुए।[7]

राजा भोज और धनपाल कवि के समकालीन होने के कारण सूराचार्य का समय वी० नि० की १५वीं (वि० ११वीं) शताब्दी संभव है।

आधार-स्थल

१. गुरवः प्राहुस्तानमत्ते बालेषु का कथा।
किमागच्छसि लग्नस्त्वं कृतभोजसभाजयः ॥६१॥

(प्रभा० चरित, पत्रांक १५४)

२. श्रुत्वेत्याह स चादेशः प्रमाणं प्रभुसंमितः।
आदास्ये विकृतीः सर्वाः कृत्वादेशममुं प्रभोः ॥६२॥

(प्रभा० चरित, पत्रांक १५४)

३. सूरिः प्राहैकमेकाट्टं कुरु किं बहुभिः कृतैः।
एकत्र सर्वं लभ्येत लोको भ्रमति नो यथा ॥१३५॥

(प्रभा० चरित, पत्रांक १५६)

४. राजाऽवदत् पृथग्वस्त्वर्थिनामेकत्रमीलने।
महाबाधा ततश्चक्रे पृथग् हट्टावली मया ॥१३६॥

(प्रभा० चरित, पत्रांक १५६)

५. दयार्थी जैनमास्थेयाद् रसार्थी कौलदर्शनम्।
वेदांश्च व्यवहारार्थी मुक्त्यर्थी च निरंजनम् ॥१३६॥

(प्रभा० चरित, पत्रांक १५६)

६. राजामात्योपरोधेन व्रताचारव्यतिक्रमे।
प्रायश्चित्तंविनिश्चित्य सूरिरारूढ़वान् गजम् ॥६२॥

(प्रभा० चरित, पत्रांक १५५)

७. योग्यं सूरिपदे न्यस्य भारमत्र निवेश्य च।
प्रायोपवेशनं पंचत्रिंशद्दिनमितं दधौ ॥२५८॥

(प्रभा० चरित, पत्रांक १६०)

२२. धर्मोद्योतक आचार्य उद्योतन सूरि

आचार्य उद्योतन सूरि नेमीचन्द सूरि के शिष्य थे। उन्होंने अपने जीवन में कई तीर्थ-यात्राएं की। एक बार वे आबू की यात्रा करते समय आबू पर्वत की तलहटी में एक विशाल वट वृक्ष के नीचे बैठे थे। वह विशाल वृक्ष तेली नामक ग्राम के निकट था। सूरि जी ज्योतिष विद्या के प्रकांड विद्वान् थे। उन्होंने उस समय बलवान् ग्रह नक्षत्रों को देखकर सर्वदेव आदि आठ शिष्यों को एकसाथ आचार्य पद पर नियुक्त किया और अपने शिष्य परिवार को वट वृक्ष की तरह विस्तार पाने का आशीर्वाद दिया। तभी से सर्वदेव सूरि का शिष्य परिवार वड़गच्छ नाम से प्रसिद्ध हुआ और वह वट शाखा की तरह ही विस्तार पाता रहा। कई विद्वानों का अभिमत है कि चौरासी गच्छों की शाखाएं यहीं से प्रस्फुटित हुई।

सर्वदेव सूरि आदि आचार्यों की नियुक्ति वी० नि० १४६४ (वि० स० ९९४) में हुई। इससे उद्योतन सूरि का समय वी० नि० की १५वीं (वि० स० १०वीं) सदी निश्चित होता है।

शुभ नक्षत्र को देखकर वट वृक्ष के नीचे आठ व्यक्तियों को उद्योतन सूरि ने दीक्षा दी थी। आचार्य पद के लिए नियुक्ति नहीं की थी। ऐसा भी कहीं-कहीं उल्लेख मिलता है।

मालवा से शत्रुंजय जाते हुए धर्मोद्योतक आचार्य उद्योतन सूरि का रास्ते में ही स्वर्गवास हो गया।

२३. स्वस्थ परम्परा-संपोषक आचार्य सोमदेव

दिगम्बर परम्परा के विद्वान् आचार्य सोमदेव आचार्य यशोदेव के प्रशिष्य एवं आचार्य नेमिदेव के शिष्य थे। दिगम्बर परम्परा के चार संघों में वे देवसंघ के थे। उनके लघु भ्राता का नाम महेन्द्र देव था।

आचार्य सोमदेव की मनीषा विविध विषयों में विशेषज्ञता प्राप्त थी। संस्कृत भाषा के वे अधिकारी विद्वान् एवं गद्य-पद्य दोनों प्रकार की विधा के अपूर्व रचनाकार थे।

वर्तमान में सोमदेव के तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं—नीतिवाक्यामृत, अध्यात्म-तरंगिणी, यशस्तिलक।

नीतिवाक्यामृत की शैली सूत्रात्मक है। इसमें राजनीति विषय का सांगोपांग विवेचन हुआ है। यह कृति बत्तीस अध्यायों में विभक्त है। इसकी रचना यशस्तिलक के बाद हुई है।

अध्यात्म तरंगिणी मात्र चालीस पद्यों का एक प्रकरण है।

यशस्तिलक आचार्य सोमदेव की अत्यन्त गंभीर कृति है। छह सहस्र श्लोक परिमाण यह ग्रंथ एक महान् धार्मिक आख्यान है। इसमें यशोधर का सम्पूर्ण कथाचित्र अत्यन्त सुन्दर ढंग से प्रस्तुत हुआ है। आचार्य सोमदेव के प्रखर पांडित्य एवं सूक्ष्म अन्वेषणात्मक दृष्टि का स्पष्ट दर्शन इस कृति से पाया जा सकता है। निर्विवाद रूप से यह कृति जैन-जैनेतर ग्रन्थों का सारभूत ग्रन्थ है। इसका शब्द-गौरव कवि माघ के काव्यों की स्मृति कराता है।

यशस्तिलक कृति में इन्द्र, चन्द्र, जैनेन्द्र, आपिशल और पाणिनीय व्याकरण की चर्चा एवं महाकवि कालिदास, भवभूति, गुणाढ्य, बाण, मयूर, व्यास आदि अपने पूर्वज विद्वानों का उल्लेख आचार्य सोमदेव के चतुर्मुखी ज्ञान का प्रतिबिम्ब है।

विषय-वस्तु एवं रचना शैली की दृष्टि से भी यशस्तिलक काव्य उच्चकोटि का है। इसका परायण करते समय कवि कालिदास, भवभूति, भारवि तीनों को एकसाथ पढ़ा जा सकता है।

यशस्तिलक के आठ आश्वास हैं। अन्तिम तीन आश्वास उपासकाध्ययन नाम से विश्रुत है। अंग साहित्य में सुप्रसिद्ध आगम 'उपासकदशा' से प्रभावित होकर

अपनी कृति का नाम उपासकाध्ययन देना आचार्य सोमदेव की मौलिक सूझ-बूझ का परिणाम है। यशस्तिलक का एक भाग होते हुए भी उपासकाध्ययन स्वतंत्र ग्रन्थ-सा प्रतीत होता है। यह ग्रन्थ छियालीस कल्पों में विभाजित है एवं प्रत्येक कल्प सारभूत बातों से गर्भित है। वैशेषिक, जैमनीय, कणाद, ब्रह्माद्वैत आदि अनेक दर्शनों की समीक्षा के साथ जैन दर्शन का विस्तार से प्रतिपादन इस कृति को जैन साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करता है।

आचार्य सोमदेव बचपन से ही तर्कशास्त्र के अभ्यासी विद्यार्थी थे। गाय घास खाकर जैसे दूध देती है, उसी प्रकार आचार्य सोमदेव की तर्कप्रधान बुद्धि से काव्य की धारा प्रवाहित हुई है। यशस्तिलक की उत्थानिका में सोमदेव ने लिखा है :

आजन्मसमभ्यस्ताच्छुष्कात्तर्कात्तृणादिव ममास्याः।
मतिसुरभेरभवदिदं सूक्तिपयः सुकृतिनां पुण्यैः ॥

शब्दज्ञान के आचार्य सोमदेव महान् पाथोधि थे। उन्होंने यशस्तिलक काव्य में ऐसे नूतन शब्दों का प्रयोग किया है जो अन्यत्र दुर्लभ है। अपनी इस शक्ति का परिचय देते हुए पांचवें आश्वास के अन्त में उन्होंने लिखा है :

अरालकाल व्यालेन ये लीढ़ा साम्प्रतं तु ते।
शब्दा श्री सोमदेवेन प्रोत्थाप्यन्ते किमद्भुतम् ॥

—विकराल काल व्याल के द्वारा निगल लिए गए शब्दों का सोमदेव ने प्रस्थापन किया है, इससे अद्भुत और क्या होगा ?

आचार्य सोमदेव की कृतियों में उपासकाध्ययन ग्रन्थ विशेष उपयोगी है। इस ग्रन्थ पर आचार्य समंतभद्र के रत्नकरण्ड श्रावकाचार का, आचार्य जिनसेन के महापुराण का, आचार्य गुणभद्र के आत्मानुशासन का, आचार्य देवसेन के भाव-संग्रह का प्रभाव परिलक्षित होता है।

उत्तरवर्ती आचार्य विद्वान् अमितगति, पद्मनन्दि, वीरनन्दि, आशाधर, यशःकीर्त्ति आदि ने अपनी ग्रन्थरचना में उपासकाध्ययन से पर्याप्त सामग्री ग्रहण की है।

आचार्य जयसेन के धर्मरत्नाकर ग्रन्थ में उपासकाध्ययन ग्रन्थ के अनेक श्लोकों का उद्धरण रूप में उल्लेख हुआ है। धर्मरत्नाकर की रचना वि० सं० १०५५ में हुई थी।

विद्वान् इन्द्रनन्दि के नीतिसार में अन्य प्रभावी जैनाचार्यों के साथ आचार्य सोमदेव का भी नामोल्लेख किया है एवं उपासकाध्ययन ग्रन्थ को प्रमाणभूत माना है।

आचार्य सोमदेव से पूर्व ग्रन्थों में भी श्रावकाचार-सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध होते हुए भी इस ग्रन्थ को विद्वानों ने अधिक आदर के साथ ग्रहण किया है; इसका

कारण आचार्य सोमदेव द्वारा प्रस्तुत मौलिक सामग्री इस ग्रन्थ में है।

आचार्य सोमदेव जितने आध्यात्मिक थे उससे अधिक व्यवहारपरक थे। उन्होंने अपने साहित्य में धर्म के व्यावहारिक पक्षों को बहुत स्पष्ट किया है। उपासकाध्ययन के चौथे कल्प का नाम मूढ़तोन्मथन है। इसमें लोक-प्रचलित मूढ़ताओं एवं धर्म के नाम पर प्रवृत्त रूढ़ परम्पराओं को (धर्म-भावना से नदी में स्नान, यक्षादि का पूजन आदि) मिथ्यात्व का परिपोषक बताकर उन पर आचार्य सोमदेव ने करारा प्रहार किया है। इस कृति के ३२वें कल्प से लेकर आगे के कल्पों में श्रावकचर्या का विशद वर्णन है। यशस्तिलक की कथावस्तु के माध्यम से आचार्य सोमदेव ने खान-पान की विशुद्धि पर विशेष बल दिया है एवं प्राचीन संयम-प्रधान भारतीय संस्कृति को उज्जीवित किया है।

षण्णवति प्रकरण, महेन्द्रमातलि संकल्प, युक्ति चिंतामणिस्तव ग्रन्थ भी सोमदेव के माने गए हैं। वर्तमान में ये ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं।

आचार्य सोमदेव स्वाभिमानी वृत्ति के थे। अपने काव्य की प्रशंसा में वे कहते हैं :

कर्णाञ्जलिपुटैः पातुं चेतः सूक्तामृते यदि।
श्रूयतां सोमदेवस्य नव्या काव्योक्तियुक्तयः ।।२४६।।

(आश्वास २)

—आपका चित्त कर्णाञ्जलि पुट से सूक्तामृत पीना चाहता है तो सोमदेव के काव्योक्त युक्तियों का श्रवण करें।

आचार्य सोमदेव के गुरु नेमिदेव भी प्रकाण्ड विद्वान् उत्कृष्ट तपः धर्म के आराधक एवं महावादी विजेता थे। जिनदास कृत उपासकाध्ययन टीका में उन्हें ९३ महावादियों के विजेता बताकर उनके विशिष्ट ज्ञान की सूचना दी है।

वाद-कुशल आचार्यों में आचार्य सोमदेव ने विशेष ख्याति अर्जित की। स्याद्वाद-अचल सिंह, तार्किक चक्रवर्ती, वादीभ पंचानन, वाक्कल्लोल-पयोनिधि एवं कविकुशल-राज आदि अनेक भारी उपाधियों से वे मंडित हुए थे।

ब्रिटिशकालीन हैदराबाद राज्य के परभणी क्षेत्र में प्राप्त ताम्रपत्र में यशस्तिलक काव्य रचना के सात वर्ष पश्चात् सोमदेव को दिए गए दान का उल्लेख एवं चालुक्य सामन्तों की वंशावलि भी है।

कन्नोज के राजा महेन्द्रपाल के आग्रह से उन्होंने यशस्तिलक काव्य की रचना की थी।

राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्णराज के सामन्त चूड़ामणि चालुक्य वंशीय अरिकेशरी के प्रथम पुत्र महालक्ष्मीसम्पन्न वाक्राज नृप की राजधानी गंगधारा थी। कृष्णराज ने सिंहल, चोल, चेर प्रभृति अनेक महीपतियों पर विजय प्राप्त की थी।

आचार्य सोमदेव का समय जानने के लिए उनके यशस्तिलक काव्य का अष्टम आश्वास द्रस्टव्य है। प्रस्तुत आश्वास में प्राप्त उल्लेखानुसार यशस्तिलक काव्य की सम्पन्नता का समय वी० नि० १४८६ (वि० १०१६) है। इस आधार पर आचार्य सोमदेव वीर निर्वाण की १५वीं (वि० ११वीं) सदी के विद्वान् सिद्ध होते हैं। कृष्णराज तृतीय के वे समकालीन हैं।

२४. अमित प्रभावक आचार्य अमितगति

अगाध पांडित्य के धनी, उत्कृष्ट कवित्व-शक्ति के साधक आचार्य अमितगति माथुर संघ के थे। वे आचार्य माधव सेन के शिष्य थे। उनके माता-पिता के सम्बन्ध में सामग्री उपलब्ध नहीं है। उनका जन्म वि० सं० १०२० के आसपास अनुमानित किया गया है।

आचार्य अमितगति ने अपनी स्फुरणशील मनीषा के द्वारा साहित्य की महान् साधना की। उनके द्वारा रचित ग्रन्थों में सुभाषित रत्न संदोह, धर्म परीक्षा, पंच संग्रह, उपासकाचार भावना, द्वात्रिंशतिका, सामायिक पाठ, अमितगति श्रावकाचार आदि प्रमुख हैं।

आचार्य अमितगति का सम्पूर्ण साहित्य संस्कृत भाषा में है। संस्कृत भाषा पर आचार्य अमितगति का पूर्ण आधिपत्य प्रतीत होता है। उनके विशालकाय साहित्य से गंभीर ज्ञान की सूचना भी मिलती है।

काव्य-रचना शक्ति अमितगति की अत्यन्त विलक्षण थी। उनका धर्म परीक्षा ग्रन्थ अत्युत्तम श्लोकबद्ध रचना है। इस ग्रन्थ की भाषा सुन्दर और सरस है। दो माह में इस ग्रन्थ का निर्माण कर उन्होंने सुतीक्ष्ण प्रतिभा का परिचय दिया है।

बहुविध साहित्य के अध्ययन से अमितगति की बुद्धि परिमार्जित हो चुकी थी। उन्होंने पुरातन के नाम पर रूढ़ मान्यताओं का कभी समर्थन नहीं किया। अपने साहित्य में भी युक्तिसंगत विचार उन्होंने प्रस्तुत किए। धार्मिक मान्यताओं के रूढ़ रूप पर भी सम्यक् आलोचना-प्रत्यालोचना अत्यन्त सूक्ष्मता से धर्म परीक्षा ग्रन्थ में हुई है। अतः उन्हें सुधारक आचार्यों में एवं नवीन विचारों के संयोजक गिना जा सकता है।

अमितगति श्रावकाचार कृति में बारह व्रतों एवं भावनाओं का सम्यक् विवेचन हुआ है। इस विषय को प्रस्तुत करने वाली साहित्य सामग्री में उपासका-ध्ययन, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, वसुनन्दी श्रावकाचार आदि कई कृतियां विद्वानों की हैं। उनमें अमितगति श्रावकाचार कृति का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इतिहास में अमितगति नाम के एक और आचार्य का भी उल्लेख आता है। उन्होंने 'योग क्षार' कृति की रचना की। यह ग्रन्थ अध्यात्मविषयक ग्रन्थ है तथा

इसकी रचना शैली धर्म परीक्षादि ग्रन्थों से सर्वथा भिन्न है। इस कृति के सृजन-हार अमितगति प्रस्तुत आचार्य अमित गति से प्राचीन थे। वे देवसेन के शिष्य थे एवं आचार्य नेमिसेन के गुरु थे। नेमिसेन प्रस्तुत अमितगति के दादा गुरु थे।

प्रस्तुत आचार्य अमितगति का उज्जैन के राजा मुंज पर अत्यधिक प्रभाव था। वह अपनी सभा में उन्हें सम्मान दिया करता था। आचार्य अमितगति ने राजा मुंज की राजधानी में रहकर कई ग्रन्थों का निर्माण किया। उन्होंने अपनी सभी कृतियों में माथुर संघ के आचार्य माधवसेन के शिष्य होने का उल्लेख किया है। उनका यह परिचय उनके जीवन-परिचय में प्रामाणिक सामग्री है।

सुभाषित रत्न संदोह की रचना आचार्य अमितगति ने वि० सं० १०५० पौष शुक्ला ५ के दिन मुंज राजा की राजधानी में की थी। इस समय उनकी आयु कम से कम तीस वर्ष की रही होगी। विद्वानों की इस संभावना के आधार पर महाप्रभावी आचार्य अमितगति का समय विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध प्रमाणित होता है।

२५. महिमा-मकरन्द आचार्य माणिक्यनन्दि

आचार्य माणिक्यनन्दि की गणना दिग्गज विद्वानों में होती है। वे नन्दि संघ के आचार्य थे। विन्ध्यगिरि के शिलालेखों में एक शिलालेख शक सं० १३२० ई० स० १३९८ का है। उसमें नन्दि संघ के आठ आचार्यों में एक नाम माणिक्यनन्दि का है।

धारा नरेश भोज की विद्वान् मंडली में महाप्रभावी आचार्य माणिक्यनन्दि विशेष सम्मान प्राप्त थे। वे प्राञ्जल प्रतिभा के धनी थे। वे न्यायशास्त्र के अधिकृत विद्वान् थे और आचार्य अकलंक के गंभीर न्याय ग्रन्थों के अध्येता थे। आचार्य विद्यानन्द की प्रमाण परीक्षा, पत्र परीक्षा आदि कृतियों का भी उनके मानस पर पर्याप्त प्रभाव था।

आचार्य अकलंक के साहित्य के महार्णव का मन्थन कर उन्होंने 'परीक्षा मुखग्रन्थ' की रचना की। यह ग्रन्थ न्याय-जगत् का दिव्य अलंकार है। प्रमेय-रत्नमाला के टीकाकार लघु अनन्त वीर्य ने इस ग्रन्थ को न्यायविद्या का अमृत माना है। इसकी सूत्रमयी भाषा आचार्य जी के गंभीर ज्ञान की परिचायिका है। गौतम के न्यायसूत्र एवं दिङ्नाग के न्यायमुख की तरह समग्र जैन न्याय को सूत्र-बद्ध करने वाला यह एक अलौकिक ग्रन्थ है। इसकी संक्षेपक शैली अपने ढंग की निराली और नितान्त नवीन है। वादिदेव सूरि की कृति 'प्रमाण नय तत्त्व लोका-लंकार' और हेमचन्द्र की 'प्रमाण मीमांसा' इस कृति से पूर्ण प्रभावित प्रतीत होती है।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने इसी ग्रन्थ पर प्रमेय कमल-मार्तण्ड नामक विशाल टीका लिखी है और अपने को उनका शिष्य घोषित किया है। अपभ्रंश काव्य 'सुदंसण चरिउ' के रचनाकार मुनि नयनन्दि भी उनके विद्याशिष्य थे। अपने इस ग्रन्थ में नयनन्दि ने माणिक्यनन्दि को महापंडित का संबोधन देकर आदर प्रकट किया है।

प्रभाचन्द्र और माणिक्यनन्दि का साक्षात् गुरु-शिष्य-सम्बन्ध होने के कारण विविध प्रमाणों के आधार पर माणिक्यनन्दि का समय वी० नि० १५२० से १५८० (वि० सं० १०५० से १११०) तक का अनुमानित किया है।

२६. न्याय-निकेतन आचार्य अभयदेव

आचार्य कालक की भांति कई आचार्य अभयदेव नाम से प्रसिद्ध हैं। उनमें वादमहार्णव के टीकाकर आचार्य अभयदेव राजगच्छ के थे। वैदिक दर्शन के विद्वान् राजा अल्ल को प्रतिबोध देने वाले आचार्य प्रद्युम्न उनके गुरु थे। आचार्य प्रद्युम्न 'चन्द्र गच्छ' के थे।

राजा मुंज के उद्बोधक धनेश्वर सूरि आचार्य अभयदेव के शिष्य थे। मुंज राजा के कारण ही चन्द्र गच्छ 'राजगच्छ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ था।

न्याय के क्षेत्र में विशेषज्ञता प्राप्त होने के कारण आचार्य अभयदेव को 'न्याय-वनसिंह' और 'तर्क पञ्चानन' की उपाधियां प्राप्त हुईं।

वे गम्भीर साहित्यकार भी थे। उन्होंने महाप्राज्ञ आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के 'सम्मति तर्क' ग्रन्थ पर २५००० श्लोक परिमाण 'तत्त्वबोधिनी' नामक सुविशाल टीका लिखी। यह टीका जैन न्याय और दर्शन का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इस ग्रंथ में आत्मा-परमात्मा, मोक्ष आदि विविध विषयों को युक्तियुक्त प्रस्तुत किया गया है। अपने से पूर्ववर्ती अनेक दार्शनिक ग्रन्थों का संदोहन कर आचार्य अभयदेव ने इस ग्रन्थ का निर्माण किया था। इसे पढ़ने से दर्शनान्तरीय विविध ज्ञान-बिन्दुओं का भी सहज पठन हो जाता है। इस टीका का दूसरा नाम 'वाद महार्णव भी है। इस पर आचार्य विद्यानन्द के ग्रन्थों का विशेष प्रभाव है।

अनेकान्त दर्शन की प्रस्थापना में विभिन्न पक्षों का स्पर्श करती हुई 'तत्त्व बोधिनी' टीका परवर्ती टीकाकारों के लिए भी सबल आधार बनी है।

अचार्य प्रभाचन्द्र कृत 'प्रमेय कमल मार्तण्ड' और अभयदेव कृत 'सन्मति सूत्र टीका' में केवली भुक्ति, स्त्री-मुक्ति आदि विषयों पर स्वसम्प्रदायगत मान्यता का समर्थन और परमत का निरसन होते हुए भी एक-दूसरे द्वारा प्रदत्त युक्तियों का परस्पर कोई प्रभाव परिलक्षत नहीं होता। अतः हो सकता है ये दोनों आचार्य समकालीन थे। इनको रचना करते समय एक-दूसरे का ग्रन्थ उपलब्ध नहीं था। न्यायनिकेतन, कुशल टीकाकार, निष्णात दार्शनिक आचार्य अभयदेव का समय वी० नि० १५४५ से १६२० विक्रम की ११वीं० शताब्दी का उत्तरार्द्ध और १२वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध (वि० १०७५ से ११५०) अनुमानित किया गया है।

२७. शारदा-सूनु आचार्य वादिराज

दिगम्बर परम्परा में आचार्य वादिराज प्रभावक आचार्य हुए थे। वे तर्क-शास्त्र के निष्णात विद्वान् थे। उनका सम्बन्ध द्रविण या द्रमिल संघ की अरुंगल शाखा से था।

वादिराज सूरि का मूल नाम अभी भी अज्ञात है। इतिहास के पृष्ठों पर उनकी प्रसिद्धि वादिराज के नाम से है। सम्भवतः वादिराज की संज्ञा उन्हें वाद-कुशलता के कारण प्राप्त हुई है।

षट्तर्क सन्मुख, स्याद्वाद-विद्यापति, जगदेक मल्लवादी जैसी महान् उपाधियां उनके वैदुष्य को प्रकट करती हैं।

आचार्य वादिराज उच्च कोटि के कवि भी थे। उनकी गणना आचार्य सोमदेव के साथ की गई है। उनकी योग्यता का पूरा परिचय नगर तालुका के शिलालेख नं० ३९ में प्राप्त होता है।

सदसि यदकलंकः कीर्तने धर्मकीर्ति-
र्वचसि सुरपुरोधा न्यायवादेऽक्षपाकः।

प्रस्तुत शिलालेख के आधार पर वे सभा में अकलंक विषय विवेचन में धर्मकीर्ति, प्रवचन में बृहस्पति और न्याय में नैयायिक गौतम के समकक्ष थे।

वादिराजमनुशाब्दिक लोको वादिराजमनुतार्किक सिद्धः।

उस युग के वैयाकरण और तार्किक जन वादिराज के अनुग थे।

वे चामत्कारिक प्रयोग भी जानते थे। जनश्रुति के अनुसार एक बार अपने भक्त का वचन रखने के लिए उन्होंने मन्त्रबल से अपने कुष्ट रोग को छिपाकर देह को स्वस्थ कञ्चन वर्ण बना लिया था।

दक्षिण के सोलंकी वंश के विख्यात नरेश जयसिंह (प्रथम) की सभा में उनका पर्याप्त सम्मान था।

आचार्य वादिराज ने विविध सामग्री से परिपूर्ण कई ग्रन्थों की रचना की। वर्तमान में उनके ५ ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

न्याय विनिश्चय विवरण

यह ग्रन्थ भट्ट अकलंक के न्याय विनिश्चय ग्रन्थ का २० सहस्र श्लोक परिमाण भाष्य है।

प्रमाण निर्णय

इस ग्रन्थ के चार अध्याय हैं एवं प्रत्यक्ष, परोक्ष आदि प्रमाणों की समुचित सामग्री इसमें उपलब्ध है।

यशोधर चरित

यह एक सर्ग का लघुकाय खण्डकाव्य है। इसके मात्र २९६ पद्य हैं।

एकीभाव स्तोत्र

यह २५ पद्यों का स्तोत्र हैं। इसमें आचार्य वादिराज के आस्थाशील जीवन का प्रतिबिम्ब झलकता है।

पार्श्वनाथ स्तोत्र

यह उच्च कोटि का काव्य है। इसके १२ सर्ग हैं। आचार्य वादिराज के प्रकाण्ड पाण्डित्य के दर्शन इस ग्रन्थ में होते हैं।

अध्यात्माष्टक

इस ग्रन्थ की संज्ञा से स्पष्ट है, इस कृति में ८ पद्य हैं। यह रचना निर्विवाद रूप से आचार्य वादिराज की प्रमाणित नहीं है।

त्रैलोक्यदीपिका

यह करणानुयोग ग्रन्थ है। विद्वानों का अनुमान है—यह रचना भी आचार्य वादिराज की होनी चाहिए।

आचार्य वादिराज अपने युग के दिग्गज विद्वान् थे। कुशल वादी थे। पार्श्वनाथ-चरित्र की रचना उन्होंने ई० स०१०२५ में की थी। अतः उनका समय वी० नि० १५५२ (वि० १०८२) के आसपास का प्रमाणित होता है।

२८. शिव-सुख-आलय आचार्य शान्ति

वादिवेताल शान्त्याचार्य प्रशस्त टीकाकार थे। वे राधनपुर के पार्श्ववर्ती उन्नातायु गांव के निवासी धनदेव के पुत्र थे। उनकी माता का नाम धनश्री था। शान्त्याचार्य के गृहस्थ जीवन का नाम भीम था। चान्द्रकुल-थारापद्र गच्छ के आचार्य विजयसिंह सूरि के पास उनकी दीक्षा हुई। मिथ्यादृष्टि व्यक्तियों के लिए उदग्र प्रतिभाबलसम्पन्न भीम, यथार्थ में ही भीम थे। उनका दीक्षा नाम शान्ति हुआ। आचार्य सर्वदेव और अभयदेव से उन्होंने विविध प्रकार का प्रशिक्षण पाया। आचार्य विजयसिंह द्वारा आचार्यपद पर अलंकृत होकर उनका सारा उत्तराधिकार सफलतापूर्वक शान्त्याचार्य ने संभाला।

प्रकांड पांडित्य का परिचय देकर पाटण के महाराज भीम की सभा में कवीन्द्र और वादी चक्रवर्ती की उन्होंने उपाधियां प्राप्त की।[1] राजा भोज की सभा में ८४ विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ कर विजय की वरमाला पहनी।[2] वादीजनों में वेताल की तरह प्रमाणित होने से राजा भोज ने वादिवेताल का पद लेकर उनको सम्मानित किया।[3]

शान्त्याचार्य के बत्तीस विद्वान् शिष्य न्याय विषय के पाठी थे। उन्हें शान्त्याचार्य स्वयं प्रमाणशास्त्र-सम्बन्धी प्रशिक्षण देते थे।[4] आचार्य जी की अध्यापन पद्धति ने आचार्य मुनिचन्द्र को प्रभावित किया। वे भी उनकी मंडली में प्रविष्ट होकर प्रमाणशास्त्र के विद्यार्थी बन गए थे। ये मुनिचन्द्र प्रमाणनय-तत्त्वालोकालंकार के रचनाकार आचार्य वादिदेव के गुरु थे।

जैन विद्वान् धनपाल की तिलक-मंजरी पर उन्होंने समुचित समीक्षा की[5] और उस पर टिप्पणी भी लिखी। टीका साहित्य में उनकी 'शिष्यहिता' टीका बहुत प्रसिद्ध है। प्राकृत कथानकों की बहुलता के आधार से इसे 'पाइय टीका' भी कहते हैं। इसमें पाठान्तरों और अर्थान्तरों की प्रचुरता है। कथानक बहुत संक्षिप्त शैली में लिखे गए हैं। मूलपाठ और निर्युक्ति दोनों की व्याख्या करती हुई यह टीका १८००० श्लोक परिमाण है। इसमें ५५७ गाथाएं निर्युक्ति की हैं। स्थान-स्थान पर विशेषावश्यक भाष्य की गाथाओं का तथा दशवैकालिक सूत्र की गाथाओं का प्रयोग भी हुआ है। कहीं-कहीं भर्तृहरि के श्लोक भी उद्धृत हैं।

भाषा और शैली की दृष्टि से भी यह अत्युत्तम टीका मानी गयी है। उत्तराध्ययन सूत्र पर अब तक जितनी टीकाओं के नाम उपलब्ध हैं उनमें यह टीका शीर्षस्थानीय है। इसे वादी रूपी नागेन्द्रों के लिए नागदमनी के समान माना है।[६]

शान्त्याचार्य का पादार्पण अंतिम समय में उपासक यश के पुत्र 'सोढ़' के साथ गिरनार पर्वत पर हुआ। उनका वहीं पच्चीस दिवसीय अनशन के साथ वी० नि० १५६६ (वि० १०६६) ज्येष्ठ शुक्ला नवमी मंगलवार को स्वर्गवास हो गया था।[७]

आधार-स्थल

१. अणहिल्लपुरे श्रीमद्भीमभूपालसंसदि।
शान्तिसूरिः कवीन्द्रोऽभूद् वादिचक्रीति विश्रुतः ॥२१॥
(प्रभा० चरित, पत्रांक १३३)

२. विश्वदर्शनवादीन्द्रान् स राज्ञः पर्षदि स्थितः।
जिग्ये चतुरशीतिं च स्वस्त्राभ्युपगमस्थितान् ॥४७॥
(प्रभा० चरित, पत्रांक १३४)

३. वादिवेतालविरुदं तदैषां प्रददे नृपः ॥५६॥
(प्रभा० चरित, पत्रांक १३४)

४. अथ प्रमाणशास्त्राणि शिष्यान् द्वात्रिंशतं तदा।
अध्यापयन्ति श्रीशान्तिसूरयश्चैत्यसंस्थिताः ॥७०॥
(प्रभा० चरित, पत्रांक १३५)

५. कथा च धनपालस्य तैरशोध्यत निस्तुषम्…॥५६॥
(प्रभा० चरित, पत्रांक १३४)

६. उत्तराध्ययनग्रंथटीका श्रीशान्तिसूरिभिः।
विदधे वादिनागेन्द्रसन्नागदमनीसमा ॥८६॥
(प्रभा० चरित, पत्रांक १३५)

७. श्री विक्रमवत्सरतो वर्षसहस्रे गते सषण्णवतौ (१०६६)।
शुचिसितिनवमीकुजकृत्तिकासु शान्तिप्रभोरभूदस्तम् ॥१३०॥
(प्रभा० चरित, पत्रांक १३७)

२६. प्रभापुञ्ज आचार्य प्रभाचन्द्र

आचार्य प्रभाचन्द्र दिगम्बर परम्परा के प्रभावक आचार्यों में न्याय ग्रन्थों के सम्यक् व्याख्याकार आचार्य थे। परमार नरेश भोज एवं जयसिंह देव के वे समकालीन थे। राजा भोज की सभा में उनको सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था।

आचार्य प्रभाकर का जैसा नाम था वैसी ही उनकी निर्मल साहित्यिक प्रभा थी। साहित्यक्षेत्र में उन्होंने टीका ग्रन्थों की रचना अधिक की है।

तत्त्वार्थ वृत्तिपद, विवरण शाकटायन न्यास, शब्दाम्भोज भास्कर, प्रवचनसार, सरोज भास्कर, रत्न करण्ड श्रावकाचार टीका, समाधि तंत्र टीका आदि बहुविध टीका साहित्य की रचना की।

गद्य-आराधना कथाकोश उनकी स्वतंत्र कृति है। इसमें अनेक धार्मिक कथाएं प्रस्तुत की गयी हैं। शब्दाम्भोज भास्कर ग्रन्थ जैनेन्द्र व्याकरण की विस्तृत व्याख्या है। वर्तमान में यह पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं है। पुष्पदंत कृत महापुराण पर उन्होंने टिप्पण भी लिखा है। टिप्पण की शैली संक्षिप्त एवं सारगर्भित है।

न्याय कुमुदचन्द्र एवं प्रमेयकमलमार्तण्ड जैसे बृहद्काय टीका ग्रन्थों का निर्माण कर उन्होंने न्याय विषय को परिपुष्ट किया है।

न्यायकुमुदचन्द्र भट्ट अकलंक की लघीयस्त्रयी पर १६००० श्लोक परिमाण व्याख्या है। इसमें दार्शनिक विषयों की गम्भीर सामग्री उपलब्ध है। राज्यकाल में उन्होंने १२००० श्लोक परिमाण ग्रन्थ 'प्रमेयकमलमार्त्तण्ड' की रचना की थी।

आचार्य प्रभाचन्द्र उत्कृष्ट ज्ञान-पिपासु थे। न्यायविद्या को ग्रहण करने के लिए वे विद्याकेन्द्र धारा नगरी में आए और आचार्य माणिक्यनन्दि से प्रभावित होकर वहीं रहने लगे। उनकी 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' टीका आचार्य माणिक्यनन्दि के 'परीक्षामुख' ग्रन्थ पर है।

आचार्य माणिक्यनन्दि की 'परीक्षामुख' कृति से प्रभावित होकर उन्होंने इसी स्थान पर प्रमेयकमलमार्तण्ड की रचना की थी।

प्रमाण-प्रमेय को विस्तार से प्रस्तुत करने वाला यह ग्रन्थ १२००० श्लोक परिमाण है। राजा भोज के राज्यकाल में इस ग्रन्थ की रचना हुई थी। प्रस्तुत ग्रन्थ

की प्रशस्ति में आचार्य प्रभाचन्द्र ने आचार्य माणिक्यनन्दि का गुरुरूप में स्मरण किया है।

श्रवणबेलगोल के शिलालेख न० ४०-५५ में आचार्य प्रभाचन्द्र के पद्मनन्दि सिद्धांत और चतुर्मुखदेव—ये दो गुरु और माने गए हैं। माणिक्यनन्दि उनके न्याय-विद्या गुरु थे। इतिहासकारों का अनुमान है—इन दोनों का साक्षात् गुरु-शिष्य-सम्बन्ध था।

कई इतिहासकारों का अभिमत है—आचार्य प्रभाचन्द्र ने तीन या चार ग्रन्थों का ही निर्माण किया है।

आचार्य वादिदेव के स्याद्वाद-रत्नाकर ग्रन्थ में प्रमेयकमलमार्तण्ड का सर्व-प्रथम उल्लेख प्राप्त होता है पर आचार्य वादिराज के ग्रन्थों में उल्लिखित विद्यानन्द आदि जैन विद्वानों के साथ प्रभाचन्द्र का नाम नहीं है। इस आधार पर न्यायकुमुदचन्द्र प्रस्तावना में प्रस्तुत प्रभाचन्द्र की अन्तिम अवधि ई० ११५० के लगभग स्वीकृत हुई है।

३०. सिद्धान्त-चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र

सिद्धान्त-चक्रवर्ती नेमिचन्द्र दिगम्बर आचार्य थे। वे गंगवंशीय राजमल्ल के प्रधान मंत्री चामुंडराय के गुरु थे। चामुंडराय सेनापति था। उसके हाथ में तलवार और हृदय में अहिंसा की पावन सरिता बहती। उसने एक ओर समरांगण में खड़े होकर युद्धविक्रम, महाविजेता आदि भारी उपाधियों को प्राप्त किया, दूसरी ओर वह धर्मनेता भी बन गया। सम्पूर्ण दक्षिण में उसने अध्यात्म की लहर प्रसारित कर जैनशासन का मस्तक उंचा किया था। चामुंडराय की इस धार्मिक प्रवृत्ति में प्रेरक आचार्य नेमिचन्द्र थे।

चामुंडराय ने स्वप्न में भी झूठ न बोलने की प्रतिज्ञा ले ली थी। यह प्रभाव भी आचार्य नेमिचंद्र का ही था।

आचार्य नेमिचन्द्र के पीछे सिद्धान्त-चक्रवर्ती की उपाधि उनके अगाध सैद्धान्तिक ज्ञान की सूचक है।

चक्रवर्ती चक्र द्वारा छह खंडों पर विजय प्राप्त करता है। इसी तरह विशदमति के चक्र से सैद्धान्तिक ज्ञान पर उनकी विजय हुई है। धवला, जयधवला का आधार लेकर गोमट्टसार, त्रिलोकसार, लब्धिसार-क्षपणसार आदि कई ग्रन्थ उन्होंने लिखे। इनमें प्राकृत और शौरसेनी का सम्मिश्रण है।

गोमट्टसार उनकी बहुत प्रसिद्ध कृति है। इसकी रचना उन्होंने श्रवणबेलगोल में बैठकर की थी। चामुंडराय ने उस पर कर्णाटकीय टीका लिखी। गोमट्टसार के अतिरिक्त लब्धिसार और द्रव्यसंग्रह भी उनके प्रामाणिक ग्रन्थ माने गए है।

सिद्धान्त-चक्रवर्ती नेमिचन्द्र वीर निर्वाण की १६वीं शताब्दी (वि० ११वीं) के आचार्य माने गए हैं।

३१. जग-वत्सल आचार्य जिनेश्वर

खरतरगच्छ के प्रणेता आचार्य जिनेश्वर सूरि नवांगी टीकाकार अभयदेव-सूरि के गुरु थे।

वर्धमान सूरि व जिनेश्वर सूरि दोनों भाई थे। ब्राह्मण परिवार में उन्होंने जन्म लिया। उनका नाम श्रीधर व श्रीपति था। एक बार वे मालव प्रदेश की धारा नगरी में पहुंचे। राजा भोज की धारा नगरी अत्यन्त सुन्दर और दर्शनीय थी। उसका अपार वैभव शैल-शिखरों को छू रहा था। श्रीसम्पन्न श्रेष्ठी लक्ष्मीधर उसी नगरी का ख्याति प्राप्त श्रेष्ठी था।

एक दिन उसके घर आग लग गयी। दीवारों पर लिखे हुए सुन्दर शिक्षात्मक श्लोक मिट गए। लक्ष्मीधर इस घटना से चिन्तित हुआ। श्रीधर, श्रीपति उनके घर पर पहुंचे। श्रेष्ठी ने घटना-प्रसंग पर चर्चा करते हुए कहा—"गृह-विनाश से भी अधिक चिन्ता दीवारों पर उल्लिखित साहित्य-सम्पत्ति के खो जाने की है।" दोनों विद्वानों ने कहा—"हम कल भिक्षार्थ आपके घर पर आए तब इन श्लोकों को पढ़ा था। हमें वे पूर्णतः याद हैं।" उन्होंने तत्काल सारे श्लोक सुना दिए। लक्ष्मीधर उनकी प्रतिभा पर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और सोचा—'इन दोनों से जैन दर्शन की महान् प्रभावना हो सकती है।' पर्याप्त सम्मान देकर श्रेष्ठी ने उनको अपने घर पर रख लिया।

लक्ष्मीधर प्रद्योतन सूरि के शिष्य वर्धमान सूरि का परम भक्त था। एक दिन वर्धमान सूरि धारा नगरी में आए। लक्ष्मीधर के साथ दोनों विद्वान् भी वन्दनार्थ वर्धमान सूरि के पास आए और उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर दीक्षित हो गए। उनकी दीक्षा में लक्ष्मीधर श्रेष्ठी की प्रबल प्रेरणा थी।

युगल भ्राता दीक्षा लेने के बाद जिनेश्वर व बुद्धिसागर के नाम से प्रसिद्ध हुए। चरित्र-धर्म की आराधना के साथ ज्ञानाराधना में भी उन्होंने अपने को विशेष रूप से नियुक्त किया। युग्म बन्धुओं के भौतिक सामर्थ्य एवं गण-संचालन की योग्यता पर प्रसन्न होकर आचार्य वर्धमान सूरि ने उन्हें आचार्य पद पर मंडित किया एवं जिनेश्वर सूरि को अपना उत्तराधिकारी बनाया।

वर्धमान सूरि के आदेश से गुजरात के महाराज दुर्लभराज की सभा में पहुंच-

-कर चैत्यवासियों को शास्त्रार्थ में पराजित कर देना जिनेश्वर सूरि की प्रबल क्षमता का सूचक था। दशवैकालिक सूत्र के आधार पर उनसे साध्वाचार संहिता का विवेचन सुनकर दुर्लभराज प्रभावित हुए। उन्होंने खरतर की उपाधि से उनको उपमित किया। तभी से इनका सम्प्रदाय 'खरतर गच्छ' से सम्बोधित होने लगा। खरतर शब्द उनकी कठोर आचार पद्धति का सूचक है। यह घटना जिनेश्वर सूरि के आचार्य पद प्राप्ति से पूर्व वी० नि० १५४० (वि० सं० १०७०) के आसपास की है। खरतरगच्छ गुर्वावलि के अनुसार यह समय वी० नि० १४६४ (वि० सं० १०२४) है।[1]

महापराक्रमी राजा वनराज के समय से ही पाटण में चैत्यवासियों का दबदबा होने के कारण सुविहितमार्गी मुनियों के लिए वहां प्रवेश पाना कठिन था। जिनेश्वर सूरि की इस शास्त्रार्थ-विजय के बाद यह समस्या मिट गयी। सबके लिए वहां आना-जाना सुगम हो गया।

आचार्य जिनेश्वर सूरि जी के शासनकाल में अभयदेव, धनेश्वर, प्रसन्नचन्द्र, धर्मदेव, सहदेव आदि अनेक व्यक्तियों ने दीक्षा ग्रहण की।

एक बार जिनेश्वर सूरि जी का पदार्पण 'आशापहली' में हुआ। वहां वी० नि० १५५२ से १५५५ (वि० १०८२ से १०८५) तक के समय में लीलावती, कथाकोष, वीरचरित्र, पञ्चलिंगी प्रकरण आदि कई ग्रन्थों की रचना कर उन्होंने महान् साहित्यिक सेवा की।

उनकी वी० नि० १५५० (वि० १०८०) की हरिभद्र के अष्टकों पर निर्मित टीका साहित्य-जगत् की अमूल्य कृति बनी। उन्होंने यह रचना जालौर में की थी।

इन कृतियों के समय के आधार पर आचार्य जिनेश्वर सूरि वीर निर्वाण की १६ वीं शताब्दी (वि० ११) के आचार्य सिद्ध होते हैं।

आधार-स्थल

१. दससय चउवीसे (?) वच्छरे ते आयरिया मच्छरिणो हारिया। जिणेसरसूरिणां जियं। रन्ना तुट्टेण खरतर इइ विरुदं दिन्नं। तओ परं खरतरगच्छो जाओ।

(खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावलि, पत्रांक ६०)

३२. आस्था-आलम्बन आचार्य अभयदेव

(नवांगी टीकाकार)

नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव खरतरगच्छ से संबंधित थे। वे आचार्य जिनेश्वर सूरि के शिष्य थे। उनका जन्म वी० नि० १५४२ (वि० १०७२) में हुआ। इतिहास-प्रसिद्ध गुजरात की धारा नगरी उनकी जन्मभूमि थी। महीधर श्रेष्ठी के वे पुत्र थे। उनकी माता का नाम धनदेवी था। बाल्यकाल में गुरु से बोध प्राप्त कर उन्होंने दीक्षा ग्रहण की। आगमों का गम्भीरता से अध्ययन किया। ग्रहण और आसेवन रूप विविध शिक्षाओं से संपन्न होकर महाक्रियानिष्ठ श्रमण अभयदेव शासन अम्भोज को विकसित करने के लिए भास्कर की तरह आभासित होने लगे।[1]

आचार्य वर्धमान के आदेश से जिनेश्वर सूरि ने उन्हें आचार्य पद से अलंकृत किया।

आचार्य अभयदेव सिद्धांतों के गम्भीर ज्ञाता थे। एक बार वे ध्यान में बैठे थे। टीका रचना की अन्तःप्रेरणा उनके मन में उत्पन्न हुई। प्रभावक चरित आदि ग्रन्थों के अनुसार यह प्रेरणा शासन देवी की थी। निशीथ काल में ध्यानस्थ अभयदेव के सामने देवी प्रकट होकर बोली—"मुने ! आचार्य शीलांक एवं कोट्याचार्य विरचित टीका साहित्य में आचारांग और सूत्रकृतांग आगम की टीकाएं सुरक्षित हैं। अवशिष्ट टीकाएं काल के दुष्प्रभाव से लुप्त हो गई हैं। अतः इस क्षतिपूर्ति के लिए संघ-हितार्थ आप प्रयत्नशील बनें एवं टीका-रचना का कार्य प्रारम्भ करें।"[2]

अन्तर्मुखी आचार्य अभयदेव बोले—"देवी ! मेरे जैसे जड़मति व्यक्ति द्वारा सुधर्मा स्वामी कृत आगमों को पूर्णतः समझना भी कठिन है। अज्ञानवश कहीं उत्सूत्र की प्ररूपणा हो जाने पर यह कार्य उत्कृष्ट कर्मबन्धन का और अनन्त संसार की वृद्धि का निमित्त बन सकता है। शासन देवी के वचनों का उल्लंघन करना भी उचित नहीं है, अतः तुम्हारे द्वारा प्राप्त संकेत पर किंकर्त्तव्यविमूढ़ जैसी स्थिति मेरे में उत्पन्न हो गयी है।"

आचार्य अभयदेव के असंतुलित मन को समाधान प्रदान करती हुई देवी ने

निवेदन किया—"मनीषि-मान्य ! सिद्धांतों के समुचित अर्थ को ग्रहण करने में सर्वथा योग्य समझकर ही मैंने आपसे इस महत्त्वपूर्ण कार्य की प्रार्थना की है। आगम पाठों की व्याख्या में जहां भी आपको सन्देह हो उस समय मेरा स्मरण कर लेना। मैं सीमंधर स्वामी से पूछकर आपके प्रश्नों को समाहित करने का प्रयत्न करूंगी।"

आचार्य अभयदेव को शासन देवी के वचनों से संतोष मिला। आगम जैसे महान् कार्य में तपोबल की शक्ति आवश्यक है। यह सोच नैरन्तरिक आचाम्ल तप (आयंबिल) के साथ उन्होंने टीका रचना का कार्य प्रारम्भ किया।[3] एकनिष्ठा से वे अपने कार्य में लगे रहे। उनकी सतत श्रमपरायणता नौ अंगों की टीकाओं के गरिमामय निर्माण में सफल हुई।

आत्मबल अनन्त होता है, पर शरीर की शक्ति सीमित होती है। नैरन्तरिक आचाम्ल तप और रात्रि-जागरण से उन्हें कुष्ट रोग हो गया। विरोधी जनों में अपवाद प्रसारित हुआ—कुष्ट रोग उत्सूत्र की प्ररूपणा का प्रतिफल है। शासन देवी रुष्ट होकर उन्हें दंड दे रही है।

लोकापवाद सुनकर आचार्य अभयदेव का विश्वास भी डोला। अन्तर्चिन्तन चला। रात्रि के समय आचार्य अभयदेव ने धरणेन्द्र का स्मरण किया। शासन-हितैषी धरणेन्द्र ने निद्रालीन आचार्य अभयदेव के शरीर को जिह्वा से चाटकर उन्हें स्वस्थ बना दिया।

स्वप्नावस्था में आचार्य अभयदेव को प्रतीत हुआ—विकराल काल महादेव ने मेरे शरीर को आक्रान्त कर लिया है। इस स्वप्न के आधार पर आचार्य अभयदेव ने सोचा—'मेरा आयुष्य क्षीणप्राय है, अतः अनशन कर लेना उचित है।'

स्वप्नावस्था में आचार्य अभयदेव के सामने धरणेन्द्र पुनः प्रकट होकर बोला—"मैंने ही आपके शरीर को चाटकर कुष्ट रोग को शान्त कर दिया है।"

शासन-प्रभावना में प्रतिक्षण जागरूक आचार्य अभयदेव ने कहा—"देवराज ! मुझे मृत्यु का भय नहीं है, पर मेरे रोग को निमित्त बनाकर पिशुन-जनों के द्वारा प्रचारित धर्म-संघ का अपवाद दुःसह्य हो गया था।"

धरणेन्द्र के निवेदन पर श्रावक संघ के साथ आचार्य अभयदेव स्तम्भन ग्राम में गए। जयतिहुण नामक बत्तीस श्लोकों का स्तोत्र रचा। इस स्तोत्र-रचना से स्तम्भन ग्राम के निकट सेढ़िका नदी के तट पर पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रकट हुई थी। यह प्रतिमा आज भी खंभात में विद्यमान है।

धर्मसंघ की गौरववृद्धिकारक इस घटना से जनापवाद मिट गया। लोग अभयदेव की प्रशंसा करने लगे। धरणेन्द्र ने स्तोत्र की दो प्रभावक गाथाओं को लुप्त कर दिया।

खरतरगच्छ बृहद गुर्वावलि ग्रन्थ के अनुसार गुजरात के खंभात नगर में टीका-रचना से पूर्व ही आचार्य अभयदेव कुष्ट रोग से आक्रान्त हो गए थे। शासन देवी के द्वारा टीका रचना की प्रार्थना किए जाने पर आचार्य अभयदेव ने कहा—"देवी ! मैं इस गलितांग शरीर से सूत्र टीका करने में समर्थ नहीं हूं।"

शासनदेवी ने कहा—"आर्य! आप चिन्ता न करें। नवांगी सूत्रों के रचनाकार एवं जैन दर्शन के महान् प्रभावक आप बनोगे।"

विविध तीर्थकल्प के अनुसार आचार्य अभयदेव को खंभात ग्राम में अतिसार रोग हो गया था। रोग को बढ़ते देख उन्होंने अनशन की बात सोची। निकटवर्ती गांवों से पाक्षिक प्रतिक्रमणार्थ आने वाले श्रावक समाज को दो दिन पहले ही 'मिच्छामि दुक्कड़' प्रदानार्थ विशेष रूप से सूचित कर दिया गया था। प्राप्त सूचना के अनुसार त्रयोदशी के दिन श्रावक एकत्रित हुए। उसी रात्रि को शासन देवी ने प्रकट होकर आचार्य अभयदेव को टीका रचना की प्रेरणा दी।[४] देवी की प्रार्थना से ससंघ वाहिनी पर आरूढ़ होकर अभयदेव खंभात गए। सेढ़िका नदी तट पर स्तोत्र की रचना की। पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रकट हुई। जैन दर्शन की महती प्रभावना हुई। अभयदेव का कुष्ट रोग खत्म हो गया। शरीर सुवर्ण की तरह चमक उठा।[५]

जैन शासन की अतिशय प्रभावनाकारक यह घटना प्रबल प्रसन्नता का निमित्तभूत होने के कारण इसे मनोवैज्ञानिक भूमिका पर आचार्य अभयदेव के रोगोपशान्ति का प्रमुख हेतु माना जा सकता है।

स्वास्थ्य-लाभ प्राप्त करने के बाद आचार्य अभयदेव ने पारण में टीका-रचना का कार्य किया था। टीका-लेखन में उन्होंने खटिका का उपयोग किया था।

प्रभावक-चरित्र के अनुसार टीका साहित्य की प्रतिलिपियों को तैयार कराने का कार्य ताम्रलिप्ति आशापल्ली धवलक्क नगरी के चौरासी तत्त्वज्ञ सुदक्ष श्रावकों ने किया।[६]

इस कार्य में तीन लाख द्रमक (मुद्रा-विशेष) लगे थे जिसकी व्यवस्था श्री भीम भूपति ने की थी। शासन देवी के द्वारा यह द्रव्य राशि प्रदान की गयी थी, ऐसा उल्लेख प्रभावक-चरित्र और पुरातन प्रबन्ध-संग्रह—इन दोनों ग्रन्थों में है।

खरतरगच्छ बृहद गुर्वावलि के अनुसार इस कार्य में पाल्हउदा ग्राम के श्रावकों का महत्त्वपूर्ण अनुदान रहा है। टीका साहित्य रचना का कार्य सम्पन्न करने के बाद आचार्य अभयदेव पाल्हउदा ग्राम में विहरण कर रहे थे। वहां स्थानीय श्रावक समाज के सामने संकट की घड़ी उपस्थित हो गयी थी। माल से भरे उनके जहाज समुद्र में डूबने के समाचार पाकर श्रावक खिन्न थे। यथोचित समय पर वे धर्म स्थान में नहीं पहुंच पाए। आचार्य अभयदेव स्वयं उनकी बस्ती

में दर्शन देने गए और उन्होंने पूछा—"श्रावको ! वन्दन-वेला का अतिक्रम कैसे हुआ ?" श्रावकों ने नम्र होकर माल-भरे जहाजों को समुद्र में नष्ट हो जाने का चिन्ताजनक वृत्तान्त कह सुनाया।

आचार्य अभयदेव बोले—"श्रावको ! चिन्ता मत करो, धर्म के प्रताप से सब ठीक होगा।" आचार्य अभयदेव के इन शब्दों से सबको संतोष मिला। दूसरे दिन सुरक्षित माल मिल जाने की सूचना पाकर सबको अत्यधिक प्रसन्नता हुई। आचार्य अभयदेव के पास जाकर समवेत स्वर में श्रावकों ने निवेदन किया—"इस माल की बिक्री से जो भी लाभ हमें प्राप्त होगा, उसका अर्धांश भाग टीका-साहित्य के लेखन कार्य में व्यय करेंगे।"[७]

इन श्रावकों द्वारा प्रदत्त धनराशि से टीका साहित्य की अनेक प्रतिलिपियां निर्मित हुईं। तत्कालीन प्रमुख आचार्यों के पास कई स्थानों पर उनका टीका-साहित्य पहुंचाया गया।

आचार्य अभयदेव की सर्वत्र प्रसिद्धि हुई लोग कहने लगे—"सिद्धान्त पार-गामी, आगम साहित्य के निष्णात विद्वान् आचार्य अभयदेव हैं।"

आचार्य सुधर्मा के आगम साहित्य के गूढ़ार्थों को समझने के लिए आचार्य अभयदेव की टीकाएं कुंजी के समान मानी गयी हैं।[८] ये टीकाएं संक्षिप्त और शब्दार्थ-प्रधान है। यथावश्यक इनमें कहीं-कहीं विषय का पर्याप्त विवेचन, सैद्धांतिक तत्त्वों की अभिव्यक्तियां, दार्शनिक चर्चाएं, कथानकों के मत-मतान्तरों तथा पाठान्तरों के उल्लेख और सामाजिक, राजनयिक अनेक शब्दों की परिभाषाएं प्रस्तुत की गयी हैं।

आचार्य अभयदेव का टीका साहित्य विशाल परिमाण में है। कई टीकाओं में उन्होंने समापन-काल का संकेत भी दिया है।

स्थानांग की वृत्ति का समापन अजितसिंह सूरि के शिष्य यशोदेवगणी की सहायता से वि० सं० ११२० में पाटण में हुआ था। यह टीका १४२५० श्लोक परिमाण है।

समवायांग वृत्ति ३५७५ श्लोक परिमाण है। इसका समापन भी वि० सं० ११२० में हुआ है।

व्याख्या प्रज्ञप्ति वृत्ति १८६१६ श्लोक परिमाण है। आचार्य शीलांक के अतिरिक्त अभयदेव सूरि से पूर्व किसी ने इस विशाल ग्रन्थ पर टीका लिखने का साहस नहीं किया था। अतः काल-प्रभाव से शीलांक की टीकाओं के लुप्त हो जाने के बाद इस सूत्र की व्याख्या में लेखनी उठाने वाले अभयदेव सूरि सर्वप्रथम टीकाकार थे। इनकी यह टीका वि० स० ११२८ में सम्पन्न हुई थी।

ज्ञाता धर्मकथा वृत्ति ३८०० श्लोक परिमाण है। यह सूत्रस्पर्शी शब्दार्थ-प्रधान वृत्ति है। इसका परिसमापन वि० ११२० विजयादशमी के दिन पाटण

में हुआ था।

उपासकदशांग वृत्ति ८१२ श्लोक परिमाण, अन्तकृद्दशा वृत्ति ८६६ श्लोक परिमाण, प्रश्न व्याकरण वृत्ति ४६०० श्लोक परिमाण, विपाक वृत्ति ६०० श्लोक परिमाण है। अंगों के अतिरिक्त एक ही वृत्ति उपांग पर लिखी है। यह वृत्ति ३१२५ श्लोक परिमाण है।

उपांग सहित इन वृत्तियों का कुल परिमाण ५०७६६ श्लोक परिमाण है। इनके यथावश्यक संशोधन करने का श्रेय टीकाकार ने आगम परम्परा के विशेषज्ञ संघ-प्रमुख, निवृत्ति-कुलीन द्रोणाचार्य को दिया है।

इन टीकाओं में तीन टीकाएं—स्थानांगवृत्ति, समवायांगवृत्ति, ज्ञाताधर्मकथा वृत्ति वि० ११२० में सम्पन्न हुई हैं। इन तीनों का परिमाण २१६२५ श्लोक है। एक वर्ष में इतनी विशाल साहित्यनिधि का निर्माण कर लेना उनकी शीघ्र रचनात्मक शक्ति का परिचायक है।

आचार्य अभयदेव ने आगमों पर टीकाएं लिखकर ही संतोष नहीं किया। उनकी लेखनी अन्य ग्रन्थों पर भी चली। जिनभद्रगणी विरचित 'विशेषावश्यक भाष्य' पर टीका, आचार्य हरिभद्र विरचित षोडशक पर टीका और देवेन्द्र सूरि विरचित 'शतारि प्रकरण' पर टीका आचार्य अभयदेव की टीका साहित्य को अनन्य भेंट थी।

धोलका गांव में आचार्य हरिभद्र विरचित पंचासन ग्रन्थ पर वि०सं० ११२४ में उन्होंने टीका की रचना की। निगोद षट्त्रिंशिका, पंच ग्रन्थ विचार-संग्रहणी, पुद्गल षट्त्रिंशिका—ये तीनों ग्रन्थ उनके तात्त्विक ज्ञान की सूचना देते हैं।

गुजरात के कपड़गंज गांव में वीर निर्वाण १६०५ (वि० ११३५) में उनका स्वर्गवास हो गया।

जैन आगमों की सुगम व्याख्याएं प्रस्तुत कर टीकाकार आचार्य अभयदेव जैन समाज की आस्था के सुदृढ़ आलंबन बने।

आधार-स्थल

१. स चावगाढ़सिद्धान्त तत्त्वप्रेक्षानुमानतः।
बभौ महाक्रियानिष्ठः श्री संघाम्भोजभास्करः ॥६७॥

२. अंगद्वयं विनाऽन्येषां कालादुच्छेदमाययुः।
वृत्तयस्तत्र संघानुग्रहायाद्य कुरूद्यमम् ॥१०५॥

३. श्रुत्वेत्यङ्गीचकाराथ कार्यं दुष्करमप्यदः।
आचामाम्लानि चारब्ध ग्रन्थसंपूर्णतावधिः ॥११२॥ (प्रभा० चरित, पत्रांक १६४)

४. तेरसीअहरत्ते अ भणिआ पहुणो सासणदेवयाए भयवं !
जग्गह सुअह वा ? तओ मंदसरेणं वुत्तं पहुणा—कओ मे निद्दा ।।
देवीए भणिअं—एआओ नवसुत्तकुक्कुडीओ उम्मोहेसु ।

(विविध तीर्थकल्प, पत्रांक १०४)

५. तप्पभावाओ अभयदेवस्स कुट्ठं गयं । सुवण्णवन्नो सरीरो जाओ ।

(खर० गच्छ, बृहद् गुर्वालि, पृ० ६०)

६. पत्तने ताम्रलिप्त्यां चाशापल्यां धवलक्कके ।
चतुराश्चतुरशीतिः श्रीमन्तः श्रावकास्तथा ।।१२६।।
पुस्तकान्यङ्गवृत्तीनां वासना विशदाशयाः ।
प्रत्येकं लेखयित्वा ते सूरीणां प्रददुर्मुदा ।।१२७।।

(प्रभा० चरित, पत्रांक १६५)

७. वार्तामाकर्ण्य श्राद्धैः सर्वसम्मतेन गुरवोः भणिताः-- यावल्लाभः ।
क्रयाणकेन भविष्यति, तदर्धेन सिद्धान्त-लेखनं कारयिष्यामः ।।

(खर० गच्छ, बृहद् गुर्वालि, पत्रांक ७, ८)

८. प्रावर्त्तन्त नवाङ्गानामेवं तत्कृतवृत्तयः ।
श्री सुधर्मोपदिष्टेष्टतत्त्वतालककुञ्चिकाः ।।१२८।।

(प्रभा० चरित, पत्रांक १६५)

३३. जनवल्लभ आचार्य जिनवल्लभ

जिनवल्लभ सूरि जनवल्लभ सूरि थे। वे विक्रम की बारहवीं शताब्दी के आचार्य थे। उनका जन्म आशिका नगरी में हुआ।

बचपन से ही उनके मस्तक पर से पिता का साया उठ गया था। मां के संरक्षण में वे रहते थे और चैत्यवासी जिनेश्वर सूरि के पास अध्ययन करने जाते। अध्ययन करते-करते बालक के मन में वैराग्य हुआ और उन्हीं के पास दीक्षा ग्रहण की।

जिनवल्लभ की प्रतिभा से जिनेश्वर सूरि जी पहले से ही प्रभावित थे। उन्होंने अपना उत्तराधिकारी बनाने हेतु विशेष प्रशिक्षण देने के लिए बालमुनि जिनवल्लभ को श्रमण जिनेश्वर के साथ नवांगी टीकाकार अभयदेव सूरि के पास भेजा। वे दोनों गुरु का आशीर्वाद पाकर अणहिल्लपुर पाटण पहुंचे। अभयदेव सूरि भी स्फूर्त मनीषा के धनी जिनवल्लभ जैसे योग्य शिष्य को पाकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने थोड़े ही समय में जिनवल्लभ को सिद्धान्त का परगामी विद्वान् बना दिया। एक पंडित के सहयोग से ज्योतिषशास्त्र पर भी जिनवल्लभ मुनि जी ने अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया था।

अध्ययन की परिसमाप्ति पर वे पुनः अपने दीक्षागुरु जिनेश्वर सूरि से मिलने गए पर अब वे उनके नहीं रहे थे। जिनवल्लभ ने चैत्यवास को स्पष्ट अस्वीकार कर दिया और अभयदेव सूरि के पास आकर उन्होंने नवीन दीक्षा ग्रहण की।

जिनवल्लभ मुनि को योग्य समझते हुए भी किसी विशेष परिस्थितिवश अभयदेव सूरि ने उन्हें आचार्य पद पर नियुक्त न कर वाचनाचार्य के रूप में स्वतंत्र विहरण करने का आदेश दे दिया। जिनवल्लभ मुनि बहुत लम्बे समय तक पाटण के आसपास घूमते रहे।

एक बार वे चित्तौड़ गए। प्रारम्भ में उनका विरोध हुआ। धीरे-धीरे उनकी विद्वत्ता का प्रभाव जमने लगा और उनके अनेक अनुयायी बने। धारा नगरी के राजा नरवर्मदेव पर भी उनका अच्छा प्रभाव था। वी० नि० १६३७ (वि० ११६७) आषाढ़ शुक्ला ७ को देव भद्राचार्य ने पाटण में जिनवल्लभ सूरि को अभयदेव सूरि के स्थान पर आचार्य रूप में नियुक्त किया।

जिनवल्लभ सूरि पद से पहले गणी अभिधा से प्रसिद्ध थे। अपने युग के वे भारी विद्वान् आचार्य हुए। षड्दर्शन किरणावली, न्याय, तर्क, पाणिनीय आदि व्याकरणों के सूत्र उन्हें कंठाग्र थे। चौरासी नाटक, सम्पूर्ण ज्योतिषशास्त्र, छन्द ग्रन्थों के भी वे विशेष मर्मज्ञ थे।

वे अच्छे साहित्यकार भी थे। उन्होंने (१) आगमिक वस्तु विचार सार, (२) शृंगार शतक, (३) प्रश्नषष्टि शतक, (४) पिंड विशुद्ध प्रकरण, (५) गणधर सार्ध शतक, (६) पौषध विविध प्रकरण, (७) संघ पट्टक प्रतिक्रमण समाचारी, (८) धर्म शिक्षा, (९) धर्मोपदेशमय द्वादश मूलक रूप प्रकरण, (१०) प्रश्नोत्तर शतक, (११) स्वप्नाष्टक विचार, (१२) चित्रकाव्य, (१३) अजित शान्ति स्तवन, (१४) भवारिवारण स्तोत्र, (१५) जिनकल्याण स्तोत्र, (१६) जिन चरित्रमय जिन स्तोत्र, (१७) महावीर चरित्रमय वीरस्तव आदि कई सारगर्भित ग्रन्थों की रचना की।

जनवल्लभ आचार्य जिनवल्लभ वी० नि० १६३७ (वि० ११६७) कार्तिक कृष्णा द्वादशी को रात्रि के चतुर्थ प्रहर में परमेष्ठी ध्यान में तल्लीन थे। उसी अवस्था में द्विदिवसीय अनशन के साथ उनका स्वर्गवास हो गया।

गणी रूप में उन्होंने जैन दर्शन की अच्छी प्रभावना की। आचार्य पद को वे केवल चार महीनों तक ही विभूषित कर पाए।

३४. उर्जाकेन्द्र आचार्य अभयदेव (मल्लधारी)

जयसिंह सूरि के शिष्य मल्लधारी अभयदेव हर्षपुरी गच्छ के आचार्य थे। हर्षपुरी गच्छ का सम्बन्ध प्रश्नवाहन कुल कोटिक गण की मध्यम शाखा से था।

गुर्जराधिपति सिद्धराज ने उनको मल्लधारी की उपाधि से विभूषित किया। कुछ इतिहासकारों के अभिमत से इस उपाधि के प्रदाता गुर्जरनरेश कर्ण थे।

मल्लधारी जी का अनेक राजाओं पर प्रभाव था। अजमेर के महाराजा जयसिंह ने उनकी प्रेरणा से अपने सम्पूर्ण राज्य में अष्टमी, चतुर्दशी और शुक्ला पचमी के दिन 'अमारि' की घोषणा की।

भुवनपाल राजा ने जैन मन्दिर के पुजारियों से कर वसूल करना छोड़ा, शाकंभरी के महाराजा पृथ्वीराज और सौराष्ट्र के अधिनायक खेंगार भी उनसे प्रबुद्ध हुए।

सहस्राधिक जैनेतरों को जैन बनाने का महत्त्वपूर्ण कार्य भी उन्होंने किया। वे वी० नि० १६१२ (वि० ११४२) माघ शुक्ला पंचमी के दिन पार्श्वनाथ की अन्तरिक्ष प्रतिमा-प्रतिष्ठा के समय विद्यमान थे।

जीवन के अन्तिम समय में उन्होंने अजमेर की धरा पर ४७ दिन का अनशन किया। गुर्जर नरेश सिद्धराज अनशन की स्थिति में गुजरात से चलकर उनके दर्शनार्थ वहां आए।

अपने व्यक्तित्व का अद्वितीय प्रभाव जनमानस पर छोड़कर वी० नि० १६३८ (वि० ११६८) में वे स्वर्गगामी बने। उनकी शवयात्रा भारी भीड़ के साथ सुबह सूर्योदय से प्रारम्भ हुई और सांझ तक श्मशान घाट पहुंची। मंत्रीगण सहित महाराजा जयसिंह श्मशान तक पहुंचाने गए। देह संस्कार के बाद मल्लधारी जी की राख को महान् रोगविनाशक समझकर लोग अपने-अपने घर ले गए।

जिनके हाथ राख न लगी उन्होंने वहां की मिट्टी को भी प्रसादरूप में ग्रहण किया।

इन प्रसंगों से मल्लधारी जी अपने युग के महान् प्रभावी आचार्य सिद्ध होते हैं।

३५. वर वर्चस्वी आचार्य वीर

वीराचार्य चन्द्रगच्छ की षांडिल्ल शाखा के आचार्य थे।[1] वे विजयसिंह सूरि जी के शिष्य थे।[2] वे योगविद्या के धनी थे। गुजरात का राजा सिद्धराज उनकी विद्वत्ता पर मुग्ध था।

अणहिल्ल पाटणपुर सिद्धराज की निवासस्थली थी। कुछ समय तक वहां वीराचार्य का विराजना हुआ। गाढ़ मित्रता के कारण एक दिन सिद्धराज ने प्रार्थना की "आपको सदा-सदा के लिए यहीं विराजना होगा। अन्यत्र कहीं आपका विहार मेरी इच्छा के प्रतिकूल है।"

वीराचार्य ने कहा—"किसी कारण-विशेष के बिना एक स्थान पर सदा-सदा के लिए रहना मुनियों का आचार नहीं है।

मोहमूढ़ता के कारण राजा को यह बात मान्य नहीं हुई। उसने कहा—"मैं आपको किसी भी प्रकार जाने नहीं दूंगा।" नगर के बाहर हर दरवाजे पर राजा ने कड़ा पहरा लगा दिया।[3]

वीराचार्य ने यह बात सुनी। वे राजा को अपनी विद्या का चमत्कार दिखाना चाहते थे। सन्ध्या-प्रतिक्रमण के बाद वे महायोग प्राणव्य विद्या के द्वारा व्योममार्ग से सीधे पल्लीग्राम में पहुंच गए।[4]

प्रभात में राजा सिद्धराज को इस घटना की सूचना मिली। उसे बहुत दुःख हुआ। कुछ दिनों बाद पल्ली के कुछ ब्राह्मण राजा के पास आए और उन्होंने वीराचार्य के पल्लीग्राम में पदार्पण की तिथि-वार सहित बात कह सुनाई। राजा घटना को सुनकर बहुत विस्मित हुआ। उसने मन्त्रियों के साथ अपनी नगरी में पर्दापण के लिए वीराचार्य को आमन्त्रण भेजा।

गांव-नगर विहरण करते हुए सूरि जी का अणहिल्ल पाटणपुर में आगमन हुआ। राजकृत भारी सम्मान के साथ नगरी में सूरि जी का प्रवेश करवाया गया। वहां पर गोविन्दसिंह सूरि जी की सहायता से वीराचार्य ने वादीसिंह सांख्य विद्वान् को धर्मचर्चा में पराजित किया। सिद्धराज ने इस प्रसंग पर वीराचार्य को 'जय पत्र' प्रदान किया।[5] महाबोधपुर में वाद-कौशल पर उन्हें राजा के द्वार छत्र-चामर आदि भेंट किए गए थे।[6]

कमलकीर्ति नामक दिगम्बर विद्वान् के साथ शास्त्रार्थ करने में वे भी विजयी हुए।[7] वीराचार्य के जन्म व दीक्षा की तिथि-मिति का उल्लेख नहीं मिलता है, पर वे वी० नि० १६३० (वि० सं० ११६०) में विद्यमान थे।

आधार-स्थल

१. श्रीमच्चन्द्रमहागच्छसागरेरत्नशैलवत् ।
अवान्तराख्यया गच्छः षंडिल्ल इति विश्रुतः ॥४॥

(प्रभा० चरित, पृ० १६७)

२. श्रीमद्विजयसिंहाख्याः सूरयस्तत्पदेऽभवन् ।
प्रतिवादि द्विपघटाकटपाटललम्पटाः ॥६॥

(प्रभा० चरित, पृ० १६७)

३. भूपः प्राह न दास्यामि गन्तुं निजपुरात् तु वः ।
सूरिराह निषिध्यामो यान्तः केन वयं ननु ॥१३॥
इत्युक्त्वा स्वाश्रयं प्रायाद् सूरिर्भूरिकलानिधिः ।
रुरोध नगरद्वारः सर्वान् नृपतिर्नरैः ॥१४॥

(प्रभा चरित, पृ० १६७)

४. अध्यात्मयोगतः प्राणनिरोधाद् गगनाध्वना ।
विद्याबलाच्च ते प्रापुः पुरी पल्लीति सञ्ज्ञया ॥१६॥

५. जय पत्रार्पणादस्या ददे तेजं परं तदा ।
द्रव्यं तु निःस्पृहत्वेन स्पृशत्यपि पुनर्न सः ॥६६॥

(प्रभा० चरित, पृ० १६६)

६. महाबौधपुरे बौद्धान् वादे जित्वा बहूनथ ।
गोपालगिरिमागच्छन् राज्ञा तत्रापि पूजिताः ॥३१॥
परप्रवादिनस्तैश्च जितास्तेषां च भूपतिः ।
छत्रचामरयुग्मादि राजचिह्नान्यदान्मुदा ॥३२॥

(प्रभा० चरित, पृ० १६८)

७. वादी कमलकीर्त्यास्य आशाम्बरयतीश्वरः ।
वादमुद्रामृदभ्यागादवज्ञातान्यकोविदः ॥७८॥
आस्थानं सिद्धराजस्य जिह्वा कन्डूययार्दितः ।
वीराचार्यं स आह्वास्त ब्रह्मास्त्रं विदुषां रणे ॥८६॥

(प्रभा० चरित, पृ० १६६)

३६. जनप्रिय आचार्य जिनदत्त

खरतरगच्छ के परम प्रभावक सुविहितमार्गी आचार्य जिनदत्त जिनवल्लभ सूरि के शिष्य थे।

वर्तमान में वे बड़े दादा संज्ञक नाम से प्रख्याति-प्राप्त हैं। उनका जन्म वी० नि० १६०२ (वि० ११३२) में हुबड़ जातीय श्रेष्ठी वंश में हुआ। उनके पिता का नाम वाच्छिरा और माता का नाम वाहड़ था।

उपाध्याय धर्मघोष मुनि के पास वी० नि० १६११ (वि० ११४१) में उन्होंने दीक्षा ग्रहण की। उनका दीक्षा का नाम सोमचन्द्र हुआ।

सोमचन्द्र की स्फुरित मनीषा पर श्रमण वर्ग आश्चर्यचकित था। सात वर्ष तक पाटण में उन्होंने जैन दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया और दिग्गज विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ कर वे विजयी बने।

हरिसिंहाचार्य उनकी प्रतिभा पर अत्यन्त मुग्ध थे। उन्होंने सकल सिद्धांतों की वाचना के साथ अपनी अध्ययन-सम्बन्धी सामग्री भी जिनदत्त सूरि को प्रसन्नतापूर्वक दे दी थी।

चित्तौड़ में वी० नि० १६३९ (वि० ११६९) वैशाख कृष्ण षष्ठी शनिवार को देव भद्राचार्य ने उन्हें आचार्य पद पर नियुक्त किया और जिनदत्त के नाम से उनकी प्रसिद्धि हुई। पाटण में उन्हें युग-प्रधान पद मिला।

आचार्य जिनदत्त के युग में चैत्यवास की धारा राज्याश्रय को प्राप्त कर बड़े वेग से बह रही थी। सुविहित विधिमार्ग पर चलने वाले जैनाचार्यों के लिए यह कड़ी कसौटी का युग था।

जिनदत्त सूरि की नई सूझ-बूझ ने धर्म-विस्तार के लिए नये आयाम खोले। सत्य के प्रतिपादन में उनकी नीति बहुत विशुद्ध थी। किसी भी प्रलोभन में आकर उन्होंने उत्सूत्र की प्ररूपणा नहीं की।

उनके शासनकाल में जैनीकरण का महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ।

जिनदत्त सूरि ने अपने भगीरथ प्रयत्न से एक लाख छत्तीस हजार जैन बनाकर जैनशासन की प्रभावना में नया कीर्तिमान स्थापित किया।

असत् तरीकों से संख्या बढ़ाने का व्यामोह उनमें बिल्कुल नहीं था। वे स्पष्ट

कहते—"चर्मरोगी पर बहुत-सी मक्खियां चिपकती हैं, इससे वेदना बढ़ती है। अधिक परिवार से कल्याण नहीं होता। शूकरी के बहुत सन्तानें होती हैं पर खाने को क्या मिलता है ? गलत प्रकार से श्रावकों की संख्या बढ़ाना कभी श्रेयस्कर नहीं है। सही प्रतिबोध से बना एक श्रावक भी अच्छा है।"

संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषा के वे अधिकारी विद्वान् थे। उन्होंने इन तीनों भाषाओं में 'संदेह-दोहावली' आदि अनेक छोटे-छोटे ग्रन्थों का निर्माण किया।

मारवाड़, सिंध, गुजरात, बागड़, मेवाड़ और सौराष्ट्र उनके मुख्य विहरण-स्थल थे। जैन संख्या का विस्तार उनके जीवन की अभूतपूर्व देन है। संख्यावृद्धि सुविहित विधिमार्ग की नींव को मजबूत करने में परम सहायक सिद्ध हुई। आचार्य जिनदत्त सूरि की इस प्रवृत्ति का अनुकरण समस्त जैन समाज कर पाता तो आज जैनों की संख्या संभवतः कई करोड़ तक पहुंच जाती।

अनशनपूर्वक वी० नि० १६८१ (वि० १२११) आषाढ़ शुक्ला एकादशी के दिन जनप्रिय जिनदत्त सूरि स्वर्गगामी बने।

३७. नितांत नवीन आचार्य नेमिचन्द्र

जैनविद्या के मनीषी टीकाकार नेमिचन्द्र का पूर्व नाम देवेन्द्र गणि था। उन्होंने वि० ११२९ में उत्तराध्ययन पर 'सुखबोधा' नामक टीका लिखी है। इसी टीका की प्रशस्ति में इनका संक्षिप्त जीवन-परिचय प्राप्त होता है। उनके गुरु का नाम आम्रदेव था। आम्रदेव बृहद् गच्छीय उद्योतन सूरि के शिष्य थे। मुनि-चन्द्र इनके गुरुभ्राता थे।

नेमिचन्द्र सूरि का संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं पर आधिपत्य था। प्राकृत में इनका 'महावीर चरित्र' पद्यबद्ध ग्रंथ रत्न है। इसकी परिसमाप्ति वि० ११४१ में अनहिल पाटन नगर के दोहड़ श्रेष्ठी की वसति में हुई थी।

'सुखबोधा' टीका का निर्माण भी इसी श्रेणी के यहां गुरुभ्राता मुनिचन्द्र की प्रेरणा से शान्त्याचार्य की 'शिष्यहिता' टीका के आधार पर हुआ था। इस टीका-रचना के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए स्वयं नेमिचन्द्र सूरि लिखते हैं :

आत्मस्मृतये वक्ष्ये जड़मति संक्षेपरुचिहितार्थं च।
एकैकार्थनिबद्धांवृत्ति शुभस्य सुखबोधाय ।।२।।
बह्वर्थाद् वृद्धकृताद्, गम्भीराद् विवरणात् समुद्धृत्य
अध्ययनानामुत्तरपूर्वाणामेकपाठगताम् ।।३।।
अर्थान्तराणि पाठान्तराणि सूत्रे च वृद्धटीकातः
बोद्धव्यानि यतोऽयं, प्रारम्भो गमनिकामात्रम् ।।४।।

—मन्दमति और संक्षेप रुचिप्रधान पाठकों के लिए मैंने अनेकार्थ गम्भीर विवरण से पाठान्तरों और अर्थान्तरों से दूर रहकर इस टीका की रचना की है।

अर्थान्तरों और पाठान्तरों के जाल से मुक्त होने के कारण इस टीका की 'सुखबोधा' संज्ञा सार्थक भी है।

टीका की इस विशेषता ने 'सरपेन्टियर' को बहुत अधिक प्रभावित किया था। उन्होंने पाठ-निर्धारण में इसी टीका को प्रमुखता दी और टिप्पण भी लिखे।

इस टीका की एक और विशेषता प्राकृत कथानकों का सविस्तार वर्णन है।

शान्त्याचार्य ने अपनी 'शिष्यहिता' टीका में जिन कथानकों का एक दो पंक्ति में संकेतमात्र दिया है नेमिचन्द्र सूरि ने उन कथानकों के साथ अन्य

ग्रन्थों से प्राप्त सामग्री जोड़कर उन्हें रोचक और मन्द बुद्धिवालों के लिए भी सुपाच्य बना डाला है।

इन कथानकों की सरसता ने पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान भी अपनी ओर खींचा है।

अठारह भाषाओं के विद्वान् डा० हर्मन जेकोबी ने इन कथाओं का स्वतंत्र रूप से संग्रह किया। मुनि जिनविजय जी द्वारा भी प्राकृत कथा-संग्रह के नाम से उनका प्रकाशन हुआ।

ले० जे० मेयर ने अंग्रेजी भाषा में इनका अनुवाद सं० १९०९ में किया था।

ल्यूमेन भी इन कथाओं पर अवश्य मुग्ध रहे हैं तभी तो इन्होंने नेमिचन्द्र सूरि द्वारा कथा-प्रसंग के साथ प्रयुक्त पूर्व प्रबन्ध में पूर्व शब्द को निस्संकोच भाव से दृष्टिवाद के अंश का सूचक माना है।

यह टीका संक्षिप्त मूल पाठ का स्पर्श करती हुई अर्थ-गौरव से परिपूर्ण है। यह प्राकृत कथाओं की प्रचुरता के कारण हरिभद्र की शैली का अनुसरण करती हुई प्रतीत होती है। वैराग्यरस से परिप्लावित ब्रह्मदत्त और अगड़दत्त जैसी कथाओं के साहचर्य से इस सुविशाल टीका में प्राणवत्ता आ गयी है और विभिन्न ग्रन्थों के व गाथाओं के उद्धरण तथा सोदाहरण नाना विषयों की विवेचना के कारण इसकी सार्वजनिक उपयोगिता सिद्ध हुई है।

'महावीर चरित्र' नामक प्राकृत ग्रन्थ की रचना भी आचार्य नेमिचन्द्र ने अनहिल्ल पाटण नगर के दोहड़ श्रेष्ठी की वसति में की थी। इस ग्रन्थ का समापन-काल वी० नि० १६११ (वि० ११४१) है।

आचार्य नेमिचन्द्र सूरि ने उत्तराध्ययन के प्रथमांशों की जितनी विस्तृत टीका की है, उत्तरांशों की टीका में उतना विस्तार नहीं है। अन्तिम १२, १३ अध्ययनों की टीका अधिक संक्षिप्त होती गयी है। उनमें न कोई विशेष कथाएं हैं और न कोई अन्य उद्धरण ही हैं।

शान्त्याचार्य की उत्तराध्ययन टीका की अपेक्षा नेमिचन्द्र सूरि की टीकागत कथाओं की विस्तार पद्धति पाठक के लिए नितांत नवीन-सी प्रतीत होती है।

टीका-प्रशस्ति में प्राप्त उल्लेखानुसार आचार्य नेमिचन्द्र वी० नी० १६वीं-१७वीं सदी (वि० १२वीं) के विद्वान् माने गए हैं।

३८. समाधि-सदन आचार्य शुभचन्द्र

आचार्य शुभचन्द्र ध्यान पद्धति के विशिष्ट व्याख्याता एवं संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उनकी जीवन-परिचायिका सामग्री बहुत कम प्राप्त है। इनकी जन्मभूमि, माता-पिता के सम्बन्ध में भी प्रामाणिक तथ्य अनुपलब्ध रहे हैं।

साहित्यिक क्षेत्र में आचार्य शुभचन्द्र की विशिष्ट कृति ज्ञानार्णव ग्रन्थ है। मालिनी, स्रग्धरा, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीड़ित आदि वृत्तों में रचित तथा ४२ प्रकरणों में विभक्त यह सुविशाल ग्रन्थ ध्यान विषयक प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करता है। पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत ध्यान का सूक्ष्मता से विश्लेषण, आग्नेयी मारुती, वारुणी, पार्थिवी धारणाओं की विस्तार से परिचर्चा, धर्मध्यान, शुक्ल-ध्यान का स्वरूप-निर्णय, आज्ञा-विचय, अपाय-विचय, विपाक-विचय, संस्थान-विचय का विवेचन, मन के विभिन्न स्तरों का बोध, कर्मक्षय की प्रक्रिया, उनके व्यवस्थित क्रम का दिशा-निर्देश, बारह भावना, पांचमहाव्रत आदि बहुविध विषयों का ध्यान योग के साथ स्पष्ट और सुसंगत प्रतिपादन इसमें हुआ है। सरस एवं प्रांजल शैली में प्रस्तुत सरल-रमणीय यह कृति आचार्य शुभचन्द्र के प्रगल्भ पाण्डित्य, मर्मभेदिनी प्रज्ञा तथा विभिन्न दर्शनों के विमर्शन से प्राप्त बहुश्रुतता का प्रति-बिम्ब है।

विशाल परिमाण की इस रचना में भी आचार्य शुभचन्द्र का व्यक्तिशः परि-चय नहीं के बराबर है। लेखक ने अपने संबन्ध में कुछ भी संकेत नहीं दिया है। पाठक वर्ग से स्व को अप्रकाशित रखने का यह भाव उनके निगर्वी मानस का प्रतीक हो सकता है पर इतिहास-गवेषकों को अपने साथ न्याय नहीं लगता।

आचार्य हरिभद्र, आचार्य शुभचन्द्र एवं कलिकाल-सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र तीनों योग के महान् व्याख्याकार थे। आचार्य शुभचन्द्र का नाम इनमें मध्यवर्ती है। आचार्य हरिभद्र इनसे पूर्व थे। आचार्य हेमचन्द्र इनसे बाद के हैं।

समाधि-सदन आचार्य शुभचन्द्र पर आचार्य पूज्यपाद, भट्ट अकलंक, अमृत-चन्द्र, सोमदेव, अमितगति की कृतियों का पर्याप्त प्रभाव प्रतीत होता है। ये सब इनसे पूर्ववर्ती विद्वान् थे। आचार्य हरिभद्र इन सबसे और पूर्व के थे। आचार्य हेमचन्द्र की यौगिक कृति 'योगशास्त्र' को देखने से लगता है उनपर आचार्य शुभ-

चन्द्र की 'ज्ञानार्णव' कृति का प्रभाव छाया हुआ था। इन दोनों ग्रन्थों में कहीं-कहीं पद्यों की अत्यधिक समानता पाई गयी है। इस आधार पर आचार्य शुभचन्द्र से कलिकाल सर्वज्ञ की उपाधि से प्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्र पश्चात्वर्ती योग-व्याख्याता विद्वान् थे। आचार्य हेमचन्द्र का समय वी० नि० १६१५ से १७०६ (वि० सं० ११४५ से १२३६) तक का है। आचार्य शुभचन्द्र इनसे पूर्ववर्ती एवं अमृतचन्द्र, सोमचन्द्र आदि विद्वानों से पश्चात्वर्ती होने के कारण वि० की ११वीं-१२वीं सदी के मध्यवर्ती विद्वान् सिद्ध होते हैं।

३६. प्रेक्षा-पयोद (मल्लधारी) आचार्य हेमचन्द्र

चार पत्नियों के स्नेहपाश को तोड़कर संन्यास पथ पर चरण बढ़ाने वाले आचार्य हेमचन्द्र मल्लधारी हेमचन्द्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे प्रश्न-वाहन कुल की मध्यम शाखा में हर्षपुरीय गच्छ के मल्लधारी अभयदेव सूरि के शिष्य थे। उनका जीवन-परिचय मल्लधारी राजशेखर की प्राकृत रचना—द्वयाश्रय की वृत्ति से प्राप्त होता है। इस वृत्ति की प्रशस्ति के अनुसार मल्लधारी हेमचन्द्र राजमंत्री थे। प्रद्युम्न उनका नाम था।

मुनि-जीवन में वे हेमचन्द्र के नाम से विख्यात हुए। बड़ी अवस्था में दीक्षित होकर भी उन्होंने श्रुत की सम्यक् आराधना की। ज्ञान-महार्णव भगवती का पारायण करना भी बहु श्रमसाध्य है। आचार्य जी ने अपने नाम की भांति उसे कंठाग्र कर लिया। वे प्रबल स्वाध्यायी साधक थे। उनकी अध्ययन-परायण रुचि ने लगभग लक्षाधिक ग्रन्थों का वाचन किया। उनकी पठन सामग्री में प्रमाण-शास्त्र और व्याकरणशास्त्र जैसे गंभीर ग्रन्थ भी थे। उनकी पैनी प्रतिभा ग्रन्थों की शब्दमयी पर्तों को चीरकर अर्थ की गहराई तक पैठ जाती थी।

वे श्रेष्ठ वाग्मी थे। उनकी ध्वनि मेघ की तरह गंभीर थी। आधुनिक युग के ध्वनिवर्धक जैसे कोई भी साधन उस समय विकसित नहीं थे। फिर भी दूर-दूर तक उनकी आवाज स्पष्ट सुनाई देती। उनकी प्रवचन शैली अत्यन्त मधुर और आकर्षक थी। मिश्री-सा मिठास उनके स्वरों में उभरता। बहुत बार लोग उनके वचनों को उपाश्रय के बाहर खड़े होकर भी तन्मयता से सुनते। वैराग्य रस से परिपूर्ण "उपमिति भव प्रपंच कथा" जैसा दुरूह और श्रम साध्य ग्रन्थ भी उनके प्रवचनों में सरल और आनन्दकारी प्रतीत होता। श्रोताओं की प्रार्थना पर निरन्तर तीन वर्ष तक वे इसी एक कथा पर व्याख्यान करते रहे। अजमेर के राजा जयसिंह उनके व्याख्यानों पर मुग्ध थे। शाकंभरी का राजा पृथ्वीराज उनके व्याख्यान से प्रभावित होकर जैन बन गया था। भुवनपाल राजा भी उनका परम भक्त था।

मल्लधारी जी व्याख्यानकार ही नहीं साहित्यकार भी थे। उन्होंने दस ग्रन्थों की रचना की है। (१) आवश्यक टिप्पण, (२) शतक विवरण, (३) अनुयोग द्वार वृति, (४) उपदेशमाला सूत्र, (५) उपदेशमाला वृत्ति, (६) जीव समास

विवरण, (७) भव भावना सूत्र, (८) भव भावना विवरण, (९) नन्दि टिप्पण, (१०) विशेषावश्यक भाष्य बृहद् वृति। ये नाम विशेषावश्यक भाष्य की वृहद् वृत्ति में उपलब्ध है। इन ग्रन्थों का परिमाण ८०००० श्लोक है।

हरिभद्रकृत आवश्यक वृत्ति पर पांच हजार श्लोक परिमाण उन्होंने टिप्पण रचा। यह आवश्यक वृत्ति प्रदेश व्याख्या के नाम से प्रसिद्ध है। इसका दूसरा नाम हरिभद्रीयावश्यक वृत्ति टिप्पण भी है। 'उपदेशमाला मूल' और 'भव भावना मूल' उनकी सर्वप्रथम रचना है। इन दोनों ग्रन्थों पर चौदह हजार और छत्तीस हजार परिमाण उनकी स्वोपज्ञ वृत्तियां भी हैं।

मल्लधारी जी की अधिक प्रसिद्धि टीकाकार के रूप में है। अनुयोग द्वार पर छह हजार श्लोक परिमाण और विशेषावश्यक भाष्य पर उन्होंने अट्ठाईस हजार श्लोक परिमाण वृहद् वृत्ति लिखी है। ये दोनों ही वृत्तियां सरल और सुबोध हैं। स्थूल बुद्धि के पाठक के उपकारार्थ इनकी रचना हुई है। आवश्यक वृत्ति में स्वर-विद्या, चिकित्साविद्या, गणितविद्या तथा इसी प्रकार अन्य विद्याओं से सम्बन्धित अनेक उपयोगी श्लोकों का अवतरण लेखक ने किया है। इस रचना का काल अभी अप्राप्त है।

विशेषावश्यक भाष्य वृहद् वृत्ति मल्लधारी जी की सुविशाल कृति है। इसे 'शिष्यहिता' वृत्ति भी कहते हैं। इसमें भरपूर दार्शनिक चर्चाएं हैं। प्रश्नोत्तर-प्रधान होने के कारण इसकी शैली में गोंद का-सा लोच पैदा हो गया है। इसे पढ़ते-पढ़ते पाठक का मन कुछ समय के लिए कृति के साथ गहरा चिपक जाता है। स्थान-स्थान पर संस्कृत कथाओं के प्रस्तुतीकरण ने इसे और भी रुचिप्रद बना दिया है। यह एक ही कृति मल्लधारी जी के व्यक्तित्व की पर्याप्त परिचायिका है। संस्कृत टीका साहित्य की श्री वृद्धि भी इससे सुविस्तृत हुई है।

विजयसिंह, श्रीचन्द्र, विबुधचन्द्र नामक तीन उनके विद्वान् शिष्य थे। श्रीचन्द्र सूरि महान् साहित्यकार थे। साहित्य-साधना से इन्होंने अपने गुरु हेमचन्द्र का नाम बहुत उजागर किया। अंतिम समय में आचार्य मल्लधारी हेमचन्द्र को सात दिनों का अनशन आया। राजा सिद्धराज स्वयं इनकी शवयात्रा में सम्मिलित हुए और श्मशान भूमि तक पहुंचे।

मल्लधारी जी के शिष्य विजयसिंह सूरि वी० नि० १६१२ (वि० सं० ११४२) में विद्यमान थे। मल्लधारी हेमचन्द्र का काल-निर्णय अभी तक अनुसन्धान मांगता है। उनकी स्वहस्त लिखित जीव समास वृति में उन्होंने वी० नि० १६३४ (वि० ११६४) का उल्लेख किया है। विजयसिंह सूरि का काल सम्वत् देखते हुए लगता है, यह सम्वत् उनके शिष्यकाल का है तथा आचार्य हेमचन्द्र ने जीव समास वृत्ति की प्रतिलिपि अवश्य वृद्धावस्था में की है।

४०. विद्वद्वैडूर्य आचार्य वादिदेव

प्रमाणतत्त्व लोकालंकार के रचनाकार आचार्य वादिदेव गुजरात के मदाहृत (मड्डाहृत) गांव के थे। जाति से वे पोरवाल थे। उनके पिता का नाम वीरनाग और माता का नाम जिनदेवी था।

जिनदेवी ने एक दिन स्वप्न में चन्द्रमा को अपने मुख में प्रवेश करते हुए देखा। उसने अपने स्वप्न की बात मुनिचन्द्र के सामने कही। स्वप्न का फलादेश बताते हुए मुनिचन्द्र बोले—"बहिन ! चन्द्रमा के समान प्रतापी प्राणी का तुम्हारी कुक्षि में अवतार हुआ है। वह प्राणी भविष्य में विश्व के लिए आनन्द-कारी होगा।" आचार्यश्री के मुख से यह बात सुनकर जिनदेवी को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। गर्भकाल की सम्पन्नता पर उसने वी०नि० १६१३ (वि०११४३) में कलिकालाद्रि को भी प्रकम्पित कर देने में वज्रोपम द्युति के समान तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। चन्द्र-स्वप्न के आधार पर पिता वीरनाग ने पुत्र का नाम पूर्ण-चन्द्र रखा।[1]

पूर्णचन्द्र ने ६ वर्ष की अवस्था में आचार्य मुनिचन्द्र के पास दीक्षा ग्रहण की। उनका दीक्षा नाम रामचन्द्र रखा गया। रामचन्द्र मुनि प्रखर प्रतिभासम्पन्न थे। वे आचार्य मुनिचन्द्र से न्यायविषयक दुरवबोध ज्ञान ग्रहण करने में सफल सिद्ध हुए। जैनेतर सिद्धान्तों का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया। शास्त्रार्थ करने में भी वे अत्यन्त निपुण थे।

धवलक नगर में शैवमत-समर्थक बन्ध के साथ, सत्यपुर में काश्मीर और सागर विद्वान के साथ, नागपुर में दिगम्बर पंडित गुणचन्द्र के साथ, चित्रकूट में भागवत शिवभूति के साथ, गोपपुर में गंगाधर के साथ, धारानगरी में धरणीधर के साथ, पुष्करणी में ब्राह्मण विद्वान् पद्माकर के साथ और भृगुकच्छ में कृष्ण नामक विद्वान् के साथ शास्त्रार्थ कर रामचन्द्र मुनि विजय को प्राप्त हुए थे।

विमलचन्द्र, हरिचन्द्र, सोमचन्द्र, पार्श्वचन्द्र, शान्तिचन्द्र और अशोकचन्द्र—ये छह विद्वान् मुनि रामचन्द्र के वाग्मित्व से प्रभावित होकर उनके परम सखा बन गए।

रामचन्द्र मुनि को वी० नि० १६४४ (वि० ११७४) में आचार्य पद पर

विभूषित किया गया और आचार्य पद पर उनका नाम देव रखा गया।[१] इसी अवसर पर चन्दनबाला नामक साध्वी को महत्तरा पद से अलंकृत किया गया। साध्वी चन्दनबाला वीरनाग की बहिन थी।

आचार्य मुनिचन्द्र के आदेश से वे स्वतन्त्र विहरण करने लगे। एक बार वे धवलक नगर में पहुंचे, वहां जैन धर्म की महती प्रभावना हुई।

आचार्य मुनिचन्द्र का वी० नि० १६४८ (वि० ११७८) में स्वर्गवास हुआ। उसके बाद वे मारवाड़ की तरफ आए। विद्वान् देवबोध के द्वारा उनकी प्रशंसा सुनकर नागपुर के राजा ने उनका भारी सम्मान किया था।

वैशाख शुक्ला पूर्णिमा के दिन वी० नि० १६५१ (वि० ११८१) में पाटण के अधिनायक सिद्धराज की अध्यक्षता में उनका दिगम्बर विद्वान् कुमुदचन्द्र के साथ महान् शास्त्रार्थ हुआ।[२] केशव आदि तीन विद्वान् प्रतिवादी कुमुदचन्द्र के पक्ष का तथा श्रीपाल और भानु नामक दो विद्वान् आचार्य देव का समर्थन कर रहे थे। महर्षि उत्साह, सागर और राम ये तीन विद्वान् उस सभा के प्रमुख सभासद् थे। बत्तीस वर्ष की अवस्था के युवा सन्त हेमचन्द्र, महान् विद्वान् श्रमण श्रीचन्द और राज वैतालिक भी वहां पर उपस्थित थे।

इस महान् शास्त्रार्थ में आचार्य देव विजयी हुए। सिद्धराज ने उन्हें तुष्टिदान (एक लाख स्वर्ण मोहर) के साथ वादी की उपाधि से अलंकृत किया। उसी दिन से वे वादिदेव के नाम से प्रसिद्ध हुए।

आचार्य वादिदेव कुशल साहित्यकार थे। विभिन्न दर्शनों का अवगाहन कर उन्होंने 'प्रमाणनयतत्त्व लोकालंकार' की रचना की थी। यह ग्रन्थ ३७४ सूत्र और ८ परिच्छेदों में निबद्ध न्यायविषयक मौलिक रचना है।

इस ग्रन्थ पर 'स्याद्वाद रत्नाकर' नामक सोपज्ञ टीका भी उनकी है।[४]

आचार्य वादिदेव आचार्य सिद्धसेन की कृतियों के प्रमुख पाठक थे। दिवाकर जी का 'सन्मति तर्क' उनका प्रिय ग्रन्थ था। 'स्याद्वाद-रत्नाकर' की रचना में स्थान-स्थान पर उन्होंने 'सन्मति तर्क' का उल्लेख किया है।

आचार्य वादिदेव की शिष्य मंडली में भद्रेश्वर और रत्नपुत्र नामक विद्वान् श्रमण थे। 'स्याद्वाद रत्नाकर' की रचना में इन दोनों शिष्यों का उन्हें पूर्ण सहयोग था।

शिष्य भद्रेश्वर को उन्होंने आचार्य पद पर नियुक्त किया।[५] मारवाड़ और गुजरात को चरणों से पवित्र करते हुए आचार्य वादिदेव वी० नि० १६९६ (वि० १२२६) श्रावण कृष्णा सप्तमी के दिन ८३ वर्ष की अवस्था में स्वर्गगामी बने।[६] आचार्य वादिदेव के जीवन से संबद्ध विशेष घटनाओं के काल-परिचायक संवत् निम्नोक्त श्लोक है :

शिखिवेदशिवे (११४३) जन्म दीक्षा युग्मशरेश्वरे (११५२) वेदाश्वशंकरे

वर्षे (११७४) सूरित्वमभवत् प्रभोः ॥२८६॥
नवमे वत्सरे दीक्षा एकविंशत्तमे तथा ।
सूरित्वं सकलायुश्च त्र्यशीतिवत्सरा अभूत् ॥२८७॥
आचार्य वादिदेव विद्वद् समाज में वैडूर्य के समान थे।

आधार-स्थल

१. हृदयानन्दने तत्र वर्धमाने च नन्दने ।
चन्द्रस्वप्नात् पूर्णचन्द्र इत्याख्यां तत्पिता व्यधात् ॥१४॥

(प्रभा० चरित, पत्रांक १७१)

२. ततो योग्यं परिज्ञाय रामचन्द्रं मनीषिणम् ।
प्रत्यष्ठिपन् पदे दत्तदेवसूरिवराभिधम् ॥४५॥

(प्रभा० चरित, पत्रांक १७२)

३. चन्द्राष्टशिववर्षेऽत्र (११८१) वैशाखे पूर्णिमादिने ।
आहूतौ वादशालायां तौ वादिप्रतिवादिनौ ॥१९३॥

(प्रभा० चरित, पत्रांक १७८)

४. स्याद्वादपूर्वकं रत्नाकरं स्वादुवचोऽमृतम् ।
प्रमेयशतरत्नाढ्यममुक्तं स किल श्रिया ॥२८०॥

(प्रभा० चरित, पत्रांक १८१)

५. श्री भद्रेश्वरसूरीणां गच्छभारं समर्प्य ते ।
जैनप्रभावनास्थेमनिस्तुषश्रेयसि स्थिताः ॥२८३॥

(प्रभा० चरित, पत्रांक १८१)

६. रसयुग्मरवौ वर्षे (१२२६) श्रावणे मासि संगते ।
कृष्णपक्षस्य सप्तम्यामपराह्णे गुरोर्दिने ॥२८४॥
मर्त्यलोकस्थितं लोकं प्रतिबोध्य पुरंदरम् ।
बोधका इव ते जग्मुर्दिवं श्री देवसूरयः ॥२८५॥

(प्रभा० चरित, पत्रांक १८१)

४१. ज्ञान-पीयूष पाथोधि आचार्य हेमचन्द्र

आचार्य हेमचन्द्र श्रमण संस्कृति के उज्ज्वल रत्न थे। वे वी० नि० १६१५ (वि० ११४५) में जन्में। कार्तिकी पूर्णिमा के दिन इस नवोदित चमकते चान्द को पाकर माता पाहिनी और पिता चाचिग का धन्धुका निवासी ओढ़ वणिक् परिवार ही नहीं, पूरा गुजरात ही धन्य हो गया।

बालक जब गर्भ में आया था उस समय पाहिनी ने स्वप्न में देखा—वह चिन्तामणि रत्न को गुरु के चरणों में भक्ति-विशेष से समर्पित कर रही है। उस समय धन्धुका नगर में चन्द्रगच्छीय पद्मसूरि के शिष्य श्री देवचन्द्र सूरि विराजमान थे। पाहिनी ने अपने स्वप्न की बात उनके सामने कही। गुरु ने कहा—"पाहिनी ! जैन शासन सागर की कौस्तुभ मणि के समान तुम्हारा पुत्र तेजस्वी होगा।"[1]

गुरु के कथन के अनुसार ही देदीप्यमान तेजस्वी पुत्ररत्न को देखकर पाहिनी को अत्यधिक प्रसन्नता हो रही थी। चन्दन को उत्पन्न करने वाली मलयाचल चूला की तरह नन्दन की प्राप्ति से वह गौरवान्वित हुई। उल्लासमय वातावरण में बारहवें दिन पुत्र का नाम चंगदेव रखा गया।

पाहिनी धर्मनिष्ठा और श्राविका थी। एक दिन वह पुत्र चंगदेव को लेकर देवचन्द्र सूरि का प्रवचन सुनने गयी। देवचन्द्र सूरि व्यक्ति के पारखी थे। उन्हें चंगदेव के मुखमंडल पर उभरने वाली अत्यन्त सूक्ष्म रेखाओं में उच्चतम व्यक्तित्व के दर्शन हुए। आचार्य देवचन्द्र ने पाहिनी से धर्म-संघ के लिए बालक की मांग की और कहा—"तुम्हारे इस कुलदीप से जैन दर्शन की महान् प्रभावना होने की संभावना है"

गुरु के निर्देश से मार्ग-दर्शन प्राप्त पाहिनी ने अपने इकलौते पुत्र को पूर्व स्वप्न का स्मरण करते हुए धर्मसंघ के लिए प्रसन्नतापूर्वक समर्पित कर दिया।

बालक का दीक्षा माघ शुक्ला चर्तुदशी शनिश्चर वार, बृहस्पति लग्न में हुई। दीक्षा महोत्सव खंभात के राजा उदयन ने किया था।

बालक का दीक्षा नाम सोमचन्द्र रखा गया।[2] मुनि सोमचन्द्र अपने शीतल स्वभाव और प्रखर प्रतिभा के कारण यथार्थ में ही सोमचन्द्र थे। श्रमण सोमचन्द्र

ने तर्कशास्त्र, लक्षणशास्त्र एवं साहित्य की अनेक विध विधाओं का अध्ययन किया।

गुरु ने धर्म धुरा धौरेय श्रमण सोमचन्द्र को योग्य समझकर आचार्य पद पर नियुक्त किया। आचार्य पदप्राप्ति के समय सब प्रकार से ग्रह बलवान थे एवं लग्न वृद्धिकारक थे। इस समय उनकी अवस्था २१ वर्ष की थी। आचार्य पद-प्राप्ति के बाद उनका नाम हेमचन्द्र हुआ।

उनकी माता पाहिनी ने भी श्रमण दीक्षा ग्रहण की और उन्हें प्रवर्तिनी पद पर प्रतिष्ठित किया गया।[३] हेमचन्द्र की कीर्ति आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होते ही विस्तार पाने लगी। उनके जीवन में सिद्धराज जयसिंह और भूपाल कुमारपाल का योग मानव जाति के कल्याण के लिए वरदान सिद्ध हुआ।

गुजरात-रत्न जयसिंह सिद्धराज मालव से विजयमाला पहनकर लौटे। लक्ष्मी उनके चरणों में नाच रही थी पर सरस्वती के स्वागत के बिना उनका मन खिन्न था। मालव धरा का भारी साहित्य उनके करकमलों की शोभा बढ़ा रहा था। पर उनके पास न कोई अपनी व्याकरण थी और न जीवन को मधु-रस से ओत-प्रोत कर देने वाली काव्यों की अनुपम सम्पदा।

सिद्धराज ने इस क्षतिपूर्ति के लिए महान् प्रतिभाओं को आह्वान किया और उनकी सूक्ष्मबोधिनी दृष्टि सब विद्वानों को चीरकर आचार्य हेमचन्द्र पर जा टिकी। राजसभा में उन्होंने कहा—"मुनि नायक ! विश्वलोकोपकार के लिए नये व्याकरण का निर्माण करो। इसमें तुम्हारी ख्याति है और मेरा यश है।"[४]

सिद्धराज का संकेत पाते ही हेमचन्द्र ने गुजरात के साहित्य में चार चांद लगा दिये। सर्वांग परिपूर्ण सिद्धहेम व्याकरण उनकी प्रथम रचना थी[५] जिसे पाकर गुजरात का सहित्य चमक उठा। हाथी के हौदे पर रखकर उस व्याकरण का राज्य में प्रवेश कराया गया। तीन सौ विद्वानों ने बैठकर उसकी प्रतिलिपियां तैयार की।[६] काश्मीर तक के पुस्तकालयों में इस व्याकरण को सम्मानपूर्वक स्थान प्राप्त हुआ।[७]

अंग, बंग, कलिंग, लाट, कर्णाटक, कुंकुण, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, वत्स, कच्छ, मालव, सिन्धु, सौवीर, नेपाल, पारस, मुरण्ड, हरिद्वार, काशी, गया, कुरुक्षेत्र, कान्यकुब्ज, गौड, श्री कामरूप, सपादलक्ष, जालंधर, सिंहल, कौशिक आदि अनेक नगरों में इस व्याकरण साहित्य का प्रचार हुआ। ये प्राचीन काल में सुप्रसिद्ध नगर थे।[८]

गुजरात के पाठ्यक्रम में भी इसी व्याकरण की स्थापना हुई और उसके अध्यापन के लिए विशेष अध्यापकों को नियुक्त किया गया। उनमें प्रमुख अध्यापक कायस्थ कुल का कवि चक्रवर्ती शब्दानुशासन-शासनाम्बुधि-पारद्रष्टा काकल

नामक विद्वान था।[१]

आठ विशाल अध्यायों में सम्पन्न, ३५६६ सूत्रों में निबद्ध इस व्याकरण ने साहित्य के क्षेत्र में वही स्थान प्राप्त किया जो पाणिनि तथा शाकटायन की व्याकरण को मिला था। प्रस्तुत व्याकरण में सात अध्याय संस्कृत के और आठवां अध्याय प्राकृत का है।

प्राकृत उस समय आबाल-वृद्ध की भाषा थी अतः उनके प्रति करुणा से प्रेरित होकर ही हेमचन्द्र ने संस्कृतप्रधान व्याकरण में प्राकृत का अध्याय जोड़ा था। व्याकरण के क्षेत्र में हेमचन्द्र की इस पारगामी प्रज्ञा पर दिग्गज विद्वानों के मस्तक भी झुक गए।

उन्होंने कहा :

किं स्तुमः शब्दपथोधेः, हेमचन्द्रयतेर्मतिम्।
एकेनापिहि येनेदृक् कृतं शब्दानुशासनम्॥

प्रमाणमीमांसा तथा अन्ययोगव्यवच्छेदिका और अयोगव्यवच्छेदिका नामक दो द्वात्रिंशिकाओं की रचना में सम्पूर्ण भारतीय दर्शन की अवतारणा उनकी मनीषा का जबरदस्त चमत्कार था।

'त्रिषष्ठिशलाकापुरुष' नामक कृति में तिरेसठ महापुरुषों के जीवन-चरित्र लिखकर उन्होंने साहित्य जगत् को बहुमूल्य रत्न भेंट किया। तत्कालीन सांस्कृतिक चेतना, सभ्यता का उत्कर्ष, धर्म, दर्शन, विज्ञान, कला और अध्यात्म आदि विविध विषयों को अपने में गर्भित किये हुए यह ग्रन्थ इतिहास-प्रेमी पाठकों के लिए अतिशय उपयोगी सिद्ध हुआ।

महाभारत के विषय में कही गयी यह लोकोक्ति—"यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्" प्रस्तुत काव्यात्मक शैली में लिखे गये इस ग्रन्थ पर पूर्णतः नहीं अधिकांशतः अवश्य चरितार्थ होती है। अभिधान चिन्तामणि, हेम अनेकार्थ संग्रह, देशी नाममाला और निघंटु कोष—इन चार ग्रन्थों में रचनाकार ने शब्द-संसार का अलौकिक भण्डार भर दिया है।

अठारह सौ श्लोक परिमाण अभिधान चिन्तामणि कोष बहुत सुन्दर, सरल और सरस भाषा में ग्रथित है और वह धनंजय की प्रतिभा को भी विस्मृत करा देता है। हेमचन्द्र की इस पर स्वोपज्ञ-वृत्ति भी है।

काव्यानुशासन और छंदोनुशासन में भी उनकी अपनी सर्वथा स्वतन्त्र शक्ति का उपयोग हुआ है। "काव्यमानन्दाय" कहकर उन्होंने काव्य के उच्चतम लक्ष्य का निर्धारण किया और मम्मट के द्वारा प्रस्तुत काव्यप्रयोजन की परिभाषा में एक नया क्रम जोड़ा।

संस्कृत द्वयाश्रय महाकाव्य और प्राकृत द्वयाश्रय महाकाव्य में चौलुक्य वंश का पूर्ण इतिहास और काव्य के सभी गुणों का स्फुट दर्शन एक साथ होता है।

योगशास्त्र उनकी योगविषयक अनूठी कृति है। यशपाल ने इसे साधक की सुरक्षा के लिए वज्र कवच के समान माना है। योगशास्त्र को पढ़ते ही शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव की स्मृति सहज हो जाती है। इसी प्रकार अर्हन्नीति, वीतराग स्तोत्र, नाभेयनेमिद्विसन्धान, द्विज वचन चपेटा, परिशिष्ट पर्व आदि का निर्माण उनकी हेम-सी निर्मल प्रतिभा का विशिष्ट उपहार था।

उनके पास रामचन्द्रसूरि जैसे साहित्यकारों की अच्छी मण्डली थी। लोकश्रुति है—चौरासी कलमें एक साथ उनके प्रशिक्षण केन्द्र में चलती थीं।

आचार्य हेमचन्द्र भविष्यवक्ता भी थे। सिद्धराज का उत्तराधिकारी कुमारपाल होगा—यह बात सबके सामने सिद्धराज के स्वर्गवास से सात वर्ष पूर्व ही उन्होंने कह दी। एक बार कुमारपाल को मृत्यु के क्रूर पंजों से बचाकर सिंहासन पर आरूढ़ होने से पहले ही उनको अपने अप्रतिहत तेज से प्रभावित कर लिया था।

सिद्धराज और हेमचन्द्र दोनों समवयस्क थे। राजा वास्तव में किसीके मित्र नहीं होते पर हेमचन्द्र के विशाल एवं उदार व्यक्तित्व के कारण महाराज के साथ उनकी मैत्री अन्तिम समय तक गहराती गयी।

सिद्धराज के स्वर्गवास के बाद कुमारपाल पाटण का शाशक बना। आचार्य हेमचन्द्र की भविष्यवाणी सत्य हुई। कुमारपल उनके परमोपकार से श्रद्धावनत बना हुआ था। राजसिंहासन पर आरूढ़ होते ही उसने अपना राज्य आचार्य हेमचन्द्र जी के चरणों में समर्पित कर दिया। उन्होंने राज्य के बदले कुमारपाल से 'अमारि' की घोषणा करवायी। इससे कुछ लोगों को ईर्ष्या हुई। उन्होंने राजा के कान भरे, "स्वामिन्! देवी बलि मांग रही है, मांग पूर्ण न होने पर उसका कोप विनाश का हेतु होगा।"

कुमारपाल ने हेमचन्द्राचार्य से परामर्श किया, तथा रात्रि में देवी के सामने पशु छोड़ दिये और कहा, "देवी की इच्छा होने पर वह स्वयं ही उनका भक्षण ले लेगी।" रात्रि पूर्ण हुई, पशु कुशलतापूर्वक वहीं खड़े थे। प्रतिवादी निरुत्तर हो गये। कुमारपाल के मन में अहिंसा के प्रति गहरी निष्ठा जागृत हुई।

हेमचन्द्राचार्य अवसरज्ञ थे। एक बार उन्होंने कुमारपाल के साथ तीर्थ-यात्राएं कीं और शिव मन्दिर में प्रवेश करते समय शिव के सामने खड़े होकर कहा:

भवबीजांकुरजनना रागाद्या: क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

—भव बीज को अंकुरित करने वाले रागद्वेष पर जिन्होंने विजय प्राप्त कर ली है, भले वे ब्रह्मा, विष्णु, हरि और जिन किसी भी नाम से सम्बोधित होते हों, उन्हें मेरा नमस्कार है।

महारागो महाद्वेषो, महामोहस्तथैव च।
कषायश्च हतो येन, महादेवः स उच्यते ।।

—जिसने महाराग, महाद्वेष, महामोह और कषाय को नष्ट किया है, वही महादेव है।

आचार्य हेमचन्द्र की इस सर्वधर्मसमन्वयात्मक नीति ने कुमारपाल को जैन धर्म के प्रति अधिक प्रभावित किया। कुमारपाल के साथ 'परमहित' विशेषण उनके जैन होने का सूचक है।

हेमचन्द्र निःसन्देह अलौकिक विभा से परिपूर्ण थे। उनके श्रुतज्ञान वैभव को पाकर समूचा गुजरात ही पुलक उठा और भारतीय संस्कृति में अभिनव प्राणों का संचार हुआ था। साढ़े तीन करोड़ से भी अधिक श्लोकों की रचना कर कलिकाल-सर्वज्ञ ने सरस्वती मां के खजाने को अक्षयनिधि से भर दिया। और कुमारपाल जैसे गुर्जर शाशक को व्रत स्वीकार कराकर जैनशासन के गौरव को हिमालय से भी अत्युच्चतम शिखर पर चढ़ा दिया था।

संयम-साधना और साहित्य-साधना का उनका दीप तिरेसठ वर्ष की आयु तक अविरल जलता रहा और उससे जन-जन को मार्ग-दर्शन मिलता रहा। आचार्य हेमचन्द्र पाटण में वीर निर्वाण १६६६ (विक्रम १२२६) में चौरासी वर्ष की आयु सम्पन्न कर स्वर्गगामी बने।[१०] हेमचन्द्र का युग जैन धर्म के महान् उत्कर्ष का था।

आधार-स्थल

१. जैनशासनपाथोधिकौस्तुभः संभवी सुतः ।
तव स्तवकृतो यस्य देवा अपि सुवृत्ततः ।।१६।।

(प्रभा० चरित, पृ० १८३)

२. तमादाय स्तम्भतीर्थे जग्मुः श्री पार्श्वमन्दिरे ।
माघे सित चतुर्दश्यां ब्राह्मे धिष्ण्ये शनै दिने ।।३२।।
धिष्ण्ये तथाष्टमे धर्म्मस्थिते चन्द्रे वृषोपगे ।
लग्ने बृहस्पतौ शत्रुस्थितयोः सूर्यभौमयोः ।।३३।।
श्रीमानुदयनस्तस्य दीक्षोत्सवमकारयत् ।
सोमचन्द्र इति ख्यातं नामास्य गुरवो दधुः ।।३४।।

(प्रभा० चरित, पृ० १८४)

३. तदा च पाहिनी स्नेहवाहिनी सुत उत्तमे ।
तत्र चारित्रमादत्ताविहस्ता गुरुहस्ततः ।।६१।।
प्रवर्तिनी प्रतिष्ठां च दापयामास नम्रगीः ।
तदैवाभिनवाचार्यो गुरुभ्यः सभ्यसाक्षिकम् ।।६२।।

(प्रभा० चरित, पृ० १८४-१८५)

४. यशो मम तव ख्यातिः पुण्यं च मुनिनायक !
विश्वलोकोपकाराय कुरु व्याकरणं नवम् ।।८४।।

(प्रभा० चरित, पृ० १८५)

५. श्री हेमसूरयोऽप्यत्रालोक्य व्याकरणव्रजम् ।
शास्त्रं चक्रुर्नवं श्रीमत् सिद्धहेमाख्यमद्भुतम् ।।९६।।

(प्रभा० चरित, पृ० १८६)

६. राजादेशान्नियुक्तैश्च सर्वस्थानेभ्य उद्यतैः ।
तदा चाहूय सच्चक्रे लेखकानां शतत्रयम् ।।१०४।।
पुस्तकाः समलेख्यन्त सर्वदर्शनिनां ततः ।
प्रत्येक मेवादीयन्ताध्येतृणामुद्यमस्पृशाम् ।।१०५।।

(प्रभा० चरित, पृ० १८६)

७. प्राहीयत नृपेन्द्रेण काश्मीरेषु महादरात् ।।११०।।

(प्रभा० चरित, पृ० १८६)

८. अंग-बंग कलिंगेषु, लाट-कर्णाट-कुंकणे ।
महाराष्ट्र-सुराष्ट्रासु, वत्से कच्छे च मालवे ।।१०६।।
सिन्धु-सौवीर-नेपाले पारसीक-मुरंडयोः ।
गंगापारे हरिद्वारे, काशि-चेदि-गयासु च ।।१०७।।
कुरुक्षेत्रे कान्यकुब्जे गौडश्री कामरूपयोः ।
सपादलक्षवज्जालंधरे च खसमध्यत: ।।१०८।।
सिंहलेऽथ महाबोधे चौडे मालव-कौशिके ।
इत्यादि विश्वदेशेषु शास्त्रं व्यस्तार्यत स्फुटम् ।।१०९।।

(प्रभा० चरित, पृ० १८६)

९. काकलो नाम कायस्थकुलकल्याणशेखरः ।
अष्टव्याकरणाध्येता प्रज्ञाविजितभोगिराट् ।।११२।।
प्रभुस्तं दृष्टि मात्रेण ज्ञाततत्त्वार्थमभ्य च ।
शास्त्रस्य ज्ञापकं चाशु विदधेऽध्यापकं तदा ।।११३।।

(प्रभा० चरित, पृ० १८६)

१०. शर-वेदेश्वरे (११४५) वर्षे कार्तिके पूर्णिमा निशि ।
जन्माभवत् प्रभोर्व्योम-बाण शम्भौ (११५०) व्रत तथा ।।८५०।।
रस-षट्केश्वरे (११६६) सूरि प्रतिष्ठा समजायत ।
नन्द-द्वय-रवौ वर्षे (१२२९) ऽवसानमभवत् प्रभोः ।।८५१।।

(प्रभा० चरित, पृ० २१२)

४२. मनीषा-मेरु आचार्य मलयगिरि

श्वेताम्बर परम्परा के समर्थ टीकाकार आचार्य मलयगिरि महाप्रज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन थे। वे अपने नाम से मलयगिरि और ज्ञान से भी मलयगिरि ही थे। उनकी प्रतिभा दर्पण की तरह स्वच्छ और निर्मल थी। वे लेखनी के धनी थे। उन्होंने अपने जीवन में बहुत अच्छी टीका-साहित्य-साधना की।

टीका-साहित्य रचने की उनकी प्रांजल प्रतिभा के साथ एक विचित्र घटना जुड़ी हुई है।

एक बार आचार्य हेमचन्द्र, आचार्य मलयगिरि व देवेन्द्रगणी—तीनों विद्या-ध्ययन हेतु एक साथ चले थे। रास्ते में उन्होंने अपने गुरु से प्राप्त सिंह चक्रमंत्र की आराधना की। जिससे प्रसन्न होकर विमलेश्वर देव ने यथेप्सित वरदान मांगने के लिए उनसे कहा। इस अवसर पर आचार्य हेमचन्द्र ने सात राजाओं को प्रतिबोध देने का व मलयगिरि ने आगम ग्रन्थों पर टीका लिखने का वर चाहा था। देव तथास्तु कहकर चला गया था। मलयगिरि उस दिन के बाद टीका-साहित्य की संघटना में लगे और वे एक समर्थ टीकाकार के रूप में युग के सामने आए।

अकेले आचार्य मलयगिरि ने पच्चीस ग्रन्थों पर टीकाएं लिखी हैं। उनमें उन्नीस टीकाएं वर्तमान में उपलब्ध हैं और छह अनुपलब्ध हैं। उपलब्ध टीकाओं का कुल परिमाण १९६६१२ के लगभग है। एक 'व्यवहार सूत्र वृत्ति' की श्लोक-संख्या ३४००० है।

इस टीका-साहित्य में 'भगवती' जैसे विशालकाय ग्रन्थ पर और 'चन्द्र प्रज्ञप्ति' तथा 'सूर्य प्रज्ञप्ति' जैसे गंभीर ग्रन्थ पर भी आचार्य जी की लेखनी अविरल गति से चली है।

वे नन्दि, प्रज्ञापना, व्यवहार, जीवाभिगम, आवश्यक, वृहत्कल्प, राजप्रश्नीय आदि विविध आगमों के टीकाकार थे।

पंच संग्रह, कर्मप्रकृति, धर्मसंग्रहिणी, सप्तिका टीका जैसी कृतियां सैद्धांतिक चर्चाओं से परिपूर्ण उनकी प्रौढ़ रचनाएं हैं।

टीकाओं की रहस्यमयी भाषा एक ओर पाठक वर्ग का बुद्धि-व्यायाम करने

का अवसर प्रदान करती है दूसरी ओर उनकी विविध विषयों से संबंधित रोचक सामग्री हर प्रमुख मानस में आह्लाद पैदा करती है। मलयगिरि का संपूर्ण टीका-साहित्य ज्ञान का अक्षय खजाना है।

'मलयगिरि शब्दानुशासन' उनकी एक स्वतंत्र रचना भी है। पर वे स्वतंत्र ग्रन्थकार नहीं, समर्थ टीकाकार थे। उनकी लेखनी टीका-साहित्य में टूट पड़ी थी।

महामनीषी आचार्य हेमचन्द्र का अप्रतिहत प्रभाव मलयगिरि पर था। उन्होंने अपने आचार्य हेमचन्द्र के लिए गुरु शब्द का प्रयोग कर अति सम्मान का भाव प्रकट किया है।

टीकाकार जैनाचार्यों की परम्परा में आचार्य मलयगिरि सर्वतो अग्रणी स्थान पर हैं।

वे आचार्य हेमचन्द्र के सहविहारी थे। अतः टीकाकार मलयगिरि का समय वि० की १२वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध एवं १३वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना गया है।

४३. चैत्य-पुरुष
आचार्य जिनचन्द्र (मणिधारी)

खरतरगच्छ के श्री मणिधारी जिनचन्द्र सूरि भी बड़े दादा के नाम से प्रसिद्ध हैं। जैन मन्दिरमार्गी समाज में चार दादा संज्ञक आचार्यों में उन्हें द्वितीय क्रम प्राप्त हुआ। वे जिनदत्त सूरि के पट्ट शिष्य थे।

छह वर्ष की अवस्था में दीक्षा और आठ वर्ष की अवस्था में आचार्य पद से विभूषित होने वाले मणिधारी आचार्य जिनचन्द्र सहस्राब्दियों के इतिहास में विरले आचार्य थे।

उनके मस्तक में मणि होने के कारण उनकी प्रसिद्धि मणिधारी जिनचन्द्र सूरि के रूप में हुई।

उनका व्यक्तित्त्व अनेक गुणों से मंडित था। उनके गर्भ में आने से पहले ही जिनदत्त सूरि को महान् आत्मा के आगमन का आभास हो गया था। महान् आत्मा का संबंध उन्होंने जिनचन्द्र सूरि के साथ जोड़ा।

मणिधारी जिनचन्द्र सूरि विक्रमपुर के रासल श्रेष्ठी के पुत्र थे। उनका जन्म वी० नि० १६६७ (वि० ११९७) भाद्र शुक्ला अष्टमी ज्येष्ठा नक्षत्र में हुआ।

आचार्य जिनदत्त सूरि द्वारा वी० नि० १६७३ (वि० १२०३) में उनकी दीक्षा और वी० नि० १६७५ (वि० १२०५) में आचार्य पद पर नियुक्ति हुई।

उनकी तीक्ष्ण प्रतिभा ने थोड़े ही समय में अगाध ज्ञान राशि का अर्जन कर लिया था। दिल्ली के महाराज मदनपाल उनकी असाधारण विद्वत्ता पर मुग्ध होकर उनके अनन्य भक्त बन गये थे।

चैत्यवासी पद्मचन्द्राचार्य जैसे उद्भट्ट विद्वान् को शास्त्रार्थ में पराजित कर देने से उनकी यशःचन्द्रिका दिग्दिगन्त में व्याप्त हुई।

जिनदत्त सूरि का स्वर्गवास बहुत जल्दी ही हो जाने के कारण तेरह वर्ष की अवस्था में ही उनके कन्धों पर सम्पूर्ण गच्छ का भार आ गया जिसे बहुत कुशलता के साथ उन्होंने वहन किया था।

उन्होंने त्रिभुवन गिरि में श्री शान्तिनाथ शिखर पर वी० नि० १६८४ (वि० १२१४) में धर्म की गंगा वेग से प्रवाहित की और मथुरा में पहुंचकर

वी० नि० १६८७ (वि० १२१७) में जिनपत सूरि को दीक्षित किया। क्षेमंधर श्रेष्ठी जैसे उनके भक्त थे।

मणिधारी आचार्य जिनचन्द्र ने अपनी इस मणि की सूचना मृत्यु से कुछ समय पूर्व अपने भक्तों को देकर सावधान किया था कि मेरे दाह-संस्कार से पहले ही मेरी मस्तक-मणि को पात्र में ले लेना अन्यथा किसी योगी के हाथ में यह अमूल्य मणि पहुंच सकती है। वह मणि बहुत प्रभावक थी।

मणिधारी आचार्य जिनचन्द्र सूरि वी० नि० १६९३ (वि० १२२३) द्वितीय भाद्र शुक्ला चतुर्दशी को अनशन के साथ दिल्ली नगर में स्वर्गवासी हुए।

जैन और जैनेतर समाज छब्बीस वर्ष तक ही इस चैत्य-पुरुष की महामणि का सान्निध्य प्राप्त कर सका था। वर्तमान में दिल्ली के मेहरौली नामक स्थान पर उनका चामत्कारिक स्तूप है।

४४. कवि-किरीट आचार्य रामचन्द्र

आचार्य रामचन्द्र हेमचन्द्राचार्य के उत्तराधिकारी थे। वे प्राञ्जल प्रतिभा के धनी थे। उस युग के इने-गिने विद्वानों में उनकी गिनती होती थी। आचार्य हेमचन्द्र की साहित्यकार शिष्य मंडली में भी उनका सर्वोत्कृष्ट स्थान था।

एक बार महाराज जयसिंह ने हेमचन्द्राचार्य से उनके उत्तराधिकारी का नाम जानना चाहा। उस समय हेमचन्द्राचार्य ने मुनि रामचन्द्र को ही उनके सामने प्रस्तुत किया था।

हेमचन्द्राचार्य के प्रति महाराज जयसिंह सिद्धराज जैसा ही धार्मिक अनुराग महाराज कुमारपाल में भी था। हेमचन्द्राचार्य के स्वर्गवास की सूचना पाकर कुमारपाल का हृदय विरह-वेदना से विक्षुब्ध हो उठा। उस संकट की घड़ी को धैर्य के साथ पार करने में मुनि रामचन्द्र का योग अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ।

रामचन्द्राचार्य ने हेमचन्द्राचार्य के उत्तराधिकार को सम्भाला और उनकी साहित्यिक सृजनात्मक धारा को भी गतिशील बनाए रखा। साहित्य-जगत् रामचन्द्राचार्य की रमणीय रचनाओं से अलंकृत हुआ।

समस्या-पूर्ति में विविध भाव-भंगिमा को प्रस्तुत करने वाले वे बेजोड़ शब्द-शिल्पी थे। उनकी स्फुरणशील मनीषा-मंदाकिनी में कल्पना-कल्लोलें अत्यन्त वेग से हिलोरें लेती थी। एक बार का प्रसंग है। ग्रीष्म ऋतु का समय था। जयसिंह सिद्धराज क्रीड़ा करने के लिए उद्यान में जा रहे थे। संयोग से आचार्य रामचन्द्र का मार्ग में मिलन हुआ। औपचारिक स्वागत के बाद सिद्धराज ने आचार्य जी से एक प्रश्न किया :

कथं ग्रीष्मे दिवसा गुरुतरा: ?

—ग्रीष्म ऋतु में दिन लम्बे क्यों होते हैं ? आचार्य ने इस प्रश्न के उत्तर में तत्काल एक संस्कृत श्लोक की रचना की :

देव ! श्रीगिरिदुर्गमल्ल ! भवतो दिग्जैत्रयात्रोत्सवे।
धावद्वीरतुरंगनिष्ठुरखुरक्षुण्णक्षपामण्डलात् ।।
वातोद्धूतरजोमिलत्सुरसरित्सञ्जातपंकस्थली।
दूर्वाचुम्बनचञ्चुरा रविहयास्तेनैव वृद्धं दिनम् ।।

—गिरि मालाओं एवं दुर्लंघ्य दुर्गों पर विजय-पताका फहराने वाले देव ! आपकी दिग्विजय-यात्रा के महोत्सव-प्रसंग पर वेगवान अश्वों की दौड़ के कारण उनके खुरों से उठे पृथ्वी के धूलिकण पावन लहरियों पर आरूढ़ होकर आकाश-गंगा में जा मिले । नीर और रजों के सम्मिश्रण से वहां दूब उग आयी। उस दूब को चरते-चरते चलने के कारण सूर्य के घोड़ों की गति मन्द हो गयी। इसी हेतु से दिवस लम्बे हैं।

आचार्य जी की इस समस्या-पूर्ति से सिद्धराज को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उसी समय इन्हें 'कवि कटार मल्ल' की उपाधि से भूषित किया गया।

एक अन्य घटना आचार्य हेमचन्द्र के शासनकाल की है। किसी समय आचार्य हेमचन्द्र का पादार्पण कुमारपाल की सभा में हुआ। यहां पर एक पंडित ने हेमचन्द्राचार्य का उपहास करते हुए कहा :

आगतो हेमगोपालः दंडकंबलमुद्वहन् ।

—दंड और कंबल को धारण किए हेम गोपाल आ पहुंचा है।

उस समय मुनि रामचन्द्र भी हेमचन्द्राचार्य के साथ थे। उन्हें अपने गुरु के प्रति किया गया यह उपहास अच्छा नहीं लगा। छूटते ही इस पंक्ति की पूर्ति करते हुए उन्होंने कहा :

षड्दर्शन पशु प्रायान् चारयान् जैनवाटके ।

—छह दर्शनरूपी पशुओं को जैन वाटिका में चराते हुए हेम गोपाल आ गए हैं।

मुनि रामचन्द्र की इस समस्या-पूर्ति ने सबको अवाक् कर दिया।

रामचन्द्राचार्य की साहित्य-साधना अनुपम थी। रघुविलास, मल्लविलास, यदुविलास प्रभृति एकादश नाटक और 'सुधाकलश' नामक सुभाषित कोश भी उन्होंने लिखा। आचार्य जी की मुख्य प्रसिद्धि नाट्यशास्त्र की रचना से हुई।

नाट्यशास्त्र में चालीस से भी अधिक नाटकों के उद्धरण प्रस्तुत हैं। इससे उनकी गम्भीर अध्ययनशीलता का परिचय मिलता है। इस कृति में अभिनव कलाओं की व्यंजना और मौर्यकाल के इतिहास की सुन्दर झांकी भी प्रस्तुत है। लौकिक विषयों पर सांगोपांग विवेचन करने में आचार्य रामचन्द्र जैसा साहस-गुण विरले ही जैनाचार्यों में प्रकट हुआ है।

आचार्य रामचन्द्र के साथ प्रबन्ध शतकर्तृक विशेषण भी आता है। यह विशेषण उनके सौ ग्रन्थों का सूचक हो सकता है या इसी नाम के किसी एक ग्रन्थ का परिचायक है।

न्यायशास्त्र, प्रमाणशास्त्र, काव्यशास्त्र और शब्दशास्त्र—ये उनके अधिकृत विषय थे।

विपुल ख्याति प्राप्त होने पर भी आचार्य जी के गृहस्थ जीवन का परिचय

पर्याप्त रूप से उपलब्ध नहीं है। आचार्य जी द्वारा रचित 'नल विलास' नाटक के संपादक पंडित लालचन्द्र के अभिमत से उनका जन्म वी० नि० १६१५ (वि० सं० ११४५), सूरि पद वी० नि० १६३६ (वि० सं० ११६६), आचार्य पदारोहण वी० नि० १६६६ (वि० सं० १२२९) में हुआ।

उनका स्वर्गवास इतिहास की अत्यन्त दु:खान्त घटना है।

हेमचन्द्राचार्य का उत्तराधिकार शिष्य रामचन्द्र को मिला। इससे उनके गुरुभ्राता बालचन्द्र मुनि में ईर्ष्या का विषाक्त अंकुर फूट पड़ा। आचार्य हेमचन्द्र के बाद महाराज कुमारपाल की मृत्यु बत्तीस दिन के बाद ही हो गई थी। कुमारपाल का भतीजा अजपाल सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। बालचन्द्र मुनि की अजपाल के साथ गाढ़ी मित्रता हो गयी। मुनि जी ने रामचन्द्र के विरुद्ध अजपाल के कान भर दिये थे। आचार्य हेमचन्द्र के साथ अजपाल का पूर्व वैर भी था। उस वैर का बदला रामचन्द्र के साथ लिया गया। उन्हें मरवाने के लिए लोमहर्षक योजना बनी। अभय आदि श्रेष्ठी जनों ने इस योजना को विफल कर देने हेतु बहुत प्रयत्न किए। उनका कोई प्रयत्न रामचन्द्र सूरि को इस षड्यन्त्र से मुक्त न कर सका। हेमचन्द्राचार्य के स्वर्गवास से एक वर्ष बाद ही वी० नि० १७०० (वि० १२३०) में संतप्त लोहे की मर्मान्त वेदना को सहते हुए उन्हें मृत्यु से आलिंगन करना पड़ा। उनका भौतिक देह से सम्बन्ध टूट गया पर यशस्वी व्यक्तित्व और स्फुरणशील मनीषा का वैभव आज भी उनके साहित्य-दर्पण में प्रतिबिम्बित है।

४५. उदारहृदय आचार्य उदयप्रभ

उदयप्रभ नागेन्द्र गच्छ के प्रभावी आचार्य थे। शान्ति सूरि के शिष्य अमर-चन्द्र सूरि, उनके शिष्य हरिभद्र, हरिभद्र के शिष्य विजयसेन तथा विजयसेन के शिष्य उदयप्रभ थे।

गुजरात के राजा वीरधवल पर उनका अप्रतिहत प्रभाव था। वीरधवल के महामात्य वणिक् पुत्र वस्तुपाल एवं तेजपाल दोनों भाई जैन थे। वीरधवल के यश को दिगान्तव्यापी बनाने में दोनों का अपूर्व योगदान था।

युगल बन्धु एक ओर महामात्य, सेनापति एवं अर्थ-व्यवस्थापक थे दूसरी ओर प्रचण्ड योद्धा, महादानी एवं धार्मिक भी थे।

एक बार शक्तिशाली मलेच्छ सेना के आगमन की सूचना पाकर गुर्जर नरेश श्री वीरधवल चिन्तित हुआ। उसने अमात्य वस्तुपाल को बुलाकर कहा—"गर्दभीविद्यासिद्ध गर्दभिल्ल राजा भी इन म्लेच्छों के द्वारा पराभूत हो गया था। महाशक्तिशाली राजा शिलादित्य का राज्य भी इनसे ध्वस्त हो गया। यह म्लेच्छ समुदाय दुर्जय है। हमें अपनी सुरक्षा के लिए क्या करना चाहिए?" वस्तुपाल ने कहा—"राजन्! आप चिन्ता न करें। म्लेच्छों के सामने रणभूमि में खड़ा होने के लिए मुझे प्रेषित करें।" राजा ने वैसा ही किया। वस्तुपाल और तेजपाल युगल बन्धुओं की शक्ति के सामने म्लेच्छ सेना पराजित हो गयी।

वणिक्पुत्र व्यापार-कुशल ही नहीं होते, क्षत्रिय जैसा उद्दीप्त तेज भी उनमें होता है। यह बात दोनों अमात्यों ने सिद्ध कर दी।

महायशोभाग वस्तुपाल का व्यक्तित्व कई विशेषताओं से सम्पन्न था। उसके जीवन में लक्ष्मी, सरस्वती एवं शक्ति का आश्चर्यजनक समन्वय था। हिन्दुस्तान में पूर्व से पश्चिम एवं उत्तर से दक्षिण पर्यन्त दूर-दूर तक महामात्य की ओर से आर्थिक सहायता प्राप्त थी। एवं वह स्वयं परम विद्वान् महाकवि था। वाग्देवी सूनु तथा सरस्वती-पुत्र की उपाधियों से वह विभूषित था। राजा भोज की तरह वह विद्वानों का आश्रयदाता था। वस्तुपाल ने विद्यामण्डल की स्थापना की थी, जिससे संस्कृत साहित्य की महान् वृद्धि हुई।

असाधारण व्यक्तित्व के धनी, महादानी, सबल योद्धा, कवि, लेखक, साहित्य-

रसिक, विद्वानों का सम्मानदाता, उदारहृदय एवं सर्वधर्मसमदर्शी जैन महामात्य वस्तुपाल को पाकर गुजरात की धरा धन्य हो गयी थी। उसका भाग्याकाश श्री शशिसम्पन्न होकर चमक उठा था। मध्यकाल की धर्म-प्रभावक जैन श्रावक मण्डली में अमात्य वस्तुपाल का स्थान सर्वोत्तम था। सरस्वती कण्ठाभरणादि चौबीस उपाधियों से अलंकृत एवं संग्राम-भूमि में तिरेसठ बार विजय प्राप्त करने वाला वस्तुपाल अमात्य धर्म-प्रचार कार्य में भी सतत प्रयत्नशील रहता था। धर्म-प्रभावना के हेतु उसने (३१४१८८००) रूप्य राशि का व्यय किया था।

श्री वस्तुपाल का यश दक्षिण दिशा में श्री पर्वत तक, पश्चिम में प्रभास तक, उत्तर में केदार पर्वत तक और पूर्व में वाराणसी तक विस्तृत था।

इतिहास-प्रसिद्ध इस महामात्य को प्रभावित करने वाले धर्माचार्यों में जयसिंह सूरि, नरचन्द्र सूरि, शान्ति सूरि, नरेन्द्रप्रभ सूरि, विजयसेन सूरि, बालचन्द्र सूरि आदि कई आचार्यों के नाम हैं। उनमें एक नाम आचार्य उदयप्रभ सूरि का भी है।

उदय प्रभाचार्य धर्म-प्रचारक थे एवं यशस्वी साहित्यकार भी थे। धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य, आरम्भ सिद्धि, उपदेश माला, कर्णिका कृति आदि कई ग्रन्थों की उन्होंने रचना की।

संस्कृत भाषा में निबद्ध नेमिनाथ-चरित्र भी आचार्य उदयप्रभ द्वारा रचित माना गया है। आचार्य उदयप्रभ के ग्रन्थों में 'सुकृति-कल्लोलिनी' नामक ग्रन्थ अत्युत्तम है। यह वस्तुपाल, तेजपाल के धार्मिक कार्यों का प्रशस्ति-काव्य है। इस काव्य में वस्तुपाल की वंशावली तथा चालुक्य वंश के राजाओं का वर्णन भी है। वस्तुपाल ने इस काव्य को प्रस्तर पर खुदवाया था। इस काव्य की रचना वी० नि० १७४८ (वि० १२७८) में हुई थी। इस आधार पर आचार्य उदयप्रभ का समय वी० नि० की १८वीं शताब्दी (वि० १३वीं सदी का उत्तरार्ध) है।

४६. प्रतिभा-प्रभाकर आचार्य रत्नप्रभ

आचार्य रत्नप्रभ संस्कृत भाषा के अधिकारी विद्वान् थे। न्याय एवं दर्शन-शास्त्र के वे विशेषज्ञ थे। अपने गुरु आचार्य वादिदेव के ग्रन्थों का उनके जीवन पर असाधारण प्रभाव था। साहित्य-रचना में आचार्य रत्नप्रभ की लेखनी अनाबाध चली। परिमाण की दृष्टि से उनका साहित्य बहुत कम है, पर जो कुछ उन्होंने लिखा वह अत्यधिक सरस, सुन्दर एवं विद्वद्भोग्य लिखा।

साहित्य-जगत् में उनकी अनुपम कृति 'रत्नाकरावतारिका' है। वह स्याद्वाद-रत्नाकर का प्रवेश मार्ग है। तार्किक शिरोमणि आचार्य वादिदेव द्वारा निर्मित 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' ग्रन्थ की व्याख्या स्वरूप चौरासी हजार श्लोक परिमाण स्याद्वाद-रत्नाकर अत्यन्त गूढ़ टीका ग्रन्थ है। समासों की दीर्घता एवं कठिन शब्द संयोजना के दुर्ग को भेदकर इस ग्रन्थ के शब्दार्थ एवं पदार्थ तक पहुंच पाना बहुत श्रमसाध्य है।

आचार्य रत्नप्रभ रत्नाकरावतारिका की रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए कृति के प्रारम्भ में लिखते हैं—"क्वापि तीर्थकग्रन्थग्रन्थिसार्थसमर्थकदर्थनोपस्थापितार्थानवस्थितप्रदीपायमानप्लवमानज्वलन्मणिफणीन्द्रभीषणे, सहृदयसैद्धांतिकतार्किकवैयाकरणकविचक्रवर्तिसुविहितसुगृहीतनामधेयास्मद्गुरुश्रीदेवसूरिभिविरचिते स्याद्वादरत्नाकरे न खलु कतिपय तर्कभाषातीर्थमजानन्तोऽपाठीना अधीवराश्च प्रवेष्टुं प्रभविष्णवः इत्यतस्तेषामवतारदर्शनं कर्तुमनुरूपम्।"

'दर्शनान्तरीय मन्तव्यों का निरसन एवं अपने मन्तव्य का प्रतिपादन करती हुई यह स्याद्वाद-रत्नाकर टीका क्लिष्ट है। तर्क की भाषा को नहीं जानने वाले अकुशल पाठकों का अकुशल तैराक की भांति उसमें प्रवेश पाना कठिन है। उनकी सुगमता के लिए मैंने इस ग्रन्थ की रचना की है।"

आचार्य रत्नप्रभ ने उक्त पाठ में सहृदय, सैद्धान्तिक, तार्किक, वैयाकरण, कवि-चक्रवर्ती जैसे गौरवमय विशेषण प्रदान कर अपने गुरु वादिदेव के प्रति अपार सम्मान प्रकट किया है।

स्याद्वाद रत्नाकर का अवगाहन करने के लिए आचार्य रत्नप्रभ की रत्नाकरावतारिका यथार्थ में ही रत्नाकरावतारिका सिद्ध हुई है। उपमा की भाषा में

स्याद्वाद रत्नाकर महाशैल है। उसके उच्चतम शिखर पर पहुंचने के लिए रत्ना-करावतारिका सुगम सोपान-पंक्ति है।

मधुर स्वरों में संगीयमान संगीत, भावमयी कविता एवं आकंठ तृप्ति प्रदायक सुधाबिन्दु जैसा आनन्दकारी यह ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में कान्तपदावलि का प्रयोग एवं मनोमुग्धकारी शब्द-सौष्ठव काव्य जैसी प्रतीति कराता है।

धर्मदास कृत 'उपदेश माला' पर आचार्य रत्नप्रभ ने ११५० श्लोक परिमाण दोघट्टी वृत्ति (उपदेश माला विशेष वृत्ति) की वी० नि० १७०८ (वि० १२३८) में रचना की थी। विपुल इतिहास सामग्री को प्रस्तुत करते हुए यह कृति भी साहित्य-जगत् में अत्यन्त मूल्यवान है।

प्राकृत भाषा में भी आचार्य रत्नप्रभ का ज्ञान अगाध था। नेमिनाथ-चरित्र की रचना उन्होंने वी० नि० १७०२ (वि० १२३२) में की थी। यह उनकी प्राकृत रचना है।

आचार्य रत्नप्रभ की इन दोनों कृतियों में उल्लिखित सम्वत् के आधार पर उनका समय वी० नि० १६वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और १७वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध प्रमाणित होता है।

४७. तप के मूर्त्तरूप आचार्य जगच्चन्द्र

त्याग और वैराग्य के मूर्त्तरूप आचार्य जगच्चन्द्र सूरि मणिरत्न सूरि के शिष्य थे। अपनी विशिष्ट साधना के द्वारा वे विश्व में चन्द्र की तरह चमके। 'यथा नाम तथा गुण' इस लोकोक्ति को चरितार्थ कर उन्होंने अपना नाम सार्थक किया।

एक बार चैत्रवाल गच्छ के देवभद्र गणी उनके सम्पर्क में आए। सूरि जी की चरित्रनिष्ठा और शुद्ध समाचारी का प्रबल प्रभाव देवभद्र गणी पर हुआ। संघ में छाये शिथिलाचार को कड़ी चुनौती देकर आचार्य कक्क सूरि की भांति जगच्चन्द्र सूरि क्रियोद्धार करने के लिए पहले से उत्सुक थे। देवभद्र गणी का योग उनके इस कार्य को सम्पादित करने हेतु बहुत सहायक सिद्ध हुआ। सूरि जी के अपने शिष्य देवेन्द्र मुनि भी उनके इस कार्य में निष्ठापूर्वक साथ रहे। इस श्रेष्ठ कार्य में प्रवृत्त सूरि जी ने प्रवृत्ति की सफलता के लिए यावज्जीवन आयम्बिल तप का अभिग्रह ग्रहण किया। उस समय उनके इस महत्त्वपूर्ण कार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा हुई और सूरि जी को आचार्य पद से सम्मानित किया गया। उनकी उत्कृट तपःसाधना ने साधारण जन से लेकर शासक वर्ग तक को अतिशय प्रभावित किया। मेवाड़ नरेश जैलसिंह जी ने महातप के आधार पर उन्हें वी० नि० १७५५ (वि० सं० १२८५) में 'तपा' नामक उपाधि प्रदान की।

कभी-कभी एक व्यक्ति की साधना समग्र समूह को अलंकृत कर देती है। जगच्चद्र सूरि की तप साधना से ऐसा ही फलित हुआ। उनके नाम के साथ जुड़ी उपाधि गच्छ के साथ प्रयुक्त होने लगी। बड़गच्छ का नाम 'तपागच्छ' हो गया।

बड़गच्छ का 'तपागच्छ' के रूप में नामकरण जगच्चन्द्र सूरि के गच्छ के साथ हुआ। उनके गुरुभाई शिष्यों ने इस नाम को स्वीकार नहीं किया। उनके गण की प्रसिद्धि अपने मूल नाम 'बड़गच्छ' के रूप में ही रही।

इन दोनों गच्छों में नामभेद अवश्य बना, पर सिद्धान्त, मान्यता, आचार-संहिता एक थी। सिसोदिया राजवंश ने इस 'तपागच्छ' को मान्य किया। वस्तुपाल और तेजपाल दोनों अमात्य इस युग की महान् हस्तियां थीं। वस्तुपाल ने एक बार सूरि जी को गुजरात के लिए आमन्त्रित किया। महामात्य के गुरु बनकर वे वहां गए। गुजरात की जनता ने हृदय बिछाकर उनका स्वागत किया।

जगच्चन्द्र सूरि तप के धनी ही नहीं, विद्या-वैभव से भी सम्पन्न थे। सरस्वती उनके चरणों की उपासिका थी। मेवाड़ में एक बार तीस जैन विद्वानों के साथ उनका शास्त्रार्थ हुआ। उसमें आचार्य जी के तर्क हीरे की तरह अभेद्य (अकाट्य) रहे। आचार्य जी के बौद्धिक कौशल से प्रभावित होकर चित्तौड़ नरेश ने उन्हें 'हीरक' (हीरला) की उपाधि दी। उनका मुख्य विहरण-क्षेत्र मेवाड़ था। वहीं पर उनका वी० नि० १७५७ (वि० सं० १२८७) को 'वीरशालि' नामक ग्राम में स्वर्गवास हुआ।

४८. बौद्धिक-रत्न आचार्य रत्नाकर

आचार्य रत्नाकर सूरि देवप्रभ सूरि के शिष्य थे। वे सरलात्मा और सौम्य-वृत्तिक थे। उनके हृदय में वैराग्य तरंगिणी की अविरल धारा बहती थी। वी० नि० १७७८ (वि० सं० १३०८) में उन्होंने रत्नाकर पच्चीसी की रचना की। पच्चीस श्लोकों का यह ग्रंथ अत्यन्त मौलिक और महत्त्वपूर्ण है। इसके प्रत्येक श्लोक की पंक्ति में वैराग्यधारा का निर्झर छलक रहा है। पाठक इसे पढ़ते-पढ़ते आत्मालोचन के गम्भीर सागर में डुबकियां लेने लगता है। मानसिक दौर्बल्य की सूक्ष्म धड़कन का बहुत सजीव चित्रण इस कृति में हुआ है। प्रभु की पूजा, प्रार्थना और जापक्रिया में मन के आवेग-उद्वेग घोर शत्रु हैं। इन्हें अभिव्यक्ति देते हुए सूरि जी ने लिखा है :

दग्धोऽग्निना क्रोधमयेन दष्टा,
दुष्टेन लोभाख्यमहोरगेण।
ग्रस्तोऽभिमानाजगरेण माया-
जालेन बद्धोऽस्मि कथं भजे त्वाम् ॥

क्रोधाग्नि से संतप्त, लोभरूपी सांप से दंशित, मान रूपी अजगर से पीड़ित और मायाजाल से बंधा हुआ मैं कैसे आपका भजन करूं? मानसिक धूर्तता का आवरण दूर करते हुए लेखक लिखता है :

वैराग्यरंगः परवंचनाय,
धर्मोपदेशो जनरञ्जनाय।
वादाय विद्याध्ययनं च मे भूत्,
कियद्ब्रुवे हास्यकरं स्वमीश! ॥

—हे ईश! मेरे पर वैराग्य का रंग दूसरों को धोखा देने के लिए है। मेरा उपदेश जनरंजनमात्र है। मेरा विद्याध्ययन विवाद के लिए सिद्ध हुआ है। इन वृत्तियों से मेरा जीवन कितना हास्यास्पद है। मैं आपको अपने विषय में क्या बताऊं और कैसे बताऊं।

इस कृति में उक्त श्लोकों की भांति अन्य श्लोक भी बहुत प्रेरक हैं। बहुत-से साधक रत्नाकर पच्चीसी को कंठाग्र रखते हैं और प्रतिदिन इसका तन्मयता के

साथ स्मरण कर आत्मालोचन की भावभूमि पर अभिनव स्वस्थता प्राप्त करते हैं।

रत्नाकर सूरि के जन्म-दीक्षा, आचार्य पद-प्राप्ति के सम्बन्ध में सामग्री अनुपलब्ध ही रही है। उनकी इस कृति-संवत् के आधार पर वे वी० नि० की अठारहवीं शताब्दी (वि० सं० १४वीं) मे विद्यमान थे।

४६. तत्त्व-निष्णात आचार्य देवेन्द्र

आचार्य देवेन्द्र सूरि जगच्चन्द्र सूरि के शिष्य थे। उन्होंने शैशवावस्था में दीक्षा ग्रहण की और एकनिष्ठा से विद्या की आराधना कर अपने में विशिष्ट शक्तियों को संजोया। तत्त्व-निष्णात आचार्यों में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनकी व्याख्यान शैली रोचक और प्रभावक थी। श्रोता उनकी वाणी को सुनकर मुग्ध हो जाते थे। उनके उपदेश से बोध प्राप्त कर कई व्यक्ति संयम-पथ के पथिक भी बने थे।

वे साहित्यकार भी थे। उन्होंने अधिकांशत: सिद्धान्तपरक साहित्य की रचना की। कर्मग्रन्थों जैसी अत्यन्त उपयोगी कृतियां उनके गंभीर आगमिक अध्ययन का निष्कर्ष हैं। उनके कर्मग्रन्थों की संख्या पांच हैं। प्रथम कर्मग्रन्थ की ६० गाथाएं, द्वितीय कर्मग्रन्थ की ३४ गाथाएं, तृतीय कर्मग्रन्थ की २४ गाथाएं, चतुर्थ कर्मग्रन्थ की ८६ गाथाएं एवं पांचवें कर्मग्रन्थ की १०० गाथाएं हैं। प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर इन कर्मग्रन्थों में कर्मों का स्वरूप और उनके परिणाम को अच्छी तरह से समझाया गया है। इनमें गुणस्थानों का भी विवेचन है। कर्मग्रन्थों पर देवेन्द्र सूरि का स्वोपज्ञ-विवरण है।

सिद्ध पंचाशिका सूत्रवृत्ति, धर्म रत्न वृत्ति, श्रावक दिनकृत्य सूत्र, सुदर्शन चरित्र आदि उनकी कई सरस रचनाएं हैं। इनमें विविध सामग्री प्रस्तुत है।

वे कवि भी थे। उन्होंने दार्शनिक ग्रन्थों के अतिरिक्त दानादि कुलक आदि विविध मधुर स्तवनों की रचना की। उनकी 'वन्दारु वृत्ति ग्रन्थ' श्रावकानुविधि के नाम से प्रसिद्ध है।

विद्यानन्द सूरि और धर्म घोष सूरि उनके विद्वान् शिष्य थे। लघु पोषधशाला का निर्माण इन्हीं से हुआ। बड़ी पोषधशाला के प्रारम्भ का श्रेय विजयचंद्र सूरि के शिष्यों को है।

देवेन्द्र सूरि ने मालव की धरा पर जैन संस्कारों का प्रभूत प्रचार-प्रसार किया और वहीं पर उनका वी० नि० १७६७ (वि० सं० १३२७) में स्वर्गवास हो गया।

५०. शब्द-शिल्पी आचार्य सोमप्रभ

आचार्य सोमप्रभ सूरि तपागच्छ परम्परा के प्रभावक आचार्य थे। उनका जन्म वी० नि० १७८० (वि० सं० १३१०) में हुआ। ग्यारह वर्ष की आल्पावस्था में उन्होंने दीक्षा ग्रहण की और बाईस वर्ष की लघुवय में सूरिपद पर आरूढ़ हुए। उनकी बहुश्रुतता और शास्त्रार्थ-निपुणता प्रसिद्ध थी। चित्तौड़ में ब्राह्मण पंडितों के सामने विजय प्राप्त कर अपने बुद्धि-कौशल का परिचय दिया। जैनागमों का गंभीर ज्ञान भी उनके पास था।

अट्ठाईस चित्रबंध-स्तवनों की उन्होंने रचना की। उनकी सबसे मधुर कृति 'सूक्ति मुक्तावली' है जो आज 'सिन्दूर प्रकर' के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। यह संस्कृत कृति है। इसमें विविध विषयों से सम्बन्धित सौ श्लोक हैं। प्रति श्लोक की प्रति पंक्ति का शब्द-सौष्ठव, सौम्य भाषा तथा सानुप्रासिक धातु प्रत्ययों का लालित्य सूरि जी के महान् शब्दशिल्पी-कर्म को अभिव्यक्त करता है।

इस कृति में समागत उल्लेखानुसार कुछ इतिहासकार विजयसिंह सूरि के शिष्य सोमप्रभ सूरि को 'सूक्ति मुक्तावली' के रचनाकार मानते हैं। प्रस्तुत सोमप्रभ सूरि धर्मघोष सूरि के शिष्य और पद्मानन्द सूरि आदि विद्वान् मुनियों के गुरु थे।

उनका मतिज्ञान अतीव निर्मल था। उन्हें कभी-कभी भविष्य का आभास भी होता था। भीम पल्ली में घटित अनिष्ट भविष्य की घोषणा उन्होंने पहले ही कर दी थी। सूरि जी की यह ज्ञानशक्ति प्राचीन ऋषियों के प्रातिभ ज्ञान का स्मरण कराती और भक्तगण को आश्चर्याभिभूत कर देती।

उनका स्वर्गवास वी० नि० १८४३ (वि० सं० १३७३) में हुआ।

५१. मति-मार्तण्ड आचार्य मल्लिषेण

मेधावी आचार्य मल्लिषेण नागेन्द्र गच्छीय उदयप्रभ सूरि के शिष्य थे। वे व्याकरण, न्याय, साहित्य आदि विभिन्न विषयों के अधिकारी विद्वान् थे। नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसक, बौद्ध प्रभृति अनेक दर्शनों के अध्ययन-मनन से उनकी चिन्तन शक्ति प्रौढ़ता प्राप्त कर चुकी थी। वर्तमान में स्याद्वाद मंजरी के अतिरिक्त उनकी कोई भी रचना उपलब्ध नहीं है।

स्याद्वाद मञ्जरी भी हेमचन्द्र की अन्ययोगव्यवच्छेदिका की टीका मात्र है। प्रसाद और माधुर्य गुण से मंडित यह टीका रत्नप्रभ सूरि की स्याद्वाद रत्नावतारिका से अधिक सरल और सरस है। इसकी कमनीय पदावलियां झरोखे से झांकती हुई शीतकालीन तरुण किरणों की तरह आनन्द प्रदान करती हैं। विविध दर्शनों का मर्मस्पर्शी विवेचन और युक्तिपुरस्सर स्याद्वाद का प्रतिष्ठापन मल्लिषेण की सन्तुलित मेधा का परिचायक है। दर्शनान्तरीय मत के प्रकाशन में भी उनके प्रति प्रामाणिक, प्रकाण्ड ऋषि आदि बहुत शालीन शब्दों का प्रयोग किया गया है।

विपुल साहित्य न होते हुए भी मल्लिषेण की प्रसिद्धि अपनी इस एकमात्र रचना स्याद्वाद मञ्जरी के आधार पर है।

इस कृति ने जैन-जैनेतर सभी विद्वानों को प्रभावित किया। माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह में इसका संकेत किया और यशोविजय जी ने इस पर स्याद्वाद मञ्जूषा को लिखा है।

आचार्य मल्लिषेणके जीवन विषय की यत् किंचित् प्रामाणिक सामग्री स्याद्-वाद मञ्जरी के प्रशस्ति श्लोकों में प्राप्त है। वे श्लोक इस प्रकार हैं :

नागेन्द्रगच्छगोविन्दवक्षोलंकारकौस्तुभाः।
ते विश्ववन्द्या नन्द्यासुरुदयप्रभसूरयः॥
श्रीमल्लिषेणसूरिभिरकारि तत्पदगगनदिनमणिभिः।
वृत्तिरियं मनुरविमितशाकाब्दे दीपमहसि शनौ॥
श्रीजिनप्रभसूरीणां साहाय्योद्भिन्नसौरभा :।
श्रुतावुत्तंसतु सतां वृति : स्याद्वादमञ्जरी॥

इन श्लोकों के अनुसार स्याद्वाद मञ्जरी की रचना में आचार्य मल्लिषेण को जिनप्रभ सूरि का विशेष सहयोग प्राप्त था।

यह कृति वी० नि० १८२० (वि० १३५०) में शनिवार दीपमालिका के दिन सम्पन्न हुई थी। मल्लिषेण के कालक्रम को जानने के लिए इसके अतिरिक्त और कोई भी पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

५२. जन-जन-हितैषी आचार्य जिनप्रभ

खरतरगच्छ के प्रभावक आचार्य जिनप्रभ सूरि जिनकुशल सूरि के समकालीन थे। वे स्वच्छ एवं निर्मल प्रतिभा के धनी थे। जैन विद्वानों में सर्वाधिक स्तोत्र-साहित्य के निर्माता वे थे। उन्होंने ७०० स्तोत्रों का निर्माण किया। वर्त्तमान में उनके १०० स्तोत्र उपलब्ध हैं।

विविध तीर्थकल्प, विविध मार्गप्रपा, श्रेणिक चरित्र, द्वयाश्रय काव्य आदि कई रचनाएं उनकी हैं।

विविध तीर्थकल्प एक ऐतिहासिक कृति है। इस कृति के अध्ययन से उनकी प्रलम्बमान यात्राओं का परिचय भी मिलता है। उन्होंने गुजरात, राजस्थान, मध्य प्रदेश, कर्णाटक, आंध्र प्रदेश, बिहार, उत्तर प्रदेश, पंजाब आदि विभिन्न क्षेत्रों में विहरण किया था। इन यात्राओं में उन्हें विभिन्न देशों, प्रान्तों, क्षेत्रों का जो इतिहास उपलब्ध हुआ और जो विशेषताएं उन्होंने देखीं अथवा जो भी घटनाएं जनश्रुति के आधार पर परम्परा से उन्होंने सुनीं, उनको संस्कृत-प्राकृत भाषा में निबद्ध कर तीर्थकल्प ग्रन्थ की रचना की है। अतः ऐतिहासिक सामग्री की दृष्टि से यह ग्रन्थ अतीव महत्त्वपूर्ण है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में ६२ कल्प हैं एवं ३८ तीर्थस्थानों का वर्णन है। भगवान् महावीर के अस्थिग्राम, चम्पा, पृष्ठचम्पा, वैशाली आदि ४२ चातुर्मासिक स्थलों का नामपुरस्सर उल्लेख और पालक, नन्द, मौर्यवंश, पुष्पमित्र, बलमित्र, भानुमित्र, नरवाहन, गर्दभिल्ल, शक, विक्रमादित्य आदि राजाओं की काल-सम्बन्धी जानकारी इस ग्रन्थ से प्राप्त की जा सकती है।

इस ग्रन्थ के महावीर कल्प में पादलिप्त, मल्लवादी, सिद्धसेन दिवाकर, हरिभद्र, हेमचन्द्र आदि के उल्लेख भी हुए हैं।

आचार्य जिनप्रभ सूरि ने प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना वी० नि० १८५९ (वि० १३८९) में की थी।

विधि मार्गप्रपा की रचना आचार्य जिनप्रभ ने अयोध्या में वी० नि० १८३३ (वि० १३६३) में की थी। यह ग्रन्थ क्रियाकाण्ड प्रधान है। इसके ४१ द्वार हैं। पौषध विधि, प्रतिक्रमण विधि आदि अनेक धार्मिक क्रियाओं की विधि को इसमें

समझाया गया है। योग विधि में आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, समवायाङ्ग आदि आगम विषयों का वर्णन भी है।

आचार्य जिनप्रभ ने वी० नि० १८५० (वि० १३८५) में मुगल सम्राट् 'मुहम्मद तुगलक' को प्रतिबोध देने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इसमें जैनशासन की अतिशय प्रभावना हुई और मुगल सम्राटों को प्रतिबोध देने की शृंखला में आचार्य जिनप्रभ प्रथम थे।

आचार्य जिनप्रभ सूरि के गुरु जिनसिंह सूरि थे। उनसे लघु खरतरगच्छ शाखा का विकास हुआ था।

आचार्य जिनप्रभ वी० नि० १९वीं शताब्दी (वि० १४वीं) के प्रभावक विद्वान् थे।

५३. कुशल शासक आचार्य जिनकुशल

दादा संज्ञा से प्रसिद्धि प्राप्त आचार्यों में आचार्य मणिधारी जिनचन्द्र के बाद आचार्य जिनकुशल सूरि का नाम आता है।

जिनकुशल सूरि राजसम्मान प्राप्त यशस्वी मंत्री जेसल के पुत्र थे। माता का नाम जयन्तश्री था। पूर्ण वैराग्य के साथ लगभग दस वर्ष की लघुवय में उन्होंने दीक्षा ग्रहण की। दीक्षानाम कुशलकीर्ति था। शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन कर कुशलकीर्ति मुनि ने बहुश्रुतता प्राप्त की तथा शास्त्रेतर साहित्य का अनुशीलन कर वे प्रगल्भ विद्वान् बने।

श्री राजेन्द्रचन्द्राचार्य ने पाटण में कुशलकीर्ति मुनि को वी० नि० १८४७ (वि० सं० १३७७) ज्येष्ठ शुक्ला एकादशी के दिन 'कलिकाल केवली' विरुद प्राप्त आचार्य जिनचन्द्र सूरि के स्थान पर नियुक्त किया। उनका नाम कुशलकीर्ति से जिनकुशल सूरि हुआ। सिन्ध और राजस्थान (मारवाड़) उनके धर्म-प्रचार के प्रमुख क्षेत्र थे।

वे चामत्कारिक आचार्य भी थे एवं भक्तों की मनोकामना पूर्ण करने के लिए कल्पवृक्ष के समान माने जाते थे। लोग अत्यन्त आदर के साथ उनके वचनों को ग्रहण करते एवं उनका आशीर्वाद पाकर पुलक उठते थे। आज भी अनेक स्थानों पर उनकी पादुकाएं भक्तिभाव से पूजी जाती हैं। संकट की घड़ियों में लोग बड़ी निष्ठा से उनका स्मरण करते हैं। उनके नाम पर अनेक स्तवन और स्मारक बने हैं।

साहित्य-रचना में आचार्य जिनकुशल सूरि की प्रमुख रचना 'चैत्य वंदन कुलक' वृत्ति है। इसकी रचना वी० नि० १८३३ (वि० सं० १३६३) में हुई थी।

आचार्य जिनकुशल सूरि का जैसा नाम था वैसे ही वे थे। उनके शासनकाल में संघ सब तरह से कुशल बना रहा। जैन धर्म की महती प्रभावना हुई।

जीवन के सन्ध्याकाल में शारीरिक शक्तियों को क्षीण होते देखकर उन्होंने जिनपद्म सूरि को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। देवराजपुर में फाल्गुन कृष्ण पक्ष वी० नि० १८५९ (वि० सं० १३८९) में अनशनपूर्वक पूर्ण समाधि के साथ उनका स्वर्गवास हुआ।

५४. महामेधावी आचार्य मेरुतुंग

प्रबन्ध चिन्तामणि के रचनाकार आचार्य मेरुतुंग नागेन्द्र गच्छ के आचार्य थे। वे परमप्रभावी आचार्य चन्द्रप्रभ के शिष्य थे। मेघदूत काव्य के टीकाकार आचार्य मेरुतुंग उनसे भिन्न थे। टीकाकार मेरुतुंग का जन्म वी० नि० १८७३ (वि० १४०३) में एवं स्वर्गवास वी० नि० १९४१ (वि० १४७१) में हुआ था। प्रस्तुत आचार्य मेरुतुंग इनसे पूर्व थे। वे वी० नि० १८३२ (वि० सं० १३६२) में विद्यमान थे।

आचार्य मेरुतुंग का वैदुष्य इतिहास लेखन में प्रकट हुआ है। उन्होंने महापुरुष चरित्र नामक ग्रन्थ का निर्माण किया था। प्रबन्ध चिन्तामणि की तरह यह कृति भी इतिहास से संबंधित है। इस कृति में जैन शासन के प्रथम तीर्थंकर ऋषभ, सोलहवें तीर्थंकर शान्ति, बाइसवें नेमिनाथ, तेइसवें पार्श्वनाथ एवं अंतिम तीर्थंकर महावीर का संक्षिप्त जीवन-परिचय है। इतिहास-रसिक पाठकों के लिए यह अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है।

आचार्य मेरुतुंग का प्रबन्ध-चिन्तामणि ग्रन्थ जैन इतिहास की विपुल सामग्री से परिपूर्ण है। जैन इतिहास की सामग्री को विस्तृत रूप से प्रस्तुत करने वाले मुख्य चार ग्रन्थ माने गए हैं—१. प्रभावक चरित्र, २. प्रबन्ध चिन्तामणि, ३. प्रबन्ध कोश, ४. विविध तीर्थ कल्प। ये ग्रन्थ परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं। कालक्रम की दृष्टि से इनमें प्रभावक चरित्र सर्वप्रथम एवं प्रबन्ध चिन्तामणि का स्थान द्वितीय है।

प्रबन्ध चिन्तामणि का विवेचन संक्षिप्त एवं सामासिक शैली में है। इस ग्रन्थ के निर्माण में विद्वान् धर्मदेव का सराहनीय सहयोग आचार्य मेरुतुंग को प्राप्त था। विद्वान् धर्मदेव वृद्ध गुरु भ्राता या अन्य स्थविर पुरुष थे।

आचार्य मेरुतुंग के गुणचन्द्र नाम का शिष्य था। वह लेखन कला में प्रवीण था। उसने इस ग्रन्थ की पहली प्रतिलिपि तैयार की थी। राजशेखर के प्रबन्ध कोश में प्रबन्ध चिन्तामणि का उपयोग हुआ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का निर्माण काठियावाड़ में हुआ था। ग्रन्थ-रचना की सम्पन्नता का समय वी० नि० १८३० (वि० १३६०) है। इस आधार पर महामेधावी आचार्य मेरुतुंग वी० नि० की उन्नीसवीं सदी के विद्वान् थे।

५५. गुण-निधान आचार्य गुणरत्न

तपागच्छ में गुणरत्न नाम के कई आचार्य प्रसिद्धि-प्राप्त हैं। प्रस्तुत आचार्य गुणरत्न कर्मग्रन्थों के रचयिता आचार्य देवसुन्दर के शिष्य थे। उनके आचार्य पदारोहण का काल वी० नि० १९१२ (वि० १४४२) है।

दर्शनशास्त्र एवं तर्कशास्त्र के वे विशिष्ट ज्ञाता थे। साहित्य-रचना की दृष्टि से उनकी प्रमुख सेवा अवचूरि साहित्य के रूप में है।

भक्त-परिज्ञा, आतुर प्रत्याख्यान, चतुश्शरण, संस्तारक इन चार प्रकीर्ण ग्रन्थों पर आचार्य देवसुन्दर कृत कर्मस्तव, बन्ध स्वामित्व आदि पांच ग्रन्थों पर तथा चन्दर्षि महत्तर कृत सप्ततिका पर उन्होंने अवचूरि साहित्य लिखा। कर्म-ग्रन्थों पर अवचूरि साहित्य की रचना वि० १४५९ में की थी।

संस्कृत भाषा में निबद्ध क्रियारत्न समुच्चय आचार्य गुणरत्न का अति उपयोगी ग्रन्थ है। आचार्य हेमचन्द्र के शब्दानुशासन के आधार पर धातुओं का संकलन कर आचार्य गुणरत्न ने इसका निर्माण वी० नि० १९३६ (वि० सं० १४६६) में किया था। संस्कृत भाषा के विद्यार्थी को इस ग्रन्थ में सम्यक् सामग्री प्राप्त होती है। ग्रन्थाध्ययन से गुणरत्न का संस्कृत भाषा पर एकाधिपत्य भी प्रतीत होता है।

'कल्पान्तरवाच्य' ग्रन्थ की रचना आचार्य गुणरत्न ने वी० नि० १९२७ (वि० १४५७) में की थी। इस ग्रन्थ में पर्युषण पर्व की महत्ता का विवेचन है तथा तत्प्रसंग की अनेक कथाएं भी हैं।

'अचलमत निराकरण' प्रभृति परमत खण्डनात्मक ग्रन्थ भी उन्होंने लिखे हैं।

'क्रियारत्न समुच्चय' की रचना अवचूरि साहित्य और कल्पान्तर वाच्य ग्रन्थ के बाद की है।

आचार्य गुणरत्न के जीवन में नामानुरूप योग्यता का विकास था। वे ज्ञानादि गुणों के निधान थे। क्रियारत्न समुच्चय आदि ग्रन्थों में प्राप्त मिति संवत् के आधार पर आचार्य गुणरत्न का समय वी० नि० १८७० से १९४५ (वि० १४०० से १४७५) तक मान्य किया गया है।

अध्याय ३

नवीन युग के प्रभावक आचार्य

१. वाचोयुक्ति-पटु आचार्य हीरविजय

हीरविजय जी तपागच्छ के आचार्य थे। वे पालनपुर के ओसवाल थे। उनका जन्म वी० नि० २०५३ (वि० १५८३) में हुआ। उनके पिता का नाम कुरां और माता का नाम नाथीबाई था। उन्होंने वी० नि० २०६६ (वि० १५९६) में तपागच्छ के आचार्य विजय सूरि के पास श्रमण दीक्षा ली। धर्मसागर मुनि के साथ नैयायिक ब्राह्मण पंडित से न्यायविद्या का विशेष अध्ययन किया। उन्हें वी० नि० २०७७ (वि० १६०७) में पंडित की उपाधि तथा वी० नि० २०७८ (वि० १६०८) में "वाचक' की उपाधि प्राप्त हुई। मुनि-जीवन का उनका नाम हरिहर्ष था। वे वी० नि० २०८० (वि० १६१०) में आचार्य बने। आचार्य-काल का नाम हीरविजय हुआ।

आचार्य विजयदान सूरि के स्वर्गवास के बाद उन्होंने वी० नि० २१०१ (वि० १६३१) में तपागच्छ का दायित्व सम्भाला। पुष्प-परिमल की तरह आचार्य हीरविजय जी के सद्गुण मंडित व्यक्तित्व की प्रभा सर्वत्र प्रसारित होने लगी।

एक बार मुगल सम्राट् अकबर का आमंत्रण मिलने पर हीरविजय जी गान्धार से फतेहपुर सिकरी आए, उस समय उन्हें भारी राजसम्मान प्राप्त हुआ था।

आचार्य हीरविजय जी के प्रभाव से मुगल बादशाह ने पर्युषण पर्व पर शिकार न करने की प्रतिज्ञा ली तथा राज्य में अमारि की घोषणा करवायी।

अकबर की सभा का उद्भट्ट विद्वान् अब्दुल फ़ज़ल भी हीरविजय जी के व्यक्तित्व से प्रभावित हुआ। उसके निवेदन पर एक बार अकबर ने हीरविजय जी को सभा में आमन्त्रित किया और उनके आने पर सभासदों सहित अकबर ने खड़े होकर उनका सम्मान किया था।

हीरविजय जी को वी० नि० २११० (वि० १६४०) में जगद्गुरु की उपाधि मिली। विजयसेन हीरविजय जी के शिष्य परिवार में सबसे प्रमुख शिष्य थे। उन्हें अहमदाबाद में हीरविजय जी ने आचार्य पद से विभूषित किया था।

अपने युग में हीरविजय जी ने मुगल सम्राट् अकबर को प्रतिबोध देने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इससे जैन शासन की प्रभावना हुई। उनका स्वर्गवास वी० नि० २१२२ (वि० १६५२) में हुआ था।

२.-३. वाद-कुशल आचार्य विजयसेन और विजयदेव

आचार्य विजयसेन हीरविजय जी के उत्तराधिकारी थे। वाद-कुशल आचार्यों में उनको आदरपूर्ण स्थान प्राप्त था।

एक बार भूषण नामक विद्वान् के साथ चिन्तामणि मिश्र आदि विद्वानों के समक्ष सूरत में उनका वाद-विवाद हुआ। आचार्य विजयसेन ने उसे बुद्धिबल से निरुत्तर कर दिया था।

योग शास्त्र के एक श्लोक के सात सौ अर्थ बताकर सबको चमत्कृत कर देने वाली घटना उन्हींके इतिहास के साथ संयुक्त है।

एक बार आचार्य विजयसेन सम्राट् अकबर के आमन्त्रण पर हीरविजय जी के आदेश से लाहौर पहुंचे और अपनी उपदेशधारा से सम्राट् अकबर को अत्यधिक प्रभावित किया। इसी अवसर पर सम्राट् अकबर ने सूरि जी को 'कलि सरस्वती' की उपाधि प्रदान कर उनका सम्मान बढ़ाया था।

साहित्य क्षेत्र में 'सुमित्र रास' नामक ग्रन्थ की रचना की। हीरविजयजी के बाद विजयसेन सूरि ने अपने धर्म-संघ का सफल नेतृत्व किया और बादशाहों पर भी अपना धार्मिक प्रभाव वैसा ही बनाये रखा।

जहांगीर को प्रतिबोध देने वाले विजयदेव विजयसेन के उत्तराधिकारी थे। जहांगीर के द्वारा विजयदेव को 'जहांगीर महात्मा' की उपाधि प्राप्त थी। उदयपुर नरेश जगतसिंह पर उनका विशेष प्रभाव था।

धर्म-प्रचार में प्रवृत्त आचार्य विजयसेन का वी० नि० २१४१ (वि० सं० १६७१) में स्वर्गवास हुआ था।

गुरु के नाम को उजागर करने वाले सुयोग्य शिष्य होते हैं। आचार्य हीरविजय जी के कई शिष्य थे। उनमें गुरु के यश को अधिक विस्तार देने वाले शिष्य विजयसेन व विजयदेव थे। बुद्धि-वैभव से उन्होंने मुगल शासन-काल में भी सुख्याति अर्जित की। तपागच्छ की परम्परा के प्रभावक आचार्यों की शृंखला में उनका नाम आदर के साथ स्मरण किया जाता है।

४. जिनधर्म प्रभावक आचार्य जिनचन्द्र
(अकबर-प्रतिबोधक)

अकबर-प्रतिबोधक आचार्य जिनचन्द्र सूरि जिनमाणिक्य सूरि के शिष्य थे एवं अष्टलक्षी ग्रन्थ के प्रणेता महोपाध्याय समयसुन्दर जी के प्रशिष्य थे। वे चतुर्थ दादा संज्ञक आचार्य थे। उनका जन्म वी० नि० २०६५ (वि० १५९५) में हुआ। उन्होंने वी० नि० २०७४ (वि० १६०४) में दीक्षा ग्रहण की। इस समय उनकी उम्र ९ वर्ष की थी। वे वी० नि० २०८२ (वि० १६१२) में आचार्य पद पर आरूढ़ हुए।

उनकी प्रवचन शैली गंभीर और प्रभावक थी। जनता पर उनके प्रवचनों का जादू-सा असर होता था।

एक बार जैन प्रभावक आचार्यों के विषय में अकबर द्वारा प्रश्न उपस्थित होने पर किसी सभासद् ने जिनचन्द्र सूरि का नाम प्रस्तुत किया।

कर्मचन्द्र वच्छावत आचार्य जिनचन्द्र का परक भक्त था। अकबर के संकेत और उपासक कर्मचन्द्र की प्रार्थना पर आचार्य जिनचन्द्र सूरि ने लाहौर चातुर्मास किया। इस चातुर्मास में आचार्य जिनचन्द्र के प्रवचनों से प्रभावित होकर अकबर बादशाह ने उन्हें युगप्रधान पद से अलंकृत किया।

आचार्य जिनचन्द्र के प्रति बादशाह की हार्दिक निष्ठा थी। उन्होंने कश्मीर जाते समय आचार्य जिनचन्द्र से आशीर्वाद पाया और सात दिन तक सारे राज्य में हिंसा न करने की घोषणा की।

बादशाह के द्वारा कृत सम्मान का प्रभाव अन्यत्र भी हुआ। अनेक राज्यों में कहीं दस दिन, कहीं पन्द्रह दिन, कहीं बीस दिन तक पशुबलि बन्द रही।

बादशाह जहांगीर ने वी० नि० २१३९ (वि० सं० १६६९) में सभी साधुओं को देश की सीमा पर से बाहर निकाल देने का आदेश दे दिया था।

इस आदेश से समग्र देश में विचित्र हलचल थी। श्रमण समाज भ्रान्त और चिन्तित हुआ। इस समय जिनचन्द्र सूरि ने अपने मधुर उपदेश से जहांगीर को समझाकर आदेश में पूर्ण परिवर्तन करा दिया था।

आचार्य जिनचन्द्र सूरि जैन गगनांगण में चन्द्र की तरह चमके। उनका वी० नि० २१४० (वि० १६७०) में स्वर्गवास हुआ।

५. क्षमा-मुदिर आचार्य ऋषिलव

स्थानकवासी परम्परा में ऋषिलव जी ऋषि-सम्प्रदाय के प्रभावक आचार्य थे। क्रियोद्धारक आचार्यों में सम्भवतः वे प्रथम थे। उनका जन्म सूरत में हुआ। उनकी माता का नाम फूलाबाई था।

ऋषिलव जी की बाल्यावस्था में ही उनके पिता का वियोग हो गया था। उनके नाना वीरजी बोरा थे।

बोरा जी सूरत के समृद्ध श्रेष्ठी थे। उनका गोत्र श्रीमाला था। फूलाबाई उनकी एक ही पुत्री थी। वे पति-वियोग हो जाने के कारण वह पुत्र के साथ पिता के यहां रहने लगी थी।

ऋषिलव जी रूप से सुन्दर व बुद्धिमान बालक थे। फूलाबाई सांयकाल में सामायिक और प्रतिक्रमण किया करती थी। माता के द्वारा उच्चरित सामायिक पाठ और प्रतिक्रमण के पाठ को सुनते-सुनते ऋषिलव जी को छोटी-सी अवस्था में भी आवश्यक सूत्र कण्ठस्थ हो गया था।

ऋषि बजरंग जी सूरत के प्रसिद्ध यति थे। बोरा जी का परिवार धर्म श्रवणार्थ उनके उपाश्रय में आया-जाया करता था। फूलाबाई की प्रेरणा से लव जी ने बजरंग जी यति के पास से जैनागमों का अभ्यास किया। दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग आदि सूत्रों का अध्ययन किया। शास्त्रों के अध्ययन से लव जी को संसार से विरक्ति हुई।

बोरा जी के पास अनुमानतः छप्पन करोड़ की सम्पत्ति थी। उस सबके अधिकारी लव जी होते थे। धन की वैभव का व्यामोह उन्हें अपने पथ से विचलित नहीं कर सका। नाना बोरा जी की आज्ञा प्राप्त कर उनकी प्रेरणा से लव जी ने बजरंग जी यति के पास वी० नि० २१६२ (वि० १६६२) में दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व उन्होंने यति जी को वचनबद्ध किया—"आचार-विचार में भेद न होने तक मैं आपके साथ रहूंगा।" यति जी ने इसके लिए पूर्ण स्वीकृति प्रदान कर दी। दीक्षा लेने के बाद दो वर्ष तक उनके साथ रहे। यतिवर्ग में छाए हुए शिथिलाचार को देखकर उनका मन ग्लानि से भर गया। उन्होंने यति जी के साथ कई बार इस संबन्ध की चर्चा की। बजरंग जी यति का आखिरी उत्तर

था—"मेरी वृद्धावस्था है, मैं कठिन क्रिया का पालन नहीं कर सकता।"

लव जी ने उनसे क्रियोद्धार करने की आज्ञा मांगी। बजरंग जी यति ने प्रसन्न मन से कहा—"तुम सुखपूर्वक क्रियोद्धार करो, मेरा आशीष तुम्हारे साथ है।"

बजरंग जी का आदेश प्राप्त कर लव जी ऋषि ने थोमन जी ऋषि और भानु ऋषि जी के साथ सूरत से खंभात की ओर विहार किया। उन्होंने ऋषि सम्प्रदाय के अभिमत से खम्भात में वी० नि० २१७४ (वि० सं० १७०४) में नवीन दीक्षा ग्रहण की।

लव जी ऋषि जैनागमों के गम्भीर ज्ञाता थे। साध्वाचार का अत्यन्त निर्मल नीति से पालन करना उनका लक्ष्य था।

लव जी का धर्म-प्रचार कार्य दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया। उनके आचार-कौशल की सर्वत्र चर्चा होने लगी। यतियों के शिथिलाचार का सिंहासन डोलने लगा। यति उनके प्रतिद्वन्द्वी हो गए। लव जी ऋषि के नाना बोरा जी से उन्होंने जाकर कहा—'श्रेष्ठिवर्य लव जी गच्छ में भेद उत्पन्न कर रहे हैं। ये अपनी श्रेष्ठता दिखाने के लिए हमारी निन्दा करते हैं। उनकी गति को न रोका गया तो लोंका-गच्छ का अस्तित्व ही डगमगा जाएगा।"

यतियों के विचार को सुनकर बोरा जी उनसे सहमत हो गए। उन्होंने खंभात के नवाब से निवेदन कर लव जी को कारागृह में बन्द करा दिया। लव जी के मुख पर बन्दीगृह में भी वही प्रसन्नता थी जो पहले थी। वे वहां पर भी शान्तवृत्ति से साधना और ध्यान में लगे रहे। उनकी सौम्यवृत्ति का प्रभाव नवाब की पत्नी पर हुआ। उनके कहने से नबाब ने लव जी आदि संतों को निर्दोष घोषित कर मुक्त कर दिया, इससे लव जी की प्रशंसा नगर-भर में प्रसारित हुई। लव जी को जनता ने पूज्य पद से मंडित किया।

लव जी ऋषि की शुद्धनीति और विशुद्ध आचार पद्धति का प्रभाव एक दिन बोरा जी पर हुआ और वे भी ऋषिलव जी के परम भक्त बन गए।

गुजरात के खंभात, अहमदाबाद आदि नगर उनके विशेष प्रचार क्षेत्र थे। गुजरात के अतिरिक्त राजस्थान प्रान्त में भी उन्होंने विचरण किया था।

ऋषिलव जी ने वी० नि० २४८० (वि० २०१०) में दो व्यक्तियों को दीक्षा प्रदान की थी। उनमें एक दीक्षा ऋषि सोम जी की थी। दीक्षा ग्रहण करते समय सोमजी २३ वर्ष के नवयुवक थे। उन्हें कुछ शास्त्रीय ज्ञान भी था।

लोंकागच्छीय यति शिव जी ऋषि के शिष्य धर्मसिंह जी से भी उनकी कई बार चर्चा-वार्ता हुई। आचार्य धर्मसिंह जी और ऋषिलव जी कई विषयों में एक मत थे। ऋषिलव जी की प्रेरणा से धर्मसिंह जी भी क्रियोद्धार करने के लिए तत्पर हो गए थे। इससे यतियों में विद्रोहाग्नि सुलगने लगी।

एक बार ऋषिलव जी के शिष्य भानुऋषि जी को एकान्त में पाकर विद्वेष

के कारण किसी व्यविय ने उनका प्राणान्त कर दिया था। ऋषिलव जी अत्यन्त गम्भीर और क्षमाशील आचार्य थे। उन्होंने इस हृदयविदारक दुर्घटना को समता से सहन किया। किसी प्रकार का प्रतिकार उन्होंने नहीं किया।

उन्नति को देखकर बुरहानपुर में ईर्ष्यावश किसी ने उनको विष-मिश्रित मोदक का दान दिया। बेले (दो दिन का व्रत) के पारणे में उन्होंने भिक्षा में प्राप्त बिष मिश्रित मोदक को खाया। उनका मन मिचलाने लगा। तीव्र वेदना की अनुभूति होने लगी। उन्हें ज्ञात हो गया—किसी ने मुझे भोजन में अवश्य जहर दिया है।

सोम जी ऋषि से उन्होंने कहा था—"पता नहीं मैं कब अचेत हो जाऊं। जीवन का कोई विश्वास नही है।" समताभाव से घोर वेदना को सहते हुए ऋषिलव जी ने अनशन स्वीकार कर लिया। परम समाधि में उनका स्वर्गवास हुआ।

सोम जी ऋषि उनके सफल उत्तराधिकारी बने।

गुजरात की खंभात सम्प्रदाय और दक्षिण की ऋषि सम्प्रदाय ऋषिलव जी की शाखाएं मानी गयी हैं।

स्थानकवासी सम्प्रदाय में आगमों का हिन्दी अनुवाद करने वाले अमोलक ऋषि जी ऋषिलव जी की परम्परा के थे।

६. धर्मध्वज आचार्य धर्मसिंह जी

धर्ममूर्ति आचार्य धर्मसिंह जी स्थानकवासी परम्परा के प्रभावी आचार्य थे। वे। उत्तर गुजरात के सखानिया ग्राम के थे। उनके पिता का नाम रेवाभाई एवं माता का नाम रम्भा था। श्रीमाली वैश्य परिवार में उनका जन्म हुआ था। उनकी स्मरण-शक्ति विलक्षण थी। एक सहस्र श्लोक दिन-भर में कंठस्थ कर लेना उनकी बुद्धि को वरदान था। वे अवधानकार भी थे। दो हाथ एवं दो पैरों के सहारे चार कलमों से एक-साथ लिख लेना उनकी विरल विशेषता थी।

बचपन से ही उनका सहज आकर्षण धर्म के प्रति था। पन्द्रह वर्ष की छोटी-सी अवस्था में ही वे रत्नसिंह जी के शिष्य यतिदेव जी के पास पिता के साथ दीक्षित हुए। आगमों का गम्भीरता से उन्होंने अध्ययन किया। बत्तीस आगमों पर टब्बे लिखे। जैन साहित्य को उनका यह सबसे महत्त्वपूर्ण अनुदान था। उनके टब्बे दरियापुरी टब्बों के नाम से प्रसिद्ध हैं।

आगम-मर्मज्ञ धर्मसिंह जी यथार्थ में धर्मसिंह सिद्ध हुए। वे बहुत निर्भीक साधक थे। लोंकाशाह की धर्मक्रान्ति ने उनके मन में चिनगारी सुलगा दी थी। उनके द्वारा प्रस्तुत नये पथ पर चलने के लिए दीक्षागुरु से अलग होते समय यक्ष के मन्दिर में रहकर धर्मसिंह जी को अत्यन्त कड़ी परीक्षा देनी पड़ी थी। पर उनके चरण अपने लक्ष्य पर अविचल थे।

उन्होंने वी० नि० २१६२ (वि० १६९२) में दृढ़ता के साथ अहमदाबाद की जनता के बीच लोंकाशाह की नीति का बिगुल बजा दिया। उनके पास तल-स्पर्शी शास्त्रीय अध्ययन था और वाणी में ओज था। सहस्रों चरण उनकी ओर बढ़ते चले आए।

श्रमण जीवराज जी ने लोंकाशाह के मत का अनुगमन करते हुए संयम-साधना हेतु नियमोपनियम बनाए और आचार्य धर्मसिंह जी ने उन्हें दृढ़ता प्रदान की।

उनका विहरण-क्षेत्र मुख्यत: गुजरात और सौराष्ट्र था। तैंतालीस वर्ष तक संयम पर्याय का पालन कर वी० नि० २१९८ (वि० १७२८) वे स्वर्गवासी बने।

लोंकाशाह की धर्मक्रान्ति को प्रज्ज्वलित करने वाले वे महान् आचार्य थे एवं तृतीय क्रियोद्धारक थे।

७ .दृढ़प्रतिज्ञ आचार्य धर्मदास जी

धर्म सुधारक आचार्य धर्मदासजी संघ के कुशल संस्थापक थे। बाईस सम्प्रदाय संघ की नींव उन्होंने डाली। वे अहमदाबाद जिलान्तर्गत सरखेस गांव के थे और जीवनदास भावसार के पुत्र थे। घर का वातावरण धार्मिक संस्कारों से ओतप्रोत था। बालक का नाम भी धर्मदास रखा। धर्मदास धर्म का सुदृढ़ उपासक बना। लोंकागच्छ के विद्वान् यति तेजसिंह जी से बालक ने धर्म की प्राथमिक शिक्षा पायी। धर्म का शुद्ध रूप प्राप्त करने की उसमें आन्तरिक जिज्ञासा जागृत हुई। इसी हेतु से बालक ने अनेक व्यक्तियों से सम्पर्क साधा। श्रावक कल्याणी जी के साहचर्य से दो वर्ष तक पोतिया-बन्ध धर्म की साधना की। ऋषिलव जी और धर्मसिंह से भी धार्मिक चर्चाएं हुईं पर बालक को कहीं सन्तोष नहीं हुआ।

साहस का सम्बन्ध कभी आस्था के साथ जुड़ा हुआ नहीं है। बालक की अवस्था करीब सोलह वर्ष की ही थी, पर उसमें सोचने-समझने और कार्य करने की उन्मुक्त शक्ति प्रबल वेग धारण कर रही थी। माता-पिता का आदेश प्राप्त कर वी० नि० २१७० (वि० १७००) में अदम्य उत्साह के साथ बालक ने सात व्यक्तियों के साथ स्वयं जैन मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली।

धर्मदास मुनि को प्रथम भिक्षा में एक कुम्भकार के घर से भस्म प्राप्त हुई। यह शुभ शकुन था। भस्म हवा के साथ उड़ी। इसी तरह धर्मदास मुनि की धर्मोपदेशना भी विस्तार पा गयी। धर्म संघ की बहुत वृद्धि हुई। निन्यानवे व्यक्तियों ने उनके पास दीक्षा ग्रहण की। उनको वी० नि० २१९१ (वि० १७२१) में संघ ने आचार्य पद से विभूषित किया।

वे उग्र विहारी, तीव्र तपस्वी, ज्ञानी, ध्यानी और स्वाध्यायी आचार्य थे। उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर ग्वालियर के महाराज उनके परम भक्त बने। उन्होंने वी० नि० २२३४ (वि० १७६४) आषाढ़ शुक्ला सप्तमी के दिन शिकार और मांस-मदिरा का सर्वथा परित्याग कर दिया। इससे जैन धर्म की महती प्रभावना हुई।

आचार्य धर्मदासजी के निन्यानवे शिष्य थे। वे लम्बे समय तक धरा पर धर्म की प्रभावना करते रहे। आचार्य धर्मदास जी धर्म के लिए अपने प्राणों की

भेंट चढ़ाने वाले अद्भुत बलिदानी आचार्य थे। धारा नगरी में उनके शिष्य ने वी० नि० २२४२ (वि० १७७२) में अनशन किया था।

उत्तम कार्य को सबल व्यक्ति ही सफल कर पाते हैं। मानसिक दुर्बलता ने मुनि को पथ से विचलित कर दिया। उस समय जैन धर्म के मस्तक को ऊंचा रखने के लिए अपना उत्तराधिकार शिष्य मूलचन्द जी को सौंपकर शिथिल मुनि का आसन अनशनपूर्वक आचार्य धर्मदास जी ने ग्रहण कर लिया।

अपने संघ की सुव्यवस्था के हेतु उन्होंने अपने बाईस विद्वान् शिष्यों के बाईस दल बना दिए और तब से यह संघ बाईस सम्प्रदाय के नाम से पहचाना जाने लगा।

आचार्य धर्मदास जी को तीन दिन का अनशन आया। वे वी० नि० २२४२ (वि० १७७२) में धर्म हेतु इस देह का उत्सर्ग कर अपने नाम को अमर कर गए।

८. प्रबल प्रचारक आचार्य रघुनाथ

स्थानकवासी सम्प्रदाय के प्रभावी आचार्य रघुनाथ जी आचार्य भूधर जी के शिष्य थे। उनका जन्म वी० नि० २२३६ (वि० १७६६) माघ के शुक्ल पक्ष में हुआ। उनके पिता का नाम नथमलजी था। वे अपने मित्र की मृत्यु के विरह से व्यथित हो चामुण्ड देवी के मन्दिर में शान्ति प्राप्त करने को जा रहे थे। मार्ग में श्री भूधर जी का योग मिला। तीन दिन तक उनके साथ चर्चा की। चर्चा का प्रतिफल बोधप्राप्ति के रूप में प्रकट हुआ। रघुनाथ जी ने साधु-जीवन स्वीकार करने का निश्चय किया। रत्नवती कन्या के साथ उनका सम्बन्ध किया हुआ था। उस सम्बन्ध को छोड़कर रघुनाथ जी वी० नि २२५७ (वि० १७८७) ज्येष्ठ कृष्णा बुधवार को आचार्य भूधर जी के पास दीक्षित हुए। कुछ ही समय के बाद उनका नाम प्रभावक आचार्यों की पंक्ति में गिना जाने लगा।

उनके धर्म-प्रचार के प्रमुख क्षेत्र जालौर, पाली, समदड़ी, सादड़ी, मेड़ता आदि ७०० गांव थे। आचार्य रघुनाथ जी के हाथ से ५२५ दीक्षाएं हुई। उनके गुरुभाई श्रमण श्री जेतसिंहजी, जयमल जी, कुशल जी आदि ६ श्रमण थे।

उस समय यति वर्ग का अत्यधिक प्रभाव जनता पर छाया हुआ था। उनके साथ आचार्य रघुनाथ जी के कई शास्त्रार्थ हुए। उनको अपने धर्म-प्रचार-कार्य में अनेक कष्टों को सहन करना पड़ा। विरोधी पक्ष के द्वारा उन्हें भोजन में जहर भी मिला था पर उन्होंने समता से विद्रोह को सहन किया। टोडरमल जी, नगराज जी आदि उनके प्रमुख विद्वान् शिष्य थे।

जीवन के संध्याकाल में आचार्य रघुनाथ जी पाली में थे। उनको १७ दिन का अनशन आया। वे ८० वर्ष की अवस्था में वी० नि० २३१६ (वि० स० १८४६) माघ शुक्ला ११ के दिन स्वर्ग को प्राप्त हुए।

९. इन्द्रिय-जयी आचार्य जयमल्ल

स्थानकवासी परम्परा के प्रभावक आचार्यों की गणना में आचार्य जयमल्ल जी का नाम बहुत चर्चित रहा है। वे तपोनिष्ठ, स्वाध्याय-प्रेमी, जितेन्द्रिय एवं महान् वैरागी साधक थे। उनका जन्म राजस्थानान्तर्गत लाम्बिया ग्राम में हुआ। वे बीसा ओसवाल थे एवं गोत्र से समदड़िया महता थे। पिता का नाम मोहनदास जी, माता का नाम महिमादेवी एवं अग्रज का नाम रिडमल जी था। बाईस वर्ष की अवस्था में जयमल्ल जी का विवाह कुमारी लक्ष्मी के साथ हुआ।

. व्यापारिक सम्बन्धों के कारण एक बार जयमल्ल जी मेड़ता गए। स्थानकवासी परम्परा के आचार्य भूधर जी से उन्होंने सुदर्शन सेठ का व्याख्यान सुना। ब्रह्मचर्य व्रत की अतिशय महिमा का प्रभाव उनके मानस में अंकित हो गया। उन्होंने जीवन की गहराइयों को झांका। भोग-विलास को निस्सार समझ वे आजीवन ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा में प्रतिबद्ध हो गए। उनके हृदय में वैराग्य की तरंगें तीव्रगति से तरंगित हुईं। अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की प्रबलता ने जीवन की धारा को बदला, वे संयम पथ पर बढ़ने के लिए तत्पर बने। उनकी धर्मपत्नी लक्ष्मी गौना लेकर ससुराल लौट ही नहीं पायी थी। विवाह के अभी छह मास ही सम्पन्न हुए थे। जयमल्ल जी वी० नि० २२५७ (वि०१७८७) अगहन कृष्णा द्वितीया के दिन आचार्य भूधर जी के पास दीक्षित हो गए। ज्येष्ठ शुक्ल पक्ष में उनका विवाह हुआ। कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी को उन्होंने उपदेश सुना एवं मार्ग शीर्ष कृष्णा द्वितीया के दिन वे संयम मार्ग में प्रविष्ट हो गए। धर्मपत्नी लक्ष्मी नाम से लक्ष्मी और गुणों से भी लक्ष्मी ही थी। वह अपने पति के साथ संयम धर्म को स्वीकार कर अलौकिक लक्ष्मी के रूप में प्रकट हुई। जयमल्ल जी का जन्म वी० नि०२२३५ (वि० १७६५) है। दीक्षा लेने के बाद उन्होंने तप:साधना को अपने जीवन का प्रमुख अंग बनाया। तेरह वर्ष तक निरन्तर एकान्तर तप किया। दीक्षा गुरु आचार्य भूधर जी के स्वर्गारोहण के पश्चात् सो कर नींद न लेने का महासंकल्प लिया एवं पच्चास वर्ष तक पूर्ण जागरूकता के साथ इस दुर्धर संकल्प को निभाया। "निद्दं च न बहु मन्नेज्जा" भगवान् महावीर की वाणी का यह पद्य उनकी जीवन-

साधना का प्रमुख अंग बन गया था।

दिल्ली, आगरा, पंजाब, मालवा एवं राजस्थान उनके प्रमुख विहार-क्षेत्र, स्वधर्म प्रचार-क्षेत्र थे। बीकानेर में सर्वप्रथम धार्मिक बीजवपन का श्रेय स्थानकवासी परम्परा की दृष्टि से उन्हें है।

आचार्य जयमल्ल जी तपस्वी थे, धर्म-प्रचारक थे एवं साहित्यकार भी। उनके जीवन में तपःसाधना एवं श्रुतसाधना का अनुपम योग था। उनकी साहित्य-रचना सरस एवं सजीव थी। जिस किसी विषय को उठाया उसका मुक्त भाव से विवेचन किया है। स्तवनप्रधान, उपदेशप्रधान एवं जीवन-चरित्रप्रधान गीतिकाओं से गुम्फित जयवाणी आचार्य जयमल्ल जी की विविध रचनाओं का संकलन है।

तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु के क्रान्तिकारी विचारों के वे प्रबल समर्थक थे। आचार्य भिक्षु ने स्थानकवासी परम्परा में दीक्षा आचार्य रुघनाथ जी के पास ग्रहण की थी। आचार्य जयमल्ल जी तथा आचार्य रुघनाथ जी गुरु भाई थे। दोनों में आचार्य रुघनाथ जी बड़े थे। अतः आचार्य भिक्षु के आचार्य जयमल्ल जी चाचा गुरु थे।

स्थानकवासी संघ से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने के बाद भी आचार्य भिक्षु से जयमल्ल जी का कई बार सौहार्दपूर्ण मिलन हुआ। शास्त्रीय आधार पर चिन्तन-मनन भी चला। विचार-सरिता की दो धाराएं अत्यधिक निकट आ गयी थीं पर किसी परिस्थितिवश वे एक न हो पायीं। आचार्य जयमल्ल जी की हार्दिक सहानुभूति उनके साथ बनी रही।

तेरापंथ के द्वितीय आचार्य भारमल जी स्वामी के पिता किसनोजी कई दिन आचार्य भिक्षु के पास रहे। किसनोजी की प्रकृति कठोर थी। संघर्षमय स्थिति में उनका निभ पाना कठिन था। तेरापंथ संघ की नवीन दीक्षा ग्रहण करते समय आचार्य भिक्षु ने जयमल्ल जी को उन्हें सौंप दिया था। जयमल्ल जी द्वारा भी उनका सहर्ष स्वीकरण प्रकारान्तर से आचार्य भिक्षु के प्रति सहानुभूति का ही एक रूप था। प्रस्तुत घटना का उल्लेख जयमल्ल जी के शब्दों में इस प्रकार हुआ है—"भीखण जी बड़े चतुर व्यक्ति हैं, उन्होंने एक ही काम से तीन घरों में 'बधामणा' कर दिया। हमने समझा कि एक शिष्य बढ़ गया, किसनो जी ने समझा कि स्थान जम गया और स्वयं भीखण जी ने समझा कि चलो, बला टल गयी।"

आचार्य जयमल्ल जी की प्रभावना के कारण उनका सम्प्रदाय जयमल सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उनके उत्तराधिकारी आचार्य परम्परा में क्रमशः रायचन्द जी, आसकरण जी, शबलदास जी, हीराचन्द जी, किस्तूरचन्द जी आदि आचार्यों ने कुशलतापूर्वक उनके संघ का नेतृत्व किया।

वृद्धावस्था में आचार्य जयमल्ल जी का सानिध्य तेरह वर्ष तक नागौरवासियों

को प्राप्त हुआ। इक्कतीस दिवसीय अनशन के साथ वी० नि० २३२३ (वि० स० १८५३) वैशाख शुक्ला त्रयोदशी के दिन उनका स्वर्गवास हुआ।

सादड़ी सम्मेलन के अवसर पर इस सम्प्रदाय ने गहरी सूझ-बूझ से अपना अस्तित्व श्रमण संघ में विलीन कर दिया था।

१०. मंगल प्रभात आचार्य भिक्षु

तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु थे। वे युगप्रवर्तक, कान्तद्रष्टा, आत्म-संगीत के उद्‌गाता एवं सत्य के महान् अनुसंधाता थे। उनके जीवन का सर्वस्व ही सत्य था। आगम मंथन करते समय प्राप्त सत्य की स्वीकृति में सम्प्रदाय का व्यामोह, सुविधावाद का प्रलोभन एवं पद सम्मान का आकर्षण उनके लिए बाधक नहीं बन सका। जहां भी जब भी उन्हें जिस रूप में सत्य की अनुभूति हुई, दुनियां के सामने उन्होंने निर्भीकतापूर्वक उस सत्य की अभिव्यक्ति दी। उनके सार्व-भौमिक अहिंमात्मक घोष से धार्मिक जगत् में एक नई क्रान्ति का जन्म हुआ और मानवता के मंगल प्रभात का उदय हुआ।

आचार्य भिक्षु का प्रारम्भिक नाम 'भीखण' था। उनका जन्म वी० नि० २२५३ (वि० १७८३) आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी के दिन जोधपुर प्रमण्डल में कंटालिया ग्राम में हुआ। उनके पिता का नाम शाह बल्लू जी व माता का नाम दीपां बाई था। दीपां बाई की कुक्षि से जन्मा सकलेचा परिवार का यह कुलदीप यथार्थ में ही कुल दीप सिद्ध हुआ। पुत्र की गर्भावस्था में माता ने सिंह का स्वप्न देखा था। यह स्वप्न शिशु के शुभ भविष्य का संकेत था। आचार्य भिक्षु संयम-साधना-पथ पर सिंह की भांति निर्बाध गति से अविरल बढ़ते रहे।

आचार्य भिक्षु का शिशु-जीवन विविध जिज्ञासाओं से भरा हुआ उभरा और वैराग्य रस से परिपूर्ण होकर धार्मिकता की ओर ढलता गया। विविध धर्म-सम्प्र-दायों के सम्पर्क ने आचार्य भिक्षु को सत्य का अनुसन्धित्सु बना दिया। स्थानक-वासी परम्परा ने जिज्ञासु हृदय को अधिक प्रभावित किया।

एक कुलीन कन्या के साथ उनका पाणिग्रहण हुआ। गृहस्थ जीवन में आबद्ध होकर भी वे कमलतुल्य निर्लेप थे। उनके कन्त:स्तल में विरक्ति का निर्झर बह रहा था। पूर्ण संयमी जीवन स्वीकार कर लेने की भावना उनमें लम्बे समय तक परिपाक पाती रही। पत्नी के स्वर्गवास से विरक्ति की धारा और तीव्र हो गयी। मां के लिए संतोषप्रद व्यवस्था का निर्माण कर वे वी०नि० २२७८ (वि० १८०८) में स्थानकवासी परम्परा के आचार्य रघुनाथ जी से दीक्षित हुए।

आठ वर्ष तक उनके साथ रहे। आगम ग्रन्थों का उन्होंने गम्भीर अध्ययन

किया। उनके सत्यान्वेषी मानस को प्रचलित परम्पराओं से कहीं संतोष न मिल सका। विचार-भेद के कारण २२८७ (वि० १८१७) चैत्र शुक्ला नवमी के दिन वे चार साथियों सहित स्थानकवासी परम्परा से सम्बन्ध विच्छेद कर पृथक् हो गए। चौंतीस वर्ष की अवस्था में चिन्तनपूर्वक उठाया हुआ उनका यह कदम पूर्व-परम्पराओं को चुनौती व अध्यात्मक्रान्ति का सूत्रपात था।

आचार्य भिक्षु के सामने अनेक संघर्ष आए। संकटमयी विकट परिस्थितियां चट्टान की भांति उनके पथ में उपस्थित हुईं। पर संयम के पथ पर बढ़ते हुए उनके चरणों को काल व देशजनित कोई बाधा अवरुद्ध न कर सकी।

आचार्य भिक्षु के इस क्रान्तिकारी निर्णय का लक्ष्य विशुद्ध आचार परम्परा का वहन था। उन्होंने नाम व सम्प्रदाय निर्माण करने की कोई भी योजना पहले नहीं सोची थी और न अपने दल का कोई नामकरण किया।

उनकी संख्या अन्य श्रमणों के साथ और मिल जाने से तेरह हो गयी थी। जोधपुर के तत्कालीन दीवान फतेहचन्द जी सिंघवी ने आचार्य भिक्षु के विचारों के अनुसार तेरह श्रावकों को दुकान में सामायिक करते देखा। उनसे आचार्य भिकु के सम्बन्ध की जानकारी प्राप्त करते समय पता लगा—उनके साथ श्रमणों की संख्या भी तेरह ही है। पार्श्व में खड़े एक भोजक कवि ने तत्काल एक पद की रचना कर तेरह की संख्या के आधार पर आचार्य भिक्षु के दल को 'तेरापंथी' दल सम्बोधित किया। भोजक कवि के मुख से दिया हुआ यह नाम मुख-मुख पर चर्चित होता हुआ आचार्य भिक्षु के कानों तक पहुंचा। उनकी अर्थप्रधान मेधा ने तेरापंथी शब्दावली के साथ व्यापक अर्थ योजना घटित की। तेरापंथ को प्रभु का मार्ग बताकर उस नाम को स्वीकार कर लिया। तात्त्विक भूमिका पर तेरापंथ शब्द की व्याख्या में पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति—इन तेरह नियमों की साधना का सम्बन्ध जोड़ा।

आचार्य भिक्षु ने वी० नि० २२८७ (वि० १८१७) में आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा के दिन बारह साथियों सहित नई दीक्षा ग्रहण की। यही तेरापंथ स्थापना का प्रथम दिवस था।

दीर्घदर्शी, सुविनीत श्रमण थिरपाल जी व फतेहचन्द जी की युगल सन्तों की विशेष प्रार्थना पर वे तप-आराधना के साथ जन-उद्बोधन कार्य में प्रवृत्त हुए। उनके आगम-आधारित उपदेशों का जनमानस पर अप्रत्याशित प्रभाव बढ़ता गया। लोगों के चरण उनके पीछे डोर से खींचे पतंग की भांति बढ़ते चले आए। कई व्यक्ति श्रावक भूमिका में प्रविष्ट हुए। कई श्रमण बने। चार वर्ष तक किसी बहिन की श्रमण दीक्षा नहीं हुई। एक व्यक्ति ने आकर भिक्षु से कहा—"भिक्षु जी! तुम्हारे संघ में तीन तीर्थ हैं।" आचार्य भिक्षु मुस्कराते हुए बोले—"इस बात की मुझे कोई चिन्ता नहीं, मोदक खण्डित है पर शुद्ध सामग्री से बना है।"

तेरापंथ स्थापन-काल में साधुओं की संख्या तेरह थी। उसी वर्ष में यह संख्या कम होकर छह के अंक पर पहुंच गयी। आगम-विशेषज्ञ हेमराज जी स्वामी की दीक्षा वी० नि० २२२३ (वि०१८५३) में हुई। उससे पहले सन्तों में १३ की संख्या पुन: कभी पूर्ण नहीं हो पायी थी। हेमराज जी स्वामी की दीक्षा के समय तेरह का अंक पूर्ण हुआ तथा उसके बाद आगे बढ़ता गया।

आचार्य भिक्षु के शासनकाल में १०४ दीक्षाएं हुईं। उनमें से ३७ व्यक्ति पृथक् हो गए पर आचार्य भिक्षु के सामने संख्या का व्यामोह नहीं, आचार-विशुद्धि का प्रश्न प्रमुख था।

अनुशासन की भूमिका पर उनकी नीति स्वस्थ व सुदृढ़ थी। उन्होंने पांच साध्वियों को एकसाथ संघमुक्त कर दिया पर अनुशासनहीनता व आचार-हीनता को प्रश्रय नहीं दिया।

तेरापंथ संघ के द्वितीय आचार्य भारीमलजी स्वामी को उन्होंने वी० नि० २३०२ (वि० १८३२)में अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। उसी समय सर्व-प्रथम उन्होंने संघीय मर्यादाओं का निर्माण भी किया। एक आचार्य में संघ की शक्ति को केन्द्रित कर उन्होंने सुदृढ़ संगठन की नींव डाली। इससे अपने-अपने शिष्य बनाने की परम्पराओं का मूलोच्छेद हो गया। भावी आचार्य के चुनाव का दायित्व भी उन्होंने वर्तमान आचार्य को सौंपा।

आज तेरापंथ संघ सुसंगठित और सुव्यवस्थित है, इसका प्रमुख श्रेय आचार्य भिक्षु की उन मर्यादाओं को तथा एक आचार्य, एक समाचारी और एक विचार इस महत्त्वपूर्ण त्रिपदी को है।

आचार्य भिक्षु सहज कवि थे व गम्भीर साहित्यकार थे। उन्होंने लगभग अड़तीस हजार पद्यों की रचना कर जैन साहित्य को समृद्ध किया। उनकी रचना राजस्थानी भाषा में एवं राजस्थान में प्रचलित राग-रागिनियों में गेय रूप है। कुछ रचनाएं गद्यमयी हैं।

आचार्य भिक्षु का विहरण-क्षेत्र राजस्थानान्तर्गत प्राचीन संज्ञा से अभिहित मारवाड़-मेवाड़-ढूंढाड़ था। अत: उनकी रचनाओं में मारवाड़ी, मेवाड़ी भाषा का सम्मिश्रण है। राजस्थान का यह भूभाग गुजरात के नजदीक होने के कारण कहीं-कहीं गुजराती शब्दों के प्रयोग भी हैं।

आचार्य भिक्षु कवि थे, पर उन्होंने जीवन में कवि बनने का प्रयत्न नहीं किया और न उन्होंने कभी भाषाशास्त्र, छन्दशास्त्र, अलंकारशास्त्र एवं रसशास्त्र का प्रशिक्षण पाया पर उनके द्वारा रचे गए पद्यों में सानुप्रासिक आलंकारिक प्रयोग पाठक को मुग्ध कर देते हैं। मिश्र धर्म के निरसन मे उनके पद्य हैं :

'सांभर केरा सींग में—सींग सींग में सींग।
ज्यूं मिश्र परूपे त्यांरी बात में धींग धींग में धींग।।

चोर मिले उजाड़ में, करे झपट झपट में झपट।
ज्यूं मिश्र परूपे त्यांरी बात में कपट कपट में कपट ॥
बाजर खेत बावै जरे बूंट बूंट में बूंट।
ज्यूं मिश्र परूपे त्यांरी बात में, झूठ झूठ में झूठ ॥

आचार्य भिक्षु की साहित्य-रचना का प्रमुख विषय शुद्ध आचार परम्परा का प्रतिपादन, तत्त्व दर्शन का विश्लेषण एवं धर्म संघ की मौलिक मर्यादाओं का निरूपण था। उनकी रचनाओं में प्राचीन वैराग्यमय आख्यान भी निबद्ध है, जो व्यक्ति को अध्यात्मबोध प्रदान कर जीवनकाव्य के मर्म को समझाते हैं।

आचार्य भिक्षु के क्रान्त विचार उनकी पद्यावलियों में स्पष्ट रूप से उभरे हैं।

आचार्य भिक्षु जिन वाणी के प्रति अटूट आस्थावान् थे। आगम के प्रत्येक विधान पर उनका सर्वस्व बलिदान था। एक बार किसी व्यक्ति ने उनसे कहा—"आपकी बुद्धि अत्यन्त प्रखर है। गृहस्थ जीवन में रहकर आप विशाल राज्य के संचालक बन सकते थे।"

उसके उत्तर में आचार्य भिक्षु तत्काल बोले :

बुद्धि वाहि सराहिए, जो सेवे जिनधर्म।
वा बुद्धि किण काम री, जो पड़िया बान्धे कर्म ॥

"मैं उसी बुद्धि की प्रशंसा करता हूं जो जिन-धर्म का सेवन करे। मुझे उस बुद्धि से कोई प्रयोजन नहीं है जिससे कर्मों का बन्धन होता है।'

आचार्य भिक्षु के साहित्य ने साध्वाचार की शिथिलता, शिष्यों की जागीरदारी प्रथा पर तीव्र प्रहार किया है।

आचार्य भिक्षु का सर्वोत्कृष्ट मौलिक कार्य नए मूल्यों की स्थापना है। अहिंसा व दान-दया की व्याख्या उनकी सर्वथा वैज्ञानिक थी।

आचार्य भिक्षु की अहिंसा सार्वभौमिक क्षमता पर आधारित थी। बड़ों के लिए छोटों की हिंसा व पंचेन्द्रिय जीवों की सुरक्षा के लिए एकेन्द्रिय प्राणियों के प्राणों का हनन आचार्य भिक्षु की दृष्टि में जिनशासनानुमोनित नहीं था।

अध्यात्म व व्यवहार की भूमिका भी उनकी भिन्न थी। उन्होंने कभी और किसी प्रसंग पर दोनों को एक तुला से तोलने का प्रयत्न नहीं किया। उनके अभिमत से व्यवहार व अध्यात्म को सर्वत्र एक कर देना, सममूल्य के कारण घृत व तम्बाखू को सम्मिश्रित कर देने जैसा है।

दान-दया के विषय में भी आचार्य भिक्षु ने लौकिक एवं लोकोत्तर की भेद-रेखा प्रस्तुत कर जैन समाज में प्रचलित मान्यता के समक्ष नया चिन्तन प्रस्तुत किया। उस समय सामाजिक सम्मान का माप दण्ड दान-दया पर अवलम्बित था। स्वर्गोपलब्धि और पुण्योपलब्धि की मान्यताएं भी दान-दया के साथ सम्बद्ध-

थी। आचार्य भिक्षु ने लौकिक दान-दया की व्यवस्था को कर्त्तव्य व सहयोग बताकर मौलिक सत्य का उद्घाटन किया। साध्य-साधन के विषय में भी आचार्य भिक्षु का दृष्टिकोण स्पष्ट था। उनके अभिमत से शुद्ध साधन के द्वारा ही साध्य की प्राप्ति संभव है। रक्त-सना वस्त्र कभी रक्त से शुद्ध नहीं होता, हिंसा प्रधान प्रवृत्ति कभी अध्यात्म के पावन लक्ष्य तक नहीं पहुंचा सकती।

दुनिया में नए चिन्तन का प्रारम्भिक स्वागत प्रायः विरोध से होता है। आचार्य भिक्षु के जीवन में भी अनेक कष्ट आए। पांच वर्ष तक पर्याप्त भोजन भी नहीं मिला। स्थानाभाव की असुविधाओं से भी उन्हें जूझना पड़ा। स्थानकवासी सम्प्रदाय से पृथक् होकर सबसे पहला विश्राम श्मशान भूमिका में एवं प्रथम चातुर्मास केलवा की अंधेरी कोठरी में उन्होंने किया था। आचार्य भिक्षु महान् कष्ट-सहिष्णु, दृढ़संकल्पी एवं स्वलक्ष्य के प्रति सर्वतोभावेन समर्पित थे। किसी भी विरोध की चिन्ता किए बिना वे कुशल चिकित्सक की भांति सत्य की कटु घूंट जनता को पिलाते रहे और आगम पर आधारित साधना का रूप अनावृत करते रहे।

आचार्य भिक्षु की सत्यस्पर्शी, स्पष्टोक्तियां, गम्भीर तत्त्व का प्रतिपादन, सार्वभौम अहिंसा का संदेश उनके अन्तर्मुखी विराट् व्यक्तित्व का सूचक था। आचार्य भिक्षु के साहित्य को पढ़कर आधुनिक विद्वान् उन्हें हेगल और 'कांट' की तुला से तोलते हैं।

आगमनिष्ठ, सत्य के अनुसंधित्सु आचार्य भिक्षु ने पच्चीस वर्ष की अवस्था में श्रमण दीक्षा ग्रहण की। वे ७७ वर्ष तक एकनिष्ठ होकर जैन धर्म की प्रभावना में प्रवृत्त रहे। उनका स्वर्गवास सिरियारी में वी० नि० २३३० (वि० १८६०) भाद्रपद शुक्ला १३ को त्रीदिवसीय अनशन के साथ हुआ।

११. प्रज्ञा-प्रदीप आचार्य जय

तेरापंथ के चतुर्थ अधिनायक जयाचार्य थे। वे प्रखर प्रतिभासम्पन्न थे। उन्होंने जैन श्रुत की विलक्षण उपासना की एवं आगमपरक जैन साहित्य की अभिनव वृद्धि की।

आचार्यजय का जन्म वी० नि० २३३० (वि० १८६०) को ओसवाल वंशीय गोलछा परिवार में हुआ था। वह पूरा परिवार जैन संस्कारों से ओत-प्रोत था। उनकी बुआ अजबू जी ने पहले ही भागवती दीक्षा स्वीकार कर ली थी। संस्कारों की बात है जयाचार्य सात वर्ष के थे तभी उन्होंने दीक्षा लेने की मन में ठान ली। कभी-कभी वे झोली में पात्रियों के स्थान पर कटोरियां रख गोचरी जाने का अभिनय भी किया करते थे। जयपुर में आचार्य भारीमाल जी के उपपात में उन्होंने पच्चीस बोल, चर्चा, तेरह द्वार आदि अनेक ग्रन्थों को कंठाग्र कर साधु जीवनोचित भूमिका पूर्णतः निर्माण कर ली थी। उनका दीक्षा संस्कार तेरापंथ के तृतीय आचार्य ऋषिराय महाराज (मुनि अवस्था में) के हाथ से हुआ। उस समय जयाचार्य की अवस्था मात्र नौ वर्ष की थी।

हेमराज जी स्वामी तेरापंथ के महान् आगम विज्ञ सन्त थे। उनके पास जयाचार्य ने बहुत लम्बे समय तक प्रशिक्षण पाया तथा उनके सम्पूर्ण ज्ञान-सिन्धु को वे अगस्त्य ऋषि की तरह पी गए थे। जयाचार्य की प्रतिभा को प्रकृति का वरदान था। ग्यारह वर्ष की अवस्था में उन्होंने 'संत गुण माला' का निर्माण किया और अठारह वर्ष की आयु में पन्नवणा सूत्र जैसे ग्रन्थ का राजस्थानी भाषा में पद्यानुवाद कर डाला।

साहस और बुद्धि ये दो गुण न दिए जाते हैं और न लिए जाते हैं। इनका जन्म, जन्म के साथ ही होता है। जयाचार्य के पास एक ओर अतुल बुद्धि सम्पदा थी तो दूसरी ओर साहस भी उनके हृदय में भरा था।

द्वितीयाचार्य भारीमाल जी द्वारा अपने उत्तराधिकारी के रूप में दो नामों का लिखित उल्लेख किए जाने पर जयाचार्य ने ही पूज्यश्री के पास पहुंचकर एक नाम रखने का साहस भरा निवेदन किया था। जयाचार्य की उस समय अवस्था छोटी ही थी पर उनकी विनम्र प्रार्थना में शतवर्षीय वृद्धावस्था का-सा गहरा अनुभव

प्रकट हो रहा था। भारीमाल जी स्वामी बालमुनि की इस बात पर बहुत प्रसन्न हुए और एक ही नाम उन्होंने पत्र पर रखा।

जयाचार्य चौदह वर्ष तक युवाचार्य पद पर रहे। तृतीय आचार्य रायचन्दजी के बाद वी० नि० २३७८ (वि० १६०८) में उन्होंने तेरापंथ धर्म संघ का नेतृत्व सम्भाला था। उनके शासनकाल में तेरापंथ संघ एक शताब्दी को पार कर दूसरी शताब्दी में चरण न्यास कर रहा था। वह युग विचारों के संक्रमण का युग था। तेरापंथ की आन्तरिक व्यवस्थाएं परिवर्तन मांग रही थी। जयाचार्य का आगमन उपयुक्त समय पर हुआ। उन्होंने अत्युत्तम सूझ-बूझ के द्वारा अनेक नई व्यवस्थाओं को संघ में जन्म दिया।

उस समय पुस्तकों पर स्वामित्व सभी सन्तों का अपना था। जयाचार्य ने सबकी उपयोगिता के लिए उनका संघीकरण किया। पुस्तकों की सामग्री के लिए प्रति अग्रगामी पर गाथा प्रणाली का कर लागू किया। इस प्रकार आहार और श्रम-प्रदान की सम-व्यवस्थाएं भी जयाचार्य के शासनकाल में हुई। महासती सरदारां जी भी इन क्रान्तिकारी प्रवृतियों में महान् निमित्त बनी है।

मर्यादा-महोत्सव अपने-आपमें अनूठा महोत्सव है। इस अवसर पर विभिन्न स्थलों में विहरण करने वाले सैकड़ों साधु-साध्वियों का आचार्य की सन्निधि में मिलन और संघीय मर्यादाओं का वाचन होता है। आगामी चातुर्मासों के आदेश-निर्देश भी प्रायः इस प्रसंग पर मिलते हैं। इसीलिए चातुर्मास सम्पन्न होते ही सबका ध्यान इस महोत्सव के साथ जुड़ जाता है। सहस्रों नर-नारी इस सम्मेलन में एकत्रित होते हैं। मर्यादा-महोत्सव मनाया जाता है। इन पर्वों पर साधु-साध्वियों की योग्यताएं सामने आती हैं और विशिष्ट उपलब्धियां संघ की होती है। इस महोत्सव के प्रारम्भीकरण का श्रेय जयाचार्य को ही है।

जैन समाज को जयाचार्य की सबसे महत्त्वपूर्ण देन उनका विशाल साहित्य है। उन्होंने साढ़े तीन लाख पद्य परिमाण साहित्य की रचना की। गम्भीर साहित्य का निर्माण एकान्त के क्षणों में होता है। आचार्य का जीवन प्रवृत्ति-बहुल होने के कारण उन्हें ऐसे क्षणों की उपलब्धि कठिन ही होती है। पर युवाचार्य मघवागणी ने बहुत-सी प्रवृत्तियों का संचालन अपने पर झेल लिया था। इससे जयाचार्य बहुत निश्चिन्तता से एकान्त के क्षणों में डूबकर गम्भीर साहित्य की सृजना कर सके थे।

वे आगम टीकाकारों में पद्यबद्ध रचना करने वाले प्रथम टीकाकार थे। उन्होंने सात आगमों की टीकाएं की। भगवती सूत्र जैसे महान् आगम पर अस्सी हजार श्लोक परिमाण पद्य-रचना उनकी महामनीषा का चमत्कार था। एक दिन में वे तीन सौ पद्य बना लिया करते थे। जैनागम भारती की यह आराधना जैन-शासन की अत्युत्तम प्रभावना थी।

उनकी रचनाओं को पढ़ने से लगता है कि वीर-वाणी के प्रति वे सर्वतोभावेन समर्पित हो गए थे। किसी भी सैद्धान्तिक विषय के विवेचन में वे आगम प्रमाणों का पर्याप्त उपयोग करते थे। उनकी हर रचना आगमिक आधार पर अवलम्बित है।

इतिहास लेखन में भी उनकी लेखनी का अनुपम अनुदान है। जैन इतिहास के साथ तेरापंथ का इतिहास भी उनसे बहुत समृद्ध हुआ। 'भिक्षु जस रसायन' स्वामी जी के केवल गुणानुवाद ही नहीं अपितु विविध दृष्टान्तों के आधार पर तात्त्विक विवेचन भी है। इतिहास लिखने की यह सुन्दर परम्परा तेरापंथ धर्म संघ में जयाचार्य ने स्थापित की। उन्होंने अनेक साधु-साध्वियों के तथा श्रावक-श्राविकाओं के जीवन-चरित्र भी लिखे हैं।

जयाचार्य उच्च कोटि के भाष्यकार थे। आचार्य भिक्षु की प्रत्येक रचना का उन्होंने भाष्य कर दिया। आगम वाणी पर उनका भाष्यमय साहित्य अत्यन्त मर्मस्पर्शी हैं जो युग-युग तक जैनागम में प्रवेश पाने वाले विद्यार्थी के लिए आलोक-स्तम्भ का कार्य करता रहेगा। उनकी इन विरल विशेषताओं के कारण उन्हें जैन मुकुटमणि सम्बोधन दिया है।

जयाचार्य की स्वाध्याय-साधना भी अतुल थी। जीवन के अन्तिम आठ वर्षों में उन्होंने लगभग ८६,६७,४५० गाथाओं का स्वाध्याय किया।

जैन दर्शन में संयमी जीवन का जितना महत्त्व है उससे भी कहीं अधिक महत्त्व पण्डित मरण का है। जैन शासन की महान् प्रभावना करते हुए जयाचार्य ने जितना सुन्दर ढंग से संयमी जीवन जीया उससे कहीं अधिक उन्होंने अन्तिम क्षणों को संवारा।

वे प्रतिक्षण जागरूक थे। देहशक्ति क्षीण होने का आभास होते ही उन्होंने अनशन की स्थिति को स्वीकारा। पूर्ण जागरूक अवस्था में तीन हिचकी के साथ आंख खुलते ही उनका स्वर्गवास वी० नि० २४०८ (वि० १९३८) भाद्रव कृष्णा द्वादशी को हो गया था।

१२. विद्या-विभाकर आचार्य विजयानन्द

आचार्य विजयानन्द सूरि को विद्यानन्द सूरि कहना अधिक उपयुक्त होगा। ज्ञान के क्षेत्र में उन्होंने अतिशय योग्यता प्राप्त की। वेद, वेदांग और भारतीय विभिन्न दर्शनों का अवगाहन करने से उनकी बुद्धि काफी परिष्कृत हो चुकी थी। वी० नि० २३६३ (वि० १८९३) में वे जन्मे। बचपन में ही उनके मस्तक पर से पिता के प्यार का साया उठ गया। भाग्य से बालक को धार्मिक संस्कारों का बल मिला और वह स्थानकवासी सम्प्रदाय में दीक्षित हो गया।

मुनि बनने के बाद उनका धीरे-धीरे मन्दिरमार्गी सम्प्रदाय की ओर झुकाव होने लगा। एक दिन बुद्धि-विजय जी के पास वी० नि० २४०२ (वि० १९३२) में उन्होंने मन्दिरमार्गी दीक्षा स्वीकार कर ली। पहला नाम उनका आत्माराम था। दूसरा नाम आनन्द विजय हुआ।

उनको वी० नि० २४१३ (वि० १९४३) में जैनाचार्य पद से अलंकृत किया। आचार्य बनने के बाद वे आनन्द विजय से विजयानन्द हो गए।

विजयानन्द सूरि जी समर्थ आचार्य थे। ये ही वे आचार्य थे, जिन्होंने समूचे भारत में अध्यात्म का शंखनाद फूंका और विदेशों तक अपने शिष्य वीरचन्द राघव को प्रेषित कर आत्मज्ञान की पीयूष-स्रोतस्विनी प्रवाहित की।

शिकागो के विश्व धर्म सम्मेलन के अवसर पर राघव जी का वक्तव्य हुआ। वक्तव्य सुनकर विदेशी लोग जैन धर्म की वैज्ञानिकता पर मुग्ध हुए और उन्होंने पहली बार अनुभव किया कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से भी प्राचीन है। जैन धर्म-प्रचारार्थ यूरोपीय देशों में कई संस्थाओं को स्थापित करने का श्रेय भी आचार्य विजयानन्द जी को है।

पाश्चात्य देशों से निकट सम्पर्क साधने वाले वे प्रथम आचार्य थे। विदेशों में उन्हें बुलाने के लिए कई निमन्त्रण भी आए पर उनका जाना नहीं हुआ।

आचार्य विजयानन्द जी की स्मरणशक्ति बहुत तीव्र थी। एक दिन में ३०० श्लोक वे कण्ठस्थ कर लेते थे।

उनकी साहित्य-सेवा भी बेजोड़ थी। तत्त्व निर्णय प्रसाद, अज्ञान तिमिर भास्कर, शिकागो प्रश्नोत्तर, सम्यक्त्व शल्योद्धार, जैन प्रश्नोत्तर, नव तत्त्व संग्रह,

आत्मविलास, आत्मबावनी, जैन मत वृक्ष आदि विभिन्न ग्रन्थों की उन्होंने रचना की।

उन्होंने वी० नि० २४०७ (वि० १९३७) के वर्ष में सहस्रों की संख्या में अजैन व्यक्तियों को जैन बनाकर जैन धर्म को विशेष रूप से उजागर किया।

उनका सम्पूर्ण जीवन एक प्रकार से जागरण का सन्देश था। इस भौतिक देह का विसर्जन भी उन्होंने जागरूकता के साथ किया।

वी० नि० २४२३ (वि० १९५३) ज्येष्ठ शुक्ला अष्टमी संध्या के समय प्रतिक्रमण किया। तदनन्तर वे परिपार्श्व में बैठे हुए मुनि वृंद से क्षमा-याचना करते हुए बोले, "हम जा रहे हैं।" इतना कहकर रुके ही थे। अर्हन्-अर्हन् की ध्वनि के साथ उनका स्वर्गवास हो गया।

१३. अज्ञान-तिमिरनाशक आचार्य अमोलक ऋषि

स्थानकवासी परम्परा में ऋषि सम्प्रदाय के आचार्य अमोलक ऋषि जी अपने युग के विश्रुत विद्वान् थे। वे मेड़ता-निवासी श्री कस्तूरचन्द जी ओसवाल के पौत्र और श्री केवलचन्द के पुत्र थे। उनकी माता का नाम हुलासी था। अमोलक ऋषि जी का जन्म वी० नि० २४०४ (वि० १९३४) को भोपाल में हुआ। उनके छोटे भाई का नाम अमीचन्द था। अमोलक ऋषि जी को बाल्यावस्था में मातृ-वियोग की संकटमयी घड़ी का सामना करना पड़ा। पिता केवलचन्द जी ने मुनि जनों से बोध प्राप्त कर संयम-दीक्षा स्वीकार कर ली।

धार्मिक वातावरण अमोलक ऋषि के परिवार से सहज प्राप्त था। पिता की दीक्षा ने उन्हें संयम मार्ग के प्रति आकृष्ट किया। उन्होंने वीर नि० २४१४ (वि० सं० १९४४) में भागवती-दीक्षा ग्रहण की।

अमोलक ऋषि जी बुद्धिबल से सम्पन्न श्रमण थे एवं गुरुजनों के प्रति विनम्र भी थे। उन्होंने शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन श्री रत्नऋषि जी के पास किया और उनके साथ गुजरात आदि अनेक देशों में विचरे। रत्नऋषि जी के साथ अमोलक ऋषि जी सात वर्ष तक रहे थे।

उन्हें ज्येष्ठ शुक्ला १२ गुरुवार, वी० नि० २४५९ (वि० १९८९) में आचार्य पद से विभूषित किया गया। पिछले कई वर्षों से ऋषि सम्प्रदाय में आचार्य पद रिक्त था।

आगमों का अमोलक ऋषि जी को गम्भीर ज्ञान था। सिकन्दराबाद (हैदराबाद) में तीन वर्ष तक विराज कर उन्होंने बत्तीस सूत्रों का सरल हिन्दी अनुवाद किया था। इस महत्त्वपूर्ण कार्य को करते समय वे निरन्तर एकांतर तप करते और सात-सात घण्टों तक अबाध गति से लिखते थे। प्राकृत भाषा को न जानने वाले आगमार्थ पिपासु साधकों के लिए यह अनुवाद उपयोगी सिद्ध हुआ।

आगमों के अतिरिक्त उन्होंने विशाल जैन साहित्य की रचना की। जैन तत्त्व प्रकाश आदि ७० ग्रंथ उनके हैं। उनमें कई गेय आख्यान हैं। कई ग्रंथ जैन तत्त्व ज्ञान से सम्बन्धित भी हैं। उनके कुल ग्रंथों की संख्या आगमों को सम्मिलित कर देने पर १०२ हो जाती है। उनके ग्रंथों की आवृत्तियां गुजराती, मराठी, कन्नड़ और

उर्दू भाषा में भी प्रकाशित है।

अमोलक ऋषि जी का स्थानकवासी समाज पर अच्छा प्रभाव था। धर्म-प्रचार की दृष्टि से उन्होंने मालव आदि क्षेत्रों में विशेष रूप से विहरण किया। वृद्धावस्था में भी उन्होंने पंजाब की यात्रा की। उनका वी० नि० २४६२ (वि० सं० १९९२) चातुर्मास दिल्ली में था। कोटा, बूंदी, रतलाम आदि क्षेत्रों में विहरण कर वी० नि० २४६३ (वि० सं० १९९३) का चातुर्मास उन्होंने खानदेश में किया। इस चातुर्मास में उनके कर्ण वेदना हुई। उपचार करने पर भी वेदना उपशान्त नहीं हुई। जीवन के अंत समय में भ्रादपद कृष्णा चतुर्दशी के दिन उन्होंने अनशन किया। परम समता भाव में वे स्वर्गगामी बने।

१४. चिन्मय चिराग आचार्य विजयराजेन्द्र

विजयराजेन्द्र सूरिश्वर जी सौधर्म बृहत्तपोगच्छीय श्वेताम्बराचार्य थे। वे अनेक भाषाओं के विज्ञ और महान् साहित्यकार थे। अभिधान राजेन्द्र कोष उनकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है।

विविध सामग्री से परिपूर्ण इस कोष को समग्र जैन वाङ्मय में अपना अनूठा स्थान प्राप्त है।

उनकी शिष्य मंडली में इतिहास-प्रेमी, व्याख्यान-वाचस्पति यतीन्द्रविजय जी थे। यतीन्द्रविजय जी की दीक्षा वी० नि० २४२४ (वि० १९५४) आषाढ़ कृष्णा द्वितीया सोमवार को खाचरोद में हुई थी। उन्होंने विजयराजेन्द्र सूरि जी की सन्निधि में बैठकर संस्कृत, प्राकृत भाषा का अध्ययन किया और अभिधान राजेन्द्र-कोष की रचना में आठ वर्ष तक सह-सम्पादक के रूप में रहकर उन्होंने सफलता-पूर्वक काम किया।

काल किसीके लिए एक क्षण भी प्रतीक्षा नहीं करता। विजयराजेन्द्र सूरिश्वर जी कोष-निर्माण में निष्ठा के साथ लगे थे। कोष-निर्माण का कार्य पूर्ण नहीं हो पाया उससे पहले ही काल ने आकर उनके जीवन-द्वार पर दस्तक लगा दी।

वे वी० नि० २४३३ (वि० १९६३) में पौष शुक्ला षष्ठी शनिवार को स्वर्गवासी हो गए और उनका महान् स्वप्न अधूरा रह गया।

उनके स्वर्गवास के पश्चात् कोष-निर्माण का कार्य विद्वान् संत दीपविजय जी और यतीन्द्रविजय जी की देख-रेख में चलता रहा। सात भागों में पूर्ण वह राजेन्द्र कोष वी० नि० २४४२ (वि० १९७३) में 'राज संस्करण' की अभिधा से अलंकृत होकर जनता के सामने आया और शोध पाठकों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ।

१५. करुणा-स्रोत आचार्य कृपाचन्द्र

आचार्य कृपाचन्द सूरि खरतरगच्छ के प्रभावक आचार्य थे। उनका जन्म वी० नि० २३८३ (वि० १९१३) में हुआ। यतियों से पास उन्होंने दीक्षा ग्रहण की।

वे आगमज्ञ थे और व्याकरणशास्त्र तथा न्यायशास्त्र पर भी उनका अच्छा अधिकार था। यति से वे मुनि बने। वी० नि० २४४२ (वि० १९७२) को बम्बई में उन्हें आचार्य पद प्राप्त हुआ था।

मारवाड़, गुजरात, काठियावाड़ और मालव में विहरण कर जैन शासन के उपवन को उन्होंने अपनी सद्उपदेश धारा से सींचा। कई पाठशालाओं और पुस्तकालयों की स्थापना भी उनकी प्रेरणा से हुई।

आज भी खरतरगच्छ में करुणास्रोत आचार्य कृपाचन्द्र सूरि का नाम गौरव से स्मरण किया जाता है।

१६. शास्त्र-विशरद आचार्य विजयधर्म

तपागच्छीय आचार्य विजयधर्म मूरि जी प्रख्याति-प्राप्त आचार्य थे। उनका जन्म वी० नि० २३९४ (वि० १९२४) में एक सम्पन्न परिवार में हुआ। बालक का नाम मूलचन्द था। पढ़ने की रुचि बालक में बिल्कुल नहीं थी। प्रति व्यक्ति के मानस घटक परमाणु भिन्न-भिन्न होते हैं। घोड़े को तालाब पर ले जाया जा सकता है पर विना रुचि के उसे पानी नहीं पिलाया जा सकता।

पिता ने बालक मूलचन्द को व्यापारी बनाना चाहा पर उसका मन सट्टा करने में फंस गया था। पिता भी अपने बच्चे की इस प्रवृति से चिन्तित थे।

'सत्संगतिः किं न करोति पुंसाम्' दुनिया का कौन-सा भला कार्य सत्संगति के द्वारा नहीं होता। पतित से पतित व्यक्ति सत्संगति से पावन बन जाते हैं। भाग्य से मूलचन्द बालक को सन्तों का पावन सान्निध्य मिला। विचारों की धारा बदली। सट्टे के जीवन से मुक्त होकर बालक वैरागी बना और वह वी० नि० २४१३ (वि० १९४३) में मुनि श्री वृद्धिचन्द जी के पास दीक्षित हुआ। साधु-जीवन का नाम धर्मविजय रखा गया।

नए जीवन का प्रारम्भ होते ही अध्ययन के प्रति रुचि बढ़ गयी। विद्या से घृणा करने वाले का नाम धुरन्धर विद्वानों की श्रेणी में आने लगा।

उनको वी० नि० २४३४ (वि० १९६४) में काशी नरेश के सभापतित्व में अनेक विद्वानों के बीच 'शास्त्र-विशारद' की उपाधि से अलंकृत कर जैनाचार्य के पद से विभूषित किया गया।

आचार्य बनने के बाद धर्मविजय के स्थान पर वे विजयधर्म सूरि जी के नाम से सम्बोधित होने लगे। धर्म प्रचारार्थ गुजरात, बिहार, बंगाल, बनारस, इलाहाबाद और कलकत्ता आदि क्षेत्रों में विहरण किया। अनेक विद्वानों ने उनसे जैन धर्म की दीक्षा स्वीकार की।

उनके व्यक्तित्व का प्रभाव विदेशों तक भी पहुंचा। कई विदेशी विद्वान् उनके निकट मित्र की तरह थे। उद्भट्ट मनीषी हर्मन जेकोबी तक ने उनके व्यक्तित्व की मुक्तकंठ से प्रशंसा की।

१७. विशद विचारक आचार्य विजयवल्लभ

मन्दिरमार्गी परम्परा के प्रभावक आचार्यों में विजयवल्लभ सूरि का नाम विश्रुत है। वे गम्भीर विचारक थे एवं समन्वय वृत्ति के पोषक थे। उनके प्रवचन का मुख्य प्रतिपाद्य था, "मेरी आत्मा चाहती है—साम्प्रदायिकता से दूर रहकर जैन समाज श्री महावीर स्वामी के झंडे के नीचे एकत्रित होकर महावीर की जय बोले !" इस दिशा में उन्होंने समय-समय पर स्तुत्यात्मक प्रयत्न भी किये।

विजयवल्लभ सूरि का जन्म वी० नि० २३९७ (वि० १९२७) में बड़ौदा (गुजरात) में हुआ। उनके पिताश्री का नाम दीपचन्दभाई व माता का नाम इच्छाबाई था। बचपन में उन्हें छगन नाम से पुकारते थे। माता-पिता के धार्मिक संस्कारों का उन पर प्रभाव हुआ। संसार से विरक्त होकर वे वी० नि० २४१४ (वि० १९४४) में रापनपुर में श्रीमद विजयानन्द सूरि के पास दीक्षित हुए और हर्षविजय जी के शिष्य बने। उनका दीक्षा का नाम विजयवल्लभ था। उन्होंने दीक्षा लेने के बाद आगमों का गम्भीर अध्ययन किया।

आचार्य पद पर आरूढ़ होकर विजयवल्लभ ही नहीं वे जनवल्लभ भी बन गए। उनकी प्रवचन शैली सरस, सरल व आकर्षक थी। जनता जनार्दन को जैन संस्कारों से संस्कारित करने के लिए वे विशेष प्रयत्नशील थे। जैनों को प्रभावशाली बनाने के लिए स्वावलम्बन, संगठन, शिक्षा और जैन साहित्य का निर्माण—इन चारों बातों पर वे अधिक बल देते थे।

वे समता के पुजारी थे। सम्पर्क में आने वाले जैन, जैनेतर सभीसे समव्यवहार करते थे।

बम्बई में तेरापंथ के प्रभावी आचार्य श्री तुलसी के साथ जैन एकता के समन्वय में उनका विचार-विमर्श भी हुआ। उस चर्चा-प्रसंग की जैन समाज में सुन्दर प्रतिक्रिया रही। उसके थोड़े समय बाद शीघ्र ही बम्बई में वी० नि० २४८१ (वि० २०११) में उनका स्वर्गवास हो गया।

१८. योग-साधक आचार्य बुद्धिसागर

योगियों की परम्परा में बुद्धिसागर सूरि जी का नाम प्रख्यात है। वे जाति के पटेल थे और महान् योग साधक थे। पौने चार मन का उनका शरीर था तथा भरपूर मस्ती का उनका जीवन था। उनकी अंगुलियों में अट्ठारह चक्र थे।

बुद्धिसागर जी वास्तव में ही बुद्धि के सागर थे। वे वी० नि० २४०० (वि० १९३०) में जन्मे और वी० नि० २४२७ (वि० १९५७) में उन्होंने सुखसागर जी के पास जैन दीक्षा ग्रहण की। उनकी संयम-साधना उच्चकोटि की थी और रसनेन्द्रिय पर उनकी उत्कृष्ट विजय थी। वे उग्रविहारी और साहित्य-पाठन के तीव्र रसिक थे। उन्होंने अपने जीवन में लगभग २५०० पुस्तकों का वाचन किया। एक 'अध्यात्मसागर' नामक पुस्तक को उन्होंने सौ बार पढ़ा था।

साहित्य-सेवा भी उनकी अनुपम थी। एक सौ आठ कृतियों के सृजनहार वे अकेले महापुरुष थे। हजार पृष्ठों का विशालकाय महावीर ग्रन्थ लिखकर उन्होंने अध्यात्म-साहित्य को गौरवमय उपहार भेंट किया। आनन्दघनजी के अध्यात्म-परक पद्यों के विवेचन का श्रेय भी उन्हें है।

वे संस्कृत और गुजराती भाषा भी जानते थे। इन दोनों ही भाषाओं में उन्होंने सरस स्तवनों की रचना की है।

वे प्रमुख रूप से साहित्यकार नहीं, योग साधक थे। साहित्य उनकी योग-साधना की एक स्थूल निष्पत्ति थी।

वे वी० नि० २४४० (वि० १९७०) में आचार्य पद पर आरूढ़ हुए। ग्यारह वर्ष तक उन्होंने अपने संघ का सफलतापूर्वक नेतृत्व किया। उनका वी० नि० २४५१ (वि० १९८१) में स्वर्गवास हो गया।

१९. समता-सागर आचार्य सागरानन्द

आचार्य सागरानन्द सूरि जी तपागच्छ के आगमोद्धारक आचार्य थे। वे कप्पड़-गंज के श्रेष्ठी मगनलाल गांधी के सुपुत्र और मणिलाल गांधी के लघु भ्राता थे। वी० नि० २४०१ (वि० १९३१) में उनका जन्म और सत्तरह वर्ष की आयु में जवेरसागर जी मुनि के पास उनकी दीक्षा हुई। दीक्षा नाम आनन्दसागर था। ज्ञान के क्षेत्र में उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त कर विद्यासागर बने।

उनको वी० नि० २४३० (वि० १९६०) में पन्यास पद तथा गणीपद और वी० नि० २४४४ (वि० १९७४) में विमलकमल सूरि द्वारा आचार्य पद से अलंकृत किया गया।

सूरत में उनके नाम पर 'आनन्द पुस्तकालय' अध्यात्म साहित्य-प्रधान सुविशाल पुस्तकालय है।

आगमोद्धार के लक्ष्य से उन्होंने उदयपुर, सूरत आदि शहरों में लगभग पन्द्रह समितियों की स्थापना की। आचार्य सागरानन्द की इस प्रवृत्तिका जनता में अच्छा सम्मान बढ़ा और उन्हें आगमोद्धारक उपाधि से भूषित किया गया। उन्होंने अपने जीवन में अनेक सत्प्रयत्नों से जैन शासन की श्री वृद्धि की।

२०. कमनीय कलाकार आचार्य कालूगणी

तेरापंथ धर्म संघ के अष्टमाचार्य श्री कालूगणी थे। वे तेजस्वी एवं वर्चस्वी आचार्य थे। जैन धर्म की प्रभावना में उनका विविध रूपों में योगदान है।

आचार्य कालूगणी का जन्म वी० नि० २४०३ (वि० १९३३) को छापर-निवासी कोठारी परिवार में हुआ। छापर वर्तमान में चुरु जिले के अन्तर्गत है। श्री कालूगणी जी मूलचन्द्र जी के इकलौते कुलदीप थे। उनकी माता जी का नाम छोगां जी था।

छोगां जी निर्भय और धर्मनिष्ठ महिला थी। कालूगणी जब तीन दिन के थे छोगांजी को भयंकर दैत्याकार काली छाया अपनी ओर बढ़ती हुई दिखाई दी। एक हाथ से उन्होंने पुत्र की रक्षा की तथा दूसरे हाथ से उस डरावनी कायाकृति को पछाड़कर सिंहनी की तरह निर्भयता का परिचय दिया था।

मातृगुणों का सहज संक्रमण संतान में होता ही है। छोगां जी के गुणों का विकास कालूगणी के व्यक्तित्व में हुआ। शिशु-अवस्था में ही उनके जीवन में धार्मिक संस्कारों की नींव गहरी हो गयी।

माता छोगां जी के साथ वे ग्यारह वर्ष की उम्र में वी० नि० २४१४ (वि० १९४४) में आचार्य मघवागणी से दीक्षित हुए। मघवागणी तेरापंथ धर्म संघ के पंचम आचार्य थे। प्रकृति से वे अत्यन्त कोमल थे। उनकी सन्निधि में रहकर कालूगणी ने साधना-शिक्षा के क्षेत्र में बहुमुखी विकास किया। तेरापंथ धर्म संघ के सप्तम आचार्य डालगणी के बाद वी० नि० २४३६ (वि० १९६६) में वे आचार्य पद पर आसीन हुए। दीक्षा-जीवन से आचार्य पद पर आरूढ़ होने तक का बाईस वर्ष का काल उनके लिए व्यक्तित्व-निर्माण का सर्वोत्तम था। इस प्रलम्बमान अवधि में शिक्षा-साधना के साथ अनेक अनुभवों का संबल उन्हें प्राप्त हुआ।

तेरापंथ धर्म संघ के छठे आचार्य श्री माणकगणी के स्वर्गवास के बाद कालूगणी को आचार्य पद पर आरूढ़ करने की अंतरंग चर्चाएं चलीं। पर उम्र कम होने के कारण वैसा नहीं बन सका। यह भेद उस दिन खुला जब सप्तमाचार्य डालगणी ने एक दिन मगन मुनि (मंत्री) से कहा—"संघ ने मेरा नाम मेरी अनुमति के बिना कैसे चुना? मैं इस पद को नहीं स्वीकारता तो दूसरा नाम किसका सोचा

था ?" मगन मुनि ने इस अवसर पर डालगणी के सामने विकल्प में कालूगणी का नाम प्रस्तुत किया। डालगणी का ध्यान तब से ही भावी आचार्य के रूप में कालूगणी पर केन्द्रित हो गया था।

कालूगणी का आचार्य पद के लिए निर्णय अत्यंत रहस्यपूर्ण ढंग से हुआ। डालगणी ने चार दिन पूर्व ही पत्र में नाम लिख दिया था। पर अन्तिम समय तक यह भेद न खुल सका। युवाचार्य पद पर चार दिन तक सर्वथा गुप्त रूप में रहे, ऐसा होना कालूगणी के अनुकूल ही था। वे कभी अपना प्रदर्शन नही चाहते थे और पद-लालसा से भी सर्वथा दूर थे।

आचार्य कालूगणी शरीर सम्पदा से भी सम्पन्न थे। लम्बा कद, चमकीली आंखें, गेंहुआ वर्ण और प्रसन्न आकृति उनके बाह्य व्यक्तित्व की झांकी है। उनका अन्तरंग व्यक्तित्व मघवागणी का वात्सल्य, माणकगणी की उपासना और डालगणी के कठोर अनुशासन के निकष पर उत्तीर्ण निर्दोष कनक था।

तेरापंथ धर्म संघ की उनके शासनकाल में अभूतपूर्व प्रगति हुई। साधना, शिक्षा, कला, साहित्य आदि विविध धर्मपक्षों में उन्होंने नए कीर्तिमान स्थापित किए।

संस्कृत भाषा को तेरापंथ धर्मसंघ में विकास देने का श्रेय आचार्य कालूगणी को है। जयाचार्य ने संस्कृत का बीज बोया। मघवागणी ने उसे परिसिंचन दिया, पर अनुकूल परिस्थितियों के सहयोगाभाव में उसका विकास अवरुद्ध हो गया था।

आचार्य कालूगणी भाग्यशाली आचार्य थे। उनकी प्रगति के लिए प्रकृति ने स्वयं द्वार खोले। विकास योग्य साधन सामग्री उन्हें सहज प्राप्त हो जाती थी। भगवती सूत्र जैसे दुर्लभ ग्रंथ की ३६ प्रतियों की उपलब्धि संघ को उनके शासन-काल में हुई।

श्रमण-श्रमणी परिवार की भी तेरापंथ धर्म संघ में उस समय अभूतपूर्व वृद्धि हुई। आचार्य श्री कालूगणी ने कुल चार सौ दस दीक्षाएं प्रदान कीं। उनमें अधिक-तर लघुवय श्रमण-श्रमणियों की दीक्षाएं थीं। कई दम्पती दीक्षार्थी भी थे।

आचार्य श्री कालूगणी स्वयं एक कुशल कलाकार थे। उनकी अनुपम कृति आचार्य श्री तुलसी के रूप में हमारे सामने है। इन्हें देखकर आचार्य श्री कालूगणी की कुशल कलाकारिता का सहज स्मरण हो आता है। इस अमूल्य कृति के लिए जनमानस उन्हें सौ-सौ बधाइयां देता है।

तेरापंथ धर्म संघ में श्रमणी-श्रमण सफल साहित्यकार, प्रवण वैयाकरण, कुशल वाग्मी, उग्र चर्चावादी और प्रबल प्रचारक बनकर युग के सामने आए। उन सबके विकास-पथ में ऊर्जाकेन्द्र आचार्य श्री कालूगणी थे।

जैन धर्म का व्यापक प्रचार करने हेतु विहार-क्षेत्र को उन्होंने विस्तृत किया। उनके शासनकाल में साधु-साध्वियों की प्रलम्बमान यात्राएं प्रारंभ हुईं। गुजरात,

महाराष्ट्र और दक्षिण भारत में साधु-साध्वियों को प्रेषित करने का प्रथम श्रेय उन्हें है। पूर्वाचार्यों के समय में तेरापंथ धर्म संघ के मुनियों का मुख्य विहरण-स्थल राजस्थान था। मध्य प्रदेश की यात्रा भी उस समय सुदूर यात्रा मानी जाती थी।

आचार्य श्री कालूगणी सक्षम व्यक्तित्व के धनी थे। एक बार सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डा० हर्मन जेकोबी ने उनके दर्शन किए। डा० हर्मन जेकोबी अनेक भाषाओं के विज्ञ विद्वान् थे और जैन दर्शन के गम्भीर अध्येता थे। तेरापंथ धर्म संघ की एकात्मकता ने उन्हें अत्यधिक प्रभावित किया। कालूगणी के सामने उन्होंने अपनी अन्तर् जिज्ञासा प्रस्तुत करते हुए कहा—"अहिंसा, अपरिग्रह के सन्देशवाहक जैन तीर्थंकर मांस भक्षण करते हैं। यह बात मेरे अन्तर्मन ने कभी स्वीकार नहीं की थी, पर आचारांग का अनुवाद करते समय 'मंसं वा मच्छं वा' पाठ देखकर मेरी प्राचीन धारणा उलट गयी।"

आचार्य श्री कालूगणी ने 'भगवती' आदि के आगमिक आधार पर चूर्णिकारों तथा टीकाकारों का ससंदर्भ कथन प्रस्तुत करते हुए 'मंसं वा मच्छं वा' पाठ का विवेचन किया और पन्नवणा सूत्र में आए हुए वनस्पति के साथ इस पाठ का उद्धरण देते हुए बताया—"मंसं वा मच्छं वा' नाम वनस्पति-विशेष से संबंधित है।"

आचार्य श्री कालूगणी से प्रामाणिक आधार पाकर डा० हर्मन जेकोबी की भ्रांति दूर हो गयी और वह परम सन्तुष्ट होकर लौटा। जूनागढ़ की सभा में एक वक्तव्य में आचार्य श्री कालूगणी की सन्निधि का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा—"मैं अपनी इस यात्रा में भगवान् महावीर की विशुद्ध परम्परा के वाहक श्रमण और श्रमणियों को देख पाया हूं। तेरापंथ धर्म संघ के आचार्य कालूगणी से मुझे 'मंसं वा मच्छं वा' पाठ का सम्यक् अर्थबोध हुआ है ओर इससे मेरी भ्रांत धारणा का निराकरण हो गया है।"

डा० हर्मन जेकोबी जैसे विद्वान् को प्रभावित कर देना जैन दर्शन का अतिशय प्रभावनाकारक कार्य था जो आचार्य श्री कालूगणी के द्वारा संभव हो सका।

विविध गुणों का समवाय आचार्य श्री कालूगणी का जीवन था। वे विनम्र होते हुए भी स्वाभिमानी थे। पापभीरु होते हुए भी अभय थे। अनुशासन की प्रतिपालना में दृढ़ होते हुए भी सौम्य स्वभावी थे। आगमों के प्रति अगाध आस्थाशील होते हुए भी प्रगतिगामी विचारों के धनी थे और जैन धर्म प्रभावना में सतत प्रयत्नशील थे। उनका स्वर्गवास गंगापुर, मेवाड़ में वी० नि० २४६३ (वि० १९९३) में भाद्रव शुक्ला ६ को हुआ।

प्रभावक आचार्यों की परम्परा में उनका नाम सदा स्मरणीय रहेगा।

२१. प्रवचन-प्रवीण आचार्य जवाहर

साधुमार्गी परम्परा के विद्वान् आचार्य जवाहरलाल जी आचार्य श्रीलाल जी के उत्तराधिकारी थे। उनका जन्म वी० नि० २४०२ (वि० सं० १९३२) में हुआ। लगभग सोलह वर्ष की किशोरावस्था में उन्होंने पूर्ण वैराग्य के साथ भागवती-दीक्षा ग्रहण की। तैंतालीस वर्ष की अवस्था में वे आचार्य बने। विभिन्न दर्शनों का उन्हें ज्ञान था।

वह युग शास्त्रार्थ प्रधान था। जैन श्वेताम्बर तेरापंथ धर्मसंघ के साथ उनके कई शास्त्रार्थ हुए। धर्मचर्चाएं चलीं। विशाल आगम-सागर का इस निमित्त आशातीत मंथन हुआ। सैद्धान्तिक विषयों का पुनः-पुनः आवर्तन, परावर्तन, प्रत्या-वर्तन हुआ। चिन्तन, मनन एवं निदिध्यासन हुआ। जनसाधारण के लिए ये शास्त्रार्थ ज्ञानवर्धक सिद्ध हुएं एवं विद्वद् वर्ग को भी जैन दर्शन की गम्भीर दृष्टियों को समझने का अवसर मिला।

आचार्य जवाहरलाल जी की साहित्य-सेवाएं भी उल्लेखनीय हैं। उनके तत्त्वा-वधान में सूत्रकृतांग जैसे गम्भीर सूत्र की संस्कृत टीका का हिन्दी अर्थसहित सम्पादन हुआ। इससे प्रस्तुत आगम के कठिनतम पाठों के अर्थ हिन्दी पाठकों के लिए सुगम हो गए हैं।

जनकल्याणोपयोगी, विविध सामग्री से परिपूर्ण उनके अनेक प्रवचन 'जवाहर किरणावली' नामक कृति के कई भागों में प्रस्तुत हैं।

आचार्य जी के नाम पर समाज में अनेक प्रवृत्तियों का संचालन हुआ। बीका-नेर जिलान्तर्गत भीनासर में प्राचीन एवं नवीन सहस्रों ग्रंथों का भंडार जवाहर पुस्तकालय उनके कर्मनिष्ठ जीवन की स्मृति करा रहा है।

आचार्य जवाहरलाल जी की वाणी में ओज था एवं वक्तव्य देने की कला प्रभावक थी। जैन-जैनेतर सभी प्रकार के लोग उनके उपदेशों से प्रभावित हुए हैं। देश तथा समाज की सामयिक समस्याओं पर भी वे अपना चिन्तन प्रस्तुत करते रहते थे।

स्थानकवासी संघों की एकता के लिए अजमेर श्रमण सम्मेलन पर उन्होंने

अपने श्रम और समय का यथेष्ट योगदान दिया। आचार्य पद को कुशलतापूर्वक वहन करते हुए वे वि० नि० २४७० (वि० स० २०००) में स्वर्गगामी बने।

उनके उत्तराधिकारी आचार्य गणेशीलाल जी थे। जिन्होंने श्रमण संघ के उपाचार्य का पद भी सम्भाला था। श्री गणेशीलाल जी के उत्तराधिकारी वर्तमान में आचार्य नानालाल जी हैं।

२२. शान्ति-सुधाकर आचार्य विजयशान्ति

भारतीय शासक गण का मस्तक जिनके चरणों में श्रद्धा से झुक गया, वे महान् प्रभावी आचार्य विजयशान्ति सूरि जी थे। उनका जन्म वी० नि० २४१५ (वि० १९४५) में हुआ। धर्मविजय जी और तीर्थविजय जी उनके शिक्षक थे। तीर्थ-विजय जी से १६ वर्ष की अवस्था में दीक्षित होकर १६ वर्ष तक उन्होंने विभिन्न प्रान्तों में धर्म प्रचारार्थ यात्राएं कीं। पुस्तकों के वे विद्वान् नहीं थे पर योगजन्य विद्या का अद्भुत चामत्कारिक बल उन्हें प्राप्त था।

माउण्ट आबू उनकी विशेष साधनास्थली था। उनका वी० नि० २४४७ (वि० १९७७) में सर्वप्रथम पदार्पण वहां हुआ था।

उनको वी० नि० २४६० (वि० १९९०) में 'जीवदया-प्रतिपालक, योग-लब्ध राजराजेश्वर' की उपाधि से अलंकृत किया गया।

वीर वाटिका में उनको 'जगत गुरु' का पद मिला। इसी वर्ष के मार्ग शीर्ष महीने में उन्होंने आचार्य पद का दायित्व संभाला।

उदयपुर में नेपाल राजवंशीय डेपुटेशन द्वारा 'नेपाल राजगुरु' सम्बोधन देकर अपने राज्य की ओर से उनका सम्मान किया था। नेपाल के अतिरिक्त अन्य विदेशी लोग भी उनसे अत्यधिक प्रभावित थे। एक अंग्रेज ने उनका पूर्णतः शिष्यत्व स्वीकार कर लिया था।

उनकी उपदेशामृत-वाणी से अनेक व्यक्तियों ने शराब और मांस का परित्याग किया तथा सैकड़ों राजाओं और जगीरदारों ने पशुबलि तक वन्द कर दी।

आबू का सुरम्य-शान्त वातावरण उनके मन को अधिक पसन्द आ गया था। वे विशेषतः वहीं रहे और मांडोली स्थान पर उनका स्वर्गवास हुआ।

२३. शील-सिन्धु आचार्य शान्तिसागर

दिगम्बर परम्परा में आचार्य शान्तिसागर जी अतिशय प्रभावक आचार्य हुए हैं। उनकी प्रख्याति योगिराज एवं महान् तपस्वी के रूप में भी हैं। उनका जन्म दक्षिण भारत के बेलगुल गांव में वी० नि० २३९९ (वि० सं० १९२९) में हुआ। वे भीमगोड़ा पाटिल के पुत्र थे। उनकी माता का नाम सरस्वती था। गृहस्थ जीवन में शान्तिसागर जी का नाम सातगोड़ा था। उनका परिवार सुखी एवं समृद्ध था। माता-पिता विशेष धार्मिक रुचि के थे।

शान्तिसागर जी का विवाह नौ वर्ष की अवस्था में कर दिया गया था। संयोग से विवाह के कुछ समय बाद ही पत्नी की मृत्यु हो गयी। माता-पिता ने उनका विवाह पुनः करना चाहा पर वे पूर्णतः अस्वीकृत हो चुके थे। मुनि जनों के प्रसंग में आने के कारण उनकी धार्मिक भावना उत्तरोत्तर विकास पाती रही। ब्रह्मचर्य का आजीवन व्रत स्वीकार कर तथा भोजन में घृत, तेल आदि का परिहार कर उन्होंने गृहस्थ जीवन में तपस्वी जैसा जीवन जीना प्रारम्भ कर दिया।

माता-पिता का स्वर्गवास हो जाने के बाद मुनि देवेन्द्रकीर्ति से उन्होंने वी० नि० २४४० (वि० सं० १९७०) में क्षुल्लक-दीक्षा स्वीकार की। उनकी मुनि दीक्षा वी० नि० २४४७ (वि० सं० १९७७) में हुई थी। श्रमण भूमिका में प्रविष्ट हो जाने के बाद उनका नाम शान्तिसागर जी रखा गया था।

आचार्य शान्तिसागर जी के व्यक्तित्व का बहिरंग पक्ष जितना सबल था उससे अधिक सबल अंतरंग पक्ष भी था। लोगों के जीवन पर उनके साधनाशील जीवन का दिन-प्रतिदिन प्रभाव बढ़ता गया। गृहस्थ जीवन में भी वे विशेष तपः-साधना किया करते थे। मुनि-जीवन स्वीकार करने के बाद उन्होंने कठोर योग-साधना एवं ध्यान-साधना प्रारम्भ कर दी। कोन्नूर प्रदेश की भयानक गुफाओं में भी वे एकाकी ध्यान-साधना किया करते थे। एक बार गिरिकन्दरा में फणिधारी नागराज ने ध्यानस्थ शान्तिसागर जी पर आक्रमण किया। पर वे अपनी साधना से तिलमात्र भी विचलित नहीं हुए। उनकी भावना में अहिंसा और अभय की सरिता प्रवाहित होती रही!

शान्तिसागर जी समता, क्षमा आदि गुणों से सम्पन्न सुयोग्य मुनि थे। चतुर्विध

संघ के समक्ष आचार्य पद उनकी नियुक्त हुई।

धर्म-प्रचार की दृष्टि से भी आचार्य शान्तिसागर जी ने महान् कार्य किया। दक्षिण भारत से उत्तर भारत में उनका आगमन हुआ। यह उनकी दिगम्बर इतिहास में उल्लेखनीय यात्रा थी। इस यात्रा से पूर्व कई शताब्दियों तक दिगम्बर मुनियों का मुख्य विहरण-स्थल दक्षिण भारत ही बना हुआ था। अतः उत्तर भारत में वर्षों से अवरुद्ध दिगम्बर मुनियों के आवागमन के मार्ग को उद्घाटित करने का श्रेय आचार्य शान्तिसागर जी को है।

वृद्धावस्था में उनकी नेत्र ज्योति क्षीण हो गयी थी। उनकी आत्मज्योति अधिक प्रकाश के साथ प्रकट हुई। कुन्थुल गिरि पर ८३ वर्ष की अवस्था में उन्होंने आहार-मात्र का परित्याग कर देहाशक्ति पर विजय पायी। परम समाधि के साथ ३६ दिवसीय संलेखना में वी० नि० २४८२ (वि० सं० २०१२) में उनका स्वर्गवास हुआ।

आचार्य शान्तिसागर जी के तपोमय जीवन ने दिगम्बर परम्परा को तेजस्विता प्रदान की है एवं उनके श्रमनिष्ठ जीवन से नए इतिहास का निर्माण हुआ है।

२४. श्रमनिष्ठ आचार्य घासीलाल

स्थानकवासी परम्परा के मरुधर संत घासीलाल जी बीसवीं सदी के यशस्वी विद्वान् थे। जैन-जैनेतर सम्प्रदायों में वे प्रसिद्ध थे। उनका जन्म मेवाड़ में हुआ। आचार्य जवाहरलाल जी के पास वी० नि० २४२८ (वि० १९५८) माघ शुक्ला त्रयोदशी बृहस्पतिवार को उन्होंने भागवती-दीक्षा स्वीकार की।

प्रारंभ में उनकी बुद्धि बहुत मंद थी। एक नवकार मंत्र को कंठाग्र करते उन्हें अठारह दिन लगे। कवि ने कहा है :

करत-करत अभ्यास ते, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात है, शिल पर परत निशान॥

इस पद्य को उन्होंने अपने जीवन में चरितार्थ कर दिखाया। एकनिष्ठा से वे सरस्वती की उपासना में लगे रहे। व्याकरण, न्याय, दर्शन और साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने प्रवेश पाया और एक दिन वे हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, मराठी, गुजराती, फारसी, अंग्रेजी, उर्दू आदि भाषाओं के विज्ञ बन गये।

धर्म-प्रचारार्थ उन्होंने अनेक गांवों और नगरों में विहरण किया।

तीस वर्षों में बत्तीस सूत्रों की टीका-रचना कर आगमों की व्याख्या को संस्कृत, गुजराती और हिंदी में प्रस्तुत किया। टीकाओं के अतिरिक्त अन्य साहित्य भी उन्होंने रचा है। उनकी सरल-सौम्य वृत्ति का जनता पर अच्छा प्रभाव रहा।

आगम टीकाओं के कार्य को सफलतापूर्वक निर्वहण के लिए सरसपुर (अहमदाबाद) में सोलह वर्ष तक रहे। इस कार्य के सम्पन्न होते ही उन्होंने अनशन-पूर्वक ४-१-७३ को तदानुसार वी० नि० २५०० (वि० २०३०) को इस जगत् से विदा ले ली।

२५. प्रख्याति-प्राप्त आचार्य आत्मारामजी

ख्यातिप्राप्त आचार्य आत्माराम जी स्थानकवासी श्रमण संघ के मनोनीत प्रथमाचार्य थे। वे पंजाब के थे। उनका जन्म 'राहो' नगर-निवासी क्षत्रिय चोपड़ा परिवार में हुआ। जन्म समय वी० नि० २४०६ (विक्रमाब्द १९३९) भाद्रव शुक्ला द्वादशी का दिन था। उनके पिता का नाम मनसाराम एवं माता का नाम परमेश्वरी था। आत्माराम जी का गृहस्थ जीवन संघर्षों में बीता। शिशु अवस्था में माता-पिता को खो देना बालक के लिए संकट की घड़ी होती है। आत्माराम जी दो वर्ष के थे तभी माता का वियोग हो गया। आठ वर्ष की अवस्था में पिता के विरह का भयंकर आघात लगा। माता-पिता से निराश्रित बालक का पालन-पोषण कुछ समय तक दादी मां ने किया। दस वर्ष की अवस्था में उनका यह सहारा भी टूट गया। कुछ दिन तक मामा के यहां रहे। चाची का संरक्षण भी उन्हें मिला पर उनका मन कहीं नहीं लगा। सौभाग्य से एक दिन वे संतों की सन्निधि में पहुंच गए। "सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्" कवि की यह उक्ति उनके जीवन में साकार हुई। तत्वज्ञान का प्रशिक्षण पाकर उन्होंने एक दिन संत की भूमिका में प्रवेश पाया। श्रमण दीक्षा स्वीकरण का यह समय वी० नि० २४२९ (वि० स० १९५९) था। इस समय उनकी अवस्था वीस वर्ष की थी। "होनहार विरवान के होत चीकने पात" इस उक्ति के अनुरूप युवक संत आत्माराम जी का व्यक्तित्व प्रभावशाली था। संत गणपतराय जी से उन्होंने दीक्षा ग्रहण की एवं सतत स्वाध्यायी जीवन में रत, आगम मन्थन करने में जागरूक आचार्य मोतीराम जी के वे विद्याशिष्य बने। ज्ञानमुक्ता-मणियों को उनसे प्राप्त कर संत आत्माराम जी ने प्रकाण्ड वैदुष्य वरा।

पंजाव सम्मेलन के अवसर पर वी० नि० २४३८ (वि० सं० १९६८) फाल्गुन मास अमृतसर में सन्त आत्माराम जी को उपाध्याय पद से विभूषित किया गया।

आगम विद्वान् सन्त मोतीराम जी के उत्तराधिकारी आचार्य सोहनलाल जी थे। उनका उत्तराधिकार आचार्य काशीराम जी को मिला। काशीराम जी के स्वर्गवास के वाद वी० नि० २४७३ (वि० सं० २००३) में महावीर जयन्ती के दिन श्रमण संघ ने मिलकर सन्त आत्माराम जी को आचार्य पद का दायित्व सौंपा।

ज्योतिषविद्या के मेधावी आचार्य सोहनलाल जी का पाण्डित्य एवं काशीराम जी का गम्भीर व्यक्तित्व आत्माराम जी में समन्वित होकर बोल रहा था।

सादड़ी सम्मेलन के अवसर पर विशाल श्रमण समाज उपस्थित हुआ था। संघ-एकता की दिशा में स्थानक वासी समाज की ओर से वह आयोजन किया गया था। यह समय वी० नि० २४७६ (वि० सं० २००६) था। इस आयोजन में सबकी दृष्टि एक ऐसे विश्वासपात्र सक्षम व्यक्ति को खोज रही थी जो समूचे श्रमण संघ का समर्पण निगर्वी भाव से झेल सके और सबको सन्तोषजनक नेतृत्व दे सके।

एकसाथ सबकी दृष्टि अनुभवसिद्ध, वयोवृद्ध आत्माराम जी पर जा टिकी। तत्काल श्रमण संघ के नाम पर संघ एकता का प्रस्ताव पारित हुआ और उल्लास-मय वातावरण में आत्माराम जी को बैशाख शुक्ला नवमी के दिन श्रमण संघ का नेता चुन लिया गया। यह समस्त स्थानकवासी समाज का मनोनीत चयन था।

आचार्य आत्माराम जी आगम के विशिष्ट व्याख्याता थे। उनके वक्तव्य में प्रभावकता थी। लोकरंजन के लिए ही उनके उपदेश नहीं होते थे, प्रवचन में शास्त्रीय आधार भी रहता था। पण्डित जवाहरलाल नेहरू, जर्मन विद्वान् रोथ, डा० बुल्नर आदि विशिष्ट व्यक्ति उनके सम्पर्क में आए थे।

आचार्य आत्माराम जी साहित्यकार भी थे। दशाश्रुतस्कन्ध, अनुत्तरोपपातिक-दशा, अनुयोगद्वार, दशवैकालिक आदि कई सूत्रों का उन्होंने हिन्दी अनुवाद किया। उत्तराध्ययन सूत्र का हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन जैन समाज में बहुत लाभप्रद सिद्ध हुआ।

उन्होंने जैन ग्रंथों का गम्भीरता से अध्ययन कर तुलनात्मक साहित्य भी लिखा। 'तत्त्वार्थ सूत्र जैनागमं समन्वय' नामक कृति तुलनात्मक दृष्टि से लिखी गयी ज्ञानवर्द्धक रचना है। "सचित्र अर्धमागधी कोष ग्रंथ, भगवती, ज्ञाता सूत्र एवं दशवैकालिक इन तीनों सूत्रों का संकलन है।" कई सन्तों ने मिलकर इस कोष को तैयार किया था। इसमें आत्माराम जी का प्रमुख सहयोग था। 'जैनागमों में स्याद्वाद' उनकी एक और कृति है। इसमें स्याद्वाद से सम्बन्धित आगम-पाठों का सुन्दर संकलन है। आगम-साहित्य के अतिरिक्त सामयिक साहित्य पर भी उनकी लेखनी चली। आठ भागों में जैन धर्म शिक्षावली इसी ओर बढ़ता चरण था।

जैनागमों में अष्टांगयोग, जैनागमन्याय संग्रह, वीरत्थुई, जीवकर्म-संवाद आदि-आदि स्वनिर्मित पचासों ग्रंथों का मूल्यवान् उपहार सरस्वती के चरणों में उन्होंने समर्पित किया।

सियालकोट में उन्हें 'साहित्यरत्न' की उपाधि प्राप्त हुई। जैनों के प्रमुख केन्द्र रावलपिंडी में स्थानकवासी समाज ने उन्हें 'जैनागम-रत्नाकर' पद से भूषित किया।

आचार्य आत्माराम जी की बहुमुखी साहित्य-साधना एवं श्रमण संघ को उनके द्वारा प्राप्त सफल नेतृत्व इतिहास की भव्य कड़ी है।

२६. निर्भीक नायक आचार्य देशभूषण

दिगम्बर परम्परा के आचार्य-रत्न देशभूषण जी कन्नड़, मराठी, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती आदि कई भाषाओं के विद्वान् हैं। सरल भाषा में प्रस्तुत उनके हृदयग्राही प्रवचन प्रभावक होते हैं। उनमें युवक का-सा उत्साह है और साहित्य-सृजन की अदम्य उत्कंठा है।

हिन्दी, संस्कृत, गुजराती, कन्नड़, मराठी और अंग्रेजी में उनकी लगभग चालीस रचनाएं प्रकाशित होकर जनता के हाथों में पहुंच गई हैं।

साहित्य-सृजन की दिशा में उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण देन कन्नड़ भाषा के गौरव-मय साहित्य को हिन्दी में अनूदित करना है।

कन्नड़ भाषा दक्षिण की समृद्ध भाषा है। उसमें जैन का विशाल साहित्य उपलब्ध है। पर दाक्षिणात्य भाषाओं से अनभिज्ञ पाठक अपनी इस बहुमूल्य निधि का उपयोग करने से सर्वथा वंचित रह जाते हैं।

आचार्य देशभूषण जी ने कई कन्नड़ ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद कर कन्नड़ साहित्य से हिन्दी पाठकों को लाभान्वित किया है।

वे हिन्दी को समृद्ध बनाने के साथ-साथ जैन वाङ्मय की उल्लेखनीय सेवा कर रहे हैं।

जैन साहित्य के प्राचीन ग्रन्थों का संग्रह और उनका सूक्ष्म अध्ययन तथा तत्प्रकार की अन्य अनेक प्रवृत्तियों का संचालन उनकी हार्दिक लगन का ही परिणाम है।

आचार्य देशभूषण जी के कई प्रवचन युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी जी के साथ भी हुए हैं। एक मंच पर जैन के उभय सम्प्रदायों के आचार्यों का मिलन धार्मिक एकता का सुन्दर चरण है। ऐसे सामूहिक आयोजनों पर देशभूषण जी को सुनने का अवसर मिला है! उनके उपदेश सरल और सुबोध होते हैं।

धर्म-प्रचारार्थ आचार्य जी ने भारत भूमि पर प्रलम्ब यात्राएं की हैं। वर्तमान में दिगम्बर परम्परा के प्रभावक आचार्यों की शृंखला में उनका अपना स्थान है।

२७. सौम्यस्वभावी आचार्य आनन्दऋषि

आनन्दऋषि जी स्थानकवासी परम्परा श्रमण संघ के प्रमुख आचार्य हैं। वे ऋषि सम्प्रदाय की परम्परा के हैं। ऋषि सम्प्रदाय की परम्परा में ऋषिलव जी, सोम जी, मोतीराम जी, सोहनलाल जी, काशीराम जी आदि अनेक प्रभावी आचार्य हुए हैं। वर्तमान में आनन्द ऋषि जी इस परम्परा को उजागर कर रहे हैं तथा श्रमण संघ के दयित्व को भी सम्भाल रहे हैं।

आनन्दऋषि जी का जन्म महाराष्ट्र प्रान्त के अहमद नगर जिले के अन्तर्गत सिराल चिचोड़ी ग्राम के गूगलिया परिवार में वी० नि० २४२७ (वि० पू० १९५७) में हुआ था। उनके पिता का नाम देवीचन्द्र जी था एवं माता का नाम हुलासी बाई था। उनके ज्येष्ठ भ्राता का नाम उत्तमचन्द जी था। आनन्दऋषि जी का नाम गृहस्थ जीवन में नेमिचन्द्र जी था।

आनन्दऋषि जी के पिता का देहान्त उनकी बाल्यावस्था में हो गया था। अतः माता हुलासी देवी ही बालक का पालन-पोषण करने में माता-पिता दोनों की भूमिका कुशलतापूर्वक वहन करती थी।

हुलासी देवी का धर्मप्रधान जीवन था। वह पांचों पर्व-तिथियों पर उपवास करती एवं प्रतिदिन सामायिक करती, पाक्षिक प्रतिक्रमण करती एवं अन्य बहिनों की धर्म-साधना में सहयोग प्रदान करती थी।

मां के धार्मिक संस्कारों का जागरण बालक में भी हुआ। हुलासी देवी से प्रेरणा प्राप्त कर बालक ने आचार्य रत्नऋषि जी से सामायिक पाठ, प्रतिक्रमण, तात्त्विक ग्रंथ एवं अध्यात्म प्रदान स्तवन कंठस्थ किए थे।

बालक में वैराग्य-भाव का अभ्युदय हुआ। माता से आदेश प्राप्त कर वी० नि० २४४० (वि० पू० १९७०) में मार्गशीर्ष शुक्ला नवमी के दिन उन्होंने आचार्य रत्नऋषि जी से दीक्षा ग्रहण की थी। इस समय उनकी अवस्था तेरह वर्ष के लग-भग थी। दीक्षा नाम उनका आनन्दऋषि जी रखा गया।

दीक्षा लेने के बाद उन्होंने व्याकरणशास्त्र, छन्दशास्त्र, स्मृतिग्रंथ, काव्या-नुशासन और नैषधीय चरित आदि उच्च कोटि के काव्य ग्रन्थों को पढ़ा तथा संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती, फारसी, राजस्थानी, उर्दू, अंग्रेजी आदि विभिन्न

भाषाओं पर प्रशिक्षण पाया। मराठी उनकी सहज मातृभाषा थी। उनके कंठ मधुर थे। ध्वनि प्रचंड थी। संगीतविद्या में अधिक अभिरुचि थी।

उत्तरोतर उनके जीवन में विकास होता रहा। वे उपाध्याय, युवाचार्य, प्रधानाचार्य, मंत्री, प्रधानमंत्री आदि विविध उपाधियों से अलंकृत होकर स्थानकवासी सम्प्रदाय में सम्मानित स्थान प्राप्त करते रहे।

चतुर्विध संघ के सम्मुख वी० नि० २५२९ (वि० १९९९) में उनकी ऋषि-परम्परा में आचार्य पद पर नियुक्ति हुई।

महाराष्ट्र, गुजरात, मध्य प्रदेश, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, पंजाब, मारवाड़, मेवाड़ आदि अनेक क्षेत्रों में विहरण कर उन्होंने जैन धर्म का प्रचार किया है।

स्थानकवासी परम्परा का बृहत् श्रमण सम्मेलन सादड़ी में वी० नि० २४७९ (वि० सं० २००९) में हुआ था। आनन्दऋषि जी को इस अवसर पर श्रमण संघ में उपाचार्य पद पर विभूषित किया गया था।

वर्तमान में वे श्रमण संघ के प्रथमाचार्य आत्माराम जी के उत्तराधिकारी के रूप में नियुक्त हैं। उनके जीवन की विशेषता उनका निगर्वी व्यवहार है।

श्रमण संघ के दायित्व को कुशलतापूर्वक वहन करते हुए सौम्यस्वभावी आचार्य आनन्दऋषि जी जैन धर्म की प्रभावना में रत हैं।

२८. युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी
(अणुव्रत-अनुशास्ता)

जैन धर्म को जनधर्म का व्यापक रूप देकर उसकी गरीयसी गरिमा को प्रतिष्ठित करने में अहर्निश प्रयत्नशील, आगम अनुसंधान के महत्त्वपूर्ण कार्य में प्रवृत्त, साधना, शिक्षा और शोध की संगमस्थली, जैन विश्व भारती के अध्यात्म-पक्ष को उन्नयन करने में दत्तचित्त, अणुव्रत आन्दोलन के माध्यम से नैतिक मंदाकिनी को प्रवाहित कर वैयक्तिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय चारित्र को सुदृढ़ बनाने की दिशा में जागरूक, मानवता के मसीहा, युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी का नाम प्रभावक आचार्यों की श्रेणी में सहज ही उभर आता है।

महापुरुष का जन्म सर्वसामान्य मनुज की तरह किसी एक परिवार में ही होता है और सीमित रेखाओं के बीच में वे पलते हैं, पर समस्त विश्व के साथ सहानुभूति, पर व स्व का बोध, द्वैत में अद्वैत भाव, आत्मौपम्य भावना की प्रबल प्रेरणा, परोपकार-परायण की प्रवृत्ति, औदार्य-कारुण्य आदि गुणों का विकास उन्हें उच्चता के सिंहासन पर आरूढ़ करता है।

अणुव्रत अनुशास्ता के नाम से प्रख्यात युगपुरुष, सन्तश्रेष्ठ, आचार्य श्री तुलसी का जन्म वी० नि० २४४१ (वि० सं० १९७१) कार्तिक शुक्ला द्वितीया को राजस्थानान्तर्गत लाडनूं शहर के खटेड़ वंश में हुआ। पिताश्री का नाम झूमरमल जी व माता का नाम वदनां जी था। बालक तुलसी के बाल्यकाल का प्रथम दशक मां की ममता, परिवार का अमित स्नेह एवं धार्मिक वातावरण में बीता। जीवन के दूसरे दशक के प्रारम्भ में पूर्ण वैराग्य के साथ जैन श्वेताम्बर तेरापंथ संघ के अष्टमाचार्य श्री कालूगणी से ज्येष्ठ भगिनी लाडां जी सह वी० नि २४५२ (वि० सं० १९८२) में दीक्षित हुए। ज्येष्ठ बन्धु चम्पालाल जी उनसे पूर्व दीक्षित थे।

संयम साधना का पथ स्वीकार कर लेने के पश्चात् उनकी चिंतनात्मक एवं मननात्मक शक्ति का स्रोत पठन-पाठन में केन्द्रित हुआ। व्याकरण, कोष, सिद्धान्त, काव्य, दर्शन, न्याय आदि विविध विषयों का उन्होंने गंभीर अध्ययन किया। वे संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, राजस्थानी भाषा में नैपुण्य प्राप्त प्रौढ़ विद्वान बने।

दुरावगाह ग्रन्थों की पारायणता के साथ लगभग बीस हजार श्लोकों को कंठस्थ कर लेना उनकी शीघ्रग्राही स्मृति का परिचायक है।

सोलह वर्ष की लघु वय में ही वे विद्यार्थी मुनियों के शिक्षाकेन्द्र का सफलतापूर्वक संचालन करने लगे थे। उनके आत्मीयतापूर्ण नेतृत्व से विद्यार्थी बालमुनियों को अन्तःतोष प्राप्त हुआ। यह उनकी अनुशासन-कुशलता का सजीव निदर्शन था।

संयमी जीवन की निर्मल साधना, विनय-विवेक का जागरण, सूक्ष्म ज्ञानशक्ति का विकास, सहनशीलता, धीरता आदि विविध विशेषताओं की अभिव्यक्ति के कारण बाईस वर्ष की अवस्था में सन्त तुलसी के कोमल किन्तु सुदृढ़ कन्धों पर महामनीषी आचार्य कालूगणी ने वी० नि० २४६३ (वि० सं० १९९३) को गंगापुर में आचार्य पद का गुरुतर दायित्व स्थापित किया।

तेरापंथ जैसे मर्यादित संगठन को युवक साधक का नेतृत्व मिला। यह जैन संघ के इतिहास की विरल घटना थी, पर अवस्था एवं योग्यता का कोई अनुबन्ध नहीं होता।

तरुण का-सा उत्साह, नभ की विशालता, हंस-मनीषा का विवेक लिए युवक सन्त नेता ने अपना कार्य सम्भाला। प्रतिक्षण जागरुकता के साथ चरण आगे बढ़े। उद्‌बुद्ध विवेक हस्तस्थित दीपक की भांति मार्गदर्शक बना। सर्वप्रथम तेरापंथ के अन्तरंग विकास के लिए उनका ध्यान विशेष रूप से केन्द्रित हुआ। प्रगतिशील संघ का प्रमुख अंग शिक्षा है, श्रुतोपासना है। आचार्य श्री तुलसी ने सर्वप्रथम प्रशिक्षण का कार्य अपने हाथ में लिया। साधु समाज का विद्याविकास पूज्य कालूगणी से प्रारम्भ हो चुका था। आचार्य श्री तुलसी की दीर्घदृष्टि साध्वी समाज पर पहुंची। यह विषय पूज्य कालूगणी के चिन्तन में भी था पर कुछ परिस्थितियों के कारण वह फलवान् नहीं हो सका। उसकी पूर्ति आचार्य श्री तुलसी ने की। साध्वियों की शिक्षा के लिए वे प्रयत्नशील बने। उनकी चतुर्मुखी प्रगति के लिए शिक्षाकेन्द्र और कलाकेन्द्रों की नियुक्ति हुई। परीक्षाकेन्द्र भी लगे। योग्य, योग्यतर व योग्यत्तम के रूप में नवीन पाठ्यक्रम स्थापित हुआ। तब से अब तक पाठ्यक्रम के कई रूप परिवर्तित हो गए हैं।

इन प्रयत्नों के फलस्वरूप साध्वी समाज के लिए विकास का द्वार उद्‌घाटित हुआ। योग्यतम परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर उन्होंने पूज्य कालूगणी के अधूरे स्वप्न को साकार किया है और जैन साध्वी समाज का भाल ऊंचा किया है।

वर्तमान में तेरापंथ का साध्वी समाज उच्चस्तरीय शिक्षा के पठन-पाठन में, गंभीर साहित्य सृजन में व आगम-शोध के महत्त्वपूर्ण कार्य में प्रवृत्त है। भारतीय एवं भारतीयेतर भाषाओं पर भी उनका अधिकृत अध्ययन है। कवि, आशुकवि, लेखक, वैयाकरण, साहित्यकार के रूप में श्रमण-श्रमणी मंडली आचार्य श्री कालूगणी की बृहद कृपा एवं आचार्य श्री तुलसी की श्रमशीलता का सुमधुर परिणाम है। अध्ययन-अध्यापन में तेरापंथ धर्म संघ अत्यधिक स्वावलम्बी हैं।

साहित्य-जगत् में आचार्य श्री तुलसी की सेवाएं अनुपम है। उनके भव्य प्रयासों

से धार्मिकता के साथ दर्शन, न्याय और काव्य-जगत् भी उपकृत है।

'जैन सिद्धांत दीपिका', 'भिक्षु न्याय कर्णिका' और 'मनोनुशासनम्' सिद्धांत, न्याय तथा योगविषय की सुन्दर प्रकाशिकाएं हैं।

'कालू यशोविलास' पूज्य कालूगणी पर लिखा गया राजस्थानी गेय काव्य है। इसकी रचना में लेखक का महान् शब्दशिल्पी रूप निखर आया है। विषय-वर्णन की शैली भी बेजोड़ है। माणक महिमा, डालम-चरित्र व मगन-चरित्र से जीवन-चरित्र लिखने की दिशाएं अत्यन्त स्पष्ट हुई हैं, तथा भरत मुक्ति, आषाढ़-भूति आदि रचनाओं से काव्यधारा को बल मिला है। साहित्य-जगत् को उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण देन आगम-वाचना है। आगम-साहित्य का टिप्पण, संस्कृत छाया सहित आधुनिक संदर्भ में सुसम्पादन और हिन्दी अनुवाद का कार्य आगम-वाचना-प्रमुख आचार्यश्री तुलसी के निर्देशन में सुव्यवस्थित चल रहा है। निर्मल प्रज्ञा के धनी, प्रकाण्ड विद्वान व गंभीर दार्शनिक मुनि श्री नथमल जी (वर्तमान में युवाचार्य महाप्रज्ञ) आगम ग्रन्थों के सम्पादक व विवेचक हैं। अब तक आगम-संबंधी विपुल साहित्य जनता के हाथों पहुंच गया है। कई पुस्तकें मुद्रणाधीन है, और कई पुस्तकों की पाण्डुलिपियां तैयार हो गयी हैं।

तुलसी प्रभा, भिक्षु शब्दानुशासन की लघुवृत्ति, तुलसी मञ्जरी, तेरापंथ का इतिहास तत्प्रकार का अन्य मौलिक साहित्य, कथा-साहित्य, मुक्तक-साहित्य, शोध-निबंध, संगीत, कला, काव्य, कोश, विज्ञान, एकांगी, गद्य, पद्य, एकाह्निक, शतक, एकाह्निक पंचशति तेरह घंटो में एक सहस्र श्लोक-रचना, सौ, पांच सौ, डेढ़ हजार तक अवधानों से स्मरण शक्ति के प्रभावक प्रयोग प्रभृति विभिन्न प्रवृत्तियां आचार्य श्री तुलसी के शासनकाल की विशिष्ट उपलब्धिया हैं।

वे योगवाहक आचार्य हैं। उन्होंने ध्यान, योग व बहुत लम्बे समय तक की एकांत साधनाओं से अपने संयम योग के विशिष्ट भावेन उत्कर्ष दिया है और अपने संघ को भी योग-साधना में विशेष प्रगतिशील बनाने के लिए प्रणिधान कक्ष व अध्यात्म शिविरों का प्रयोग किया है। उपासक संघ जैसे प्रलम्बकालीन साधना-शिविरों से श्रावकश्राविका समाज मे भी नए चैतन्य का जागरण हुआ है।

आचार्य श्री तुलसी के शासनकाल में तपोयोग की भूमिका भी बहुत विस्तृत हुई है। भद्रोतर तप, लघुसिंह तप, तेरह महीनों का आयम्बिल, एक सौ आठ दिन का निर्जल तप, आछ प्रयोग पर छह मासी, नव मासी, बारह मासी तप जैन शासन के तपोमय इतिहास की सुन्दर कड़ी है।

जैन समन्वय की दिशा में भी वे अनवरत प्रयत्नशील हैं। एक ही भगवान महावीर को अपना आराध्यदेव मानने वाला जैन समाज आज कई शाखाओं में विभक्त है। आधुनिक परिस्थितियों के संदर्भ में एक-दूसरे का नैकट्य व समन्वय की भूमिका पर विचार-विनिमय अपेक्षित ही नहीं अनिवार्य हो चुका है। उन्होंने

आज से कई वर्ष पहले इस अनिवार्यता को समझा और अपने चिंतन को व्यावहारिक रूप प्रदान करते हुए संपूर्ण जैन समाज के सामने पंचसूत्री योजना प्रस्तुत की, वह इस प्रकार है :

१. मण्डनात्मक नीति बरती जाए, अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाए। दूसरों पर मौखिक या लिखित आक्षेप नहीं किए जाएं।

२. दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।

३. दूसरे सम्प्रदाय और उसके अनुयायियों के प्रति घृणा, तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाए।

४. कोई संप्रदाय परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवांछनीय व्यवहार न किया जाय।

५. धर्म के मौलिक तथ्य अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह को जीवनव्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाए।

जैन एकता की दिशा में पंचसूत्री योजना की महत्त्वपूर्ण देन उनकी सम्प्रदाय-मुक्त भूमिका का ही परिणाम है।

जनकल्याण हेतु आचार्य श्री तुलसी के निर्देशानुसार वी० नि० २४७५ (वि० २००५) में अणुव्रत अभियान प्रारम्भ हुआ।

अणुव्रत नैतिक आचार संहिता है। वह धर्म एवं अध्यात्म का आधुनिक रूप में प्रस्तुतीकरण है। समाज की धमनियों में नई चेतना का संचार करने हेतु बसंत है। स्वस्थ परम्परा का उज्जीवक है। जीवन-शुद्धि, भारतीय संस्कृति, राष्ट्रीय चारित्र्य व मानवीय मूल्यों का उत्प्रेरक है। जाति, लिंग, वर्ण, सम्प्रदाय की सीमा से दूर मानवता के उन्नयन की दिशा में यह आन्दोलन कार्य कर रहा है।

"संयमः खलु जीवनं"—संयम ही जीवन है। यह इस अभियान का समुद्घोष है। प्रत्येक मनुष्य को इसे अपने जीवन में ढालने की पूरी कोशिश करनी चाहिए।

अणुव्रत की आवाज आज झोंपड़ी से लेकर महलों तक पहुंच गयी है। लक्षाधिक व्यक्तियों ने अणुव्रत दर्शन का गंभीरता से अध्ययन किया है और सहस्रों व्यक्तियों ने अपने जीवन में भी उतारा है।

स्वर्गीय राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद, डा० जाकिर हुसेन, प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू तथा सर्वोदय नेता जयप्रकाश नारायण, आचार्य विनोबा भावे एवं डा० संपूर्णानन्द आदि शीर्षस्थ नेताओं ने इस अभियान की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

सदियों से उपेक्षित नारी-जागरण हेतु भी आचार्य श्री तुलसी ने गम्भीर चिन्तन किया। जीवन-अभ्युत्थान के लिए नये मोड़ की सुव्यवस्थित योजना प्रस्तुत कर उन्हें जीने की कला सिखायी। 'सादा जीवन उच्च विचार' का प्रशिक्षण देकर अर्थहीन मूल्यों, अन्धविश्वासों, रूढ़ परम्पराओं से भी नारी समाज को मुक्त किया

है। आज आचार्य श्री तुलसी का अनुयायी नारी समाज अध्यात्म की गहराइयों व सामाजिक दायित्व को समझने लगा है। अखिल भारतीय तेरापंथ महिला मंडल के नाम से उनका अपना सबल संगठन है। आचार्य श्री के नेतृत्व में प्रतिवर्ष उनका वार्षिक सम्मेलन होता है। इसमें आज की प्रशिक्षित नारियां नारी समाज की विभिन्न गतिविधियों के सन्दर्भ में चिन्तन करती हैं और साम्य योगी, परम् कारुणिक, नारी-उद्धारक आचार्य श्री तुलसी से प्रेरणा पाती है।

आचार्यश्री तुलसी की प्रवृत्तियां सर्वजनहिताय हैं। वर्णभेद, वर्गभेद, जातीयता और प्रान्तीयता की दीवारें कभी उनके कार्य क्षेत्र में खड़ी न हो सकी। उन्होंने एक ओर धनाधीशों को बोध दिया तथा दूसरी ओर दलित वर्ग के हृदय की हीन ग्रन्थियों का विमोचन किया है।

दलित वर्ग संस्कार-निर्माण उनके मानवतावादी दृष्टिकोण का सबसे महत्व-पूर्ण पहलू है। आचार्य श्री तुलसी के सान्निध्य में विराट् हरिजन सम्मेलन भी हुए हैं। उन्होंने उन सम्मेलनों को हरिजनोद्धार सम्मेलन नहीं मानवोद्धार सम्मेलन कहा है।

आचार्य श्री तुलसी जैन श्वेताम्बर तेरापंथ संप्रदाय का संचालन कर रहे हैं, पर उन्होंने संघ-विस्तार से अधिक मानवता की सेवा को प्रमुख माना है। बहुत बार वे अपने परिचय देते समय कहते हैं, "मैं पहले मानव हूं, फिर जैन और फिर तेरा-पंथी हूं।" आचार्य श्री तुलसी के विचारों की यह उन्मुक्तता एवं व्यवहार में अनाग्रही प्रवृत्ति उनके गरिमामय व्यक्तित्व की संकेतक है।

वे धर्म के आधुनिक भाष्यकार हैं। उन्होंने धर्म के क्षेत्र में नए मूल्यों की प्रतिष्ठा की है। जो धर्म परलोक-सुधार की बात करता था उसे इहलोक के साथ जोड़ा है। उनकी परिभाषा में वह धर्म धर्म नहीं है जिसमें वर्तमान क्षण को आनन्द-मय बनाने की बात नहीं है। उन्होंने जैन धर्म को जन-जन का धर्म कहकर जन-तन्त्रीय व्यवस्था में धर्म का लोकप्रिय रूप प्रस्तुत किया है। यह जैन संघ की सर्वव्यापी प्रभावना है।

पूर्व से पश्चिम व उत्तर से दक्षिण तक भारत के अधिकांश भूभाग में विशाल श्रमण संघ के साथ विहरण कर आचार्य श्री तुलसी ने जैन धर्म की जो प्रभावना की है वह जैन-अजैन सभीके द्वारा सहज समादृत हुई है। उनकी निष्पक्ष धर्म प्रचारकनीति, उच्चस्तरीय साहित्य-निर्माण, उदार चिंतन एवं विशुद्ध अध्यात्म भाव ने सभीको अपनी ओर आकृष्ट किया है।

आचार्यश्री की पंजाब, बंगाल आदि प्रलम्बमान यात्राओं में दक्षिण की यात्रा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्राकृतिक सौन्दर्य का धनी, भारतीय संस्कृति का पुजारी, पहाड़ियों से गर्वोन्नत, नहरों से परिपूरित, झरनों से अभिषिक्त, प्रकृति नदी का क्रीड़ा स्थल, हरियाली से हरा-भरा, बसन्त की तरह सरसब्ज, वृक्षों से झूमता,

पक्षियों से चहकता, सुमनों से महकता, नील गुलाबी शाल ओढ़े, विशाल वनों में परिवृत्त दक्षिण भारत भौतिक सम्पदा से सम्पन्न है और अध्यात्म-वैभव से भी समृद्ध है।

इस धरती की सुविशाल नदियों के कल-कल निनाद ने सुदूर के पर्यटकों, व्यापारियों व शिक्षा-पिपासु हृदयों को खींचा है, दूसरी ओर अध्यात्म-उपासकों ने धर्माचार्यों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। कभी यहां जैन, बौद्ध, शैव, वैष्णव चारों सरिताएँ एकसाथ बहती थीं।

जैन धर्म का जन्म उत्तर में हुआ। उसका पल्लवन दक्षिण भारत में हुआ। अनेक जैनाचार्यों ने दक्षिण भारत में अध्यात्म को सिंचन दिया है। सहस्रों वर्ष पूर्व इसी पावन धरा पर आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) श्रमण परिवार सहित पधारे थे। ऐसा इतिहासकारों का मत है। आचार्य श्री तुलसी ने दक्षिण भारत को अपने चरणों से पवित्र कर आचार्य भद्रबाहु के इतिहास को पुनरुज्जीवित कर दिया। आचार्य भद्रबाहु दक्षिण के कुछ ही भाग को अपने चरणों से पवित्र कर स्पर्श कर पाए थे। आचार्य श्री तुलसी के चरण अनेक प्रमुख स्थलों का स्पर्श करते हुए कन्या कुमारी तक पहुंचे। उन्होंने गांव-गांव व शहर-शहर में जाकर जन-जन को भगवान महावीर का पावन संदेश सुनाया व घर-घर में अध्यात्म की लौ प्रज्वलित की। अणुव्रत आंदोलन के माध्यम से मानवता की दिशा को उजागर करने की दिशा में यह सर्वोन्नत चरण था।

दक्षिण यात्रा की सम्पन्नता पर महायशस्वी आचार्य श्री तुलसी को उनके द्वारा विहित जन-कल्याणकारी कार्यों के परिणामस्वरूप संघ ने युगप्रधान पद से अलंकृत किया।

वर्तमान में उनका विराट् व्यक्तित्व अणुव्रत प्रभृति व्यापक कार्यों की भूमिका पर राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त करता हुआ जन-जन के मानस में अंकित हो गया है।

बालक तुलसी से ग्यारह वर्ष की अवस्था में मुनि तुलसी के रूप में परिवर्तन, बाईस वर्ष की अवस्था में आचार्य पदारोहण, संघ-संचालन की दिशा में स्वभगिनी स्वर्गीया साध्वीश्री लाडां जी की एवं वर्तमान में विदुषी साध्वीश्री कनकप्रभा जी की साध्वी-प्रमुखा पद पर नियुक्ति, धर्मशासन की प्रभावना में बहुमुखी प्रयास, चौंतीस वर्ष की अवस्था में अणुव्रत आन्दोलन के रूप में मानवता-जागरण का अभियान, नैतिक भागीरथी को प्रवाहित करने के लिए ससंघ इस महायायावर की सहस्रों मील की पदयात्राएं, आचार्य-काल के पच्चीस वर्ष सम्पन्न होने के उपलक्ष्य में डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् द्वारा सम्मानस्वरूप उन्हें तुलसी अभिनन्दन ग्रंथ का समर्पण, दक्षिणांचल की चतुर्वर्षीय सुदीर्घ यात्रा की सम्पन्नता पर वी० नि० २४६७ (वि० सं० २०२७) में लगभग बीस हजार मानव-मेदिनी के बीच युगप्रधान के रूप में उनका

सम्मान, भारत के तात्कालीन राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि द्वारा इस अवसर पर विशेष संदेश-प्रदान, यूनेस्को के डाइरेक्टर लूथर इवेन्स, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिज्ञ बेकननाम आदि विदेशी हस्तियों द्वारा उनकी नीति का समर्थन, मैक्समूलर भवन के डायरेक्टर जर्मन विद्वान् होमियो रॉउ द्वारा विदेश-पदार्पण के लिए आमन्त्रण, अमेरिकन युवक जिम मोरगिन द्वारा सात दिन के लिए मुनिकल्प जैन दीक्षा का स्वीकरण; शिक्षाशोध-साधना की संगमस्थली जैन विश्वभारती के माध्यम से भगवान महावीर के दर्शन का सर्वतोभावेन उन्नयन तथा विस्तार निस्सन्देह श्रमण परम्परा के सबल प्रतिनिधि, आधुनिक युग के महर्षि, भारतीय संस्कृति के प्राण, स्वस्थ परम्परा के संवाहक, प्रकाश-स्तम्भ, आगम-वाचना-प्रमुख जैन श्वेताम्बर तेरापंथ धर्म संघ के आचार्य श्री तुलसी के असाधारण नेतृत्व एवं उनके प्रगतिगामी कर्तृत्व के परिचायक हैं।

प्रसन्नचेता अध्यात्मसाधक, क्रान्तदर्शी मानवीय मूल्यों के प्रतिष्ठापक, युग-प्रधान आचार्य श्री तुलसी का जीवन विभिन्न अनुभूतियों से अनुविद्ध एक महा-काव्य है। इसका प्रतिसर्ग साहस और अभय की कहानी है। हर सर्ग का प्रति श्लोक अहिंसा व मैत्री का छलकता निर्झर है तथा हर श्लोक की प्रत्येक पंक्ति शौर्य, औदार्य व माधुर्य की उभरती रेखा है।

□□□

परिशिष्ट १

आचार्य और उनकी जीवनी के आधारभूत ग्रन्थ

आचार्य	आधार
	आगम युग
१. सुधर्मा—	१. आवश्यक निर्युक्ति विवरण, पत्रांक ३३ से ३४०
	२. आवश्यक चूर्णि, पत्रांक ३३४ से ३३९ तक
	३. विशेषावश्यक भाष्य
	४. विविध तीर्थकल्प, पत्रांक ७५ व ७६
२. जम्बू—	१. परिशिष्ट पर्व, सर्ग २, ३, ४
	२. उपदेशमाला विशेष वृत्ति (जम्बू स्वामी चरियं), पत्रांक १२४ से १८५
३. प्रभव—	१. परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५
	२. उपदेशमाला विशेष वृत्ति (जम्बू स्वामी चरियं)
	३. पट्टावली समुच्चयः (प्रथम भाग)
	४. दशवैकालिक हरिभद्रीय वृत्ति, पत्र १० व ११
४. शय्यंभव—	१. परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५
	२. दशवैकालिक हरिभद्रीय वृत्ति, पत्रांक ९ से १८ व २८३, २८४
	३. दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा, १२ से १८ तक
५. यशोभद्र—	१. नन्दी स्थविरावली
	२. कल्प सूत्र स्थविरावली
	३. परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६

६. सम्भूतविजय—	१. परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८ २. उपदेशमाला दोघट्टीवृत्ति, पत्रांक २३७, २३८, २४२ ३. लक्ष्मीवल्लभगणीकृत उत्तरा. टीका, पृ० ८५
७. भद्रबाहु—	१. परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६, ८ २. आवश्यक चूर्णि, भाग २, पत्रांक १८७ ३. तित्थोगाली पइन्नय, ७१४ से ८०२
८. स्थूलभद्र—	१. परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८ २. उपदेशमाला दोघट्टीवृत्ति, पत्रांक २३३ से २४३ ३. लक्ष्मीवल्लभगणीकृत, उत्तरा० टीका ७७ से से ८६
९. महागिरि— १०. सुहस्ती—	१. परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११ २. उपदेशमाला, पत्रांक ३६९ व ३७० ३. निशीथ चूर्णि ४. कल्प चूर्णि ५. बृहत् कल्प निर्युक्ति भाष्य वृत्ति ६. आवश्यक चूर्णि
११. बलिस्सह और १२. गुणसुन्दर—	१. नन्दी स्थविरावली २. हिमवन्त ,, ३. कल्पसूत्र ,,
१३. सुस्थित और १४. सुप्रतिबुद्ध—	१. कल्पसूत्र स्थविरावली २. हिमवन्त ,, ३. पट्टावली समुच्चय, प्रथम भाग
१५. श्याम और १६. षांडिल्य—	१. नन्दी स्थविरावली २. वीर निर्वाण संवत् और जैनकाल

	३. विचार श्रेणी
	४. रत्नसंचय प्रकरण, पत्र ३२
१७. समुद्र,	१. नन्दी स्थविरावली
१८. मंगू और	२. हिमवन्त ,,
१९. भद्रगुप्त—	३. नन्दी चूर्णि
२०. कालक—	१. प्रभावक चरित्र, पृ० २२ से २७
	२. निशीथ चूर्णि, उ० १० से १६
	३. आवश्यक चूर्णि
	४. बृहत् कल्प भाष्य चूर्णि
	५. कल्पसूत्र चूर्णि, पृ० ८९
	६. व्यवहार चूर्णि, उ० १०
२१. खपुट—	१. प्रभावक चरित्र, पृ० ३३ से ३६
	२. प्रबन्धकोश, पत्रांक ९ से ११
	३. निशीथ भाष्य चूर्णि
२२. पादलिप्त—	१. प्रभावक चरित्र, पत्रांक २८
	२. प्रबन्धकोश, पत्रांक ११ से १४
	३. प्रबन्ध चिन्तामणि, पत्रांक ११९
	४. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्रांक ३७६, ३७७
२३. वज्र स्वामी—	१. आवश्यक चूर्णि, पत्रांक ३९० से ३९६
	२. प्रभावक चरित्र, पत्रांक ३ से ८ तक
	३. परिशिष्ट पर्व, सर्ग १२
	४. उपदेशमाला विशेष वृत्ति, पत्रांक २०६ से २२०
	५. आवश्यक मलयवृत्ति, पत्रांक ३८३ से ३९१
२४. कुन्दकुन्द—	१. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्रांक २९७-३०१

२. न्यायावतार वार्तिक वृत्ति प्रस्तावना
३. सिद्धि विनिश्चय टीका प्रस्तावना
४. पञ्चास्तिकाय संग्रह प्रस्तावना

२५. आर्य-रक्षित—
१. प्रभावक चरित, पत्रांक ६ से १८
२. परिशिष्ट पर्व, सर्ग १३
३. आवश्यक चूर्णि, पत्रांक ३६७ से ४१३
४. लक्ष्मीवल्लभगणीकृत उत्तरा० टीका, पत्रांक ६६ से ६८

२६. दुर्बलिका पुष्यमित्र—
१. आवश्यक मलयवृत्ति, द्वितीय भाग, पृ० ३९८ से ४०२
२. लक्ष्मीवल्लभगणीकृत, उत्तरा० टीका, पृ० १६४ व १६५
३. प्रभावक चरित, पत्रांक १५ से १७
४. आवश्यक चूर्णि, पृ० ४०९ से ४१३

२७. वज्रसेन—
१. परिशिष्ट पर्व, सर्ग १३
२. आवश्यक मलय वृत्ति, द्वितीय भाग, पृ० ३९५-३९६
३. उपदेशमाला विशेषवृत्ति २१९ व २२०

२८. अर्हद्-बलि—
१. महाबन्ध प्रस्तावना

२९. धरसेन—
१. महाबन्ध प्रस्तावना
२. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्रांक २७८

३०. गुणधर—
१. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्रांक २९० से २९३
२. कसाय पाहुड सुत्त प्रस्तावना

३१. पुष्पदन्त और
३२. भूतबलि
१. महाबन्ध प्रस्तावना
२. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्रांक २७४ से २७७

	३. महापुराण प्रस्तावना
३३. उमास्वाति—	१. तत्त्वार्थ भाष्य कारिका २. आप्त परीक्षा प्रस्तावना ३. तत्त्वार्थ सूत्र (विवेचन सहित)
३४. स्कन्दिल व ३५. नागार्जुन	१. नन्दी चूर्णि २. हिमवन्त स्थविरावली ३. वीर निर्वाण संवत् और जैन काल-गणना
३६. विमल—	१. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्रांक ५२७ से २. भिक्षु स्मृति ग्रन्थ (द्वितीय खण्ड, पृ० ८५ से)
३७. देवर्द्धिक्षमाश्रमण-	१. नन्दी सूत्र स्थविरावली २. नन्दी प्रस्तावना (मुनि पुण्यविजय) ३. पट्टावली समुच्चय ४. वीर निर्वाण सम्वत् और जैन काल-गणना
	उत्कर्ष युग
३८. वृद्धवादी और ३९. सिद्धसेन—	१. प्रभावक चरित, पत्रांक ५४ से ५७ तक २. प्रबन्ध चिन्तामणि, पत्रांक ६ व ७ ३. प्रबन्धकोश, पत्रांक १५ से २१
४०. मल्लवादी—	१. प्रबन्धकोश, पत्रांक २१ से २३ तक २. प्रभावक चरित, पत्रांक ७७ से ७९ तक ३. प्रबन्ध चिन्तामणि, पत्रांक १०७
४१. समन्तभद्र—	१. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश २. न्यायकुमुदचन्द्र प्रस्तावना
४२. देवनन्दी (पूज्यपाद)	१. समाधितंत्र प्रस्तावना २. 'सर्वार्थ सिद्धि' प्रस्तावना, पत्रांक ८१ ३. समाधितंत्र और इष्टोपदेश प्रस्तावना

४३. भद्रबाहु (द्वितीय)	१. प्रबन्धकोश, पत्रांक २ से ४ तक २. प्रबन्ध चिन्तामणि, पत्रांक ११८ से ११९ ३. पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पत्रांक ९१
४४. जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण—	१. जैन साहित्य का बृहद इतिहास, भाग ३-प्रस्ताविक, पत्रांक १३ से १५ २. विशेषावश्यक भाष्य
४५. पात्र स्वामी—	१. आप्त परीक्षा प्रस्तावना, पत्रांक २४ व २५ २. आदि पुराण प्रस्तावना ३. सिद्धिविनिश्चय टीका प्रस्तावना
४६. आचार्य मानतुंग—	१. प्रभावक चरित, पत्रांक ११२ से ११७ २. पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पत्रांक १५ व १६ ३. प्रबन्ध चिन्तामणि, पत्रांक ४४ व ४५
४७. अकलंक—	१. न्यायकुमुदचन्द्र प्रस्तावना २. अकलंक ग्रन्थ त्रय
४८. जिनदास महत्तर—	१. नन्दीसूत्र प्रस्तावना २. निशीथ : एक अध्ययन ३. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ३, पत्रांक ३१-३२
४९. हरिभद्र—	१. प्रभावक चरित, पत्रांक ६२ से ७५ २. प्रबन्धकोश, पत्रांक २४ से २६ ३. पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पत्रांक १०३ से १०५
५०. बप्पभट्टि—	१. प्रबन्धकोश-बप्पभट्टि सूरि प्रबन्ध, पत्रांक २६ से ४६ २. विविध तीर्थकल्प, पत्रांक १८ व १९ ३. प्रभावक चरित, पत्रांक ८० से १११ ४. पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पत्रांक ९८ व ९९ ५. प्रबन्ध चिन्तामणि, पत्रांक १२३

५१. उद्योतन—	१. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्रांक ४१६ से
५२. वीरसेन—	१. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्रांक २७५ २. जैन साहित्य व इतिहास, पत्रांक १३०से१३२ ३. आदि पुराण (४), उत्तरपुराण (५), हरिवंश पुराण प्रस्तावना
५३. जिनसेन-	१. जैन साहित्य व इतिहास पत्रांक १३०से१३२ २. प्राकृत साहित्य का इतिहास पत्रांक २७५ ३. आदि पुराण (४), उत्तरपुराण(५), हरिवंश पुराण प्रस्तावना
५४. विद्यानन्द—	१. आप्त परीक्षा प्रस्तावना २. न्यायकुमुद्रचन्द्र प्रस्तावना
५५. अमृतचन्द्र—	१. जैन साहित्य व इतिहास पत्रांक ३०६ से ३११
५६. आचार्य सिद्धर्षि-	१. प्रभावक चरित, पत्रांक १२ १से १२५ २. पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पत्रांक १०५ से १०६ ३. प्रबन्धकोश, पत्रांक २५ व २६
५७. शीलांक —	१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ३, पृ० ३८२ २. सूत्रकृतांग, टीका ३. सिद्धि विनिश्चय टीका प्रस्तावना
५८. सूर—	१. प्रभावक चरित, पृ० १५२ से १६०
५९. उद्योतन—	१. तपागच्छ श्रमण वंशवृक्ष
६०. सोमदेव—	१. उपासकाध्ययन प्रस्तावना, पत्रांक १३ से
६१. अमितगति—	१. अमितगति श्रावकाचार-अमितगति आचार्य-परिचय, पत्रांक ५, ६, ७

	२. पञ्च संग्रह प्रस्तावना
६२. माणिक्यनन्दि—	१. आप्त परीक्षा प्रस्तावना, पृ० २६ से २७
	२. न्यायकुमुदचन्द्र प्रस्तावना
६३. अभयदेव—	१. आप्त परीक्षा प्रस्तावना, पृ० ३६
	२. न्यायकुमुदचन्द्र प्रस्तावना
६४. वादिराज—	१. न्यायविनिश्चयविवरण प्रस्तावना
६५. शान्ति—	१. प्रभावक चरित, पृ६ १३३ से १३७
	२. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ३, पृ० ३८६ से ३८९
६६. प्रभाचन्द्र—	१. आप्त परीक्षा प्रस्तावना, पृ० ३० से ३३
	२. न्यायकुमुदचन्द्र प्रस्तावना, पृ० ११९
६७. नेमिचन्द्र— (सिद्धान्त-चक्रवर्ती)	१. बृहद् द्रव्य संग्रह प्रस्तावना
	२. प्राकृत साहित्य का इतिहास
	३. द्रव्य संग्रह प्रस्तावना
	४. गोमट्टसार प्रस्तावना
६८. जिनेश्वर—	१. खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावलि, पृ० ९०
	२. प्रभावक चरित (श्री अभयदेव चरित), पृ० १६१, १६२
	३. ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह
	४. युगप्रधान श्री जिनचन्द्र सूरि, पृ० १० से १२
६९. अभयदेव टीकाकार—	१. पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृ० ९५ से ९६
	२. प्रभावक चरित, पृ० १६१ से १६६
	३. प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ० १२१
	४. खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावलि, पृ० ६ से ८
७०. जिनवल्लभ—	१. ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह

२. युगप्रधान श्री जिनचन्द्र सूरि, पृ० १२
३. खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावलि, पृ० ६०

७१. वीर— १. प्रभावक चरित, पृ० १६८ से १७०

७२. अभयदेव (मल्लधारी)— १. ओसवाल जाति का इतिहास

७३. जिनदत्त— १. खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावलि, पृ० ६१ व ६२
२. खरतरगच्छ का इतिहास, पृ० ३१ से ४४
३. ऐतिहासिक जैन संग्रह
४. युगप्रधान श्री जिनदत्त सूरि

७४. नेमिचन्द्र— १. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ३, पृ० ४४७-४८

७५. शुभचन्द्र— १. ज्ञानार्णव प्रस्तावना

७६. हेमचन्द्र (मल्लधारी)— १. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्रांक ५०५

७७. वादिदेव— १. प्रभावक चरित, पृ० १७१-१८२
२. रत्नाकरावतारिका-सम्पादकीय

७८. हेमचन्द्र— १. प्रभावक चरित, पृ० १८३ से २१२
२. प्रबन्धकोश, पृ० ४६ से ५४
३. प्रमाण मीमांसा प्रस्तावना

७९. मलयगिरि— १. जैन साहित्य का इतिहास, भाग ३, पृ० ४१५ व ४१७
२. न्याय कुमुदचन्द्र प्रस्तावना

८०. जिनचन्द्र (मणिधारी)— १. खरतरगच्छ का इतिहास, पृ० ४४ से ५१
२. युगप्रधान श्री जिनचन्द्र सूरि, पृ० १३
३. ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह, पृ० ८ से ९

८१. रामचन्द्र— १. हेमचन्द्राचार्य का शिष्य मण्डल
२. प्रभावक चरित, पृ० १८३

	३. प्रबन्धकोश, पृ० ९८
८२. उदयप्रभ—	१. प्रबन्धकोश, पृ० १०१
	२. ओसवाल जाति का इतिहास, पृ० १०९ व ११०
८३. रत्नप्रभ—	१. रत्नाकरावतारिका-सम्पादकीय
	२. संपा० प्र० दलसुख मालवणिया
८४. जगचन्द्र—	१. तपागच्छ श्रमण वंशवृक्ष (विवेचन विभाग), पृ० ४
८५. रत्नाकर—	१. तपागच्छ श्रमण वंशवृक्ष
८६. देवेन्द्र—	१. सटीकश्चत्वार : कर्मग्रन्थ प्रस्तावना, पृ० १६ से १८
	२. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३३७ व ३३८
८७. सोमप्रभ—	१. तपागच्छ श्रमण वंशवृक्ष (विवेचन विभाग), पृ० ६
८८. मल्लिषेण—	१. स्याद्वाद मंजरी प्रस्तावना, पृ० १५ से १७
८९. जिनप्रभ—	१. विविध तीर्थकल्प प्रस्तावना
	२. ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह, पृ० ६८ व ६९
	३. खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावलि, पृ० ९४ से ९६
९०. जिनकुशल—	१. ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह
	२. युगप्रधानश्री जिनचन्द्रसूरि, पृ० १५
	३. खरतरगच्छ का इतिहास, पृ० १४६ से १७०
९१. मेरुतुंग—	१. प्रबन्ध चिन्तामणि प्रस्तावना
९२. गुणरत्न—	१. षड्दर्शन समुच्चय प्रस्तावना, पृ० १८

नवीन युग

९३. हीरविजय—	१. तपागच्छ श्रमण वंशवृक्ष (वंशवृक्ष विभाग), पृ० १३ २. तपागच्छ श्रमण वंशवृक्ष (विवेचन विभाग), पृ० १२ ३. पट्टावली समुच्चय (सूरि परम्परा), पृ० १४६-१४७
९४. विजयसेन—	१. पट्टावली समुच्च (सूरि परम्परा) पृ० १४६-१४७
९५. विजयदेव—	२. तपागच्छ श्रमण वंशवृक्ष (विवेचन विभाग), पृ० १२
९६. जिनचन्द्र— (अकबर-प्रतिबोधक)	१. युग-प्रधान श्री जिनचन्द्र सूरि
९७. ऋषिलव—	१. ऋषि सम्प्रदाय का इतिहास, पृ० १० से
९८. धर्मसिंह—	१. मुनिश्री हजारीमल जी स्मृतिग्रन्थ
९९. धर्मदास—	१. मुनिश्री हजारीमल जी स्मृतिग्रन्थ
१००. रघुनाथ—	१. मुनिश्री हजारीमल जी स्मृतिग्रन्थ
१०१. जयमल्ल—	१. जयवाणी अन्तर्दर्शन पृ० २० से २४ तक २. तेरापंथ का इतिहास
१०२. भिक्षु—	१. तेरापंथ का इतिहास २. भिक्षु स्मृतिग्रन्थ
१०३. जय—	१. तेरापंथ का इतिहास २. भिक्षु स्मृतिग्रन्थ
१०४. विजयानन्द—	१. तपागच्छ श्रवण वंश वृक्ष (वंशवृक्ष विभाग), पृ० ८ २. विवेचन विभाग, पृ० १४

१०५. अमोलक ऋषि—	१. ऋषि सम्प्रदाय का इतिहास पृ० १५९ से १६५ तक
१०६. विजयराजेन्द्र—	१. अभिधान राजेन्द्र कोष प्रस्तावना
१०७. कृपाचन्द्र—	१. ओसवाल जाति का इतिहास
१०८. विजयधर्म—	१. तपागच्छ श्रमण वंशवृक्ष (चित्र-परिचय विभाग), पृ० १५-१७ २. तपागच्छ श्रमण वंशवृक्ष (विवेचन विभाग), पृ० १६
१०९. विजयवल्लभ—	१. ओसवाल जाति का इतिहास
११०. बुद्धिसागर—	१. तपागच्छ श्रमण वंश-वृक्ष (वंशवृक्ष विभाग) पृ० ६
१११. सागरानन्द—	१. ओसवाल जाति का इतिहास
११२. कालूगणी—	१. तेरापंथ का इतिहास
११३. जवाहर—	१. ओसवाल जाति का इतिहास
११४. विजय शान्ति—	१. ओसवाल जाति का इतिहास
११५. शान्ति सागर—	१. पत्र-पत्रिकाओं से
११६. घासीलाल—	१. पत्र-पत्रिकाओं से
११७. आत्माराम—	१. ऋषि सम्प्रदाय का इतिहास, पृ० ७५-७६
११८. देशभूषण—	१. पत्र-पत्रिकाओं से
११९. आनन्दऋषि—	१. ऋषि सम्प्रदाय का इतिहास, पृ० २२९
१२०. आचार्य तुलसी—	१. आचार्य तुलसी : जीवन और दर्शन २. आचार्य तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ

परिशिष्ट २

प्रयुक्त-ग्रन्थ विवरण

अकलंक ग्रन्थ त्रय
सम्पादक—पंडित महेन्द्र कुमार शास्त्री
प्रकाशक—सिंधी जैन ग्रन्थमाला

अनुयोग द्वार
आर्य रक्षित कृत
प्रकाशक—राय धनपत सिंह

अनुयोग द्वार चूर्णि
चूर्णिकार—जिनदास गणी महत्तर

अनुयोग द्वार वृति
वृत्तिकार—आचार्य हेमचन्द्र

अभिधान चिन्तामणि
लेखक—आचार्य हेमचन्द्र
प्रकाशक—चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी

अभिधान राजेन्द्र कोष
लेखक—विजय राजेन्द्र सूरि
प्रकाशक—श्री जैन श्वेताम्बर समस्त संघ, रतलाम

अमितगति श्रावकाचार
लेखक—आचार्य अमितगति

प्रकाशक—मूलचन्द किशनचन्द कापड़िया

आचार्य श्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ
प्रबन्ध सम्पादक—अक्षय कुमार जैन
प्रकाशक—आचार्य श्री तुलसी धवल समारोह समिति, दिल्ली

आचार्य चरितावली
सम्पादक—श्रीचन्द रामपुरिया
प्रकाशक—श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता

आचार्य तुलसी—जीवन-दर्शन
लेखक—मुनि नथमल जी
प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स

आचार्य श्री तुलसी (जीवन पर एक दृष्टि)
लेखक—मुनि नथमल जी
प्रकाशक—आदर्श साहित्य संघ, चूरू

आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ
प्रकाशक—श्री जैन श्वे० तेरा० महासभा, कलकत्ता

आचार्य सम्राट्
लेखक—ज्ञानमुनि जी
प्रकाशक—सेठ रामजीदास जैन, लोहिया

आचारांग चूर्णि
चूर्णिकार—जिनदासगणी महत्तर
प्रकाशक—श्री ऋषिभदेव जी केसरीमल जी श्वेताम्बर संस्था

आचारांग निर्युक्ति
लेखक—आचार्य भद्रबाहु
प्रकाशक—

आचारांग वृत्ति
वृत्तिकार—शीलांकाचार्य
प्रकाशक—

आदि पुराण
लेखक—आचार्य जिनसेन
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, मूर्ति देव जैन ग्रन्थमाला

आप्त परीक्षा
लेखक—श्रीमद् विद्यानन्द
प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर, सरसावा

आयारो
वाचना प्रमुख—आचार्यश्री तुलसी
सम्पादक, विवेचक—मुनि नथमल जी (वर्तमान में युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ)
प्रकाशक—जैन विश्व भारती, लाडनूं

आवश्यक चूर्णि
चूर्णिकार—जिनदासगणी महत्तर
प्रकाशक—आगमोदय समिति, बम्बई

आवश्यक भाष्य

आवश्यक मलयगिरि वृत्ति

आवश्यक हारिभद्रीया वृत्तिटिप्पणक
मल्लधारी हेमचन्द्र कृत

आर्हत् आगमोनुं अवलोकन
प्रणेता—हीरालाल रसिकदास कापड़िया

इष्टोपदेश
लेखक—देवनन्दी (पूज्यपाद)

प्रकाशक—परमश्रुत प्रभावक मण्डल

उत्तर पुराण
लेखक—आचार्य गुणभद्र
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ

उत्तराज्झयाणि
वाचना प्रमुख—आचार्य तुलसी
सम्पादक, विवेचक—मुनि नथमल जी
प्रकाशक—जैन विश्व भारती, लाडनूं

उत्तराध्ययन वृत्ति
लक्ष्मीवल्लभगणी कृत

उपदेशमाला दोघट्टीवृत्ति
रत्नप्रभ कृत
प्रकाशक—धनजी भाई देवचन्द्र जौहरी, बम्बई

उपासकाध्ययन
सम्पादक—कैलाशचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

ऋषि मण्डल स्तोत्र
प्रकाशक—श्री जैन विद्याशाला, अहमदाबाद

ऋषि सम्प्रदाय का इतिहास
लेखक—मुनिश्री मोतीऋषि जी महाराज
प्रकाशक—श्री रत्नजैन पुस्तकालय, पाथर्डी (अहमदाबाद)

ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह
सम्पादक—अगरचन्द भंवरलाल नाहटा
प्रकाशक—शंकरदान शुभैराज नाहटा, कलकत्ता

ओघनिर्युक्ति
निर्युक्तिकार—श्रीमद् भद्रबाहु स्वामी 'श्रुतकेवली'
प्रकाशक—आगमोदय समिति, बम्बई

ओसवाल जाति का इतिहास
प्रकाशक—श्री गोड़ीजी पार्श्वनाथ जैन ग्रन्थमाला, बम्बई

औपपातिक वृत्ति

अंग सुत्ताणि
वाचना प्रमुख—आचार्यश्री तुलसी
सम्पादक, विवेचक—मुनि नथमल जी (वर्तमान में युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ)
प्रकाशक—जैन विश्व भारती, लाडनूं

कल्पसूत्र
सम्पादक—मुनि पुण्यविजय जी
प्रकाशक—साराभाई मणिलाल नवाब

कसाय पाहुड़ सुत्तं
गुणधराचार्य प्रणीत
प्रकाशक—वीर शासन संघ, कलकत्ता

कहावली
भद्रेश्वर सूरि कृत

कषाय पाहुड़ं
प्रकाशक—भारतीय दिगम्बर जैन संघ

कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न
लेखक—गोपालदास जीवाभाई पटेल
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

कुवलयमाला

उद्योतनसूरि कृत

खरतरगच्छ का इतिहास
सम्पादक—महोपाध्याय विनयसागर
प्रकाशक—दादा जिनदत्त सूरि अष्टम शताब्दी महोत्सव स्वागत

गोम्मटसार
लेखक—नेमिचन्द सिद्धान्त-चक्रवर्ती
प्रकाशक—श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई

ज्योतिषकरण्डक टीका

जयवाणी
लेखक—आचार्य जयमल्ल जी
प्रकाशक—सम्मति ज्ञानपीठ, आगरा

जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज
लेखक—डा० जगदीशचन्द्र जैन
प्रकाशक—चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी

जैनग्रन्थ व ग्रन्थकार
सम्पादक—फतेहचन्द बेलानी
प्रकाशक—जैन संस्कृति संशोधन मण्डल

जैन गौरव स्मृतियां
लेखक—श्री मानमल जैन, श्री बसन्तीलाल नयाबाया

जैन दर्शन
लेखक—डा० मोहन लाल मेहता

जैन धर्म
लेखक—कैलाशचन्द्र शास्त्री

जैन धर्म नु प्राचीन इतिहास

पण्डित श्रावक हीरालाल (जामनगर काठियावाड़)

जैन परम्परा का इतिहास
लेखक—मुनि नथमल जी (युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ)
प्रकाशक—आदर्श साहित्य संघ, चूरू

जैनपुस्तक प्रशस्ति संग्रह
प्रकाशक—भारतीय विद्या भवन

जैन शासन
लेखक—पं० सुमेरुचन्द्र दिवाकर

जैन शिलालेख संग्रह भाग १, २, ३
प्रकाशक—माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति

जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

जैन साहित्य और इतिहास
लेखक—नाथूराम प्रेमी
प्रकाशक— यशोधर, विद्याधर मोदी, व्यवस्थापक संशोधित साहित्यमाला

जैन साहित्य व इतिहास पर विशद प्रकाश
लेखक—जुगल किशोर मुख्तार 'युगवीर'
प्रकाशक—छोटेलाल जैन, मंत्री श्री वीर शासन संघ

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ३
लेखक—पं० बेचनदास दोषी
प्रकाशक—पार्श्वनाथ विद्याश्रम, शोध संस्थान, जैनाश्रम

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ४
लेखक—डा० मोहनलाल मेहता

जैन साहित्य नु संक्षिप्त इतिहास

लेखक—मोहनलाल दुलीचन्द देसाई

जैनाचार्य श्री आत्माराम जी जन्म शताब्दी ग्रन्थ
सम्पादक—मोहनलाल दुलीचन्द देसाई
प्रकाशक—जन्म शताब्दी स्मारक समिति, बम्बई

ठाणं
वाचना प्रमुख—आचार्यश्री तुलसी
सम्पादक, विवेचक—मुनि नथमल जी (वर्तमान में युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ)
प्रकाशक—जैन विश्व भारती, लाडनूं

तत्त्वानुशासन
लेखक—जुगलकिशोर मुख्तार

तत्त्वार्थ राजवार्तिक
लेखक—आचार्य अकलंक

तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक
लेखक—आचार्य विद्यानन्द
प्रकाशक—गांधी नाथारंग जैन ग्रन्थमाला, बम्बई

तत्त्वार्थ-सूत्र
लेखक—उमास्वाति
प्रकाशक—भारत जैन महामण्डल, वर्धा

तत्त्वार्थधिगम
लेखक—उमास्वाति

तपागच्छ पट्टावली
लेखक—उपाध्याय श्री मेघविजयगणी जी

तित्थोगालिय पइन्ना
वीर निर्वाण संवत् व जैन काल-गणना से प्राप्त

तेरापंथ का इतिहास
लेखक—मुनि बुद्धमल जी, साहित्य परामर्शक
प्रकाशक—जैन श्वेताम्बर तेरापंथी सभा, कलकत्ता

दशवैआलियं
वाचनाप्रमुख—आचार्य श्री तुलसी
सम्पादक, विवेचक—मुनि नथमल जी (वर्तमान में युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ)
प्रकाशक—जैन विश्व भारती, लाडनूं

दशवैकालिक चूर्णि
लेखक—अगस्त्यसिंह
प्रकाशक—आगमोदय समिति, बम्बई

दशवैकालिक हरिभद्रीया वृत्ति

दशवैकालिक निर्युक्ति
निर्युक्तिकार—भद्रबाहु (द्वितीय)

दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति
लेखक—भद्रबाहु (द्वितीय)

द्रव्य-संग्रह
सम्पादक—दरबारीलाल कोठिया, गणेश प्रसाद वर्णी, जैन ग्रन्थमाला

दादा श्री जिनकुशल श्री
लेखक—अगरचन्द भंवरलाल नाहटा
प्रकाशक—

The Jain sources of the history of ancient India. writer : Jyoti Parsad Jain.

द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका-१, २, ३, ४, ५
सम्पादक—विजय सुशील सूरि

प्रकाशक—विजय लावण्य सूरीश्वर, ज्ञान मन्दिर

दुषमाकाल श्री श्रमण संघ स्तोत्र अवचूरि
लेखक—धर्मघोष सूरि
(पट्टावली समुच्चय, प्रथम भाग से प्राप्त)

धर्म बिन्दु
लेखक—आचार्यश्री हरिभद्र सूरि
प्रकाशक—नागजी भूधर की पोल, अहमदाबाद

नन्दी चूर्णि
जिनदासगणी महत्तर कृत
सम्पादक—मुनि पुण्यविजय जी
प्रकाशक—प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी

नन्दी सुत्तं
सम्पादक—मुनि पुण्यविजय जी

न्याय कुमुद्रचन्द्र
लेखक—श्रीमद् प्रभाचन्द्राचार्य

न्याय विनिश्चय विवरण
सम्पादक—महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य

न्यायावतार वार्तिक वृत्ति
सम्पादक—पूर्णतल्लगच्छीय श्री शान्ति सूरि विरचित
प्रकाशक—भारतीय विद्या भवन, बम्बई

न्याय तीर्थ
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
सम्पादक—पं० दलसुख मालवणिया

निशीथ सूत्रम्

सम्पादक—उपाध्याय कवि श्री अमर मुनि, मुनि श्री कन्हैयालाल (कमल)
प्रकाशक—सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

निशीथ चूर्णि
चूर्णिकार—जिनदास महत्तर गणी

निशीथ भाष्य
भाष्यकार—विशाखगणी

पंञ्च संग्रह
लेखक—आचार्य अमितगति
प्रकाशक—माणिकचन्द्र दिगम्बर (जैन ग्रन्थमाला समिति, सोमगढ़, सौराष्ट्र)

पञ्चास्तिकाय संग्रह
कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत
प्रकाशक—दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

पट्टावली समुच्चय
सम्पादक—मुनि दर्शन विजय
प्रकाशक—श्री चारित्र स्मारक ग्रन्थमाला

प्रबन्धकोश
लेखक—जिनविजय, विश्वभारती, शान्ति निकेतन

प्रबन्ध चिन्तामणि
लेखक—मेरुतुंगाचार्य
प्रकाशक—सिंघी जैन ज्ञानपीठ, शान्ति निकेतन

प्रभावक चरित्र
लेखक—श्रीप्रभाचन्द्राचार्य
प्रकाशक—सिन्धी जैन ज्ञानपीठ

प्रमाण-मीमांसा

लेखक—हेमचन्द्राचार्य
सम्पादक—पं० सुखलाल सिंघवी
प्रकाशक—सिन्धी जैन ग्रन्थमाला

परिशिष्ट पर्व
लेखक—हेमचन्द्राचार्य

प्रशमरति प्रकरण
लेखक—उमास्वाति
प्रकाशक—जीवनचन्द्र साकरचन्द्र जव्हेरी

प्राकृत साहित्य का इतिहास
लेखक—डा० जगदीशचन्द्र जैन, एम०ए०, पी०एच०डी०
प्रकाशक—चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी

पिण्ड निर्युक्ति
लेखक—श्रीमद् भद्रबाहु स्वामी

पुरातन प्रबन्ध संग्रह
सम्पादक—जिन विजय मुनि
प्रकाशक—सिन्धी जैन ग्रन्थमाला

भारतीय इतिहास—एक दृष्टि
लेखक—डा० ज्योतिप्रसाद जैन
प्रकाशक—

भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान
लेखक—डा० हीरालाल जैन
प्रकाशक—

मणिधारी श्री जिनचन्द्र सूरि
लेखक—अगरचन्द भंवरलाल नाहटा

महापुराण
लेखक—आचार्य पुष्फदन्त
प्रकाशक—माणिक्य चन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति

महाबन्ध
सम्पादक—पं० सुमेरुचन्द्र दिवाकर, शास्त्री न्यायतीर्थ
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

मुनिश्री हजारीमल जी स्मृतिग्रन्थ
प्रकाशक—हजारीमल स्मृति ग्रन्थ प्रकाशक समिति

युक्त्यनुशासन
लेखक—स्वामी समन्तभद्र

युगप्रधान श्री जिनचन्द्र सूरि
लेखक—अगरचन्द भंवरलाल नाहटा
प्रकाशक—शंकरदान शुभैराज नाहटा, कलकत्ता

युगप्रधानश्री जिनदत्त सूरि
लेखक—अमरचन्द भंवरलाल नाहटा
प्रकाशक—शंकरदान शुभैराज नाहटा, कलकत्ता

योगदृष्टि समुच्चय, योग बिन्दुश्च
प्रकाशक—श्री जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा

रत्नाकरावतारिका
सम्पादक—पं० दलसुख मालवणिया
प्रकाशक—लालभाई दलपतभाई, भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर, अहमदाबाद

व्यवहार चूर्णि

वसुनन्दी श्रावकाचार
सम्पादक—पं० हीरालाल जैन, सिद्धान्त शास्त्री, न्यायतीर्थ
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

विविध तीर्थकल्प
सम्पादक—जिनविजय, विश्वभारती, शान्ति निकेतन
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

विशेषावश्यक भाष्य
सम्पादक—पं० दलसुख मालवणिया
प्रकाशक—लालभाई दलपतभाई, भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर, अहमदाबाद

वीर निर्वाण सम्वत् और जैन काल-गणना
लेखक—मुनि कल्याण विजय
प्रकाशक—क० वि० शास्त्र समिति, जालोर (मारवाड़)

बृहद् कल्प सूत्र
सम्पादक—मुनि चतुरविजय, पुण्यविजय
प्रकाशक—भावनगरस्था श्री जैन आत्मानन्द सभा

बृहद् द्रव्य संग्रह
लेखक—जैनाचार्य नेमिचन्द्र सिद्धन्तिदेव विरचित
प्रकाशक—श्रीमद्राजचन्द्र जैन ग्रन्थमाला

शब्दों की वेदी अनुभव के दीप
लेखक—मुनि दुलहराज
प्रकाशक—आदर्श साहित्य संघ, चूरू

षट्खण्डागम
लेखक—पुष्पदन्त, भूतबलि
प्रकाशक—जैन संस्कृति संरक्षण संघ, शोलापुर

षड्दर्शन समुच्चय
लेखक—डा० महेन्द्रकुमार जैन, न्यायचार्य एम०ए०, पी०-एच०डी०

स्तुति विद्धा
लेखक—स्वामी समन्तभद्र

स्थानांग वृत्ति
लेखक—अभयदेव सूरि
प्रकाशक—श्री आगमोदय समिति, बम्बई

स्याद्वाद मंजरी
लेखक—आचार्य मल्लिसेन

स्वयम्भू स्तोत्र
लेखक—समन्तभद्र

स्वामी समन्तभद्र
लेखक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'
प्रकाशक—श्री वीर शासन संघ

सटीकाश्चत्वार:कर्मग्रन्था:
प्रकाशक—श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर

समाधि-तन्त्र
सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'
प्रकाशक—वीरसेवा मन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश
अनुवादक—परमानन्दशास्त्री, देवनन्दी (पूज्यपाद) विरचित
प्रकाशक—वीरसेवा मन्दिर सोसाइटी (दिल्ली)

सर्वार्थसिद्धि
सम्पादक—फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

सर्वज्ञसिद्धि
लेखक—हरिभद्र सूरि
प्रकाशक—श्री जैन साहित्य वर्धक सभा

सिद्धि विनिश्चय टीका
लेखक—अकलंक देव विरचित
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

हरिवंश पुराण
लेखक—आचार्य जिनसेन
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

हारिभद्रीय आवश्यक वृत्ति
लेखक—हेमचन्द्र सूरि
प्रकाशक—शाहनगीन भाई घेलाभाई जव्हेरी

हिमवन्त स्थविरावली
वीर निर्वाण संवत् और जैन कालगणना ग्रन्थ से प्राप्त

हेमचन्द्राचार्य का शिष्य मण्डल
लेखक—भोगीलाल सांडसेरा, एम०ए०, पी०-एच० डी०
प्रकाशक—जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, वाराणसी

त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र महाकाव्य
सम्पादक—मुनि चरणविजय
प्रकाशक—श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर

ज्ञानार्णव
लेखक—आचार्य शुभचन्द्र
प्रकाशक—रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला।